॥ वेद-वेदाङ्ग-विज्ञान ॥

(परिचयात्मक)

रचयिता

आचार्य सीताराम चतुर्वेदी



कामेश्वरसिंहदरभङ्गासंस्कृतविश्वविद्यालय, दरभङ्गा

S.1

॥ वेद-वेदाङ्ग-विज्ञान ॥

(परिचयात्मक)

रचयिता

आचार्य सीताराम चतुर्वेदी



कामेश्वरसिंहदरभङ्गासंस्कृतविश्वविद्यालय, दरभङ्गा

प्रकाशक

कामेश्वरसिंहदरभङ्गासंस्कृतविश्वविद्यालयं, दरभङ्गा



प्रथम संस्करण

संवत् २०६०

(सन् २००३ ई०)



मूल्य

१५०.०० रुपये



प्राप्ति-स्थान

कामेश्वरसिंहदरभङ्गासंस्कृतविश्वविद्यालय

दरभंगा, (बिहार) 846008



वर्ण—संयोजन

पब्लिश प्वाइंट

सदर बाजार, मुजफ्फरनगर



मुद्रक

शुभम् प्रिंटर्स

बी. 1/150 जे., अस्सी, वाराणसी

सम्पादकाचार्याः

श्रौत स्मार्त्तके प्राचार्य
पंडित सीताराम चतुर्वेदी
वैदिक व्याकरण और निरुक्तके धुरन्धराचार्य

डा० पंडित श्री उमाकान्त शुक्ल
निरुक्त और व्याकरणके प्रशिक्षक,
सनातन धर्म महाविद्यालय मुज़फ़्फ़रनगर

डा० पंडित नारायणदत्त शर्मा
वेद-वेदाङ्ग-प्रशिक्षक इन्दिरा कला केन्द्र, दिल्ली

आचार्य डा० कृष्णकुमार शर्मा
वेद-वेदाङ्ग-प्रशिक्षक, मुज़फ़्फ़रनगर



विषयानुक्रम

वेदकाण्डम्

१. वेद-वेदाङ्ग-प्रज्ञानम् ५

२. ऋग्वेद और उपवेद, ब्राह्मण आरण्यक, उपनिषद् शाखा आदि ३१

३. यजुर्वेदऔर उपवेद, ब्राह्मण आरण्यक, उपनिषद् शाखा आदि ८४

४. सामवेद और उपवेद, ब्राह्मण आरण्यक, उपनिषद् शाखा आदि। १९१

५. अथर्ववेद और उपवेद, ब्राह्मण आरण्यक, उपनिषद् शाखा आदि। २६५

वेदाङ्गकाण्डम्

१. शिक्षा ३९२

२. कल्प ४१९

३. व्याकरण ४७०

४. निरुक्त ४८३

५. छन्द ४८७

६. ज्योतिष् ४९०

परिशिष्ट

१. सोमलताका लक्षण, उत्पत्ति-स्थान एवं गुण ५१२

२. पुरुष-सूक्तके पाठ ५१९

३. अश्वमेध ५२२

४. अष्टविकृति ५२४

५. दर्शपूर्णमासेष्टि ५२७

६. यज्ञ-चित्रावली ५६२

भूमिका

'वेदवेदाङ्गविज्ञान ग्रन्थ को प्रकाशित करते हुए बहुत ही आनन्दानुभूति हो रही है, क्योंकि यह ग्रन्थ विद्वान् से लेकर सर्वसाधारण तक को इस विद्या से यथार्थ परिचय कराने में समर्थ है। आज वेदविद्या के विषय में बहुत सी भ्रान्त धारणायें फैली हुईं हैं, जिन्हें यह ग्रन्थ समूल नष्ट करता है। इस प्रकार इस पुस्तक से संस्कृतविद्या के मूल ग्रन्थ वेद एवं वेदाङ्गों के विषय में आन्तरिक एवं बाह्य परिचय को जन–जन तक पहुँचाने का लक्ष्य पूरा करने का प्रयास कर प्राचीन शास्त्रों का यथार्थ में संरक्षण किया गया है।

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने हमारे विश्वविद्यालय को शास्त्रसंरक्षण योजना के लिये राशि उपलब्ध करायी थी। इसका उद्देश्य था कि संस्कृत भाषा में लिखे प्राचीन शास्त्रों को सरल एवं यथार्थ रूप में छात्रों, शिक्षकों एवं जनसामान्य तक पहुँचाने के लिए विविध प्रयास किये जायँ।

विश्वविद्यालय ने इस योजना के अन्तर्गत अनेक कार्यक्रम प्रस्तुत किया जिसमें वेद एवं वेदाङ्गों का परिचय एवं उनके विषयों का संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत करने हेतु इस विषय के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् आचार्य पंडित श्री सीताराम चतुर्वेदी से अनुरोध किया और मई २००२ में उनकी स्वीकृति भी मिल गयी। एक वर्ष लगते ही उन्होंने 'वेदवेदाङ्गविज्ञान'–नामक ग्रन्थ को पूर्णतः तैयार कर लिया। वे इस वृद्धावस्था में भी इतनी तत्परता एवम् उत्साह से इस ग्रन्थ को नियतकालावधि में ही प्रस्तुत कर दिया जो आज के संस्कृतसेवकों के लियें अनुकरणीय है।

नाम के अनुरूप ही इस वेदवेदाङ्गविज्ञान में दो काण्ड हैं– वेदकाण्ड और वेदाङ्गकाण्ड, तथा परिशिष्ट में सम्बद्ध उपयोगी विषयों का संग्रह कर उनकी समीक्षा की गयी है। वेद के सम्बन्ध में अनेक उलझे प्रश्नों का थोड़े ही शब्दों में सीधा एवं युक्तियुक्त स्पष्ट समाधान प्रस्तुत किया गया है। वेद क्या है, इसका काल क्या है, इसके उपवेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् और शाखाओं की क्या परिधि है, इनके विषयों का विभाग क्या है, इत्यादि प्रश्नों के समीक्षात्मक उत्तर से पाठक अवश्य सन्तुष्ट होंगे।

प्रत्येक वेदाङ्ग के विषय में अनेक अनालोचित पक्षों को उपस्थापित किया गया है और संक्षेपतः किन्तु पूर्ण परिचय दिया गया है।

वेदमन्त्रों के विकृतिपाठ का स्वरूप एवं प्रयोजन दिखाकर इसकी यथार्थ उपयोगिता की ओर ध्यान आकृष्ट कराया गया है। वैदिकों के द्वारा सभी वेदाङ्गों का अध्ययन एवं उपयोग कैसे किया जाय, इसका दिशानिर्देश दिया गया है।

बहुत प्राचीन काल में वेदवेदाङ्ग विज्ञान चरम उन्नति पर था। महाभाष्यकार पतञ्जलि के अनुसार ऋग्वेद की इक्कीस शाखायें, युजर्वेद की एक सौ शाखायें, सामवेद की एक हजार शाखायें और अथर्ववेद की नौ शाखायें प्रचलित थीं। परन्तु विद्या के ह्रास के कारण इन शाखाओं में कुछ ही बँची उपलब्ध हैं। आज इनके ज्ञाता भी विरल हो रहे हैं और जनसामान्य तो नाममात्र के इससे परिचित हैं। विद्वान् भी इसके अधूरे परिचय रखते हैं। आधुनिक शिक्षा के प्रभाव से यह अधूरा परिचय भी विपरीत एवं भ्रान्त हो रहा है। ऐसी स्थिति में इस विषय को जनसाधारण की भाषा में यथार्थ रूप में उपस्थित करते हुए तथा इन भ्रान्त धारणाओं को युक्तिपूर्वक खण्डित करते हुए आचार्य चतुर्वेदी जी ने इस वेदवेदाङ्गविज्ञान की रचना की है, जिसका मूल्यांकन पाठकगण स्वयं कर सकते हैं।

आजकल के पाठ्यक्रम में जहाँ वेद का अध्यापन वेदाङ्ग से अलग ही किया जाता है, वहीं वेदाङ्गों का भी अध्यापन वेद से अलग ही होता है। वेद के साथ शिक्षा एवं कल्प का अध्यापन इसलिये कराते हैं कि वह यज्ञ कराने में उपयोगी है। वैदिक कभी ज्योतिष आदि नहीं देखते एवं वैयाकरण या ज्यौतिषी वेद का अध्ययन नहीं करते हैं। आचार्य चतुर्वेदीजी इसमें समन्वय स्थापित करते हुए वेद एवं वेदाङ्ग को साथ–साथ पढ़ाने की आवश्यकता पर बल देते हैं। अङ्गी के बिना भला अङ्ग की सत्ता ही कैसी रह सकती है?

वेदों के रूप, गुण एवं क्रिया का सहज–सरल वर्णन के साथ यहाँ स्पष्टरूप से इसके त्रिविध विषयों का हृदयंगम निरूपण किया गया है। वेद

में वस्तुत: सामान्य रूप से तीन ही विषय प्रतिपादित होते हुए संसार के सभी विषयों एवं शास्त्रों के बीज बने हुए हैं—

१. कर्मकाण्ड (यज्ञविधि), २. ज्ञानकाण्ड और ३. उपासनाकाण्ड।

इस ग्रन्थ में वैदिक ऋषियों एवं देवताओं का विस्तृत एवं स्पष्ट परिचय हृदयग्राही हैं। ऐसा एकत्र निरूपण अन्यत्र दुर्लभ है।

आचार्य चतुर्वेदीजी की समीक्षात्मक दृष्टि वैदिकमन्त्रपाठ के पाठपरिशोधनों पर विचार कर एक क्रान्तिकारिणी बन गयी है। सुदीर्घ काल में गुरु—शिष्यपरम्परा में पालित वेदमन्त्रों में किसी शिष्य की अयोग्यतावश जो अपपाठ चला, उसे अपौरुषेय अविचाली अपरिवर्तनीय वेद से हटाने का साहस की किसमें है? परन्तु आचार्य चतुर्वेदीजी विद्वानों से युक्तिपूर्वक विचार का आह्वान करते हैं।

इस ग्रन्थ के परिशिष्ट में यज्ञों का परिचय और शास्त्रानुकूल विधान देकर जहाँ याज्ञिकों का उपकार किया गया है, वहीं सामान्य लोगों को इससे यथार्थ परिचय कराया गया है। सोमलता का शास्त्रीय परिचय देकर इसके विषय में फैले भ्रमजालों को दूर किया गया है।

इस वेदवेदाङ्गविज्ञान के रचयिता वयोवृद्ध आचार्य पण्डित सीताराम चतुर्वेदीजी विविधशास्त्र के जाने—माने विद्वान् हैं। इनके पिता पं० भीमसेनजी वेदपाठी वेदविद्या के महान् आचार्य काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में पौरोहित्य विभाग के अध्यक्ष थे। उन्होंने पाँचवें वर्ष में ही अपने पुत्र का उपनयन करा दिया और वेद, कर्मकाण्ड एवं यज्ञ का प्रायोगिक अध्ययन कराया। शास्त्री जी के पितृव्य पं० शशिभूषण अग्निहोत्री ने संवत् १९९२ में काशी में सोमयाग किया था। इन अनुभवों ने शास्त्री जी को मौलिक प्रयोगात्मक पाण्डित्य प्रदान किया। आचार्य शास्त्री जी वेद एवं वेदाङ्ग के अधिकारी विद्वान् हैं। आरम्भ से ही इन शास्त्रों का अध्यापन करते हुए ग्रन्थ प्रणयन भी करते रहे। समीक्षाशास्त्र, भाषालोचन आदि इनके पहले के ग्रन्थ हैं जबकि हाल में इनके कतिपय ग्रन्थ महावीर मन्दिर, पटना से प्रकाशित हुए हैं— रामराज्य, रामायणकथा आदि। ये सिद्धहस्त अनुवादक हैं— कालिदास-ग्रन्थावली, वाल्मीकीयरामायण, मारुतिचरितामृतम्, रामचरितमानस,

श्रीमद्भगवद्गीता आदि में इनका अनुवाद प्राञ्जल, मौलिकता एवं सहजता गुण से मण्डित देखा जाता है। वाराणसी, मुजफ्फरनगर, पटना आदि इनका कर्मक्षेत्र रहा है। महामना मदनमोहन मालवीय, वेदमूर्त्ति आचार्य विद्याधर गौड़ आदि विद्वानों का सान्निध्य एवं आर्शीवाद इन्हें प्राप्त रहा। प्रत्येक शास्त्र में इनके नवीन समीक्षात्मक विचारों को पाठक पचासों वर्षों से देख रहे हैं। ये सम्प्रति मुजफ्फरनगर में निवास करते हैं।

आशा है इनके इस नवीन उपादेय ग्रन्थ का आदर सभ्यसमाज अवश्य करेगा।

दरभङ्गा
२५.०७.२००३ ई०

किशोर कुणाल
कुलपति
का०सिं०द०संस्कृत विश्वविद्यालय
कामेश्वरनगर, दरभङ्गा।

वेद-वेदाङ्ग-प्रज्ञानम्

(परिचयात्मक)

बहुत दिनोंसे मेरी भावना थी कि वेद, वेदाङ्ग, कर्मकाण्ड और यज्ञ आदि विषयोंपर ग्रन्थ लिखूँ क्योंकि हमारे यहाँ अग्निहोत्र होता था और अमावस्या तथा पूर्णिमा को दर्शपौर्णमासेष्टि होती थी। हमारे आहिताग्नि पितृव्य पंडित शशिभूषण अग्निहोत्रीजीने संवत् १९९२ के आषाढ़ मासमें काशीमें सोमयाग भी किया था। हमारे पिताजी पंडित भीमसेनजी वेदपाठी श्रौत-स्मार्त्त कर्मकाण्ड के धुरन्धर विद्वान् थे और काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के प्राच्य विद्या-विभागमें पौरोहित्य-विभागके अध्यक्ष थे। उन्होंने ही पाँच वर्षकी अवस्थामें मेरा उपनयन-संस्कार किया, वेद पढ़ाया, कर्मकाण्ड सिखाया और यज्ञोंमें मुझे साथ ले जाते रहे। अतः वैदिक कर्मकाण्डमें मेरी स्वाभाविक संस्कारतः रुचि रही।

सुयोगवश दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय के सम्माननीय कुलपति डाक्टर प्रवर आचार्य पंडित प्रवर श्री किशोर कुणालजीने आषाढ़के प्रारम्भमें यह प्रेरणा दी कि वेद-वेदाङ्गपर एक परिचयात्मक ग्रन्थ प्रस्तुत करा दिया जाय। वैदिक साहित्य इतना विस्तृत, बहुसंख्यक और विशाल है कि उसकी थाह लगाना किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है क्योंकि एक-एक वेदके जितने प्रतिशाख्य विभिन्न वैदिक ग्रन्थोंमें गिनाए गए हैं वे सभी इतने लुप्त हो गए हैं कि किसी वेदका एक किसीके दो प्रतिशाख्य प्राप्त होते हैं। सामवेदके सौ प्रातिशांख्योंमें केवल दो प्राप्त होते हैं। इसलिये संहिताओंके वास्तविक मूल पाठका निर्धारण करना असम्भव हो गया है।

वेदाङ्गोंका अध्ययनाध्यापन लुप्त हो जानेके कारण सबसे बड़ी समस्या यह उत्पन्न हो गई है कि संहिता-पाठ की अष्ट-विकृतियोंका विधान होनेपर भी छन्द और व्याकरणकी दृष्टिसे अनेक भ्रामक पाठ चल पड़े जिनके समाधान

और सुधारपर किसी भी संहिता-पाठ प्रकाशित करनेवाले विद्वान्ने ध्यान नहीं दिया क्योंकि वेदोंके अपौरुषेय होने के कारण या चलते हुए पाठको ज्योंका त्यों पढ़ते जानेके कारण या छन्द और व्याकरणकी शुद्धतापर विचार न करनेके कारण उसमें किसीने सुधार या परिवर्तन नहीं किया। नीचे कुछ उदाहरण दिए जा रहे हैं –

एक मंत्र है – त्रीणि पदावि चक्रमे विष्णुर्गोपा पदाभ्यः।

जब 'त्रीणि' विशेषण है तब 'पदा' न होकर 'पदानि' होना चाहिए। प्रीणि पदानि चक्रमे। किन्तु सभी प्रकाशित संहिताओंमें 'त्रीणि पदा' ही चला आ रहा है। विष्णुर्गोपा पदाभ्यः-में आठ वर्ण होने चाहिए, जबक़ि केवल सात हैं। इस चरणके अन्तिम शब्द 'पदाभ्य'में चतुर्थीके बहुवचनकी विभक्ति लगी है, किन्तु प्रतिपादिक शब्द ज्ञात नहीं होता। वास्तवमें यह पद होगा किन्तु किसी शाखाके शिष्य के प्रमादसे यही पाठ चल पड़ा। मंत्रका तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि विष्णुने तीन पग चलकर जो भूमि ग्रहण की वही ब्राह्मणोंको दे दी। अतः कुछ विद्वानोंने सुझाया है कि छन्द और व्याक़रण को दृष्टिमें रखकर यह पाठ कुछ इस प्रकार हो – 'विष्णुर्गोपिभ्योभू, या विष्णुर्गोपा पृथ्वी अक्षत्। यदि अन्य प्रतिशाख्य प्राप्त हो पाते तब यह देखा जा सकता था कि किस प्रतिशाख्यसे यह भूल हुई या किस शिष्य के पाठसे यह अशुद्धि चली।

इसी प्रकार – 'इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्।' के दूसरे चरणमें भी आठके बदले सात ही वर्ण हैं। जान पड़ता है, किसी शिष्यके प्रमादसे 'त्रिविधा' शब्द विकृत होकर 'त्रेधा' बन गया। इसी प्रकारके असंख्य भ्रामक शब्द सब वेदोंकी संहिताओंमें भरे पड़े हैं। गायत्री-मंत्रके प्रथम चरण 'तत्सवितुवरेण्यं'-में सात ही वर्ण हैं जिसके सुधारके लिये कुछ वैदिक विद्वानोंने सुझाव दिया है कि 'वरेण्यं'-को 'वरेणियं' पढ़ना चाहिए। और तो और, पुरुष-सूक्तका पाठ भी अथर्ववेदमें कुछ भिन्नहै। वह कैसे हो गया, यह कहना असम्भव हो गया है।

पीछे दोनों पाठ परिशिष्टमें दिए जा रहे हैं।

यस्य प्रश्वसितं वेदाः

वेदकी शिक्षा देनेवाले और शिक्षा पानेवाले लोग केवल काव्यके शिक्षणको ही संस्कृतका शिक्षण मानते हैं। इस काव्यके शिक्षणको पूर्ण करनेके लिये वे

व्याकरणकी शिक्षा आवश्यक समझते हैं क्योंकि भाषाके नियंत्रणकी शक्ति व्याकरणमें ही निहित है। यहाँतक कि आजकल वेदके उपवेद गान्धर्ववेदकी तो पूर्णतः उपेक्षा कर दी गई है और उसे संस्कृत-शिक्षाका अंग भी नहीं माना जाता। आयुर्वेदका अध्ययन भी उपवेदके रूपमें न करके इस प्रकार किया जाता है मानों वैदिक साहित्यसे उसका कोई सम्बन्ध न हो। ज्योतिषकाअध्ययन भी वेदाङ्गके रूपमें न करके स्वतंत्र किया जाता है। इसलिये वेद, उपवेद और वेदाङ्गकी सम्यक् शिक्षाका स्वरूप केवल विकृत ही नहीं हुआ, पूर्णतः लुप्त हो गया।

वेदका शिक्षण

श्रुति, आम्नाय, छंदस्, ब्रह्म, निगम, वेद या प्रवचन का शिक्षण केवल संहिता भाग या मंत्र भाग कण्ठस्थ करा देना ही माना जाता है। वेद का अध्ययन भी प्रायः इसीलिये किया जाता है कि पौरोहित्य-कर्म करानेवाले ब्राह्मण अपनी जीविका सुरक्षित रख सकें और जितनेके सहारे वे यज्ञोपवीत, विवाह तथा दैहिक संस्कार करा सकें। इतने कर्मकि लिये भी जो अध्ययन किया जाता हैवह इतना विकृत होता है कि न तो वेद-मंत्रोंके पाठमें उच्चारणकी शुद्धता श्रुतिगोचर होती है और न स्वरोंका उचित प्रयोग किया जाता है।

वेदकेअध्ययनमें विकृति

वेदके शिक्षणमें यह उपेक्षा केवल इसी युगमें ही नहीं हुई है। मत्स्य-पुराणके १४४वें अध्यायमें द्वापरके अंतका भविष्य बताते हुए कहा गया है कि सत्ययुग और द्वापरके लम्बे युगमें अनेक प्रकारकी भूलोंके कारण एक आध्वर्यव अर्थात् केवल यजुर्वेद रह जाता है (अध्याय १४२)। फिर वह भी बार बार लोगोंकी अपात्रता, अस्वस्थता और अल्पायुताके कारण बार-बार परिवर्तित होता रहता है। यहाँतक कि द्वापरमें आकर उसके बहुतसे खण्ड और बहुत-सी शाखाएँ बन जाती हैं। ऋषियोंके वंशज दृष्टि-विभ्रमके कारण अनेक भूलें करने लगते हैं, मंत्रोंको अस्त-व्यस्त कर देते हैं, ब्राह्मण और कल्पसूत्रोंका क्रम नष्ट हो जाता है तथा स्वर और पाठमें भी विपर्यय हो जाता है। इसीलिए ऋषियोंको बार बार ऋक्, यजुस् और सामन् तीनों को पुनः संकलित करना पड़ता है। इनमेंसे भी यजुर्वेद पहले तो एक ही रहता है किन्तु फिर उसके भी दो पाठ (शुक्ल और कृष्ण) हो जाते हैं। द्वापरमें ही ऋक्,

यजुस् और सामन्‌के अर्थोंका विपर्यय हो जाता है और कलियुगमें तो उसका नाश ही हो जाता है।

(मत्स्यपुराण, अध्याय १४४, श्लोक १०-१६)

वेदोंका उद्धार

इसीलिये द्वापरके अंतमें वेदव्यासने वेदोंका संकलन और विभाग किया। केवल उन्होंने ही नहीं, इससे पूर्व भी अनेक बार वेदोंका उद्धार हो चुका है। महाभारतके सत्यपर्वमें कथा आई है कि जब अवर्षणके कारण ऋषि लोग बारह वर्षोंतक देशसे बाहर घूमते रहे और वेद भूल गए तब दधीचि और सरस्वतीके पुत्र सारस्वत ऋषिने अपनेसे बहुत बूढ़े ऋषियोंको पुनः वेद पढ़ाया था। इसी प्रकार दत्तात्रेयजी ने भी वेदोंका उद्धार किया था और सायणाचार्यजीने भी जो भाष्य लिखनेका उपक्रम किया था वह भी वेदका उद्धार ही था। बौद्धोंके प्रभावसे वेदकी घटती हुई शक्ति और मिटती हुई परम्पराको पुनः सशक्त करनेके लिये कुमारिल भट्टने जो प्रयत्न किया था वह भी वेदका उद्धार ही था।

सब मंत्र एक साथ ही प्रकट नहीं हुए। विभिन्न मंत्रदृष्टा ऋषियोंने अलग अलग समयमें मंत्रोंका दर्शन किया और इस प्रकार लाखों वर्षोंमें विभिन्न युगोंमें मंत्रोंके दर्शन होनेके कारण बहुत पीछे चलकर संहिता-रूपमें उनका संकलन किया गया।

वेदोंका क्रम

कुछ विद्वान् मानते हैं कि पहले ऋग्वेद हुआ, फिर सामवेद, फिर यजुर्वेद और अन्तमें अथर्ववेद। किन्तु यह नितान्त भ्रम है क्योंकि यजुर्वेदमें ७५ ऋचाओंके अतिरिक्त शेष सभी ऋचाएँ ऋग्वेदकीही हैं। इसी प्रकार अथर्ववेदकी लगभग पंचमांश ऋचाएँ ऋग्वेदकी ही हैं। चारों वेदोंके नाम अलग अलग देनेका तात्पर्य यही है कि वैदिक कर्मकाण्ड या विनियोगमें इन विभिन्न ऋचाओंका प्रयोग विभिन्न प्रकारसे किया जाता था। दूसरा यह भी कारण था कि विभिन्न वेदोंकी ऋचाओंका प्रयोग करनेवाले होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा नामक यज्ञकर्मी विभिन्न प्रकारसे उन ऋचाओंका पाठ करते थे और इसीलिए ऋक्, यजुस् और सामन् तथा अथर्ववेदका पाठ करनेवालोंके ये नाम भी अलग अलग थे।

वेदोंके विषय

चारों वेदोंमें प्रधानतः तीन विषयोंका प्रतिपादन है – १. कर्मकाण्ड अर्थात् यज्ञकर्म, जिससे यज्ञ करनेवालेको इस लोकमें अभीष्ट फल प्राप्त हो और शरीर छोड़ देनेपर सुख मिले ; २. ज्ञानकाण्ड अर्थात् वास्तविक ज्ञानकी प्राप्ति, जिससे इहलोक, परलोक और ईश्वरके सम्बन्धमें वास्तविक तत्त्व और रहस्यकी बातें जानी जा सकें और जिससे मनुष्यके स्वार्थ, परार्थ और परमार्थकी सिद्धि हो सके; ३. उपासना-काण्ड, अर्थात् ईश्वरका भजन, पूजन आदि, जिससे मनुष्य ऐहिक, पारलौकिक और पारमार्थिक अभीष्टकी सिद्धि कर सके।

वेदपाठ

वेद-पाठका नियम है कि मंत्रके ऋषि, छंद, देवता और विनियोगको जाने बिना ज़ो वेदमंत्र पढ़ता है वह व्यक्ति मंत्र-कंटकी कहलाता है और उसे बड़ा पाप लगता है। मंत्रके साथ साथ यह भी जानना चाहिए कि किस मंत्रको किस ऋषिने प्रकट किया, वह मंत्र किस छंदमें है, उस छंदमें किस देवताका वर्णन है और उस मंत्रका प्रयोग किस काममें होता है। यद्यपि वेद-पाठमें अनेक प्रकारके उच्चारण-दोष आ गए हैं फिर भी वेदका पाठ शुद्ध बना रखनेमें कुछ उठा नहीं छोड़ा। यद्यपि विभिन्न शाखाओंके कारण उच्चारणमें कुछ अन्तर अवश्य आ गया, तथापि पाठमें अधिक परिवर्तन नहीं हुआ। पहले सामान्य रूपसे पद्यको ऋक्, गद्यको यजुः और गानको साम कहते थे और वे लोग तीन ही वेद मानते थे। शतपथ ब्राह्मणने भी लिखा है –

त्रयी वै विद्या ऋचो यजूंषि सामानि।

(शतपथ ४।६।७।१)

जैमिनीय मीमांसा दर्शनमें बताया गया है –

तेषामृग् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था। गीतिषु सामाख्या, शेषे यजुः शब्दः।

(जैमिनी-मीमांसा-दर्शन २।१।३२, ३३, ३४)

(तीनों वेदोंमें अर्थवश पाद-व्यवस्थाको ऋक्, गानको साम तथा शेषको यजुः कहते हैं।)

ऋग्वेद

ऋग्वेदमें १० मण्डल हैं और प्रत्येक मण्डलमें सूक्तोंका संग्रह है। ये सूक्त कुल १०२८ हैं। प्रत्येक सूक्तमें किसी न किसी दिव्य, अलौकिक विभूतिकी स्तुति की गई है और साथ साथ सृष्टिके अनेक तत्त्वों और रहस्योंका विवरण भी दिया गया है। ये सभी सूक्त या मंत्र वैदिक छंद और पद्यमें हैं। ऋग्वेदके सूक्तोंमें बालखिल्य नामक ११ सूक्तोंपर न तो सायणाचार्यका भाष्य और न शौनक ऋषिने अपनी आर्षानुक्रमणीमें उनका उल्लेख किया है।

यजुर्वेद

यजन या यज्ञ करनेका वेद यजुर्वेद है। इसमें ऋग्वेदके मंत्रोंका पाठ होता है, सामके मंत्रोंका भी गान होता है और दर्श तथा पौर्णमासेष्टि यज्ञोंमें अथर्ववेदके मंत्रोंका प्रयोग भी होता है। यजुर्वेदके दो पाठ हैं शुक्ल यजुर्वेद और कृष्ण यजुर्वेद। शुक्ल यजुर्वेद की १५ शाखाएँ हैं जिनकी समष्टिको वाजसनेयी शाखा कहते हैं। इस वाजसनेयी या शुक्ल यजुर्वेद-संहितामें १९९० मंत्र हैं।

कृष्ण यजुर्वेदको तैत्तिरीय संहिता भी कहते हैं जिसकी चार शाखाएँ काठक, कपिष्ठल-कठ, मैत्रायणी और तैत्तिरीय मिलकर कृष्ण यजुर्वेद कहलाती हैं। यजुर्वेदकी माध्यन्दिन शाखा या वाजसनेय संहितामें ४० अध्याय हैं, जिनमेंसे ३९ अध्यायोंतक यज्ञोंका वर्णन है और चालीसवेंमें सारी संहिताका उपसंहार है जो ईशावास्योपनिषद्के नामसे प्रसिद्ध है और जिसका दार्शनिकोंमें बड़ा सम्मान है।

सामवेद

सामवेदमें सभी मंत्र गायनके लिये हैं। जिन यज्ञोंमें सोमरसका प्रयोग होता था उनमें उद्गाताओंका कर्त्तव्य था कि वे सोमरसकी उत्पत्ति और प्रयोगके समय सामगान करें। इसकी तीन शाखाओंमेंसे कौथुमी शाखाका प्रचार गुजरातमें, जैमिनीका कर्णाटकमें और राणायणीयका महाराष्ट्रमें है। राणायणीय संहितामें पूर्वार्चिकमें ग्रामगेय-गान और अरण्य-गान नामक दो विभाग हैं और उत्तरार्चिकमें ऊहगान और उह्यगान नामक दो गान हैं। जैसे उच्चारणकी दृष्टिसे अन्य वेदोंमें उदात्त, अनुदात्त और स्वरितके लिये चिह्न लगाए जाते हैं

उसी प्रकार सामगायकोंके लिये उदात्त, अनुदात्त और स्वरितके लिये चिह्नोंके बदले काल-मात्रा-निर्देशक १-२-३ अंक दिए जाते हैं।

अथर्ववेद

अथर्ववेदके ९ भाग हैं — पैप्लाद, शौणकीय, दामोद, तोत्तायन, जामल, ब्रह्मपालाश, कुनरवा, देवदर्शी और चरणविद्या। कुछ विद्वानोंने इन शाखाओंके अग्रांकित नाम दिए हैं — पैप्लाद, आन्ध्र, प्रदात्त, स्नात, ब्रह्मदावन, शौनक, देवदर्शती और चारणविद्या। इनके अतिरिक्त तैत्तिरीयके दो भेद हैं — औरव्य और काण्डिकेय। अथर्ववेदकी संहितामें २० काण्ड हैं जो ३८ पाठक्रमोंमें विभक्त हैं। इनमें ७६० सूक्त और ६००० मंत्र हैं। किसी किसी शाखा के ग्रन्थमें अनुवाक भी हैं जिनकी संख्या ८० है। यज्ञकार्यको भली प्रकार चलानेके लिये वेदको ४ संहिताओंमें विभक्त किया गया है — ऋक्, यजुः, साम और अथर्व। होताके लिये ऋग्वेद, अध्वर्युके लिये यजुर्वेद, उद्गाताके लिये सामवेद और ब्रह्माके लिये अथर्ववेद। इसे ब्रह्मवेद भी कहते हैं। इस वेदमें सभी वेदोंका सार-तत्त्व निहित है। अथर्ववेदमें अनेक प्रकारके ऐहिक फल, शान्ति और पुष्टि-कर्म, राजकर्म और तुला-पुरुष, पौरोहित्य और राज्याभिषेक आदिका वर्णन है। अथर्ववेदमें इन विषयोंके अतिरिक्त बीच-बीचमें सूत्र-रूपमें ब्रह्मविद्याके गूढ़ विषय भी निहित हैं जिनका पूरा विकास और वर्णन उपनिषदोंमें हुआ है।

ऋग्वेदका पूरक साहित्य

ऋग्वेद या ऋक् साहित्यके दो ब्राह्मण-ग्रन्थ हैं — ऐतरेय और शांखायन (कौषीतकी)। इन दोनों ब्राह्मण-ग्रन्थोंके आरण्यक ग्रन्थ भी हैं जिनमें अधिकतर उपनिषद्के ही अंश हैं। ऐतरेय आरण्यकके पाँच ग्रन्थ पाए जाते हैं और कौषीतकीके तीन। इन आरण्यकोंके अतिरिक्त बाष्कल और मैत्रायणी उपनिषद् भी ऋग्वेदके ही उपनिषद् माने जाते हैं।

ऋक् साहित्यमें तीसरी महत्त्वपूर्ण वस्तुसूत्र है जिनमेंसे श्रौत-सूत्र या कल्प-सूत्रमें कर्मकाण्ड विषयका निरूपण किया गया है। इन श्रौत-सूत्रोंमें सबसे पहला आश्वलायन सूत्र बारह अध्यायोंमें और फिर शांखायन श्रौत सूत्र ४८ अध्यायोंमें है। ऋग्वेदके गृह्यसूत्रमें विवाह, गर्भाधान, जातकर्म, चूडाकर्म, उपनयन, वर्णाश्रमाचार और श्राद्ध आदि १० कर्मोंका विधान है।

ऋक्संहिताका एक प्रातिशाख्य सूत्र भी है जो आश्वलायनके गुरु शौनकका बनाया हुआ कहा जाता है। इसमें तीन काण्ड, प्रत्येक काण्डमें ३ पटल और कुल मिलाकर १०३ कण्डिकाएँ हैं।

इनके अतिरिक्त अनुक्रमणी नामका एक ग्रन्थ वैदिक साहित्यके अन्तर्गत आता है जिससे छन्द, देवता और मंत्रद्रष्टा ऋषिका पर्याय-क्रमसे परिचय मिलता है। उनमेंसे शौनककी रची हुई अनुवाक् अनुक्रमणी और कात्यायनकी रची हुई सर्वानुक्रमणी अधिक प्रसिद्ध है। इनके अतिरिक्त ऋग्वेदका एक ग्रन्थ बृहद्देवता हैजिसमें विस्तारसे वैदिक आख्यान दिए हुए हैं।

यजुर्वेदका पूरक साहित्य

यजुर्वेदकी ८६ शाखाएँ बताई जाती हैं। वैशम्पायन-प्रवर्तित तैत्तिरीय संहिताकी २७ शाखाएँ हैं। यजुर्वेदकी तैत्तिरीय और वाजसनेयकी दोनों संहिताएँ एक ही विषयपर हैं किन्तु भेद यह है कि कृष्ण यजुर्वेदमें मंत्रोंके साथ क्रिया-प्रणाली भी खोलकर बता दी गई है और मंत्रोंके व्यवहारका उद्देश्य भी बता दिया गया है। कृष्ण यजुर्वेदमें होता और उसके कर्त्तव्यके सम्बन्धमें विचार किया गया है। शुक्ल यजुर्वेदमें तो कहीं-कहीं ऐसा है। कृष्ण यजुर्वेदकी शाखाओंमेंसे केवल चरक-सम्प्रदायकी ही बारह शाखाएँ थीं जिनमेंसे मैत्रायणकी भी सात शाखाएँ हैं। कृष्ण यजुर्वेदमें ७ काण्ड और प्रत्येक काण्डमें कई प्रपाठक हैं। इसके एक सम्प्रदायका ग्रन्थ आपस्तम्ब यजुःसंहिता है जिसमें ७ अष्टक हैं। इन अष्टकोंमें ४४ प्रश्न हैं। इन ४४ प्रश्नोंमें ६५१ अनुवाक हैं, इन अनुवाकोंमें २१९८ कण्डिकाएँ है और सामान्यतः प्रत्येक कण्डिकामें पचास-पचास शब्द हैं। मैत्रायणी शाखाके ५ काण्ड मिलते हैं। इसका तैत्तिरीय आरण्यक है। इस आरण्यकका ७-८-९वाँ प्रपाठक उपनिषत् कहलाता है।

इसके सूत्र-ग्रन्थ भी अनेक हैं जिनमें श्रौतसूत्र, धर्मसूत्र और गृह्यसूत्र सभी आते हैं। शतपथ ब्राह्मण भी इसका प्रमुख ब्राह्मण है। शुक्ल यजुर्वेदके प्रातिशाख्य सूत्र और उसकी अनुक्रमणी भी कात्यायनके नामसे प्रसिद्ध है।

सामवेदका पूरक साहित्य

सामवेदमें गेय ऋचाएँ और गेय यजुस् दोनों हैं। इनमेंसे ऋचाओंको आर्चिस और यजुस्को स्तोम कहते हैं। पूर्व मीमांसामें कहा गया है कि सामवेदमें ऋचाओंके अतिरिक्त जितने भी गीति-साधक शब्द-समूह हैं उन सबको स्तोम

कहते हैं। ये तीन प्रकारके होते हैं – वर्ण-स्तोम, पदस्तोम और वाक्यस्तोम।

गायनकी दृष्टिसे सामवेदके चार भाग हैं – गेय, आरण्य, ऊह और उह्य। सामवेदका आरण्यक साम-संहिताके अन्तर्गत ही आ जाता है और आरण्यगान कहलाता है। यह आरण्यक ६ प्रपाठकोंमें विभक्त है। सामवेदका महाब्राह्मण सबसे अधिक प्रसिद्ध है जिसमें २५ अध्याय हैं। इसके अन्य ब्राह्मण हैं – षड्विंश, सामविधान, आर्षेय,मंत्र, ब्राह्मण। इसके उपनिषद् ग्रन्थोंमें उपनिषद् और केनोपनिषद् प्रसिद्ध हैं।

सामवेदके पंचविंश ब्राह्मणका एक श्रौत-सूत्र और एक गृह्यसूत्र है। इस श्रौतसूत्रका नाम मासक श्रौतसूत्र है। अन्य श्रौतसूत्रोंमें लाट्यायन, द्राह्यायण, अनुपद, पुष्प और सामतंत्र आते हैं। गृह्यसूत्रोंमें गोभिल गृह्यसूत्र और खादिर गृह्यसूत्र प्रसिद्ध हैं। सामवेदके परिशिष्टमें तांड्य परिशिष्ट उल्लेखनीय है।

अथर्ववेदका पूरक साहित्य

अथर्ववेदके ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें गोपथ-ब्राह्मण ही प्रसिद्ध है जिसके पूर्व और उत्तर नामक दो खण्ड हैं। इसकी ९ शाखाएँ हैं जिनमें शौनक आदि ४ शाखाओं-द्वारा अनुमोदित अथर्ववेद-संहिताके अनुवाकों, सूक्तों और ऋक् आदि कर्मकाण्डीय विनियोगके लिये गोपथ-ब्राह्मणके आधारपर ५ सूत्र-ग्रन्थ बने हैं – कौशिक तथा वैतान-सूत्र और नक्षत्र, आंगिरस तथा शांति-कल्पसूत्र। सब वेदोंकी अपेक्षा अथर्ववेदके उपनिषदोंकी संख्या सबसे अधिक है जिनमें मुण्डक, प्रश्न और नृसिंहोत्तर तापनीय उपनिषद् प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त मुक्तिकोपनिषद्में ९३ आथर्वण उपनिषदोंके नाम मिलते हैं। उनके अतिरिक्त और भी अनेक उपनिषद् हैं जिनकी संख्या २००से भी अधिक होगी।

वेदकी शिक्षा-पद्धति

ऊपर दिए हुए विवरणसे स्पष्ट है कि आज जितना हमारा काव्य-साहित्यका विस्तार दिखाई पड़ रहा है उससे कहीं अधिक विस्तृत और विशाल वैदिक साहित्य था। वेदके सम्यक् अध्ययन करनेके लिये वेदकी संहिताओंका उसके उच्चारणके अनुसार पाठके अनन्तर उसका अर्थ स्पष्ट जान लिया जाय। प्रत्येक मंत्रके साथ उस मंत्रके देवता, छन्द और विनियोग आवश्यक है। अतः,

वेदकी शिक्षा देनेके लिये उसके दो भाग किए जाने चाहिएँ—पाठ-अध्ययन और अर्थ-अध्ययन। पाठ-अध्ययनके सम्बन्धमें अष्ट विकृति तथा शिक्षा और प्रातिशाख्योंमें दिए नियमोंके अनुसार पाठ करना नितान्त आवश्यक है।

वेदपाठके लिये निम्नांकित अभ्यास आवश्यक हैं :

१. आसन, अर्थात् पद्मासन लगाकर सीधे बैठनेकी प्रक्रिया।
२. प्राणायाम, अर्थात् श्वास साधनेका अभ्यास, जिससे ग्रन्थका पाठ करते समय बीचमें साँस न टूटे।
३. स्वरका अभ्यास, अर्थात् उदात्त, अनुदात्त और स्वरितके उच्चारणके समय स्वर-भंग होने, मंद होने या अन्य विकृति उत्पन्न होनेकी सम्भावना न रहे।
४. गुरूपदेश, अर्थात् स्वयं पुस्तक देखकर या सुनकर अभ्यास करनेके बदले गुरुके द्वारा ही उपदेश सुनना अर्थात् सम्पूर्ण मंत्रोच्चारणकी प्रक्रिया सीख लेना।

वेदका शिक्षा-क्रम

व्यासजीने अपने शिष्य वैशम्पायन, सुमन्तु, पैल और जैमिनिको वेदकी शिक्षा देते समय यह क्रम रक्खा था कि पहले वे पाठके विषयका परिचय देते थे अर्थात् पाठ कंठस्थ करा देते थे, फिर उसकी व्याख्या करते थे और फिर उसका प्रयोग या उपसंहार कराते थे। इसीको क्रमशः पाठ, विधि और अर्थवाद कहते हैं। दक्ष-स्मृतिमें वेदाध्ययनका क्रम इस प्रकार बताया गया है—वेदोंका महत्त्व स्वीकार करना, ऊहापोह (तर्क-वितर्क), अध्ययन, सस्वर उच्चारण और मनन।

अतः, वेदपाठका अर्थज्ञान करनेसे पूर्व यह जानना चाहिए कि किस ऋषिने, किस मंत्रका दर्शन किया, किस देवताके लिये इस मंत्रका प्रयोग किया गया और किस छन्दमें इसकी रचना हुई। इसके पश्चात् अर्थ जाननेका अभ्यास करना चाहिए। अर्थके लिये निरुक्त और व्याकरणका अभ्यास करना चाहिए क्योंकि बिना उनके अर्थज्ञान सम्भव नहीं है। विनियोगके लिये भी कर्मकाण्ड जानना चाहिए जो कल्पका ज्ञान किए बिना सम्भव नहीं है। कल्पके लिये भी यह जानना आवश्यक है कि किस नक्षत्रमें, किस क्रमसे, कौन-सी क्रिया करनी चाहिए, किस प्रकार मंडप आदिकी रचना करनी चाहिए। यह सब ज्ञान उसे

ज्योतिष्सेही प्राप्त हो सकता है। इसका तात्पर्य यह है कि वेदका वास्तविक अर्थ और उसका प्रयोग जाननेके लिये वेदांगोंका सम्यक ज्ञान होना आवश्यक है क्योंकि जबतक यह ज्ञान नहीं होगा तबतक वेदका अर्थमात्र जाननेसे वेदका अध्ययन पूर्ण नहीं होगा। इस प्रकार वेदके अर्थ-भागको जाननेके लिये निम्नांकित पाठन-क्रम अपनाना होगा।

१. व्याकरण का अध्ययन।

२. निरुक्तका अध्ययन जो व्याकरणके साथ चल सकता है।

३. छंदका अध्ययन जोशिक्षाके साथ चलाया जा सकता है।

४. शिक्षाका अध्ययन जो छंदके साथ ही सीखना चाहिए।

५. ज्योतिष्का अध्ययन जो स्वतंत्र ही चल सकता है।

६. कल्पका ज्ञान और प्रयोग, व्याकरण, ज्योतिष्, छन्द और शिक्षाके अनन्तर प्रारम्भ करना चाहिए क्योंकि कल्प अर्थात् यज्ञ-क्रिया भली प्रकार तभी सीखी जा सकती है जब उपर्युक्त सब वेदाङ्गोंका ज्ञान पूर्ण हो जाय।

इनमेंसे वेदाङ्गकेशिक्षणकी पद्धति, पाठन-प्रणाली और शिक्षण-विधि भिन्न होती है।

धनुर्वेद

धनुर्वेदके शास्त्रीय अध्ययन और प्रयोगकी पद्धति तो महाभारतके युद्धके पश्चात् ही समाप्त हो गई थी किन्तु धनुष् चलानेकी रीति भी बन्दूकके आविष्कारसे समाप्त हो गई। शब्द-वेधी बाण चलानेकी प्रक्रिया पृथ्वीराज चौहानके समयतक प्रचलित रही। आजकल भी कुछ लोग धनुर्विद्याके नामसे शब्द-वेधी बाण चलानेका प्रयत्न करते रहे हैं किन्तु वह केवल प्रदर्शन मात्र है, उसका कोई सामरिक महत्त्व नहीं है।

धनुर्वेदके अनुसार चार प्रकारके आयुध होते थे—मुक्त, अमुक्त, मुक्तामुक्त और यंत्रमुक्त। इनमेंसे चक्र आदि मुक्त हैं, खड्ग आदि अमुक्त हैं, बर्छे तथा इसी प्रकारके हथियार मुक्तामुक्त हैं तथा बाणआदि यन्त्रमुक्त हैं। इनमेंसे भी मुक्तको अस्त्र कहते हैं और अमुक्त को शस्त्र। साधिदैवत और समन्त्रक चारों प्रकारके आयुधोंपर जिनका अधिकार होता है वे क्षत्रिय-कुमार कहलाते हैं और उनके अनुवर्ती पदाति (पैदल), रथी, गजारोही और अश्वारोही होते हैं। इसके अतिरिक्त धनुर्वेदके अन्तर्गत दीक्षा, अभिषेक, शाकुन और मंगलकरण,

आचार्यकि लक्षण, साम्प्रदायिक शस्त्र, उनका अभ्यास, मन्त्र, देवता, सिद्ध करनेकी विधि, देवताओंकी अर्चना और सिद्ध अस्त्र-शस्त्र आदिके प्रयोगका निरूपण किया गया है। वैशम्पायनके धनुर्वेदसे ज्ञात होता है कि सर्वप्रथम तलवारकी प्रथा चली और उसके पश्चात् राजा पृथुके समयमें धनुष्का आविष्कार हुआ। यह विचित्र बात है कि सभी भारतीय विद्याओंके विकासकी पद्धतियोंका जहाँ अध्ययन और प्रसार हो रहा है, वहाँ धनुर्वेदकी ओरसे सभी उदासीन हैं।

गान्धर्ववेद

गान्धर्ववेद ही सामवेदका उपवेद है। सामवेदकी एक सहस्र शाखाओंमेंसे जो १३ शाखाएँ उपलब्ध हैं उनमेंसे वार्ष्णेय शाखाका उपवेद गान्धर्व उपवेद कहलाता है। गान्धर्ववेदका कोई प्रामाणिक ग्रन्थ प्राप्त नहीं हुआ किन्तु संगीत-रत्नाकर, संगीत-दर्पण, संगीत-प्रदीप तथा संगीत-प्रभा आदि ग्रन्थोंमें ध्वनि, वर्ण, स्वर, भाव, शब्दके रंगरूप, देवता आदि, अरण्य गान, मंगलाचरण, यज्ञगान, उह्यगान, वैन्यगान, वाद्ययंत्र-निर्माण तथा उनका प्रयोग, नर्तनके प्रकार, नाट्यशाला-निर्माण, विभिन्न प्रकारके कलात्मक नृत्य, ताल तत, सुषिर, आनद्ध तथा घन वाद्य यंत्रोंका प्रयोग, गीत, वाद्य, नृत्य और नाट्य-सम्बन्धी विषयोंका वर्णन है।

संगीतके दो प्रकार बताए गए हैं — मार्गी और देशी। इनमेंसे मार्गी संगीत अर्थात् आध्यात्मिक संगीत लुप्त हो गया है। इस पारलौकिक संगीतके प्रवर्त्तक भगवान् शंकर हैं तथा लौकिक संगीतके प्रवर्त्तक भरत समझे जाते हैं। नारद भी संगीतके आचार्योंमें गिने जाते हैं। आजकल शास्त्रीय संगीतके नामसे जो संगीत प्रचलित है वह पूर्णतः अशास्त्रीय है।

आयुर्वेद

चरणव्यूहके अनुसार आयुर्वेदको ऋग्वेदका उपवेद माना गया है किन्तु सुश्रुत आदि आयुर्वेदके ग्रन्थोंके अनुसार इसे अथर्ववेदका उपवेद माना गया है क्योंकि उनके मतानुसार स्वस्त्ययन, बलि, मंगल, होम, नियम, प्रायश्चित्त, उपवास और मंत्र आदि इसी अथर्ववेदसे लेकर ही चिकित्साका उपदेश किया जाता है —

चतुर्णां ऋक्सामयजुरथर्ववेदानां आत्मनोऽथर्ववेदभक्तिरादिष्टा।वेदो हि अथर्वणः। दान-स्वस्त्ययन-बलि-मंगल-होम-नियम-प्रायश्चित्तोपवासमंत्राणि परिग्रहात् चिकित्सा प्राह।

(चरक सूत्रस्थान, अध्याय ३०)

इह खलु आयुर्वेदो नाम यदुपागमाथर्ववेदस्य

(सुश्रुत सूत्रस्थान, अध्याय १)।

सुश्रुतके अनुसार ब्रह्माने एक सहस्र अध्यायों और एक लाख श्लोकोंका आयुर्वेदका ग्रन्थ रचा जिसे उनसे प्रजापतिने, प्रजापतिसे अश्विनी-कुमारोंने, अश्विनीकुमारोंसे इन्द्रने, इन्द्रसे धनवन्तरिने पढ़ा और धनवन्तरिसे सुनकर सुश्रुत मुनिने आयुर्वेदका निर्माण किया। ब्रह्माजीने आयुर्वेदको आठ भागों और तंत्रोंमें विभक्त किया जिसके कारण अष्टांग आयुर्वेद कहलाता है—

१. शल्य-तंत्र (चीरफाड़का काम), २. शालाक्य-तंत्र, ३. काय-चिकित्सा-तंत्र, ४. भूतविद्या- तंत्र, ५. कौमारभृत्य-तंत्र, ६. अंगदतंत्र, ७. रसायन-तंत्र और ८. बाजीकरण-तंत्र।

इस अष्टांग आयुर्वेदके अन्तर्गत शरीर-विज्ञान, शस्त्र-विद्या, भैषज्य और द्रव्य-चिकित्सा-तत्त्व तथा धात्री-विद्या भी सम्मिलित है। इसके अतिरिक्त सदृश चिकित्सा, विरोधी चिकित्सा, जल-चिकित्सा, दर्शन-चिकित्सा, स्पर्श-चिकित्सा, गन्ध-चिकित्सा, श्रवण-चिकित्सा आदि अनेक प्रकारकी चिकित्सा-प्रणालियोंका विधान है जिनपर विस्तारसे अनुसंधानकी आवश्यकता है।

अर्थवेद

अर्थवेद या अर्थशास्त्रके अन्तर्गत समाज-शास्त्र, दण्डनीति, सम्पत्तिशास्त्र अर्थात् वार्ता (वृत्ति या व्यवसाय-सम्बन्धी बातोंका ज्ञान) समाहित है। अर्थशास्त्रपर कश्यप ऋषिने स्वायंभुव मन्वन्तरके प्रथम सत्ययुगमें नीतिप्रभा नामक अर्थशास्त्रका ग्रन्थ निर्माण किया था किन्तु इस विषयपर कौटिल्यका अर्थशास्त्र ही सबसे अधिक प्रामाणिक है। इस अर्थशास्त्रमें १५ अधिकरण हैं—विनयाधिकार, अध्यक्ष-प्रचार, धर्मस्थीय, कंटकशोधन, योगवृत्त, मंडलयोनि, षाड्गुण्य, व्यसनाधिकारिक,

अभियास्यत्, कर्म, सांग्रामिक, संघवृत्ति, आवर्रायस, दुर्गलम्भोपाय, औपनिषदिक तथा तंत्रयुक्ति। इन अधिकरणोंमें पूर्ण राजनीति अर्थात् राज्य चलानेका पूरा विधान दिया हुआ है।

संयोगवश हमें तीन ऐसे उद्भट विद्वान् मिल गए, जिनमेंसे डा० कृष्णकुमार शर्मा और एक डॉ० नारायणदत्त शर्मा दोनोंने तो कल्प पर शोधकार्य करके डॉक्टरकी उपाधि प्राप्त की, तीसरे डॉ०पं० उमाकान्त शुक्ल व्याकरण और निरुक्तके धुरंधर पंडित हैं। इन विद्वानोंके सात्त्विक, हार्दिक और तत्परतापूर्ण सहयोगसे यह दुरूह कार्य सम्पन्न हो सका। इस समस्त सारस्वत वैदिक कार्यमें सबसे अधिक परिश्रम डॉ० पं० कृष्णकुमार शर्माने किया जिन्होंने समस्त ग्रंथकी सामग्री सजा-सँवारकर क्रमबद्ध करके उसकी मुद्रण-प्रति भी प्रस्तुत कर दी। मैं तो समय समयपर ग्रन्थ मँगा मँगाकर निर्देश मात्र देता रहा। जिसका श्रमपूर्वक मंथन, अध्ययन और आलोडन करके यह परिचयात्मक ग्रंथ मुद्रित किया जा सका।

इस महाग्रंथके परिशिष्टमें निम्नांकित आवश्यक सामग्री भी दे दी गई है जिससे इस ग्रंथकी उपादेयता और भी बढ़ गई है —

१. अश्वमेध-यज्ञ,
२. दर्शपौर्णमासेष्टि,
३. सोमलताका परिचय,
४. यज्ञ-पात्रोंके चित्र,
५. अष्ट-विकृति,
६. ऋग्वेद और अथर्ववेदके पुरुष-सूक्त।

इस महाग्रंथके सम्पादनमें यह ध्यान रखा गया है कि कुछ भी आवश्यक पक्ष छूट न जाय और अनावश्यक सामग्री न आ जाय। परिचयात्मक मात्र होनेके कारण स्वभावतः पूरा कर्मकाण्ड देना अनावश्यक समझा गया किन्तु कहाँ, कितना, क्या प्रसंग आवश्यक है, इसका सन्दर्भ यथास्थान दे दिया गया है। इस परमावश्यक प्रयासको मूल रूप देनेमें दरभंगा विश्वविद्यालयके परम विद्वान् कुलपति महोदय और वेद-विभागाध्यक्ष पंडित श्री उपेन्द्र झाको मैं हृदयसे धन्यवाद देता हूँ कि उन्होंने ऐसा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रस्तुत कर लेने का सुअवसर प्रदान किया।

श्रुतिका महत्त्व

साधारण बोलचाल में 'श्रुति' शब्दसे समस्त वैदिक साहित्यका ग्रहण होता है। इसके साथ विभेदवाचक स्मृति[1] शब्दका प्रयोग होता है जिससे धर्मशास्त्रका बोध होता है। जहाँ लोक और वेद शब्द साथ आते हैं वहाँ प्रायः वेद शब्द सभी शास्त्रों का बोधक होता है। 'श्रुति' शब्द अपने यौगिक अर्थसे वेद कहलानेवाले उन सब अंशोंका बोधक है जिनके उच्चारणमें उदात्त, अनुदात्त और स्वरित स्वरोंके ऐसे परम्परागत प्रयोग निश्चित हैं कि गुरु-मुखसे सुनकर सीखे बिना उनका यथार्थ उच्चारण नहीं हो सकता। इस यौगिकार्थको प्रमाण माननेसे समस्त संहिताएँ और तत्सम्बन्धी ब्राह्मण और अनेक आरण्यक तथा उपनिषद् सब श्रुति नामसे अभिधेय हो जाते हैं। सायणादि भाष्यकार संहिता और ब्राह्मण दोनों का अपौरुषेय और ईश्वरकृत मानते हैं। वेद शब्द के पर्याय श्रुति, आम्नाय, छन्दस्, ब्रह्म, निगम और प्रवचन हैं।

आर्योंकी सभ्यता और साहित्यका आरम्भ वेदोंके आविर्भावसे ही हुआ है। वेदोंके कालको जितना प्राचीन प्रतिपादित किया जा सकता है,आर्य-जातिका इतिहास भी उतना ही प्राचीन है। भारतीय धर्म, साहित्य, भाषा, सभ्यता,संस्कृति और कला इन सभीके विकास और प्रगतिमें वेदोंका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण योगदान है। भारतीय धर्म, विज्ञान, कला और सभ्यताका भव्य प्रासाद वेदोंकी सुदृढ़ आधारशिलापर ही निर्मित किया गया था।

आर्योंकी वेदोंके प्रति आस्था एवं श्रद्धा बहुत प्राचीनकालसे रही है। पृथिवीके किसी भी भागपर निवास करनेवाला आर्य अपने धर्म और संस्कृतिके मूल तत्त्व वेदोंमें ही मानता रहा है। धार्मिक पर्वों और सामाजिक समारोहोंपर हिन्दुओंके घरोंमें आज भी वेद-मंत्रोंका उच्चारण अत्यधिक श्रद्धाके साथ किया जाता है। भारतवर्षमें बहुत प्राचीन-कालसे ही धर्म, दर्शन और सदाचारके सम्बन्धमें विभिन्न मत-मतान्तर प्रचलित रहे; परन्तु उन सभीने अपने मतका आधार वेदोंको ही माना था। आचार्योंने अपने मतोंकी पुष्टि वेद-मंत्रोंके आधारसे ही की थी।

---

१. श्रुतिके साथ स्मृतिका भी सम्बन्ध जोड़ा जाता है किन्तु साथ ही यह भी कहा गया है – "श्रुतिद्वैधे स्मृतिर्द्वैधे श्रुतिरेव गरीयसी" अर्थात् जहाँ श्रुति और स्मृतिमें भेद है वहाँ श्रुति ही श्रेष्ठ मानी जाती है।

भारतीय साहित्यमें वेदोंके गुणोंका गौरव-गान सदैव किया जाता रहा है। वेदोत्तरकालीन साहित्यमें ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, वेदाङ्ग, दर्शन, स्मृति आदि ग्रन्थोंमें वेदोंको ईश्वरकृत और अपौरुषेय मानकर इनकी प्रामाणिकता स्वीकार की गई है। वस्तुतः यह समस्त साहित्य वेद-मंत्रोंकी व्याख्याके रूपमें ही है। भगवान् मनुने तो यहाँतक लिखा है कि वेदोंकी निन्दा करनेवाला नास्तिक है[१]; अर्थात् आस्तिकत्वके लिये ईश्वरके प्रति निष्ठा उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं है, जितनी वेदोंके प्रति है। भारतीय दर्शनोंमें प्रतिपादित विभिन्न सिद्धान्त वेदोंके प्रमाणसे पुष्ट किए गए हैं। यहाँतक कि ईश्वरकी सत्ता को असंदिग्ध रूपसे स्वीकार न करनेवाले सांख्यके आचार्य वेदोंको प्रमाण मानकर ही अपने सिद्धान्तोंकी व्याख्या करते हैं।

वेदोंका महत्त्व केवल भारतवर्षमें ही सीमित नहीं रहा, अनेक दूसरे देशोंके विद्वान् वेदोंमें सन्निहित ज्ञान एवं उसके गुणोंसे प्रभावित हुए। इस देशमें समय-समयपर आनेवाले पाश्चात्य विद्वान् वैदिक साहित्यकी विशालता एवं इसमें निहित ज्ञान-विज्ञानसे अत्यधिक प्रभावित हुए थे और उन्होंने वेदोंके अध्ययनको मानव-मात्रके लिये उपयोगी तथा हितकर बताया था। इन विद्वानोंके अनुसार वेद मानवके प्राचीनतम साहित्य-ग्रन्थ हैं और इनमें आर्य-जातिका हज़ारों वर्ष पुराना इतिहास भरा हुआ है। इनमें विज्ञानका वह आलोक है, सम्प्रति जिसकी आवश्यकता मानव-जातिको है। अनेक पाश्चात्य विद्वानों—मैक्समूलर, विण्टरनित्ज, रॉथ, कोलबुक, मैक्डॉनल आदिने वैदिक साहित्यके अध्ययनमें अपना पूरा जीवन समर्पित कर दिया।

वेदोंका महत्त्व न केवल उनकी प्राचीनता तथा उनमें निहित ज्ञान-विज्ञानके कारण ही है, अपितु वेदोंके अध्ययनने अनेक नवीन शोधों और विज्ञानोंको प्रवर्तित किया है। वेदोंकी एवं लौकिक संस्कृतकी आश्चर्यजनक समता, लातिन, ग्रीक, फारसी आदि भाषाओंमें दृष्टिगोचर हुई। इससे प्राचीन इतिहासपर तो महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ा ही, आधुनिक भाषा-विज्ञानका भी इससे जन्म हुआ।

वेदोंका रचनाकाल

भारतीय परम्पराके अनुसार वेद नित्य एवं अपौरुषेय हैं। सृष्टिकी रचनाके आदिमें ईश्वरने वैदिक ज्ञानका आविर्भाव किया। वेदान्त-दर्शनके अनुसार

---

१. नास्तिको वेदनिन्दकः।

वेद अनादि और अपौरुषेय ज्ञान है, जो प्रलयके बाद भी बना रहता है एवं सृष्टिके आदिमें पुनः ईश्वरके द्वारा आविर्भूत होता है। ईश्वरके समान ही ईश्वरीय ज्ञान वेद भी अनादि, अनन्त और अविनश्वर है। सृष्टिकी रचना होनेपर ईश्वर द्वारा इस ईश्वरीय ज्ञान का ऋषियोंके हृदयोंमें प्रकाश किया जाता है और गुरु-शिष्य परम्परा द्वारा लोकमें प्रवर्तित रहता है। जगत्के प्रलय होनेपर यह वेद ज्ञान ईश्वरमें निहित हो जाता है।

वेदोंकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें ऋग्वेद और अथर्ववेदमें स्पष्टतः वर्णन आया है, जो इस प्रकार है –

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांꣳसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥

(यजु० ३१.७, ऋ० १०।९०।९)

यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन्।
सामानि यस्य लोमानि अथर्वांगिरसो मुखम्॥

(अथर्व. १०।७।२०)

इस प्रकार ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेदमें स्पष्ट रूपसे वेदोंको ईश्वरसे उत्पन्न कहा गया है। वेदोंके बाद जिस साहित्यकी रचना हुई, उसमें भी वेदोंको नित्य, अपौरुषेय एवं ईश्वरकृत प्रतिपादित किया गया है। श्वेताश्वतर उपनिषद्में कहा गया है कि सृष्टिके आदिमें परमेश्वरने ब्रह्माको उत्पन्न किया और उसके लिये वेदोंको भेजा।[1] बृहदारण्यकोपनिषद्में वेदोंको ईश्वरका निःश्वास बताया गया है।[2]

ईश्वर-द्वारा यह वैदिक ज्ञान किस प्रकार प्रकट किया गया, इस सम्बन्धमें शतपथ ब्राह्मण में लिखा है कि अग्नि, वायु और सूर्यने तपस्या करके तीनों वेदोंको प्राप्त किया।[3] इसी प्रकारका वचन मनुस्मृतिमें भी प्राप्त होता है।[4]

---

१. यो ब्राह्मणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै। (श्वे०उप० ६.८)

२. एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो।
यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः॥ (बृ०उप० २.४.१०)

३. तेभ्यसप्तभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्ताग्ने ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात्सामवेदः।
(शत०ब्रा० ११.५२०.३)

४. अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुः सामलक्षणम्॥(मनु० १.२३)

अथर्ववेद एवं मनुके अनुसार अथर्ववेदका प्रथम ज्ञान अङ्गिरा ऋषिको प्राप्त हुआ था।[१] प्राचीन शास्त्रोंके अनुसार अग्नि, वायु और सूर्य ऋषि थे।

उपर्युक्त विवरणसे स्पष्ट होता है कि वेद ईश्वरीय रचना हैं। ईश्वरने सृष्टिके आदिमें इनका ज्ञान सर्वप्रथम अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिराको प्रदान किया था। अग्निने ऋग्वेद, वायुने यजुर्वेद, आदित्यने सामवेद और अङ्गिराने अथर्ववेदका दर्शन करके इनको लोकमें प्रकाशित किया। इसके बाद जिन ऋषियोंने इन वेद-मंत्रोंका दर्शन किया वे मंत्र उन ऋषियोंके नामसे प्रसिद्ध हुए। यास्कने ऋषि शब्दका अर्थ लिखा है—ऋषयो मन्त्रदृष्टारः। अर्थात् मन्त्रोंके अर्थोंको देखनेवाले, समझनेवाले और उनके कर्मोंको उद्घाटित करनेवाले ऋषि हैं।

प्रसिद्ध वेद-विद्वान् जिमरमैनका कथन है कि "वेद अनादि हैं और ईश्वरकृत हैं तथा किसी विशेष समयमें किन्हीं ऋषियोंने उनका ज्ञान प्राप्त करके उन्हें प्रकाशित किया था।[२] लोकमान्य तिलक, शङ्कर बालकृष्ण दीक्षित, अविनाशचन्द्र आदि भारतीय विद्वानोंने ऋग्वेदके रचनाकालपर विचार किया है। भारतीय ज्योतिषियोंकी परम्परासे सर्गारम्भसे लेकर विक्रमी संवत्के सौरवर्ष २०५९ की समाप्तिके दिनतक एक अरब, पिचानवे करोड़, अट्ठावन लाख पिचासी हज़ार, चौरासी वर्ष और छप्पन दिन होंगे और विक्रमी संवत् २०५९ के पश्चात् ८५वाँ वर्ष चलेगा।

अरबों वर्षकी परम्परासे लेकर सात-आठ हज़ार वर्षकी परम्परातक वेदोंके मंत्रोंके सुने, दर्शन किए जाने अथवा रचे जानेका अनेक विद्वानोंका अनुमान है। यह परम्परा कितनी विस्तीर्ण है, इसका अनुमान करना कठिन है। जिन लिखित पुस्तकोंका पुनर्मुद्रण होता आया है अथवा मुद्रणमें जिनके अनेक संस्करण हैं, उनमें दो-चार सौ वर्ष ही लेख-प्रमादसे, मुद्रणालयके प्रमादसे, पाठकों और पठकोंके भेदसे और शिष्योंके प्रमादसे कितने ही परिवर्तन हो गए हैं। अतः वेदोंके पाठान्तरों और संस्करणोंकी क्या गणना की जा सकती है जो गुरु-मुखसे सुनकर स्मरण कर लेनेपर निर्भर थे, जिनके लिये

---

१. अथर्वाङ्गिरसो मुखम्।
अध्यापयामास पितृन् शिशुराङ्गिरसः कविः॥ मनु० २.१५१॥

२. Hyms From Rigveda - *Peterson* – 1938 (APPENDIX)

कई लाख नहीं तो निश्चय ही कई हज़ार वर्षोंके अन्तर पड़ते गए, कालान्तरमें जिनकी भाषाका समझना इतना कठिन हो गया कि मंत्रोंके साथ उनके पद-पाठके अक्षर अक्षर सीधे-उलटे सब प्रकारसे रटकर सुरक्षित रखनेकी परम्परा बन गई, जिसे अष्टविकृति[1] कहते हैं। मंत्रोंकी टिप्पणी-रूप ब्राह्मण-भाग और आरण्यकोंतककी भाषा दुरूह हो गई, निरुक्तोंकी रचना हुई, व्याकरणने बालकी खाल खींचनेके सामर्थ्य होते हुए भी स्वयंको विवश पाया। उनकी व्याख्या करनेके लिये स्मृति-परम्पराकी सहायता ली ज़ाने लगी। मीमांसकोंने बहुत बल लगाया। जैमिनिने लुप्तप्रायः कर्मकाण्डका पुनरुद्धार करना चाहा। ज्ञान, विज्ञान, उपासना, सृष्टिकी कथा, वंश, मन्वन्तरादिके साथ पुराणोंने[2] भी वेदोंकी ही व्याख्या करनेकी चेष्टा की। मत्स्य-पुराणमें सृष्टिके आरम्भमें वेदोत्पत्ति इस प्रकार बताई गई है –

तपश्चचार प्रथमम् अमराणां पितामहः।
आविर्भूतास्ततो वेदाः साङ्गोपाङ्गपदक्रमाः॥

....

अनन्तरश्च वक्त्रेभ्यो वेदास्तत्र विनिःसृताः॥

(अ.३, २-४)

अर्थात् ब्रह्माके चारों मुखोंसे चार वेद निकले। परन्तु वहीं १४४वें अध्यायमें द्वापर युगके अन्तका भविष्यवाद करते हुए इस प्रकार लिखा है :

एकोवेदः चतुष्पादः संहृत्यतु पुनः पुनः।
संक्षेपादायुषश्चैक व्यस्यते द्वापरेष्विह॥
वेदश्चैकश्चतुर्धा तु व्यस्यते द्वापरादिषु।
ऋषिपुत्रैः पुनर्वेदा भिद्यन्ते दृष्टिविभ्रमैः॥
मन्त्र ब्राह्मण विन्यासैः स्वरक्रमविपर्य्ययैः।
संहृत्यऋग्यजुस्साम्नां संहितास्तैर्महर्षिभिः॥

---

१. परिशिष्टमें द्रष्टव्य

२. पुराणं पञ्चलक्षणम् -
सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशोमन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम्॥

सामान्याद्वैकृताच्चैवदृष्टिभिन्नैः क्वचित्क्वचित्।
ब्राह्मणं कल्पसूत्राणि भाष्यविद्यास्तथैव च॥
अन्येतु प्रस्थितास्तान्वै केचित्रान्प्रत्यवस्थिताः।
द्वापरेषु प्रवर्तन्ते भिन्नार्थैस्तैः स्वदर्शनैः॥
एकमाध्वर्य्यवं पूर्व्वं आसीद्द्वैधन्तु तत्पुनः।
सामान्य विपरीतार्थैः कृतं शास्त्राकुलन्त्विदम्॥
तथैवाथर्वऋक्साम्नां विकल्पैश्चाप्य संक्षयैः।
व्याकुलोद्वापरेष्वर्थः क्रियते भिन्नदर्शनैः॥
द्वापरे संनिवृत्तेते वेदानश्यन्ति वै कलौ।

(म.पु.अ. ३, श्लोक ११-१७)

मत्स्य भगवान्ने यह भविष्यकी कथा कही है, परन्तु उससे ज्ञात होता है कि सतयुगसे द्वापरतकके दीर्घकाल और अतिदीर्घ परम्परामें, सभी चतुर्युगियोंमें पहले तो भाँति भाँतिकी भूलोंसे चारों वेद मिलकर एक आध्वर्य्यव अर्थात् यज्ञ-धर्म विशिष्ट त्रेताके अनुकूल यजुर्वेद रह जाता है। फिर वह भी बारम्बार परिवर्तित होता रहता है, जिसका कारण लोगोंकी अपात्रता, अस्वस्थता और अल्पायु-जीवन है। द्वापरमें आकर उसके अनेक खण्ड और विविध शाखाएँ बन जाती हैं। ऋषियोंके वंशज दृष्टि, स्मृति आदि में भूल करते हैं। मन्त्रोंको अस्त-व्यवस्त करते हैं, ब्राह्मणों और कल्पसूत्रोंका भी क्रम-भङ्ग हो जाता है, स्वर और क्रममें भेद पड़ जाता है। वेदोंके ऋषियोंको इसीलिये ऋक्, यजुस् और सामन् तीनों वेदोंको बारम्बार पुनः संकलित करना पड़ता है। यजुर्वेद पहले एक ही रहता है। उसके शुक्ल और कृष्ण भेदसे दो पाठ हो जाते हैं। इसी प्रकार द्वापरमें ही ऋक्, यजुस् और सामन्के अर्थोंका विपर्यय हो जाता है। कलियुगमें तो उनका नाश ही हो जाता है।

मत्स्यपुराणके अनुशीलनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि वेदव्यास-द्वारा वेदोंका पुनः संकलन और विभाग द्वापरके अन्तकी क्रिया है; और यह कोई पहली क्रिया नहीं है। सम्भवतः सतयुगके दीर्घकालमें ही कई कई बार वेदोंका उद्धार हुआ है। महाभारतके शल्यपर्वमें एक कथा है कि एक बार जब अवर्षणके कारण ऋषिगण देशसे बाहर बारह वर्षतक रहकर वेदोंको भूल गए थे तो

दधीचि और सरस्वतीके पुत्र सारस्वत ऋषिने भी अपनेसे कहीं अधिक वृद्ध ऋषियोंको फिरसे वेद पढ़ाया था। फिर दत्तात्रेयने भी वेदोंका उद्धार किया था। आजसे लगभग छह सौ वर्ष पूर्व सायणाचार्य आदिका उद्योग भी वेदोद्धारका ही एक प्रकार था। सायणके बाद तो सब लोग वेदका नाम मात्र जानते थे। दक्षिणमें घोखने (कण्ठस्थ करने)-की थोड़ी विधिके अतिरिक्त वास्तविक वेदाध्ययन प्रायः कहीं नहीं होता था।

पुरुष-सूक्तमें सृष्टिका जैसा वर्णन है, अन्यत्र कहीं भी इस प्रकार सृष्टिकी उत्पत्ति नहीं मानी गई कि ईश्वरने कहा ओर संसार अपने हज़ारों वर्षका इतिहास लेकर इसप्रकार प्रकट होगया जैसे यवनिका उठनेपर कोई दृश्य प्रकट हो जाता है। वैदिक और पौराणिक दोनों ही सृष्टि-कथाओंसे प्रकट है कि इस प्रक्रियामें लाखों वर्ष लगे होंगे और आज भी वह कार्य समाप्त नहीं हुआ है। इसी प्रकार कालानुसार ऋषियों-द्वारा वेदमंत्रोंके दर्शन और प्राकट्यमें सम्भवतः हज़ारों वर्ष लगे होंगे।

ऊपर जिन मंत्रोंका अवतरण दिया गया है, उन सबमें ऋक्, यजुः, साम और अर्थवन् इसी क्रमसे चारों वेदोंका उल्लेख हुआ है किन्तु इनमें कोई पौर्वापर्य्य नहीं हैं। यदि विद्यमान संहिताओंमें उपलब्ध वेदमंत्रोंके अवतरित या दृष्ट या श्रुत होनेमें एक हज़ार वर्ष लगे, तो वह सामग्री चारों वेदोंकी थी, जो प्राप्त होनेपर तत्तद्वेदोंमें सम्मिलित हो जाती थी। इस बातसे भी यह स्पष्ट होता है कि ऋग्वेदकी आधी ऋचाएँ यजुर्वेदमें भी हैं। सामवेदमें ७५ ऋचाओंके अतिरिक्त सभी वही ऋचाएँ हैं जो ऋग्वेदमें आई हैं। अथर्ववेदमें भी पञ्चमांश वही ऋचाएँ हैं जो ऋग्वेदमें आ चुकी हैं। सम्भव है कि महर्षि वेदव्यासने ऐसा संकलन कर दिया हो अथवा सनातनसे इस प्रकारके मिले-जुले मंत्र चले आए हों। यजुर्वेदी कहते हैं कि एक यजुर्वेदसे ही तोड़कर अन्य तीन वेद बने हैं, परन्तु सायणने ऋग्वेद-भाष्यकी प्रस्तावनामें प्रमाणपूर्वक इस कथनकी निःसारता दिखा दी है। इसके अतिरिक्त मत्स्यपुराणके १४२ से १४४ तक अध्यायोंको पढ़नेसे इस भ्रमका मूलकारण भी समझमें आ जाता है।

वेदोंके सभी भाष्यकार इस एक बातमें सहमत हैं कि वेदोंमें समुच्चय-रूपसे प्रधानतः तीन विषयोंका प्रतिपादन है :

१. *कर्मकाण्ड* — अर्थात् यज्ञकर्म जिससे याज्ञिकको अथवा यजमानको इस लोकमें अभीष्ट फलकी प्राप्ति हो और मृत्युके बाद यथेष्ट सुख प्राप्त हो।

२. *ज्ञानकाण्ड* – अर्थात् ज्ञातृत्व जिससे इहलोक, परलोक और परमात्माके सम्बन्धमें वास्तविक तत्त्व और रहस्यकी बातें जानी जाती हैं, जिससे मनुष्यके स्वार्थ, परार्थ और परमार्थकी सिद्धि हो सकती है।

३. *उपासना-काण्ड* –अर्थात् ईश्वर-भजन जिससे मनुष्य ऐहिक, पारलौकिक और पारमार्थिक अभीष्टका साधन कर सकता है।

प्रत्येक वेद इन्हीं तीन काण्डोंमें विभक्त समझा जा सकता है। सभी मंत्र प्रायः इन्हीं तीन प्रकारोंमेंसे किसी एक या दो या तीनोंके अन्तर्गत समझे जा सकते हैं। वेद-पाठकी एक पुरातन परम्परा चली आ रही है कि ऋषि, छन्द, देवता और विनियोगके बिना जाने वेदमन्त्रोंका अध्ययन और अध्यापन पाप है। किस मन्त्रका द्रष्टा ऋषि कौन है, वह मन्त्र किस छन्दमें है अर्थात् उसका पाठ कैसे होगा, उस मन्त्रमें किस देवताका वर्णन है और उस मन्त्रका प्रयोग किस काममें होता है, इन बातोंको बिना जाने वेदमन्त्रोंको प्रयोग करनेवाले 'मन्त्रकण्टकी' कहलाते हैं। इस परम्पराके कारण प्रत्येक मन्त्रके ये ज्ञातव्य विषय आजतक सुरक्षित हैं।

वैदिक साहित्य

वेद नामके अन्तर्गत ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेदको ग्रहण किया जाता है। परन्तु वैदिक साहित्यमें कुछ अन्य ग्रन्थ भी ग्रहण किए जाते हैं। यास्कने 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' कहकर मन्त्र अर्थात् संहिता भाग और उनके व्याख्यापरक ब्राह्मण-ग्रन्थोंको वेद नामसे अभिहित किया है। वैदिक साहित्यका आरम्भ तो ऋग्वेदसे हुआ था और इसके बाद यजुः, साम और अथर्ववेद भी रचे गए। इन वेदोंकी व्याख्या करनेके लिये बादमें जो साहित्य रचा गया, उसका अन्तर्भाव भी वैदिक साहित्यमें कर लिया जाता है। चारों वेदोंके अतिरिक्त चार उपवेद – आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और अर्थवेद, ब्राह्मण-ग्रन्थ, आरण्यक, उपनिषद्, छह वेदाङ्ग – शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, निरुक्त और ज्योतिष, बृहद्देवता और अनुक्रमणिकाएँ भी वैदिक साहित्यमें ग्रहण की जाती हैं। वेदोंका अध्ययन करनेके लिये इस साहित्यका अवलोकन भी अपेक्षित है।

उपवेद

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेदके अपने अपने उपवेद भी माने जाते हैं। चरण-व्यूहमें लिखा है –

तत्र वेदानामुपवेदाश्चत्वारो भवन्ति।

ऋग्वेदस्यायुर्वेद उपवेदो, यजुर्वेदस्य धनुर्वेद उपवेदः,

सामवेदस्य गान्धर्ववेदः अथर्ववेदास्यार्थशास्त्रं चेत्याह भगवान् व्यासः स्कन्धो वा।

अर्थात् वेदोंके चार उपवेद हैं। ऋग्वेदका आयुर्वेद, यजुर्वेदका धनुर्वेद, सामवेदका गान्धर्ववेद और अथर्ववेदका अर्थशास्त्र उपवेद है। परन्तु सुश्रुत, भाव-प्रकाश और चरकके अनुसार आयुर्वेद अथर्ववेदका उपवेद है।[1]

चरणव्यूहने भगवान् व्यासका प्रमाण देकर आयुर्वेदको ऋग्वेदका उपवेद बताया है। परन्तु आयुर्वेदके चरक, सुश्रुतादि प्राचीन ग्रन्थ ही जब आयुर्वेदको अथर्ववेदका उपवेद बताते हैं तो ऋग्वेदका उपवेद अर्थशास्त्र या नीतिशास्त्रको ही स्वीकार करना पड़ेगा।

सामवेदका उपवेद गान्धर्ववेद असंदिग्ध है क्योंकि यह संगीत-शास्त्र है और चारों वेदोंमें संगीतका सम्बन्ध केवल सामवेदसे है। शेष उपवेदोंके लिये कोई निश्चित सिद्धान्त नहीं है। धनुर्वेदके लिये भी प्रायः मतैक्य है कि यह यजुर्वेदका उपवेद है। चरणव्यूहका विरोध होते हुए भी अर्थशास्त्रको ही ऋग्वेदका उपवेद स्वीकार करना पड़ता है।

प्रत्येक वेदके ज्ञानकी परिपूर्णताके लिये उसके उपवेदका अध्ययन भी

---

१. चतुर्णां ऋक्साम यजुरथर्ववेदानां आत्मनोऽथर्ववेदे भक्तिरादिश्यावेदोहि अथर्वणः। दान-स्वस्त्ययन-बलि-मङ्गल-होम-नियम-प्रायश्चित्तोपवास-मन्त्राणि परिग्रहात् चिकित्सा प्राह।

(चरक सूत्रस्थान, ३० अध्याय)

इहं खलु आयुर्वेदोनाम यदुपाङ्गमथर्ववेदस्य।

(सुश्रुत सूत्रस्थान, १ अध्याय)

विधाताथर्व सर्वस्वमायुर्वेदम् प्रकाशयन्।
स्वनाम्ना संहितां चक्रे श्लोकंमयीमृजुम्॥ (भावप्रकाश)

आवश्यक है। सामवेदका अध्येता विधिपूर्वक छहों वेदांगोंके अतिरिक्त लौकिक और वैदिक दोनों प्रकारके संगीत-शास्त्रका ज्ञान जबतक प्राप्त न कर ले तबतक वह वस्तुतः सामवेदका पूर्ण ज्ञाता नहीं कहा जा सकता। यहाँ आशङ्का की जा सकती है कि वैदिक ज्ञानकी पूर्णताके लिये लौकिक संगीत-शास्त्रकी क्या आवश्यकता है ? इसका समाधान यह है कि वेद सम्पूर्ण ज्ञानका मूल है, वह केवल पारलौकिक विद्याओंका ही सेतु नहीं है। वेदके व्यावहारिक ज्ञानके अभावमें कोई सुशिक्षित नहीं बन सकता। उदाहरणार्थ— अथर्ववेदमें राजयक्ष्मा रोगके निवारणके लिये औषधियाँ और मन्त्रोपचार दोनों बताए गए हैं। इसका उपयोग लोक में होता है। यदि अथर्ववेदका सम्पूर्ण ज्ञाता व्यक्ति राजयक्ष्माकी चिकित्सा करना चाहे तो उसे पहले तो रोगीका इतिहास ज्ञात करना पड़ेगा, फिर उसके तात्कालिक लक्षणोंपर विचार कर रोगका निदान करना पड़ेगा। अथर्ववेदमें जिस विज्ञानका मूल इस प्रकार विद्यमान है, उस विज्ञानका यथार्थ रीतिसे अध्ययन किए बिना कोई भी व्यक्ति अथर्ववेदके ज्ञानसे न तो स्वयं जीवनमें कोई लाभ उठा सकता है और न ही किसी दूसरेको लाभ पहुँचा सकता है। अतः अथर्ववेदके परमार्थ-तत्त्वका ज्ञाता भी आयुर्वेदके ज्ञानके बिना चिकित्सा-कार्य नहीं कर सकता।

चारों वेद चार विज्ञान हैं। अर्थशास्त्र में वार्त्ता अर्थात् जीवन-यापनका सम्पूर्ण विज्ञान है और समाज-शास्त्रके संगठन और राजनीतिका मूल है। धनुर्वेदमें अस्त्र-शस्त्र-द्वारा व्यक्ति और समष्टि सबकी रक्षाके साधन तथा उनके प्रयोगकी विधियाँ वैज्ञानिक रीतिसे दी गई हैं। गान्धर्ववेद संगीतका विज्ञान है जो मनके सर्वोत्तम भावोंको उद्दीप्त करनेवाला और चञ्चलताको दूर कर स्थिर रूपसे उसे परमात्माके ध्यानमें लगा देनेवाला है। लोकमें यह कला कामशास्त्रके अन्तर्गत आती है परन्तु वेदमें मोक्षके साधनोंमेंसे एक प्रधान साधन है।

आयुर्वेद प्राणीके जीर्ण-शीर्ण रुग्ण शरीर और मनको स्वस्थ करनेके साधनोंपर सांगोपांग विचार करता है। इस प्रकार ये चारों विज्ञान चारों वेदोंके आनुषङ्गिक हैं। आगे यथास्थान इन उपवेदोंका अलग-अलग संक्षिप्त वर्णन किया जाएगा।



॥ वेद–काण्डम् ॥

ऋग्वेद

वेदोंके साधारण मान्य क्रममें ऋग्वेदका नाम सबसे पहले आता है। अनेक पुराणों और पातञ्जल महाभाष्यमें ऋग्वेदकी २१ शाखाओंका उल्लेख किया गया है। शौनकके समयमें ऋग्वेदकी पाँच शाखाएँ उपलब्ध थीं — शाकल, वाष्कल, आश्वलायन, शांखायन और माण्डूकायन। भर्तृहरिने 'वाक्यप्रदीप'-में १५ शाखाओंका उल्लेख किया है। कुछ विद्वानोंने तो ऋग्वेदकी ३४ शाखाएँ गिनाई हैं। वर्त्तमान समयमें इसकी एकमात्र बाष्कल-शाखा ही उपलब्ध होती है।

(क) अष्टक-क्रम : इस क्रमके अनुसार ऋग्वेद आठ अष्टकोंमें विभक्त किया गया है। प्रत्येक अष्टकमें आठ आठ अध्याय हैं। ये अध्याय वर्गोंमें विभक्त हैं। प्रत्येक वर्गमें प्रायः पाँच मन्त्र हैं। वर्गोंकी संख्या २००६ है। इस प्रकार अष्टकक्रमके अनुसार ऋग्वेदमें आठ अष्टक, ६४ अध्याय और २००६ वर्ग हैं।

(ख) मण्डल-क्रम : ऋग्वेदका यह क्रम अधिक महत्त्वपूर्ण, ऐतिहासिक तथा वैज्ञानिक है। इस क्रमके अनुसार ऋग्वेद १० मण्डलोंमें विभक्त किया गया है। इसमें ८५ अनुवाक् हैं और इन अनुवाकोंमें १०२८ सूक्त तथा १०५८९ मन्त्र हैं। शौनक-रचित अनुवाकानुक्रमणीके अनुसार ऋग्वेदमें १०५२८ मन्त्र और १५३८२६ शब्द हैं।

प्रत्येक सूक्तमें किसी न किसी दिव्य ईश्वरीय विभूतिकी स्तुति है और स्तुतिके साथ व्याज-रूपसे सृष्टिके अनेक रहस्यों तथा तत्त्वोंका उद्घाटन है। सभी मन्त्र वैदिक छन्दोंमें निबद्ध है। प्रत्येक मन्त्रका कोई द्रष्टा ऋषि है। इस प्रकार ऋग्वेदके प्रत्येक सूक्तके अपने देवता, ऋषि और छन्द हैं। आधुनिक आलोचकोंके अनुसार ये ऋषि मन्त्रोंके रचयिता थे। कुछ समीक्षक ऋषियोंके इन नामोंको कुटुम्बवाची मानते हैं। यास्कने ऋषि शब्दका अर्थ किया है —

''ऋषिर्दर्शनात्'' अर्थात् मन्त्रोंके अर्थोंका दर्शन करनेवाले व्यक्तिको ऋषि कहा गया है। वस्तुतः ये ऋषि मन्त्रोंके रचयिता नहीं थे, अपितु इन ऋषियोंने सर्वप्रथम उन सूक्तोंके अर्थका दर्शन करके उनका लोकमें प्रचार किया था।

ऋग्वेदमें मण्डलोंका संगठन ऋषियोंकी दृष्टिसे किया गया था। इस दृष्टिसे दूसरे मण्डलसे आठवें मण्डलतकके सूक्त अधिक संगठित हैं। इनमें प्रत्येक मण्डलका एक ऋषि है। दूसरे मण्डलके गृत्सभद, तीसरे मण्डलके विश्वामित्र, चौथे मण्डलके वामदेव, पाँचवें मण्डलके अत्रि, छठे मण्डलके भरद्वाज, सातवें मण्डलके वशिष्ठ एवं आठवें मण्डलके कण्व तथा उनके वंशज ऋषि हैं। पहले, नवें और दसवें मण्डलोंके सूक्तोंके ऋषि एक नहीं हैं, अपितु ये अनेक ऋषियोंकी रचनाएँ हैं। नवम मण्डलको पवमान मण्डल भी कहते हैं, इसमें केवल सोमविषयक सूक्तोंका संग्रह है। इस दृष्टिसे नवम मण्डल, पहले और दसवें मण्डलसे अधिक संगठित है। इसलिए अनेक विद्वानोंका विचार है कि ऋग्वेदमें पहले, दूसरेसे नवें मण्डलका ही भाग था तथा पहले, दूसरेसे नवें मण्डलोंको बादमें जोड़ा गया। जिन मन्त्रदृष्टा ऋषियोंके सूक्त ऋग्वेदमें आएहैं उनके नाम ये हैं —

मधुच्छन्द, जेत, मेधातिथि, शुनःशेप, हिरण्यस्तूप, कण्व, प्रकण्व, सव्य, नोध, पराशर, गौतम, कुत्स, कश्यप, ऋज्रस्व, तृताप्त्य, कक्षिवन्, भावयव्य, रोमशं, परुच्छेप, दीर्घतमस्, अगस्त्य, इन्द्र, मरुत, लोपामुद्रा, गृत्समद, सोमहूति, कूर्म, विश्वामित्र, ऋषभ, उत्कल, कट, देवश्रवा, देवव्रत, प्रजापति, वामदेव, अदिति, त्रसदस्यु, पुरुमिल्ल, बुध, गविष्ठि, कुमार, ईश, सुतम्भरा, धरुण, पुरु, ववृ, द्वित, प्रयस्वत, शश, विश्वसाम, द्युम्न, विश्वचर्षणि, गोपपण, वसुयु, त्र्यारुण, अश्वमेध, अत्रि, विश्ववर, गौरीरिति, बभ्र, अवस्यु, गतु, पृथु, वसु, समवरण, प्रतिक्षत्र, अत्रिभूय, अवत्सरादि, प्रतिरथ, प्रतिभानु, सुदीति, पुरुहनमन, पुरुमीडे, हर्यट, गोपवन, सप्तवधृ, विरूप, कृत्नु, कुरुसुति, एकद्यु, कुसीदी, उषणाकाव्य, कृष्ण, विश्वक, द्युम्निक, नृमेध, अपाला, श्रुतकक्ष, सुकक्ष, बिन्दु, पूतदक्ष, तिरश्चि, द्युतान, रेह, जमदग्नि, नेम, प्रयोगयविष्ट, प्रस्कण्व, पुष्टिगु, श्रुष्टिगु, आयु, मातरिश्वा, कृश, पृषद्र, सुपर्ण, असित, देवल, दृढच्युत, इध्मवाह, श्यावश्व, प्रभुवसु, रहूगण, वृहन्मति, अपास्य, कवि, उचथ्य, अवत्सार, अमहीपु, निघ्नुति, भृगु, वैखानस, अत्रि, पवित्र, रेणु, हरिमन्त, बेन, अकृष्टभाष्याः, अजाः, प्रतर्दन, व्याघ्रपाद, कर्णश्रुत,

अम्बरीष, रिजस्वा, रेमसूनु, ययाति, नहुष, चक्षुः, शिखण्डिनी, सप्तर्षि, गौरी, रीति, ऊर्ध्वसद्म, कृतयक्ष-ऋणञ्चय, शिशु, त्रिशिरा, यम, यमी, शङ्ख, दमन, मथित, देवश्रवा, सङ्कुसुक, च्यवन, वसुक्र, लुषा, अभितया, घोषा, सुहत्य, सप्तगु, वैकुण्ठ, वृहदक्थ, माता सहित गोपायन, नाभानेदिष्ट, सुमित्र, जरत्कारु, स्यूमरश्मि, विश्वकर्मा, मूर्धन्व, शरपात, तान्व, अर्बुद, पुरुरवा, उर्वशि, सर्वहरि, भिषज, देवापि, वभ्र, दुवस्यु, मुद्गल, अप्रतिरथ, भूतांश, सरमा, पणिः, जुहु, राम, उग्रदंष्ट्र, नभप्रभेदन, शतप्रभेदन, साधि, धर्म, उपस्तुत, अग्निपूय, भिक्षु, उरुक्षय, लव, वृहद्दिव, हिरण्यगर्भ, चित्रमहा, कुलमल, बर्हिष, विहव्य, यज्ञ, सुदास, मान्धाता, ऋष्यश्रृङ्ग, वृषाणक, विप्रजूति, व्यङ्ग, विश्वावसु, अग्निपावक, अग्नितापस, द्रोण, श्रद्धा, साम्बमित्र, पृथुवन्व, सुवेद, मृडिका, इन्द्रमाता, शिरिम्बिथा, केतु, भुवन, यक्ष्मानशन्, रक्षोहा, विवृहा, प्रचेता, कपोत, अनिला, शबर, विभ्राज, इत, सम्वर्त, ध्रव, अभिवर्त, पतङ्ग, उर्ध्वग्रीवा, अरिष्टनेमि, शिवि, सप्तधृति, श्येन, सार्पराज्ञि, अधमर्षण, सवनन, प्रतिप्रभ, स्वस्ति, स्यवस्व, श्रुतिविद्, रातहव्य, यजट, उरुचक्रि, बहुवृक्त, पौर, अवस्यु, नर, सप्तवधृ, यवापमरुत, भरद्वाज, वीतहव्य, सुहोत्र, शुनहोत्र, सम्पु, गर्ग, ऋजिस्वा, पायु, वासिष्ठ, मैत्रावरुणी, शक्त्रि, वशिष्ठ, वाशिष्ठा, प्रगाथकण्व, आसङ्ग, शस्वति, देवातिथि, ब्रह्मातिथि, वत्स, पुनर्वत्स, साध्वंश, शशकर्ण, नारद, गोषूक्ति, अश्वसूक्ति, इरिम्बिथि, सौभरि, विश्वमना, वैवस्वत मनु, कश्यप, निपतिथि, सहस्रवसु, रोचिशा, श्यावाश्व, नाभाग, त्रिशोक, भर्ग, कलि; मत्स्य, मान्य।

ऋग्वैदिक देवता

ऋग्वेदके प्रत्येक सूक्तका अपना एक देवता है , जिसकी स्तुति उस सूक्तमें की गई है। यास्कने देवता शब्दका निर्वचन किया है – "देवो दानाद्, द्योतनाद् दीपनाद् वा' अर्थात् पदार्थोंको देनेवाले, स्वयं प्रकाशित होनें वाले अथवा प्रकाशित करनेवालेको देवता कहा जाता है। यास्कने देवताओंको तीन प्रकारका बताया है – पृथिवी स्थानीय, अन्तरिक्ष स्थानीय और द्युस्थानीय। अनेक विद्वान् विभिन्न प्राकृतिक शक्तियोंको देवता कहते हैं, तो कुछ विद्वानोंने अग्नि आदि देवतावाचक शब्दोंका अर्थ परमेश्वर किया है तथा उसमें अनेक शक्तियोंकी कल्पना की हैं, परन्तु यह उनका भ्रम है। वृहद्देवता और निरुक्तमें

एक ही महादेवता परमात्माको माना गया है। ऋग्वेदके सूक्तोंमें जिन देवताओंकी स्तुति की गई है, उनके नाम इस प्रकार हैं –

अग्नि, वायु, इन्द्र, वरुण, मित्रावरुण, अश्विनीकुमार, विश्वेदेव, सरस्वति, अपृह, ऋतु, मरुत, त्वष्टा, ब्रह्मणस्पति, सोम, दक्षिणा, ऋभु, इन्द्रार्णी, वरुणाणी, अग्नपेयि, द्यौः, पृथ्वी, विष्णु, पूषण, आयुः, सविता, उषा, अर्यमा, आदित्य, रुद्र, सूर्य, वैश्वानर, सिन्धु, स्वनय, रोमशा, बृहस्पति, वाक्, काल, साध्य, रति, अन्न, वनस्पति, राका, सिनिवाली, आयलपत्,कपिञ्जल, यूप, पर्वत, सोमक, वांमदेव, उच्चैःश्रवस, दधिक्र, क्षेत्रपति, सीता, धृत, उषणा, अत्रि, देवि, पर्जन्य, धेनु, प्रस्तोक, पृष्णि, वास्तोष्पति, सरस्वा, चित्र, सोमयनमान, पितृ, सरमापुत्राः, मृत्यु, धाता, वैकुण्ठ, आत्मा, निर्ऋति, ज्ञान, ओषधयः, अरण्यानि, श्रद्धा, शची, मायाभेद और ताक्ष्र्य, इनमें मुख्य देवताओं की संख्या ३३ मानी गई है। कतिपय मुख्य देवताओं का परिचय इस प्रकार है –

१. अग्नि : ऋग्वेदमें सबसे अधिक सूक्तोंमें अग्निकी स्तुति की गई है। वैदिक ऋचाओंमें अग्निकी तीन विशेषताएँ बनाई गई हैं – (क) नेतृत्व-शक्तिसे सम्पन्न होना, (ख) यज्ञकी आहुतियाँ ग्रहण करना, (ग) तेज एवं प्रकाशका अधिष्ठाता होना। अग्निको जातवेदाः कहा गया है; अर्थात् वह ज्ञानका आगार है और उपासकोंका कल्याण करता है। अग्नि की उपासना बहुत प्राचीन कालसे भारत, फारस और ग्रीसमें समान रूपसे होती चली आ रही है। मैक्डानलके अनुसार अग्नि नाम भारोपीय है। यह संस्कृतमें 'अग' धातु और लातिनमें 'Ag' धातु से निष्पन्न हुआ है। (संस्कृत – अग्नि, लातिन – **IGNIS** – आग्नीस, स्लोवानी – **OGNI** – ओग्नी)।

ऋग्वेदके मन्त्रोंमें अग्निका विशेष सम्बन्ध यज्ञकी अग्निसे है अतः इसको घृतपृष्ठ (घीकी पीठवाला) शोचिषकेश (ज्वालाओंके बालोंवाला), रक्तश्मश्रु (लाल दाढ़ीवाला), तीक्ष्णदंष्ट्र (तेज दाँतोंवाला) और रुक्मणदन्त (स्वर्णिम दाँतोंवाला) कहा गया है।

अग्नि देवताओंका मुख है। देवता अग्निकी जिह्वाओंद्वारा हविका उपभोग करते हैं। दीप्यमान मूर्धासे, ज्वालाओंसे यह समस्त दिशाओंमें विचरण करता है। इसकी लपटें चम्मच हैं। अग्निसे प्रार्थना की जाती है कि वह हव्यका भोजन करें। ऋग्वेदकी प्रथम ऋचामें अग्निका आवाहन किया गया है –

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्।
होतारं रत्नधातमम्॥ (ऋग्वेद १।१।१)

यह पुरोहित है, यज्ञका देवता, ऋत्विक्, नेता और श्रेष्ठ रत्नोंको धारण करनेवाला है। यह सूर्य और विद्युत्के समान चमकता है। रात्रिमें दीप्त होकर अन्धकारको भगा देता है। इसका रास्ता काला है। यह जंगलोंको जलाकर उन्हें उसी प्रकार साफ कर देता है जैसे नाई दाढ़ी को। इसकी लपटोंकी ध्वनि समुद्रकी गर्जनाओंके समान है। इसका रक्तवर्ण धूम आकाशतक उठकर ऐसा प्रतीत होता है मानों आकाशको थामनेके लिये स्तम्भ हो। इसे धूमकेतु भी कहा गया है। स्वर्णके समान चमकते हुए इसके रथको दो या अधिक लाल वर्णवाले घोड़ों-द्वारा खींचा जाता है।

अग्निकी उपमा अनेक पशुओंसे की गई है। यह महान् शब्द करते हुए बैलके समान हैं। इसके सींग भी हैं, जिनको यह तेज करता है। उत्पन्न होता हुआ अग्नि बालवत्सके समान है। देवताओंको यज्ञमें लानेके लिये यह वाहनके समान है। इसकी उपमा आकाशचारी गरुड या श्येनसे तथा जलचर हंससे भी दी गई है। ईंधन या घी इसका भोजन है और आज्य इसका पेय है।

अग्नि द्यौस्का पुत्र है। इसको जलोंका नाती भी कहा गया है। इन्द्र और अग्नि सहोदर भ्राता हैं। यह सूखी अरणियोंमें उत्पन्न होता है, जो उसकी माता है। शुष्क समिधाओंसे उत्पन्न होनेवाला अग्नि तुरन्त ही अपने माता-पिताका वध कर देता है। अग्निको दस कन्याओंसे उत्पन्न हुआ भी कहा जाता है, ये कन्याएँ मनुष्यकी दस उँगलियाँ हैं। इसको 'सहस्-पुत्र' भी कहा गया है; क्योंकि अग्निकी उत्पत्तिके लिये मनुष्यको बल लगाना पड़ता है। प्रातःकालमें अग्निका बाल-रूप होता है। अग्नि जलका गर्भरूप है और जलसे उत्पन्न होता है। आकाशमें उत्पन्न अग्निको मातरिश्वा (वायु)-द्वारा पृथ्वीपर लाया गया। सूर्य भी अग्निका ही एक रूप है। अग्निके दो स्थान हैं—द्युलोक और पृथिवीलोक। मानवीय जीवनसे अग्निका घनिष्ठ सम्बन्ध है, इसलिये इसको अतिथि और गृहपति भी कहा गया है।

अग्नि आर्योंका प्रमुख देव है, उसके बिना उनके धार्मिक एवं गृह्य-कृत्य सम्पन्न नहीं होते। तेज प्रदान करनेवाले अग्निको यविष्ठ्य (सदा युवा रहनेवाला), मेध्य (सदा पवित्र रहनेवाला), कविशस्त (कवियों-द्वारा प्रशंसित), दमुना (घरका परम मित्र) आदि अनेक नामोंसे पुकारा गया है।

अग्निका जन्म काष्ठ, जल और द्युलोक इन तीन स्थानोंमें माना जाता है। प्रातःकाल उषाके आगमनके साथ साथ अग्निका जन्म होता है। यह भूमिसे उसी प्रकार उठता है, जैसे वृक्षोंसे पक्षी। यह घीके द्वारा हव्यका भक्षण करनेसे घृतजिह्व है। हव्य पदार्थोंको देवताओंतक ले जानेसे हव्यवाहन है। सभी मनुष्य इसे चाहते हैं, अतः यह वैश्वानर है। सब इसकी स्तुति करते हैं अतः, यह नाराशंस है। यह यज्ञका साधन, भूत-प्रेत और राक्षसोंको भगानेवाला तथा जादूको दूर करनेवाला है।

२. इन्द्र : इन्द्र ऋग्वेदका सबसे महान् देवता है। अपने गुणोंसे यह आर्योंका जातीय और राष्ट्रीय देवता बन गया। ऋग्वेदमें देवराज इन्द्रके तीन विशेष गुण बताए गए हैं – महान् कार्योंको करनेकी शक्ति, अतुल पराक्रम और युद्धमें असुरोंको परास्त करना। इन्द्रको विद्युत्का देवता माना गया है। यह वर्षाको रोकनेवाले दैत्योंका संहार कर अन्धकारको नष्ट करता है। इन्द्र आर्योंके सहज शत्रुओंका वध करके आर्योंकी रक्षा करता है। वह सोमरसका पान करके प्रचुर शक्तिसे सम्पन्न हो जाता है और तब बड़े-बड़े कठिन कार्य भी कर सकता है। उसमें वज्रको चलाने और बिजलीको गिरानेकी शक्ति है।

त्वष्टाने इन्द्रके लिये वज्रका निर्माण किया था। वह विशाल-सुदृढ भवनोंमें रहता है और हरे घोड़ोंवाले स्वर्णिम रथपर चढ़ता है, जिसे देवताओंके शिल्पी ऋभुओंने बनाया था।

द्यौः इन्द्रका पिता है, अग्नि और पूषा उसके भाई और इन्द्राणी उसकी पत्नी है। मरुत्गण उसके सहायक हैं। शची नामक शक्तिका स्वामी होनेके कारण इन्द्रको शचीपति, कर्मोंकी शक्ति रखनेके कारण शतक्रतु और मरुतोंकी सहायता पाने के कारण मरुत्वान् कहा जाता है।

वर्षाका अवरोधक वृत्र उसका प्रमुख शत्रु है। इन्द्र सोमपान करके मरुतोंकी सहायतासे वृत्रपर आक्रमण करता है। इस युद्धमें द्युलोक और पृथिवीलोक काँप उठते हैं, पर्वत नष्ट हो जाते हैं और उनसे जलके निर्झर झरने लगते हैं। दैत्योंके पुरोंको नष्ट करके इन्द्रने 'पुरुहूत' उपाधि धारण की थी। यह मेघरूपी पर्वतोंमें निवास करनेवाले दैत्योंको मारकर वहाँ से जलको वैसे ही मुक्त करता है, जैसे कोई गौओंको घेरेसे मुक्त कराता है।

पराक्रमी इन्द्रने काँपते हुए पर्वतोंको स्थिर करके आकाश और पृथिवीको स्थिर किया और उनको फैलाया। इन्द्र अपने उपासकोंकी रक्षा और सहायता

करके उन्हें धन-धान्यसे पूर्ण करता है। अतः मघवा कहलाता है। इन्द्र उषाके रथको हिलानेवाला है। वह सूर्यके घोड़ोंको रोक लेता है और सोमको जीत लेता है। इन्द्रने पणियोंकी कैदसे गौओंको मुक्त करानेके लिये देवशुनी सरमाको दूत बनाकर भेजा था। इन्द्र कार्य करनेमें अत्यधिक शक्तिशाली, दुर्धर्ष, अथक लड़नेवाला, मनुष्योंका हितकारी, दान देनेमें उदार और प्रचुर सोमपान करनेवाला है। वह विश्वके सबसे बड़े राजा, विश्व-नियन्ता और धर्म एवं चरित्रके आदर्शोंकी स्थापना करनेवाले वरुणसे भी श्रेष्ठ है। मनुष्य और देवता उसकी शक्तिका पार नहीं पा सकते। देवोंमें वह सबसे अधिक प्रसिद्ध और महान् है।

हिल ब्रान्ट नामक पाश्चात्य विद्वान्ने यह सिद्ध किया है कि इन्द्र ही वृष्टिका देवता था। त्रित, पर्जन्य और इन्द्र तीनोंका वर्षासे सम्बन्ध है। ऋग्वेदके एक मन्त्र (१.५.२३)-के अनुसार पहले त्रित ही जलके अवरोधक दैत्योंका संहार करता था, परन्तु बादमें यह कार्य इन्द्रने अपने हाथोंमें ले लिया।

इन्द्रका वरुणके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था। इन्द्र-द्वारा विजित प्रदेशोंमें नियमों और व्यवस्थाकी स्थापना करना वरुणका कार्य था। इन्द्रका बृहस्पति और ब्रह्मणस्पतिके साथ भी घनिष्ठ सम्बन्ध था।

ऋग्वेदमें स्वर्ण, रजत आदि कान्तिमान् पदार्थोंको भी इन्द्र कहा गया है। इसीलिये यास्कने कहा है — ''या च का च बलकृतिः इन्द्रकर्मैव तत्'' अर्थात् जो भी बल और दीप्तिके कार्य हैं वे सब इन्द्रके कार्य हैं।

३. वरुण : ऋग्वेदमें १२ सूक्तोंमें वरुणकी स्तुति की गई है। वरुणका मुख्य रूप शासकका है। विश्वका राजा वरुण प्रशासन करता तथा नियमोंका सञ्चालन करता है। वह जनताके पाप-पुण्यका तथा सत्य-असत्यका हिसाब रखता है। उसके गुप्तचर विश्वभरमें घूमते रहते हैं। वरुण अपने पाशसे पापियोंको बाँध लेता है; परन्तु जो पश्चात्ताप करते हैं, उनके प्रति वह दयालु हो जाता है। पाप-कर्मको देखते ही वह क्रुद्ध हो जाता है और नियम-भंग करनेवालोंको कठोर दण्ड देता है। परन्तु अज्ञानवश गलती करनेवालोंको या आत्मसमर्पण कर देनेवाले अपराधियोंको वह क्षमा कर देता है।

वरुणका उज्ज्वल रूप है। सूर्य उसके नेत्र हैं, जिनसे वह सबको देखता है। वह दूरदर्शी है, कुशापर बैठताऔर स्वर्णिम वस्त्र धारण करता है। उसका रथ सूर्यके समान दीप्तिमान् है। अपने प्रासादमें बैठा हुआ वह प्रशासन और

नियन्त्रण रखता है। वरुणका एक दूत स्वर्णिम पंखोंवाला है, जो वस्तुतः सूर्य है।

वरुण ब्रह्माण्डका आधार है। उसने अपनी शक्तिसे स्वर्ग और पृथिवीलोकको धारण कर रखा है। वह लोगोंसे शारीरिक और चरित्रगत नियमोंका पालन करवाता है। वरुणने सूर्य, अग्नि, जल और पर्वतोंपर सोमलताको उत्पन्न किया। वरुण रात और दिनका अधिष्ठाता तथा जलोंका नियामक है। उसीके आदेशसे वायु ध्वनि करता है, चन्द्रमा प्रकाशित होता है, नदियाँ प्रवाहित होती हैं, समुद्र वेलामें रहता है और मेघ वर्षासे पृथिवीको सींचते हैं। वह नभचर पक्षियोंकी गतिको तथा समुद्रमें चलनेवाले जहाजोंको जानता है। उसकी दृष्टिसे कुछ भी छिपा नहीं है। वह सर्वोत्कृष्ट देवता है जो संसारको नियमोंमें चलानेका व्रत धारण किए हुए है।

मैक्डोनलके अनुसार वरुणका रूप चारों ओर फैले हुए आकाशसे आच्छादित-सा है। पुराणोंमें वरुणको जलका देवता बताया गया है; परन्तु ऋग्वेदमें ऐसी कोई उक्ति नहीं है।

२. मरुत् : देवतोंके एक समूहका नाम मरुत् है जिसकी स्तुति ४२ सूक्तोंमें है। इनका ३३ सूक्तोंमें स्वतंत्र रूपमें, ७ सूक्तोंमें इन्द्रके साथ और एक एक सूक्तमें अग्नि और पूषाके साथ वर्णन किया गया है। मरुत् आँधियोंके देवता हैं और वर्षा कराते हैं। वे बड़े प्रभावशाली, शक्तिशाली और इन्द्रके सहायक हैं। विपक्षियोंसे रक्षा और रोगोंसे निवारणके लिये इनसे प्रार्थना की गई है।

सभी मरुत् समवयस्क हैं और एक साथ उदित होते हैं। इन्हें रुद्र और पृश्निका पुत्र कहा गया है। पृश्नि एक गौका नाम है। कहींपर इन्हें वायुका पुत्र भी कहा गया है। ये पृथिवीपर बढ़ते और आकाशमें पलते हैं। रोदसी (इनकी पत्नी) इनके रथपर विराजमान रहती है।

मरुत् स्वर्णके समान सुनहरे और अग्निके समान दीप्तिमान् हैं। इनकी तलवारें और भाले बिजलीके समान चमकते हैं। इनके कुल्हाड़े और धनुष्-बाण सुनहरे हैं। ये सुन्दर मालाएँ, सुनहरे चोगे, आभूषण और शिरस्त्राण पहनते हैं। केयूर और वलय इनके आभूषण हैं। इनके बिजलीके समान चमकीले रथमें मटियाली चितकबरी घोड़ियाँ जुती रहती हैं। मरुत् बड़े पराक्रमी देवता हैं। ये पर्वतोंको हिला देते हैं। द्युलोक और पृथिवीलोक इनके भयसे काँपते हैं।

ये सूर्यको ढक लेते हैं और वृक्षों को जंगली हाथियों के समान गिरा देते हैं। वृत्रके वधके समय ये इन्द्रकी सहायता करते हैं। इन्द्र-द्वारा दैत्योंका वध करनेपर समय ये उसकी प्रशंसाके गीत गाते हैं तथा सोमरस निकालते हैं। मरुतोंको सामान्यतः आँधी तथा जल-प्रलयका देवता कहा गया है। परन्तु वे अपने भक्तोंकी रक्षा करते हैं और उनके रोगोंका निवारण करते हैं। जल उनकी प्रधान औषधि है।

४. विष्णु : ऋग्वेदके पहले मण्डलके १५४वें सूक्तमें विष्णुकी स्तुति की गई है। सर्वानुक्रमणीके अनुसार छह ऋचाओंमें विष्णुकी स्तुति है। यद्यपि ऋग्वेदमें विष्णुका उतना महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं है, तथापि आगे चलकर ये आर्य-देवताओंमें सर्वप्रमुख स्थानके भागी बन गए।

विष्णु शब्द 'विष्' धातुसे निष्पन्न होता है जिसका अर्थ है – व्यापनशील होना। व्यापनशीलताके कारण ये सूर्यके वाचक हुए क्योंकि सूर्य तीनों लोकोंको प्रकाशित करनेवाला है। इनके लिये त्रिविक्रम शब्दका भी प्रयोग हुआ है, इसका अर्थ है – तीनों लोकोंमें अपनी किरणें फैलानेवाला। ऋग्वेदमें विष्णु-द्वारा अपने विस्तीर्ण तीन पगोंमें ब्रह्माण्डको नापनेके महत्त्वपूर्ण कार्यका वर्णन किया गया है। इसीके आधारपर दैत्यराज बलिको विष्णु-द्वारा छलनेकी कथा कल्पित हुई होगी। इस पौराणिक कथाके अनुसार विष्णुने वामनका रूप धारण कर दैत्यराज बलिसे तीन पग भूमिकी याचना की। बलि-द्वारा वचन दिए जानेपर उन्होंने एक पगमें पृथिवीको, दूसरे पगमें अन्तरिक्षको नापकर फिर तीसरा पग दैत्यराज बलिके सिरपर रखकर उन्हें पातालमें पहुँचा दिया। वस्तुतः त्रिविक्रमका अभिप्राय है कि सूर्यरूप विष्णु पृथिवीलोक, द्युलोक और अन्तरिक्षलोकमें अपनी किरणोंका प्रसार करते हैं और इनके प्रकाशसे जरायुज, अण्डज, उद्भिज और स्वेदज यह चतुर्विध सृष्टि अनुप्राणित होती है।

विष्णुको उरुक्रम अर्थात् महान् शक्तिशाली और उरुगाय अर्थात् अनेक प्राणियोंसे स्तुति किया जानेवाला भी कहा गया है। विष्णु विश्वके रक्षक और अनन्त शक्तिसम्पन्न हैं। शारीरिक शक्तिकी अपेक्षा उनकी बौद्धिक शक्ति अधिक प्रबल है। इसलिये यह सब देवताओंमें सबसे अधिक चतुर है।

विष्णुको उपेन्द्र (इन्द्रका अनुज) भी कहा गया है। यह सभी देवताओंमें सर्वाधिक क्रियाशील है तथा उनके सहायक हैं। विष्णु परमपदके अधिष्ठाता

हैं। उनके परमपद उच्चलोकमें मधुका उत्स है, वहाँ बड़े बड़े सींगोंवाली गौएँ रहती हैं। पुराणोंमें विष्णुलोकको गोलोक कहा गया है। विष्णुके भक्तजन इस लोकमें जाकर उत्तम पदार्थोंका भोग करते हैं। वृहदारण्यक-उपनिषद्के अनुसार विष्णु वह शक्ति है, जो इन्द्रियों और आत्माको उनके कर्मानुसार नियुक्त करती हैं। इस प्रकार विष्णु शरीरके अधिष्ठातृ देवता हैं।

५. सूर्य : ऋग्वेदके वर्णनोंके अनुसार भुवन-भास्कर सूर्य ही सूर्यदिव हैं। अतः, भौतिक सूर्यकी विशेषताएँ ही कही गई हैं। सूर्यका चमकीला घेरा उपासकोंके लिये आकर्षणका केन्द्र है। सूर्यको मित्रावरुणका नेत्र कहा गया है। यह नेत्र दूरदर्शी एवं सर्वद्रष्टा है। सूर्य स्थावर और जंगम सभी प्राणियोंको गति प्रदान करता है। एक चक्रवाले सूर्यके रथमें हरित् नामके अश्व जुते रहते हैं। सूर्यका पिता द्यौ और माता अदिति हैं। कहीं कहीं उषाको सूर्यकी माता तथा कहीं पत्नी भी कहा गया है। देवताओंने सूर्यको ऊपर उठाकर द्युलोकका अधिष्ठाता बना दिया था। सूर्यको गगनचारी पक्षी या अनेक वर्णवाला अश्व भी कहा गया है। यह मेघोंमें छिपा हुआ मित्रावरुणका आयुध और इन्द्रका वज्र है। सूर्य अन्धकारका विनाशक है और उसे केंचुलीके समान दूर फेंक देता है।

६. सविता : सविता देवताका सूर्यसे बहुत अधिक साम्य है तथा कभी कभी दोनोंको एक ही मान लिया जाता है। तथापि इसका स्वरूप सूर्यसे भिन्न है। सविता शब्दकी निष्पत्ति 'सू' धातुसे हुई है, जिसका अर्थ है — उत्पन्न करना, गति देना, प्रेरणा या प्राण देना। सविताका कार्य इन्हीं अर्थोंके अनुरूप है।

सविताका स्वरूप स्वर्णिम तथा आलोकमय है। उसके नेत्र, हाथ और जीभ सभी स्वर्णिम हैं। उसका रथ स्वर्णके समान आभाशाली है और रथके धुरे भी चमकीले हैं। उसके रथपर सुनहरी यष्टियाँ हैं और मोतियोंसे सज्जित हैं। रथको दो या अधिक लाल या सफेद घोड़े खींचते हैं। इस रथपर आरूढ़ होकर यह समस्त विश्वमें घूमता है।

सविता दिन और रातका स्वामी है। सुवर्णमय भुजाओं जैसी अपनी किरणोंसे आकाशको व्याप्त करता हुआ वह आकाशमें उदित होता है। प्रत्यूष और प्रदोष दोनोंसे इसका सम्बन्ध है। यह दुःस्वप्नोंका नाशक है और दुर्भाग्यको दूर भगाता है। वह यजमानोंकी रक्षा करता है, मनुष्योंको निष्पाप बनाता है तथा राक्षसोंको दूर भगाता है। वह नियमोंका भली-भाँति पालन

करता है। जल और वायु उसके आश्रित हैं। अन्य देवता उसके नेतृत्वको स्वीकार करते हैं तथा कोई भी उसकी इच्छाका उल्लंघन नहीं कर सकता। पवित्र गायत्री मन्त्रमें सविताकी महत्ताका गान किया गया है।

७. मित्र : ऋग्वेदके देवताओंमें मित्रका वरुणके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। केवल एक स्थानपर मित्रके स्वतंत्र रूपका वर्णन है; अन्य सभी स्थलोंपर इसकी स्तुति वरुणके साथ की गई है। उषाका अनुगामी अग्नि मित्र का जनक है। वह पूर्ण रूपसे दीप्त होकर स्वयं मित्र संज्ञाको धारण कर लेता है।

मित्रके कार्य सविताके समान हैं। यह शब्दों-द्वारा मनुष्योंको नियन्त्रित करता है, निर्निमिष नेत्रोंसे कृषकोंको देखता है और उनको कृषि करनेके लिये प्रेरणा देता है। कुछ मन्त्रोंमें उसको प्रकाशका देवता भी कहा गया है। 'मिद्' धातुसे निष्पन्न मित्र शब्दका अर्थ है – सुहृद् होना। मित्रके स्वभाव और कार्य इसीके अनुरूप हैं। वह बहुत दयालु और शक्तिशाली है। अथर्ववेदमें ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें मित्र और वरुणके भेद बताए गए हैं। मित्रका सम्बन्ध दिनसे और वरुणका रात्रिके साथ है।

८. उषस् : ऋग्वेदके कवि-हृदय ऋषियोंने उषाके वर्णनोंमें अपनी अलौकिक प्रतिभाको व्यञ्जित किया है। ऋग्वेदके २० सूक्तोंमें उषाका स्तुतिगान किया गया है। वह सौन्दर्यकी देवी है। उसके उदय होनेपर गगनका कोना कोना आलोकित हो उठता है तथा विश्व हर्षातिरेकसे भर जाता है। उषा सूर्यकी प्रेयसी है। वह एक नर्तकीके समान सजी हुई और चमकीले वस्त्र धारण किए हुए पूर्व दिशामें अपना आकर्षक रूप प्रकट करती है।

उषा प्रकाशमें स्नान करती हुई रात्रि-रूपी नायिकाकी काली वेशभूषाको उतारकर फेंक देती है। वह पुरातन युवती है और प्रतिदिन उत्पन्न होती है। विभिन्न रंगोंमें चमकती हुई उषा मरणशील मनुष्योंको उद्बोधित करती है। उषाकी किरणें पशुओंके झुण्डके समान निकलती हैं तथा दुःस्वप्न और हानिकर भूत-प्रेतोंको भगा देती हैं।

उषा प्रत्येक प्राणीको अपने कार्यमें प्रवृत्त कर देती है। वह सदा नियमोंका पालन करानेमें तत्पर रहती है। देवोपासकोंको वह प्रातःकाल जगाकर उन्हें भजनमें प्रवृत्त करती है और देवताओंको सोमपानमें लगाती है।

उषाके चमकदार रथमें लाल रंगके अश्व जुते हैं। सूर्यकी प्रातःकालीन

किरणेंही वे अश्व हैं। सूर्य एक रसिक युवकके समान अपनी प्रेयसी उषाके पीछे पीछे जाता है। कहीं कहीं सूर्यको उसका पुत्र भी बताया गया है। उस कान्तिमान् पुत्रको गोदमें उठाकर वह उदित होती है।

कुछ स्थलोंमें उषाको रात्रिकी अनुजा भी कहा गया है। आकाशमें उत्पन्न होनेके कारण उषाको स्वर्गकी पुत्री भी बताया गया है। उषाका अग्निके साथ सम्बन्ध मिलता है। अग्नि उससे मिलनेके लिये अपनी लपटोंको जलाता है, तब अग्नि उससे मिलनेके लिये अपनी लपटोंको ऊपर उठाता है। अश्विनीकुमारोंसे भी उषाका सम्बन्ध निरूपित किया गया है।

उषा अपने भक्तोंको धन, पुत्र, यश आदि प्रदान करती है इसलिये उसको 'मघोनी' कहा गया है। चमकना अर्थवाली 'वस्' धातुसे उषा शब्दकी निष्पत्ति हुई है। उषामें ज्योतिष्मान् पदार्थ निवास करते हैं।

'शतथपथ ब्राह्मण'-की एक कथाके अनुसार कृष्णवर्णके एक दैत्यने उषाको गुफामें बन्द कर दिया। उसे खोजनेमें देवता असफल रहे; अन्तमें सूर्यने उषाका उद्धार किया। इसका अभिप्राय यह है कि कालरात्रि-रूपी राक्षसने उषाको बन्द कर दिया और इन्द्ररूपी सूर्यने उसको बन्धनमुक्त किया।

उषा वैदिक ऋषियोंकी प्रमुख देवी रही है। यज्ञोंमें उषाका विशेष स्थान रहा है। उषाका आगमन आर्योंमें उत्साह और हर्षकी नवीन भावनाओंका सञ्चार कर देता है। अपनी दिव्य चमकके लिये, नियमोंका पालन कराने, निरन्तर उन्नति एवं भौतिक समृद्धिकी प्राप्तिके लिये उषाकी उपासना की जाती है। वह सदाचार-सम्बन्धी त्रुटियोंका निराकरण करके ऋतका वितरण करती है। इसलिये उसको ऋतावरी भी कहा जाता है। उषा वर्षकी पत्नी और ऋतुओंकी स्वामिनी है।

वैदिक साहित्यमें उषाकी विशेष महिमा गाई गई है। रेवती, मघोनी, विश्ववारा, प्रचेता, सुभगा आदि उसके विशेषण हैं। वह प्रकाश-पुञ्जका उसी प्रकार आवर्तन करती है, जैसे कोई पहियेको लुढ़काता है।

८. सोम : सोम एक प्रमुख ऋग्वैदिक देवता है। १२० सूक्तोंमें सोमकी स्तुति की गई है। समस्त नवम मण्डल सोमकी स्तुतियोंसे भरा पड़ा है। सोम एक वनस्पति है जो मुञ्जवान् पर्वतपर उत्पन्न होती थी। इसका रस अत्यधिक शक्तिप्रद और स्फूर्तिदायक होता था। सोम-यागोंमें देवताओंको अर्पित करके

इसका पान किया जाता था। इन्द्र सोमरसके पानका बहुत अभिलाषी रहता था। विशिष्ट विधियों-द्वारा सोमरस तैयार क्रिया जाता है।

९. वात : वात भौतिक वायुका देवता है। ऋग्वेदके दो लघुकाय सूक्तोंमें उसकी स्तुति की गई है। यह वायुका प्रेरक और उसका आत्मा बताया गया है। वात और वायु इन दोनों ही शब्दोंकी निष्पत्ति 'व' धातुसे हुई है, जिसका अर्थ है — गति करना या गन्धको ले जाना।

वातका सम्बन्ध पर्जन्यसे भी बताया गया है। वात देवोंका श्वास-प्रश्वास है। वह रोगोंको दूर करके जीवनकी अवधिको बढ़ाता है। यह घरमें अमरत्वकी निधि है। यह चमकीले प्रकाशको उत्पन्न करता है। इससे बभ्रुवर्णका वायु बहने लगता है। प्रातःकालमें यह उषाको प्रकाशयुक्त करता है। इसके तीव्र वेगकी उपमा देवों और अश्वोंसे दी जाती है। यह गर्जना करता हुआ जब अपने मार्गसे जाता है तब नीला आकाश पाटल-वर्णका हो जाता है, पृथिवीपर भयानक बवण्डर उठने लगते हैं जो दिशाओंको भर देते हैं। वात समस्त भुवनका राजा है। वात देवताका रथ आकाशमें गमन करता और पृथिवीपर धूल उड़ाता है। वातका स्वरूप किसीको दिखाई नहीं देता, केवल घोष ही सुन पड़ता है।

१०. पूषन् : पूषाकी स्तुति ऋग्वेदके आठ सूक्तोंमें की गई है। सोमके साथ पूषाका वर्णन आता है। 'पूषन्' शब्दका अर्थ है — पोषण करनेवाला। वह सूर्यकी पोषण-शक्तिका प्रतीक है। पूषाको चराचरका स्वामी तथा मार्गोंका रक्षक बताया गया है। ऋग्वेदमें पूषाकी मानवाकृतिका विशेष परिचय नहीं मिलता; परन्तु उसके पैर तथा दाँएँ हाथका वर्णन मिलता है। पूषाके सुन्दर केश तथा दाढ़ी है। उसकी सुनहरी तलवार है, हाथोंमें सोनेकी माला और अंकुश है। पूषाके रथमें बकरे जोते जाते हैं। वह प्रत्येक प्राणीको प्रेमकी दृष्टिसे देखता है। दलिया या करम्भक (दधिमिश्रित सत्तू)-का भोजन करता है। पूषा स्वर्गमें निवास करता है। वह अपने रथपर आरूढ़ होकर भ्रमण करता हुआ सारे संसारको देखता है। पूषाको मार्गोंका देवता भी कहा गया है। वह मार्गोंके भयको दूर भगाता है।

पूषाको उषाका भ्राता कहा गया है। वह दिव्य स्वर्णिम रथपर बैठकर उषाका दूत बनकर सूर्यके पास जाता है। ऋग्वेदमें पूषाको त्यागियोंका पुत्र (विमुचीनपात्) कहा गया है। यह पशुओंका रक्षक है और उनको सुरक्षित

घर पहुँचा देता है। आघृणि (प्रकाशवान्) उसका विशेषण है। चराचरका स्वामी पूषा अत्यधिक उदार है और प्रेतात्माओंको पितृलोकमें ले जाता है।

११. वास्तोष्पति : ऋग्वेदमें वास्तोष्पति देवताका स्तुतिपरक केवल एक सूक्त है। वास्तोष्पतिके गुण सोमके समान ही बताए गए हैं। ऋग्वेदके वास्तोष्पति सूक्तका प्रयोग गृह-प्रवेशके समय किया जाता था। नवगृहमें प्रवेशके अवसरपर वास्तोष्पति देवताकी स्तुति करना आवश्यक है। यह निर्मित भवनका अधिपति है और उसकी रक्षा करता है। यह वृक्षों और पर्वतोंका भी देवता माना गया है। गृह-निर्माणके लिये साधनभूत अपेक्षित वस्तुओंका उपयोग करनेके लिये वास्तोष्पति देवतासे गृहस्थ अनुमति माँगता है। ऋग्वेदमें वास्तोष्पति देवताकी स्तुति करते हुए यह कामना की गई है कि वह हमारे धन तथा पशुओंकी वृद्धि करे, हमारे बुढ़ापेको दूर करे, हमारे लिये गृहस्थ जीवनकी उपयोगी वस्तुओंका अभाव न होने दे। ऋग्वेदके अनुसार गृह-सम्पत्तिकी सुरक्षा और उन्नतिके लिये वास्तोष्पति देवताकी उपासना करनी चाहिए।

१२. वाक् : ऋग्वेदमें वाणीकी देवीके रूपमें वाक्की स्तुति की गई है। इसमें वाणीकी सारी विशेषताएँ विद्यमान हैं। वाक्को ब्रह्मसे उत्पन्न एक महान् शक्ति बताया गया है। वाक्के पिताका नाम ऋम्भण ऋषि था। वाक् ब्रह्मका ही एक रूप है। वह देवताओंकी प्रेरक है और उनको कर्त्तव्य-पालनमें सहायता देती है। वह अपने भक्तोंको अपने तेजसे ऋषि, ब्राह्मण और विद्वान् बना देती है। वाणीकी महत्ता पानेके लिये और वाक्शक्तिका विकास करनेके लिये वाक्-सूक्तका पाठ अपेक्षित है। इस सूक्तमें वाणीके प्रत्यक्ष और परोक्ष रूपोंका वर्णन किया गया है।

१२. रुद्र : ऋग्वेदकी केवल कुछ ही ऋचाओंमें रुद्रका वर्णन है तथापि रुद्रको अत्यधिक शक्तिशाली एवं भयंकर रूपमें चित्रित किया गया है। रुद्रका बाह्यरूप मनोहर है। उसके सुन्दर ओष्ठ, घुँघराले केश, भूरा रंग, मसृण और कान्तियुक्त आकृति है। वह मध्याह्नकालीन सूर्यके समान चमकता है। वह स्वर्णाभूषण धारण करता और कंठमें चमकदार निष्ट (हार) पहनता है। उसके पास विशेष आयुध हैं। वह वज्र धारण करता है और बिजलीके समान कान्तिवाले बाण अपने पास रखता है।

ऋग्वेदमें रुद्रको मरुतोंका पिता एवं स्वामी कहा गया है। इन्द्रने इनको पृश्नि नामक गौओंके थनोंसे उत्पन्न किया था। जगत्का विनाश करनेमें रुद्र शंकरके तुल्य हैं। स्वर्गमें निवास करनेवाला अरुष् नामका यह विशालकाय शूकर लाल रंगवाला है।

रुद्र बलिष्ठतम, शीघ्रगामी और स्फूर्तिवान् है। कोई देवता उसका अतिक्रमण नहीं कर सकता। वह संसारका स्वामी और पिता, उदार, आशुतोष और शिव है। वह जगत्के पाप-पुण्यका निरीक्षण करता है। उसका क्रोध किसीकी चिन्ता न करनेवाला, न बदलनेवाला, असह्य और वीभत्स है। देवाधिदेव रुद्रसे प्रार्थना की गई है कि वह हमें न मारे और न हानि पहुँचाए।

रुद्रसे प्रार्थना की गई है कि वह गौओं तथा मनुष्योंको मारनेवाले वज्रसे हमारी रक्षा करे तथा अपने प्रति द्रोहसे हमें बचावे। रुद्र केवल भयानक और दण्डदाता ही नहीं है, अपितु कष्टोंसे बचाकर दयाका दान भी करता है। रुद्रके पास स्वास्थ्यप्रद शक्तियाँ और रोगनाशक हज़ारों औषधियाँ हैं। रुद्रका दुःखद रूप नर-पशु-वृक्ष आदिको ध्वंस करनेवाली बिजलके समान दिखाई देता है। उसका रूप एक ओर कठोर है तो दूसरी ओर कोमल भी है।

यजुर्वेद-कालमें रुद्रको प्रतिष्ठा मिली आरम्भ हो गई थी। रुद्राष्टाध्यायी और यजुर्वेदमें रुद्रको शत्रुओंका प्रतिकार करनेमें अनुपम सामर्थ्यसे युक्त बताया गया है। एक ओर जहाँ वह शत्रुओं और द्रोहियोंको रुलानेवाला है, वहीं दूसरी ओर शान्तिका अग्रदूत है।

१३. यम : ऋग्वेदके दसवें मण्डलके चौदहवेंसे लेकर अठारहवें सूक्ततक मृत्यु तथा भावी जीवनसे सम्बन्धित पारलौकिक मन्त्र हैं। इनमें पहले सूक्तमें यम देवता है। इनके अतिरिक्त अन्य तीन सूक्तोंमें तथा एक यम-यमी सूक्तमें यम देवताको सम्बोधित किया गया है। यम प्राणोंका देवता है और वह मृतकके आत्माको मार्ग दिखाता है।

यमके पिता विवस्वान् और त्वष्टाकी पुत्री सरण्यू उसकी माता है। यम मृतकोंका देवता है। मनुष्योंके देह-त्यागके उपरान्त वह जीवोंकी गतिका मार्ग-निर्देशन करता है। यमका सम्बन्ध वरुण, बृहस्पति, और अग्निसे भी है। अग्नि ही मृतकोंको यमतक पहुँचाता है। इसलिये अग्निको यमका मित्र और पुरोहित कहा गया है। यमका पितरोंसे, मुख्यतः अङ्गिरससे सम्बन्ध है।

यम प्रेतात्माओंका शासक है।

यम जीवोंके कर्मोंका निर्णय करता है। वह पुण्यात्माओंको प्रकाशवान् स्थानपर भेजता है; जहाँ पितरोंकी पुत्रों-द्वारा सेवा की जाती है। पितरोंकी कई श्रेणी हैं; यथा — अङ्गिरा, विरूप, नवग्वा, अथर्वा, भृगु और वसिष्ठ आदि। शरीरके पञ्चभूतोंमें विलय हो जानेपर जीवात्मा विभिन्न लोकोंमें भ्रमण करता रहता है।

यमका स्थान सुदूर अन्तरिक्षमें है। अन्य देवता भी यहाँ निवास करते हैं। यहाँ यम मधुर ध्वनियोंसे घिरा रहता है। यमके लिये सोमका अभिषव किया जाता है और घृतकी आहुति दी जाती है। वह यज्ञस्थलपर स्वयं आकर अपना भाग ग्रहण करता है। यमकी प्रार्थना इसलिये की जाती है कि वह जीवनको बढ़ावे तथा देवताओंतक ले जावे।

यमने सबसे पहले परलोककी खोज की थी। उसके माध्यमसे प्राचीन पितरोंतक पहुँचा जा सकता है। मृत्यु यमका मार्ग है। उल्लू और कबूतर यमके दूत हैं तथा दो चतुरक्ष, दीर्घकोण तथा सारमेय श्वान उसके सेवक हैं। वे मार्गकी रक्षा करते हुए मृतकको यमके पास ले जाते हैं।

'यम' शब्द 'यम्' धातुसे निष्पन्न होता है। जो सभी प्राणियोंका नियन्त्रण करता है, वह यम है। यम-सूक्तोंका पाठ दाह-संस्कारके समय किया जाता है। इस अवसरपर अग्निसे यह प्रार्थना की जाती है कि तू शवकी रक्षा कर और इसके स्थानपर किसी अजको भस्म कर दे। दाह-संस्कारके समय मृतककी पत्नी शवके समीप लेट जाती है और हाथोंमें धनुष्-बाण लिए हुए उठती है। सम्भवतः प्राचीनकालमें मृतकके साथ उसके शस्त्रों तथा पत्नीको जला दिया जाता था।

मृतककी दो गति हैं — पितृयान और देवयान। इनमें देवयान श्रेष्ठ हैं। यम दोनों मार्गोंमें मृतककी रक्षा करता है और उसको लोक-लोकान्तरोंमें पहुँचाता है। वह जीवको उसके कर्मानुसार विभिन्न लोकोंमें ले जाता है।

यम शब्दका अर्थ युगल भी है। यम-यमी सूक्तमें यम और यमी परस्पर वार्तालाप करते हैं। ये दोनों जुड़वाँ उत्पन्न हुए थे तथा सदा साथ रहते हैं। कुछ विद्वान् यम-यमीको पति-पत्नी तथा कुछ भाई-बहन मानते हैं। कुछ विद्वानोंका कथन है कि प्राण-वायुका नाम यम है। इसके निरोधको प्राणायाम कहते हैं।

१४. पर्जन्य : ऋग्वेदमें पर्जन्यकी स्तुतिके केवल तीन सूक्त हैं।

पर्जन्यका अर्थ है — जल बरसानेवाला मेघ। मेघको जल भरनेका एक बड़ा पात्र कहा गया है, जिसे दृति कहते हैं।

पर्जन्य औषधियोंको उत्पन्न करनेवाला देवता है। इसकी उपमा वृषभसे दी गई है, जिसकी सवारी जलसे परिपूर्ण मेघ है। यह अङ्कुरोंको उत्पन्न करना और पृथिवीको विस्तृत बनाता है। पर्जन्यको दिव्य जलोंका पिता कहा गया है। जल-वर्षणके समय वह बिजलीके एवं गर्जनाओंके साथ जलमय रथपर आरूढ़ होकर आकाशमें विचरण करता है।

पर्जन्य गौओं, घोड़ियों और अन्य मादा जातियोंमें गर्भाधानके सामर्थ्यको उत्पन्न करता है। एक स्थानपर पर्जन्यको द्युलोक एवं पृथिवीलोकका पिता कहा गया है। दूसरे स्थानपर द्युको इसका पिता तथा पृथिवीको पत्नी कहा गया है।

१५. अश्विन : ये देवता सदा युगल-रूपमें उपस्थित होते हैं तथा 'अश्विनौ' इस द्विवचनमें इनका प्रयोग किया जाता है। इनकी स्तुति ५० सूक्तोंमें की गई है। ये देवता प्रकाश, प्राकृतिक आनन्द और कामपूर्तिके साधन प्रस्तुत करते हैं। अश्विनी देवता दो अलग अलग भ्राता हैं। कहीं कहीं पर उनको जुड़वाँ भाई भी बताया गया है। ये युवा, प्राचीन, चमकदार और कान्तिमान् हैं। वे सदैव स्वर्णिम कान्ति, सौन्दर्य और कमलकी मालासे विभूषित रहते हैं। उनका मार्ग स्वर्णमय है। उनके अङ्ग दृढ हैं। वे स्फूर्तिमान् और गरुडके समान तीव्रगामी है। उनमें अदृश्य शक्ति है और उनकी बुद्धि असीम है। उनको दस्र (आश्चर्यपूर्ण) तथा नासत्य (सत्यसे पूर्ण) भी कहा गया है।

अश्विनी देवताओंको शहद बहुत प्रिय है। उन्होंने प्रभूत मात्रामें शहदका सञ्चय किया था। उनका रथ शहदके रंगका है, वह शहदके अङ्कुशसे हाँका जाता है और शहदके समान धीरे-धीरे चलता है। वे मधुमक्खियोंको शहद प्रदान करते हैं। इनका रथ और उसकी गति अप्रतिम है। रथकी चमक सूर्यके समान है, उसके अवयव सोनेके बने हैं। रथमें तीन पहिये हैं, उसका वेग पवनसे भी अधिक है। ऋभु नामक देवताओं-द्वारा निर्मित इस रथमें सुनहरी पंखोंवाले घोड़े जुते हैं। वह रथ पाञ्चदेशों — अन्तरिक्ष, भू, द्यु, सूर्य और चन्द्र लोकोंको पार करता है। यह सूर्यकी परिक्रमा भी करता है। ऋचाओंमें रथकी गतियोंका वर्णन किया गया है।

अश्विनी देवताओंके निवास निश्चित नहीं है। वे कभी वायु-लोकमें, कभी स्वर्ग-लोकमें और कभी समुद्रमें निवास करते हैं। वे उषाके प्रकट होनेके बाद और सूर्योदयके पूर्व मध्यमें प्रकट होते हैं। ये रथपर बैठकर पृथिवीलोकमें आते हैं और अपने उपासकोंका कल्याण करते हैं। प्रातःकालके अतिरिक्त वे मध्याह्न और सायंकालमें भी आते हैं और अँधेरे तथा हानिकारक भूत-प्रेतोंको भगा देते हैं।

अश्विनी देवता स्वर्गके पुत्र हैं। उनको विवस्वान्‌का और त्वष्टाकी पुत्री सरण्यूका पुत्र भी कहा गया है। सरण्यू शब्दका अर्थ उषा और सूर्यका उदयकाल हैं। अश्विनी देवताओंको पूषाका पुत्र भी कहा गया है। उषाको उनकी बहन कहा गया है। सूर्यकी पुत्री सूर्याके विवाहके प्रसङ्गमें इन देवताओंका वर्णन आया है। इनका वरण करके सूर्या स्वयं इनके रथपर आरूढ़ हुई थी। ये विवाहके लिये सूर्याके घर आते हैं और उसको प्रजनन-शक्ति प्रदान करते हैं।

अश्विनी कुमारोंको सोमरससे बहुत प्रेम है। सोमपानके लिये इनका आवाहन किया जाता है। वे अत्यधिक बुद्धिमान्, शान्त और दयालु हैं। वे अपने उपासकों तथा भक्तोंकी रक्षा करते हैं। ये देवता कुशल चिकित्सक तथा स्वर्गके वैद्य हैं। वे शारीरिक व्याधियोंको दूर करने, नवयौवन प्रदान करने और नये अङ्गोंकी रचना करनेमें समर्थ हैं। इन्होंने भुज्यु नामक राजाको समुद्रमें डूबनेसे बचाया था। च्यवन ऋषिके जीर्ण-शीर्ण शरीरका नवयौवन प्रदान कर उनके नेत्रोंकी ज्योति लौटाई थी।

अश्विनी देवताओंके लिये निचेतास्, मधुयुवा, स्यूम गभस्ति आदि विशेषणोंका प्रयोग हुआ है। मनुष्योंके प्रति इनका मित्रतापूर्ण व्यवहार है। अश्विनी देवताओं से ही दान देने की भावना उत्पन्न हुई। जो भी दान दिया जाता है, उसके ये ही देवता हैं।

यास्कने अश्विन् शब्दके अनेक अर्थ दिए हैं और इन्हें न सुलझनेवाली पहेली कही है। अश्विन् शब्दका अर्थ महाकाल है, जबकि झुटपुटा प्रकाश हो। अतः प्रातःकालमें और सायंकालमें दृष्टिगोचर होनेवाले तारोंको अश्विन् कहा गया है। अश्विन् दो नक्षत्र हैं, जिनमें एक प्रातःकालमें और दूसरा सायंकालमें उदित होता है।

ज्योतिषशास्त्रमें अश्विनी तारोंका एक समूह है, जो शुभाशुभका द्रष्टा है। शूद्र जातिके रासभ इसके रथको खींचते हैं। हठयोगके अनुसार, दायें

और बायें नासापुटोंको अश्विनी कहते हैं। इनका ही दूसरा नाम इडा और पिङ्गला है। शीघ्र गमन करनेके कारण वायुको अश्विन् कहा जाता है। रासभोंसे वहन होना इनके यौगिक अर्थको स्पष्ट करता है। भ = आकाशका, रास = युक्त होना। तीव्र हवाके चलनेपर आकाशमें उसका शब्द भर जाता है।

१६. द्यावापृथिवी : ऋग्वेदमें द्युलोक और पृथिवीलोककी एक युगल देवताके रूप में कल्पना की गई है। द्यौःके स्थानपर द्यावापृथिवी शब्द अधिक प्रयुक्त हुआ है। इसे रोदसी नामसे भी पुकारा गया है। द्युलोककी पिताके रूपमें तथा पृथिवीलोककी माताके रूपमें कल्पना की गई है। ये दोनों बहुत बुद्धिमान् हैं तथा पिताके समान सबकी रक्षा करते हैं।

द्यावापृथिवी महान् देवता है, जो कभी वृद्ध नहीं होते। वे बहुत विशाल हैं। सबको भोजन, धन, यश और आवास प्रदान करते हैं। ये सम्पूर्ण भूमण्डलकी रक्षा करते और आचरणों तथा नियमोंका पालन करते हैं। ये शरीरके पोषक तत्त्व बढ़ाते हैं। द्यावापृथिवीका परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। दोनों सदैव एक साथ रहते हैं और एक-दूसरेपर समान अधिकार रखते हैं।

१७. विश्वेदेव : ऋग्वेदमें विश्वेदेव देवताओंका महत्त्वपूर्ण स्थान है। लगभग ४० सूक्तोंमें इनका आवाहन किया गया है। ऋग्वेदमें ३३ प्रधान देवताओंका द्युस्थानीय, अन्तरिक्ष-स्थानीय और पृथिवीस्थानीय इन तीन वर्गोंमें वर्गीकरण किया गया है।

विश्वेदेवोंका ऋग्वेदके आठवें मंडलके २१वें सूक्तमें विशेष वर्णन है। प्रत्येक मंत्रमें दिव्य गुणोंसे युक्त एक देवताका वर्णन है। विश्वेदेवोंमें इन्द्र, अग्नि, सोम, त्वष्टा, रूद्र, पूषन्, विष्णु, अश्विनी, मित्रावरूण और अंगीरसका अधिक वर्णन आता है।

विश्वेदेव मनुष्योंका कल्याण करते हैं। सबके सो जानेपर ये हमारी रक्षा करते हैं। ये सुख-दुःखके क्रमके व्यवस्थापक हैं। सूर्यका नियमन और रात्रिका आगमन इन्हींके अधीन है। विश्वेदेवोंके समूहमें अनाहुत देवताओंका भी समावेश हो जाता है।

१८. अपस् : ऋग्वेदके चार सूक्तोंमें अपस् देवताका वर्णन है। ये जलके देवता हैं। इनका बहुवचनमें प्रयोग होता है। अपस् देवताका कहीं माताके, कहीं स्त्रीके और कहीं अधिष्ठात्री देवताके रूपमें वर्णन हुआ है। ये

देवताओंके अनुयार्या हैं और यश करनेवालोंको वरदान देते हैं। वज्रधारी इन्द्रने जलोंके लिये जिस मार्गका खनन किया था, ये उस मार्गका कभी उल्लंघन नहीं करते। देवताओंके साथ ही जल-निवास करते हैं। मित्रावरुण और सूर्य उनके साथी हैं। ये मनुष्योंके पाप और पुण्यपर दृष्टि रखते हैं।

दिव्य और सोम भेदसे ये जल दो प्रकारके हैं, किन्तु दोनोंका ही गन्तव्य-स्थल समुद्र है। जलोंको अग्निका उत्पादक कहा गया है। जलोंसे सरलता पाकर संसार गति करता है। जल गन्दगीको दूर करके शुद्धता प्रदान करते हैं। ये आचारगत मलिनताओंका भी निवारण करते हैं। बलपूर्वक किए गए पाप और आलस्यको जल दूर कर देते हैं।

जल एक महान् औषधि है। वे विभिन्न रोग दूर करते हैं और स्वास्थ्य, धन, शक्ति, दीर्घायु एवं अमरत्व प्रदान करते हैं। विश्व उनकी कृपाके लिये प्रार्थना करता है। सोमसे भी जलोंका सम्बन्ध है। वे सोम नामके पुरोहितको रस प्रदान करते हैं।

मधुके साथ जलोंका विशेष सम्बन्ध है। वे अपने दूधको मधुमें मिलाते हैं और इन्द्र उसका पान करता है। मधुकी लहरें आकाशतक ऊँची उठ जाती हैं, जो इन्द्रको मादकता प्रदान करती हैं। घी, दूध और मधुको लेकर जल इन्द्रके सामने आकर उसके लिये सोमको प्रस्तुत करते हैं। यहाँ सोम वैसे ही आनन्द पाता है, जैसे एक युवक सुन्दर युवतियोंमें। वह उनके पास इसी प्रकार पहुँचता है, जैसे एक प्रेमी प्रेमिकाके पास पहुँचता है। सम्भवतः बहुत पहले ही जल (अपस्)-को देवताके रूपमें प्रतिष्ठा प्राप्त हो गई होगी।

१९. पुरुषः : सृष्टिकी उत्पत्ति विषयक सूक्तोंमें पुरुष-सूक्त बहुत प्रसिद्ध है। इस सूक्तमें सृष्टिके पदार्थोंकी रचनाका वर्णन किया गया है। मूल रूपसे सृष्टिका रचयिता पुरुष है, जिसके सभी अङ्ग सृष्टिके विभिन्न अङ्ग बन जाते हैं। सृष्टि-यज्ञमें पुरुष-रूपी पशुके विभिन्न अङ्गोंकी बलि दी जाती है, जिनसे विभन्न प्रकारकी सृष्टि उत्पन्न होती है।

यह विराट् पुरुष हज़ारों सिरों, नेत्रों और पैरोंवाला है। उसने सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको व्याप्त कर रखा है। वह भूत और भव्यका स्वामी है। उस पुरुषसे ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चारों वर्ण, वसन्त आदि ऋतुएँ, ऋक्, यजुस् और सामवेद उत्पन्न हुए। इस पुरुषका मुख ब्राह्मण, भुजाएँ क्षत्रिय, जंघाएँ वैश्य और पैर शूद्र थे। सूर्य चक्षु है, वायु प्राण है और मन चन्द्रमा है।

पुरुष-सूक्तके अनुसार भौतिक जगत् वृक्ष, पशु, तृण, सूर्य, चन्द्र आदि की सृष्टि मनुष्यकी सृष्टिसे पहले हुई थी। इसने एक पाद अर्थात् एक चौथाई अंशसे इस व्यक्त जगत्की रचना की और तीन-चौथाई अंशको इससे ऊपर रक्खा हुआ है। इस सूक्तका रहस्य यही है कि आत्मज्ञानसे जीवनको सफल बनाना चाहिए।

२०. हिरण्यगर्भ : वेदोंमें पुरुषसे हिरण्यगर्भकी उत्पत्ति बताई गई है। पुरुषमें जो 'विराट्' उत्पन्न होता है, वही हिरण्यगर्भ है। पुराणोंमें इसीको ब्रह्म कहा गया है।

हिरण्यगर्भ और प्रजापति कहीं तो पर्यायवाची है, कहीं हिरण्यगर्भको प्रजापतिसे और कहीं प्रजापतिको हिरण्यगर्भसे श्रेष्ठ बताया गया है। वास्तवमें दोनों एक ही हैं। हिरण्यगर्भ सूक्तमें इन दोनोंकी स्तुति की गई है।

सृष्टिके आदिमें सबसे पहले हिरण्यगर्भकी उत्पत्ति हुई थी, जो उत्पन्न हुई सम्पूर्ण सृष्टिका स्वामी बना। उसने इस पृथिवी और द्युलोकको धारण किया। देवलोक और पृथिवीलोकके प्राणी अपनी रक्षाके लिये उसीको पुकारते हैं। प्राणशक्ति और बल देनेवाला वही है। वह पर्वतोंकी ऊँचाई और समुद्रोंकी गहराईको जानता है। द्युलोक उसका सिर और पृथिवी पैर है। हिरण्यगर्भ देवता कर्मफलका दाता है। इसीके आधारपर वेदान्तदर्शनके 'सर्व खल्विदं ब्रह्म' सूत्रका विकास हुआ था।

हिरण्यगर्भ सूक्तमें १० मंत्र हैं। ९ मंत्रों की समाप्ति 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' इस प्रश्न से हुई है तथा दसवें मंत्र 'प्रजापते न त्वदेतानि०' में इसका उत्तर दिया गया है।

२१. अदिति : 'दा बन्धने' धातुसे 'क्तिन्' प्रत्यय करके 'दिति' शब्द निष्पन्न होता है। इस प्रकार 'दिति' शब्द का अर्थ है – जो सीमाओंके बन्धनों से बँधी है। न + दिति = अदिति। सीमाओंके बन्धनसे रहित देवता 'अदिति' है। इसलिये ऋग्वेदमें बन्धनसे मुक्तिके लिये 'अदिति' देवताकी उपासना की गई है।

अदितिके दो गुण हैं – १.यह सीमाओंके बन्धनसे रहित है, निःसीम है। २. अदिति अनश्वर अन्तरिक्ष-ज्योति है और इसे ज्योतिष्मती कहा गया है। उषाको अदितिका घर (अदितेरनीकम्) कहा गया है और यह सर्वोच्च आकाश

(परमे व्योम्नि)-में निवास करती है।

दक्षकी पुत्री अदितिसे देवता उत्पन्न हुए थे (ऋ० १०.७२.५)। एक स्थानपर अदितिको दक्षकी माता भी कहा गया है। इसे पुत्र आदित्य कहलाते हैं। आदित्योंकी संख्या नियत नहीं है। कहीं पाँच, कहीं छह, कहीं सात और कहीं आठ आदित्य कहे गए हैं। उत्तरवर्त्ती साहित्यमें बारह आदित्योंकी गणना की गई है।

ऋग्वेद (२.२७.१)-में छह आदित्य परिगणित किए गए हैं— मित्र, अर्यमा, भग, वरुण, दक्ष और अंश। कुछ आलोचकोंका विचार है कि — इनमेंसे वरुण, मित्र और अर्यमा अदितिकी कल्पनासे भी पूर्वके हैं। अदितिकी कल्पनाके बाद इनकी आदित्योंमें गणना कर ली गई। भग, दक्ष और अंश देवता बादमें आदित्योंमें सम्मिलित किए गए।

ऋग्वेद (१०.७२.९) में अदितिके सात पुत्र कहे गए हैं। सायणने इनको इस प्रकार परिगणित किया है — मित्र, वरुण, धाता, अर्यमा, अंश, भग और विवस्वान्। ऋग्वेदमें ही अन्यत्र मार्त्तण्डको अदितिके आठवें पुत्रके रूपमें सम्मिलित किया गया है। अदितिने सुदूर अन्तरिक्षमें प्रजाके जीवन-मृत्युका विधान करनेके लिये मार्त्तण्डको नियत कर दिया। यही मार्त्तण्ड बादमें सूर्यके नामसे प्रसिद्ध हुआ।

२२. बृहस्पति : ऋग्वेदके ग्यारह सूक्तोंमें स्वतंत्र रूपसे बृहस्पति देवताकी उपासना की गई है। इसके अतिरिक्त दो सूक्तोंमें उसकी इन्द्रके साथ उपासना की गई है। इसे ब्रह्मणस्पति नामसे भी पुकारा जाता है। इन दोनों ही शब्दोंका अर्थ है — 'बृहतां ब्रह्मणसां वा पतिः' अर्थात् जो स्तोताओं-द्वारा उच्चारित किए जाते हुए महान् स्तोत्रोंका स्वामी है, उनको सुनकर वह स्तोताओंको उचित फल देता है।

इन्द्र आदि देवताओंके समान बृहस्पति देवताका एक सतत् रूप दृष्टिगोचर नहीं होता। यह देवता एक ओर जहाँ युद्ध करता, असुरों, राक्षसों और दुष्टोंको दण्डित करके उनपर विजय प्राप्त करता है, वहीं दूसरी ओर पुरोहितका भी कार्य करता है और स्तोत्रोंकी रचना करता है। वह स्वर्णिम वर्णका है। इसकी पीठ कृष्ण और तीक्ष्ण शृङ्ग है। इसके हाथमें धनुष्-बाण और परशु रहते हैं। इसके अश्व रक्तवर्णके हैं। यह मंत्रोंका प्रेरक है।

बृहस्पतिको वज्र धारण करनेवाला (वज्रिन्) भी कहा गया है। वह युद्धोंमें इन्द्रकी सहायता करता है, परन्तु उसकी अपेक्षा अधिक शान्त, दृढ और प्रतिरोधी है। उसने बलके प्रतिरोधको तोड़ दिया था। बृहस्पतिके सौन्दर्य और महत्त्वके सामने पर्वत भी झुक गया था और उसने गौओंके लिये मार्गको मुक्त कर दिया था। ऋक्वन्गण उसकी स्तुति करते हैं तथा वह गणपति कहलाता है।

बृहस्पतिने मनुष्योंके लिये यज्ञका विधान किया था। इसलिये इसको देवताओं और मनुष्योंके बीच मध्यस्थ कहा जाता है। बृहस्पतिके बिना कोई यज्ञ सम्पन्न नहीं होता। सम्भवतः इसी देवताकी कल्पनाके द्वारा ब्राह्मण पुरोहितोंको यज्ञीय प्रक्रियाओंमें एकाधिकार प्राप्त हुआ था।

अपने भक्तोंके प्रति बृहस्पति बहुत अधिक दयालु और उदार है। वह उनका गोपाः है। वह स्तोताओंको उत्तममार्गोंसे (सुनीतिभिः) ले जाता है और उनके मार्गोंका निर्माण करता है। वह मनुष्योंको उत्तम वय और सौभाग्य प्रदान करता है, उनके ऋणको उतारता और उनके शत्रुओंका विनाश करता है। उत्तम स्तुतियोंसे बृहस्पतिकी कृपा प्राप्त की जा सकती है।

बृहस्पति सब देवताओंको जन्म देता है (बृहस्पतिरेता संकमरि इवाधमत्)। हिन्दू दर्शनशास्त्रके उत्तरवर्त्ती-कालमें त्रिदेवों – ब्रह्मा, विष्णु और रुद्रका आविर्भाव हुआ था। बृहस्पति या ब्रह्मणस्पति इनमें ब्रह्माका प्रतिनिधि था, जिसने सम्पूर्ण सृष्टिकी रचना की। भारतीय धर्म और दर्शनमें इस ब्रह्माको भगवान् या ईश्वर भी कहा जाने लगा। वेदान्तमें इसको परब्रह्मके रूपमें स्मरण किया गया है।

२३. सरित : ऋग्वेदके भौगोलिक वर्णनोंमें 'सप्तसिन्धु' पदका प्रयोग बहुत अधिक हुआ है। इस सप्तसिन्धु प्रदेशके चारों ओर चार समुद्र थे। ऋग्वेद-संहिताके संकलन-कालमें इस देशमें सात प्रमुख नदियाँ – गंगा, यमुना, दृषद्वती, सरस्वती, सिन्धु, विपाशा और शतद्रु प्रवाहित होती थीं। इनके अतिरिक्त परुष्णी, असिक्नी, मरुद्वृधा, वितस्ता, आर्जीकिया और सुषोमा नामक नदियोंका उल्लेख भी मिलता है। ऋग्वेद (१०.७५.१)-में वर्णन आया है कि नदियाँ सात-सात करके तीन प्रकारसे द्यु, पृथिवी और आकाशमें चली। इससे प्रतीत होता है कि नदियोंके सात-सात के तीन वर्ग रहे होंगे।

नदियोंमें सिन्धु और सरस्वतीका उल्लेख अधिक विस्तृत है। धार्मिक

दृष्टिकोणसे सरस्वतीका बहुत महत्त्व रहा है। इसके तीरपर तप, यज्ञ एवं आध्यात्मिक चिन्तन होते रहते थे। वशिष्ठ ऋषिने एक सूक्तमें सरस्वतीकी स्तुति की है। सम्भवतः कभी यह विशाल नदी रही होगी, यह राजस्थानको पार करके समुद्रमें मिलती थी। वर्त्तमानकालमें यह नदी लुप्त हो चुकी है।

विश्वामित्र ऋषिने विपाशा और शतद्रु नदियों की स्तुति की है। वह अपने अनुयायियोंके साथ इन नदियोंके संगमपर पहुँचकर नदियोंसे प्रार्थना करते हैं कि वे उनको पार उतर जाने दें।

ये नदियाँ इन्द्रकी प्रेरणासे अविराम गतिसे समुद्रमें मिलनेके लिये बहती जा रही हैं। ये पर्वतोंकी उपत्यकाओंसे निकलकर भूमिपर बढ़ती हुई अपने तटवर्त्ती प्रदेशोंको उसी प्रकार सींचती हैं, जैसे माता अपने बच्चोंका पालन करती हैं। इनका प्रवाह कभी रुकता नहीं है। आजकी सतलज नदी वैदिक युगमें शतद्रु कही जाती थी, और व्यास नदी विपाशाके नामसे प्रसिद्ध थी। यास्कके अनुसार पहले इस नदीका नाम उरुञ्जीरा था।

ऋग्वेदका वर्ण्य विषय

उपर्युक्त देवताओंके स्तुतिगानके अतिरिक्त ऋग्वेदमें जिन विषयोंका वर्णन आया है, वे इस प्रकार हैं – कृषिकार्य, मेषपालन, देशभ्रमण, वाणिज्य, समुद्रगमन, नद्यादिका भौगालिक वर्णन, ऋक्ष, सौर-वत्सर, चान्द्र-वत्सर, देवताओंकी गौएँ और घोड़े, पञ्चकृष्टि, प्राचीनकालमें मनुष्यकी परमायु, अविवाहिता कन्या, तन्तुवाय और वस्त्र-निर्माण, नापित, वर्म, शिरस्त्राण, तनुत्राण, वाद्ययन्त्र, अनार्योंके साथ युद्ध, सर्पका उत्पात और सर्पमन्त्र, पक्षियोंके अमङ्गल-ध्वनिके मन्त्र, सूर्यकी दैनिक गति, शस्यादिका विवरण, खदिर और शिंशकाष्ठकी गाड़ी-रथ-निर्माता-शिल्पी, सुवर्णसज्जाविशिष्ट अश्व, युद्धका अश्व, अमात्य, वेष्टित गजस्कन्धपर आरूढ़ राजा, प्रस्तर-निर्मित नगर, सरयूके पूर्वमें आर्य राज्यका विस्तार और आर्योंका युद्ध, दृषद्वती, आपया, यमुना, रसा, कुभा, सरस्वती, परुष्णी, अनितमा, सिन्धु, गोमती, हरियूपिया, वायव्यावती, विपाशा, शतद्रु, शर्यणावती, जाह्नवी, आर्जीकिया आदि नदियोंकी भौगोलिक स्थिति, अनार्य बर्बर जाति, कीकट (अफगानिस्तान और मध्य-एशिया) देशके बर्बर, सूर्य-ग्रहण, ईश्वरीय बलकी एकता, एक ईश्वरका अनुभव, सर्प-नागकी कथा, दिति और अदिति, स्वर्ग और पृथिवीकी

एक साथ सृष्टि, ऋषियोंकी प्रतिद्वंद्विता, संसार और युद्धमें ऋषियोंकी प्रवृत्ति, ऋषियोंके वंशानुक्रममें मन्त्ररक्षा, मुद्राका प्रचलन, लोहेका कलश, स्वामीसहित स्त्रीका यज्ञ करना, विवाह-कालमें वरका वेष, धातु गलाना, लोहारकी भाथी, त्रिधातु गृह, दशयन्त्र उत्स, दधि-सुरा आदि रखनेके लिये चर्माधार, हिरण्यमय कवच, विविध आभरण, भाषारहित और नकटे अनार्योंका वर्णन, युद्धमें अश्वका व्यवहार, गोचर्मावृत्त युद्धरथ, युद्ध-दुन्दुभि, नदी-कूल और उर्वरा भूमिपर कलह, मरुभूमि, मेघ-स्तुति, सारमेय स्तुति, पर्वत, नदी, वृक्ष, गौ और अश्व आदिकी स्तुति, सर्पके विषका मन्त्र, सुदास राजाका विवरण, युद्धास्त्र और युद्धका आयोजन, स्वर्ग और अमृतत्वकी प्राप्ति, कृष्ण नामक अनार्य योद्धा, सोमरस बनानेकी रीति, विविध वैदिक उपाख्यान, समुद्र-मन्थनसे अमृत-लाभ, गरुड-द्वारा अमृत-हरण, अमृतपानसे देवगणका अमरत्व, नवम मण्डलके शेष भागमें ऋतुका वर्णन, यम और यमीका जन्म, यम-यमी-संवाद, अन्त्येष्टि-क्रियाके मन्त्र, पुण्यात्मा पुरुषोंका स्वर्गवास और यज्ञभाग-ग्रहण, सत्यका सम्मान, पञ्चजनवासकी कथा, स्तोता, वैद्य, लोहार आदिके भिन्न-भिन्न व्यवसाय, कन्या-विवाहमें अलंकार-दान, अग्निदाह-प्रथा, मृत देहका मृत्तिकामें स्थापन, कुँआँ खोदना, पशु चराना, भेड़के रोमसे वस्त्र बनाना, सिंह, हरिण, शृंगाल, वराह, शशक, हाथी और गोधा आदिका उल्लेख, संसारी ऋषियोंकी सम्पत्ति, सृष्टिकी कथा, प्राचीनकालमें आर्योंका निवास-स्थान, शोक प्रकट करनेकी विधि, भाषाकी आलोचना, छन्दःशास्त्र और ज्योतिष्की चर्चा, सपत्नियोंपर अपना अधिकार जमानेके मन्त्र, गर्भरक्षाके मन्त्र, रोगनिवारणके मन्त्र, अमङ्गलनाशके मन्त्र, राज्याभिषेकके मन्त्र, अनेक सामाजिक, वैज्ञानिक, गृह्य और धार्मिक विषयपर कहीं थोड़े तो कहीं अधिक परिमाणमें विवरण आदि।

ऋग्वेदके छन्द

ऋग्वेद छन्दोबद्ध रचना है। यास्कने 'छद्-आवरणे' धातुसे 'छन्द' शब्दकी निष्पत्ति मानी है , जिसका अर्थ हैं — आवृत्त करना अर्थात् छन्द वेदोंके आवरण हैं। शब्दोंको विशिष्ट आवरणमें बाँधे रखनेवाले छन्द होते हैं। मन्त्रोंका पाठ और अर्थ-ज्ञान तबतक सम्भव नहीं, जबतक उनमें प्रयुक्त छन्दका ज्ञान नहीं होता। बृहद्देवतामें लिखा है —

अविदित्वा ऋषिंच्छन्दो दैवतं योगमेव च।
योऽध्यापयेज्जपेद्वापि पापीयान् जायते तु सः॥

अर्थात् जो व्यक्ति ऋषि, छन्द और देवताको एवं इनके विनियोगको जाने बिना वेद-मन्त्रोंका अध्ययन करता है, अध्यापन करता है या जाप करता है, वह पापी होता है।

छन्दोंके प्रथम आचार्य पिङ्गल माने जाते हैं। ये पाणिनिके छोटे भाई थे। इन्होंने 'छन्दःसूत्र'-की रचना की थी। इसमें लौकिक एवं वैदिक दोनों प्रकारके सूत्रोंका विवेचन हुआ है।

ऋग्वेदमें जिन छन्दोंका प्रयोग हुआ है, उनके नाम इस प्रकार हैं—अभिसारिणी, अनुष्टुपके अनेक रूपान्तर, अष्टि, अस्तर पंक्ति, अतिधृति, अतिजगती, अतिनिचृत, अत्यष्टि, बृहती, चतुर्विंशतिक द्विपदी, धृति, द्विपदी, विराज, एक पद, त्रिष्टुभ, एकपद विराज, गायत्री, जगती, कुकुभ्, कुकुभ्के अनेक प्रकार, कृति, मध्ये-ज्योतिष्, महावृहती, महापद पंक्ति, महापंक्ति, शतोवृहती, महाशता वृहती, नष्टरूपी, न्यङ्कुसारिणी, पदनिचृत, पदपंक्ति, पंक्त्युत्तर, पिपीलिका, मध्या, प्रगाथा, प्रस्तर पंक्ति, प्रतिष्ठा, पुरस्ताद् वृहती, पुरोष्णी शतोवृहती, स्कन्धोग्रीवा, तनुशिरा, त्रिष्टुप्, उपरिष्टद् वृहती, उपरिष्टद् ज्योतिः, ऊर्ध्ववृहती, उरोवृहती, उषणिग्गर्भा, उष्णिक्, वर्धमान, विपरीत, विराड्रूप, विराज, विराट्पर्व, विराट्स्थान, विष्टर बृहती, विष्टरपंक्ति और यवमध्या।

ऋग्वेदमें प्रयुक्त छन्दोंकी इस विस्तृत सूचीमें भी मुख्यतः जिन सात छन्दोंका प्रयोग हुआ है, उनका परिचय इस प्रकार है—

१. गायत्री : इस छन्दमें तीन पाद होते हैं और प्रत्येक पादमें आठ वर्ण होते हैं।

२. उष्णिक् : इस छन्दमें भी तीन पाद होते हैं। पहले और दूसरे पादमें आठ-आठ वर्ण तथा तीसरे पादमें १२ वर्ण होते हैं।

३. अनुष्टुप : चार पादोंवाले इस छन्दके प्रत्येक पादमें आठ-आठ वर्ण होतेहैं। यह छन्द वैदिक साहित्यके साथ ही लोकमें भी प्रयुक्त हुआ है।

४. त्रिष्टुप : चार पादोंवाले इस छन्दके प्रत्येक पादमें ११-११ वर्ण होते हैं। ऋग्वेदमें यह छन्द सर्वाधिक प्रयुक्त हुआ है।

५. बृहती : इस छन्दमें भी चार पाद होते हैं। इसके पहले, दूसरे और

तीसरे पादमें आठ-आठ वर्ण तथा चौथे पादमें बारह वर्ण होते हैं।

६. जगती : जगती भी चार पदोंवाला छन्द है; इसके प्रत्येक पादमें बारह-बारह वर्ण होते हैं।

७. पंक्ति : यह पाँच पादोंवाला छन्द है। इसके प्रत्येक पादमें आठ-आठ वर्ण होते हैं।

सामान्यतः छन्दोंमें वर्णोंकी निर्दिष्ट संख्या ही रहती है। परन्तु ये वर्ण कभी कम तो कभी अधिक भी हो सकते हैं। इससे उस छन्दके अवान्तर भेद हो जाते हैं। यदि छन्दमें एक वर्ण कम हो तो उसे निचृत कहते हैं, दो वर्ण न्यून होनेपर विराट् कहते हैं। इसी प्रकार एक वर्ण अधिक होनेपर उस छन्दको 'भुरिक्' तथा दो वर्ण अधिक होने पर 'स्वराट्' कहते हैं। उदाहरणार्थ गायत्री छन्दमें चौबीस वर्ण होते हैं। यदि इसमें एक वर्ण कम अर्थात् २३ वर्ण हों तो यह 'निचृत् गायत्री' होगा। दो वर्ण कम अर्थात् २२ वर्ण होनेपर यह 'विराट् गायत्री' होगा। गायत्री छन्दमें एक वर्ण अधिक अर्थात् २५ वर्ण होनेपर यह छन्द 'भुरिग्गायत्री' कहा जायगा तथा दो वर्ण अधिक अर्थात् २६ वर्ण होनेपर 'स्वाराट् गायत्री' कहलाएगा।

कभी-कभी किसी मन्त्रमें निर्धारित संख्यासे एक वर्ण कम होता है; तब उसको नियमबद्ध करनेके लिये एक वर्णको दो वर्णोंमें परिणत कर दिया जाता है। वह पूर्ति मुख्यतः निम्न प्रकारसे की जाती है—

(क) सन्धियुक्त पदोंका विच्छेद करके उच्चारण करना। जैसे— 'नोऽव'-को 'नो अव' अथवा 'ब्रह्मावदतो' को 'ब्रह्म अवदतो' उच्चारण करना।

(ख) ए, ओ, ऐ और औ को दो स्वरोंमें विभक्त करना। यथा— 'ज्येष्ठ'-को 'ज्ययिष्ठ' बोलना।

(ग) संयुक्त 'य' और 'व' से पूर्व इ और उ लगा देना। जैसे— 'सोम्यं'-को 'सोमियं', 'वरेण्यं'-को 'वरेणियं' तथा 'स्वः'-को 'सुवः' पाठ करना।

अति प्रसिद्ध गायत्री-मंत्र के प्रथम पादमें सात वर्ण होनेके कारण 'वरेण्यं'-के स्थानपर 'वरेणियं' का ही उच्चारण करके छन्दपूर्त्ति की जाती है।

(घ) संयुक्त रेफसे पूर्व स्वर लगाना। यथा— 'इन्द्र'-को 'इन्दर' पढ़ना।

कात्यायन की सर्वानुक्रमणीमें ऋग्वेदमें प्रयुक्त छन्दोंका विवरण निम्नलिखित तालिकाके अनुसार प्रदर्शित किया गया है—

क्रम-संख्या	छन्दका नाम	मन्त्रोंकी संख्या
१.	गायत्री	२४७७
२.	उष्णिक्	३४१
३.	अनुष्टुप्	८५५
४.	त्रिष्टुप्	४२५३
५.	वृहती	१८१
६.	जगती	१३५८
७.	पंक्ति	३१२

वैदिक भाषाकी विशेषताएँ

वेदोंकी भाषामें स्वर और व्यञ्जनोंकी कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं, जो लौकिक संस्कृतमें नहीं हैं –

(क) स्वरगत ध्वन्यात्मक विशेषताएँ :

वैदिक शब्दोंमें स्वरोंका उच्चारण संगीतात्मक है। स्वरोंके उच्चारणमें स्वराघातका ध्यान रखना पड़ता हैं; क्योंकि स्वराघातसे शब्दोंके अर्थोंका निर्धारण होता है।

वैदिक संस्कृतमें स्वरोंके तीन प्रकार हैं – ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत। प्लुतमें तीन मात्राएँ होती हैं और स्वरको अधिक लम्बा करके उच्चारण किया जाता है। प्लुत स्वरको इस प्रकार लिखा जाता है – ओ३म्, आसी३त् आदि।

वेदोंमें लृ स्वरका प्रचुर प्रयोग हुआ है।

अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ ये स्वर यदि किसी शब्दके अन्तमें हों और इनके बाद किसी स्वरके होनेपर सन्धि होनेकी सम्भावना हो तो ये स्वर अनुनासिक हो जाते हैं। जैसे – विन्दताँ३। उ को संहिता-पाठसे पद-पाठमें ऊँ इति उच्चारण किया जाता है।

(ख) व्यंजनगत ध्वन्यात्मक विशेषताएँ :

वैदिक भाषामें ळ् और ळ्ह् (ळ) दो अतिरिक्त व्यंजन हैं जिनका ड् और ढ् के स्थानपर प्रयोग हुआ है, ऐसा प्रतीत होता है। जैसे – इळा और साळ्हा। वेदमें अनेक बार व्यंजनोंसे पूर्व उसी व्यंजनको अनुनासिक बनाकर युगल रूपमें उच्चारण किया जाता है। तब उस व्यंजनको 'यम' कहते हैं। यथा – असिक्नी चख्नतुः, अग्निमयाम् और जग्मतुः में क्, ख्, ग् और घ् से पूर्व

अनुनासिक कँ, खँ, गँ और घँ - का उच्चारण होता है। संयुक्त व्यंजनोंका उच्चारण प्रायः द्वित्व-रूपमें होता है, जिसको क्रम कहते हैं, यद्यपि इसके अनेक अपवाद भी हैं। यथा – अस्तौत्को अस्त्तौत्, ह्वयामिको ह्ह्वयामि और स्यन्दताम्को स्स्यन्दताम् उच्चारण करना चाहिए।

अनेक बार स्वरभक्तिका प्रयोग किया जाता है; जैसे इन्द्रको इन्दर पढ़ा जाता है। अनेक बार य् और व् से पहले इ और उ जोड़ा जाता है; जैसे – वीर्यम्को वीरियम् और स्वःको सुवः पढ़ा जाता है।

२. सन्धिगत विशेषताएँ :

वैदिक संस्कृतमें सन्धिके नियम प्रायः लौकिक संस्कृतके समान ही हैं; तथापि इसमें नियमोंका पालन उतना कठोर नहीं है तथा उनमें अनेक अपवाद हैं। उदाहरणार्थ ए और ओ-के बाद ह्रस्व 'अ'-को पूर्वरूप होना चाहिए; किन्तु वेदोंमें कहीं तो पूर्वरूप होता है और कहीं नहीं भी होता। यथा – 'सोऽयमागात् (ऋ० १०.५३.१) और 'तेऽवदन्' (ऋ० १० : १०९.१)-में 'अ'-को पूर्वरूप हुआ है; परन्तु 'शिक्षन्तो-अव्रतम्' (ऋ० ६.१४.३)-में नहीं हुआ। कहीं एक ही शब्दमें पूर्वरूप होने और न होने दोनों प्रकारके प्रयोग मिलते हैं; यथा – 'गावोऽनवन्त' (ऋ० ५.३०.१०)-में गावो के बाद 'अ'-को पूर्वरूप हुआ और 'गावो अग्मन्' (ऋ० ६.२८.१)-में नहीं हुआ। कई बार सन्धि नहीं होती और एक ही शब्दमें दो स्वर निरन्तरतासे मिलते हैं; यथा – तितउ, प्रउग, गोओपशा, गोऋजीक आदि शब्दोंमें सन्धि नहीं हुई।

विसर्ग-सन्धिमें अनेक अपवाद देखे जाते हैं; कहीं सन्धि करनेके लिये विसर्गका लोप हो जाता है; यथा – 'भूमिः + आददे = भूम्याददे' (ऋ० १०।६१।१०)।

दीर्घ स्वरके बाद न् हो और उसके परे स्वर हो तो न् को अनुस्वार होता है; यथा – महान् + इन्द्रः = महाँइन्द्रः।

३. स्वराघात – वेदमन्त्रोंके उच्चारण और अर्थज्ञानके लिये स्वराघातको ध्यानमें रखना पड़ता है। किसी शब्दपर विशेष बल डालकर उच्चारण करना स्वराघात है। वैदिक मन्त्रोंमें तीन प्रकारके स्वर हैं – उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। शब्दोंमें स्वराघातसे संगीतात्मकता आनेके साथ ही अर्थ-परिवर्तन भी होता है। संहितापाठ और पद-पाठमें शब्दोंके स्वराघात परिवर्तित हो सकते हैं।

४. धातुरूप — वैदिक संस्कृत धातुरूपकी दृष्टिसे बहुत अधिक समृद्ध है। ऋग्वेद-कालमें आर्योंमें बोली जानेवाली सभी विभाषाओं और बोलियोंको वैदिक भाषामें सम्मिलित कर लिया गया था; क्योंकि एक ही प्रकारकी धातुओंके अनेक अर्थ और रूप ऋग्वेदमें मिलते हैं। उनके काल और विभक्तियोंके अर्थ भी निश्चित नहीं हैं। धातुओंसे जोड़े जानेवाले प्रत्ययोंमें भी बहुत विविधता दृष्टिगोचर होती है। ब्राह्मणकालतक वैदिक भाषाका रूप कुछ नियमित हो जानेसे उसमें विविधता कम हो गई थी। रूपों, कालों तथा विभक्तियोंका स्वरूप बहुत कुछ निर्धारित हो गया था। कृ धातुका बहुत अधिक प्रयोग हुआ है; उसके रूपोंकी विविधतासे वैदिक भाषामें रूपोंकी विविधता देखी जा सकती है।

मूल धातु 'कृ' है। इसके करु, कुरु रूप बनते हैं — करोति, कुरुते अकरोत्, अकुरुतः आदि। कृ धातुका कर् रूप भी बनता है — अकरवम्, अक्रि, अकार्षम्, करिष्यति, अकरिष्यत्, कृधि, कर, करम्, करसि, करसे, करिष्यः आदि। कृ धातु 'चकृ' इस रूपमेंभी परिणत हुई है — चकार, चक्रे, चकरम्, अचकृत्, चक्रिया, चकृवम्, चक्राण आदि। 'कृ' धातु कृणुके रूपमें भी ली गई है — कृणोति, कृणुते, अकृणोत्, कृणु, कृणुष्व, कृण्वीत, कुणवत्, कृण्वत्, कृण्वानः। 'कृ' धातुके अन्य रूप भी बने हैं — क्रियते, कारयति, चिकीर्षति, चरिकृत्, करिकृत् आदि। धातुके इतने रूप लौकिक संस्कृतमें नहीं मिलते। धातुरूपोंकी दृष्टिसे वैदिक संस्कृतमें कुछ विशेषताएँ उदाहरणके रूपमें प्रस्तुत हैं —

(क) वैदिक संस्कृतमें धातुओंके परस्मैपद और आत्मनेपद होनेके सम्बन्धमें कुछ विशेष नियम नहीं है। कोई भी धातु दोनों पदोंमें प्रयुक्त हो सकती है, जैसे 'गम्' धातु लौकिक संस्कृतमें तो परस्मैपदी है, किन्तु वेदमें गच्छति, गच्छते और जगाम, जामे दोनों पदोंके रूप हो सकते हैं।

(ख) वैदिक भाषामें लङ्, लुङ् और लिट् लकारका प्रयोग किसी भी कालमें हो सकता है, जबकि लौकिक संस्कृतमें उनका प्रयोग भूतकालमें होता है। पाणिनिने 'छन्दसि लुङ्, लङ्, लिटः' (अष्टाध्यायी — ३.४.३) सूत्र द्वारा इस नियमको बताया है। जैसे — 'अग्निमद्य होतारमवृणीतायं यजमानः' का अर्थ है कि आज यजमान होता अग्निका वरण करता है। यहाँ वर्त्तमानकालमें 'अवृणीत' इस लङ् लकारका प्रयोग हुआ है।

(ग) लौकिक संस्कृतमें १० लकारोंका प्रयोग होता है, परन्तु वैदिक संस्कृतमें

'लेट् लकार' अधिक है, जिसका प्रयोग प्रायः भूतकालमें हुआ है। यथा – सविता धर्मं साविषत्। तारिषत्, जोषिषत्, पताति, जीवाति, भवाति, ईशै आदि क्रियाओंका प्रयोग वेदोंमें ही मिलता है। पाणिनिने लिङ्के अर्थमें लेट्का विधान किया है।[1]

(घ) वेदमें लिट् लकारके अनेक रूप दिखाई देते हैं। सामान्यतः इसका प्रयोग सामान्य भूतकालमें किया जाता है, परन्तु वर्त्तमानकालमें भी इसका प्रयोग मिलता है।

(ङ) वैदिक भाषामें शप्के आगम और लोपके सम्बन्धमें विशेष नियम नहीं हैं; जैसे – ह्यन्ते और हनति एवं शेते और शयते दोनों प्रकारके रूप वेदमें बनते हैं।

(च) लकारोंके रूपोंके सम्बन्धमें बहुत विविधता दृष्टिगोचर होती है; यथा – कृ धातु लट् लकारके प्रथम पुरुषके एकवचनमें कुणोति, कृणुते, करोति, कुरुते, करति रूप बनते हैं। करति -करत (एकवचन), करतः (द्विवचन), करन्ति-करन् (बहुवचन) रूप भी चलते हैं। लोट् लकारमें उत्तम पुरुषके बहुवचनमें मसि और मध्यम पुरुषके बहुवचनमें तात्, त और थन प्रत्ययोंका प्रयोग होता है। जैसे – कृणुतात्, शृणोत, सुनोतन, यतिष्ठन आदि।

(छ) वैदिक भाषामें प्रत्ययोंकी विविधता भी दृष्टिगोचर होती है। तुमुन् प्रत्ययके अर्थमें से, सेन्, असेन्, कसे, कसेन्, अध्यै, अध्यैन्, कध्यै, कध्यैन्, शध्यै, शध्यैन्, तवै, तवेन्, ये अन्य १५ प्रत्यय भी किए जाते हैं। से, सेन्– एजे (आनेके लिये)। असे, असेन् – जीवसे (जीनेके लिये), कसे, कसेन् – श्रियसे (आश्रय पानेके लिये)। अध्यै, अध्यैन् – उपचारध्यै (आचरण करनेके लिये)। कध्यै, कध्यैन्, आहुवध्ये (आह्वान करनेके लिये), शध्यै, शध्यैन्, पिबध्यै (पीनेके लिये), तवै – पातवै (पिलानेके लिये)। तवेङ्सूतवे (उत्पन्न करनेके लिये)। गवेन्– गन्तवे (जानेके लिये)।

(ज) नाम् धातु बनानेके लिये 'य' लगाया जा सकता है। यथा – श्रवस्य, गव्य, नमस्य, मुजाय, समर्य, वृषाय, सुम्नाय आदि।

(झ) त्वा प्रत्यय अनेक स्थानोंपर त्वी, त्वाय या त्वीनके रूपमें मिलता है।

---

१. लिङर्थे लेट् – अष्टाध्यायी ३.४.७.

यथा – हित्वी = छोड़कर (२.३८.६), युद्ध्वी = युद्ध करके (१०.१०८.५)।

५. शब्दरूप – वैदिक भाषाके शब्दरूपोंमें लौकिक संस्कृतसे अधिक भिन्नता न होनेपर भी वैदिक शब्दरूपोंमें अपेक्षाकृत विविधता पाई जाती है। वैदिक शब्दोंकी कुछ विशेषताएँ इस प्रकार हैं –

(क) अकारान्त पुल्लिंग शब्दोंके प्रथमा विभक्तिके द्विवचनमें आ, ओ और औं-को आ उच्चारण करनेका उदाहरण – 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया'-में स्पष्ट है।

(देवा, देवौं) दोनों रूप मिलते हैं। बहुवचनमें आः और आसः (देवाः, देवासः, जनाः, जनासः, मर्त्याः, मर्त्यासः) दो प्रकारके रूप मिलते हैं। तृतीया विभक्तिके एकवचनमें एन और एना (देवेन, देवेना) एवं बहुवचनमें ऐः और एभिः (देवैः, देवेभिः), कर्णैःके स्थानपर कर्णेभिः तथा चतुर्थी एकवचनमें तस्मैके स्थानपर तस्मा आदि रूप दृष्टिगोचर होते हैं।

(ख) अकारान्त नपुंसकलिंगमें प्रथमा और द्वितीया विभक्तिके बहुवचनमें आ और आनि (वना, वनानि) ये दो रूप बनते हैं।

(ग) अकारान्त स्त्रीलिंगमें प्रथमा विभक्तिके बहुवचनमें आः और आसः रूप बनते हैं।

(घ) इकारान्त पुंल्लिग शब्दोंके सप्तमी विभक्तिके एकवचनमें औ और आ (अग्नौ, अग्ना) दो रूप प्रचलित हैं।

(ङ) इकारान्त स्त्रीलिंग शब्दोंके तृतीया विभक्तिके एकवचनमें शुच्या, शुची जैसे दो रूप बनते हैं। चतुर्थी विभक्तिके एकवचनमें भृत्यैः, भृत्याः इस प्रकारसे दो रूप बनते हैं। चतुर्थी विभक्तिके एकवचनमें भृत्यैः, भृत्याः इस प्रकारसे दो रूप बनते हैं।

(च) ईकारान्त और ऊकारान्त शब्दोंके प्रथमा और द्वितीया विभक्तिके द्विवचनमें नद्यौ, वध्वौ, इस प्रकारके रूपोंके साथ नदी और वधू रूप भी बनते हैं। प्रथमा विभक्तिके बहुवचनमें नद्यः, वध्वः के साथ ही नदीः और वधूः रूपोंका प्रयोग होता है।

(छ) उकारान्त शब्दोंके षष्ठी विभक्तिके एकवचनमें मधोः और मध्वः इस प्रकारके दो रूप तथा सप्तमी विभक्तिके एकवचनमें मधो मधवि रूपोंका प्रचलन है।

(ज) रूप-परिवर्तनके बिना भी विभक्तियाँ बन जाती हैं अर्थात किसी भी विभक्तिके किसी भी वचनके लिये प्रथमा विभक्तिके एकवचनका प्रयोग कर दिया जाता है। शब्दके अन्तिम स्वरको दीर्घ करनेसे अथवा उसमें आ जोड़ देनेसे कुछ विभक्तियोंके रूप बन जाते हैं।

(झ) वैदिक भाषामें सर्वनाम शब्दोंके रूप लौकिक संस्कृतकी अपेक्षा अधिक हैं; जैसे—युष्मद् - प्रथमा विभक्ति, - त्वम्, यूयम्, यूवम्। तृतीया विभक्ति एकवचन - त्वा, त्वया, द्विवचन - युवाभ्याम्। पञ्चमी विभक्ति - त्वद्, युवद्, युष्मद्। षष्ठी विभक्ति द्विवचन - युवोः। सप्तमी विभक्ति एकवचन - त्वे, त्वयि; बहुवचन - युष्मे।

अस्मद् - प्रथमा विभक्ति - अहम्, वाम्, वयम्। द्वितीया विभक्ति - माम्, आवाम्, अस्मान्। चतुर्थी विभक्ति एकवचन - महयम्, महय। सप्तमी विभक्ति बहुवचन - अस्मास्तु, अस्मे। तद् - प्रथमा, द्वितीया विभक्ति- द्विवचन - ता, तौ। तृतीया विभक्ति बहुवचन - तेभिः। सप्तमी विभक्ति - एकवचन - तस्मिन्, सस्मिन्।

इदम् - तृतीया विभक्ति एकवचन - अया, अनया।

अदस् - तृतीया विभक्ति एकवचन - अमुया।

एनद् - षष्ठी विभक्ति - एनोः, एनयोः।

किम् - प्रथमा विभक्ति नपुंसक लिंग एकवचन - किम्, कद्।

तृतीया विभक्ति - बहुवचन - केभिः।

स्व - सप्तमी विभक्ति एकवचन - स्वे, स्वस्मिन्।

कुछ शब्द ऐसे भी हैं, आजतक जिनकी व्याख्या नहीं की गई। जैसे—जर्परी, तुर्फरी आदि।

६. क्रिया-विशेषण—ऋग्वेदमें अनेक संज्ञा और सर्वनाम क्रिया-विशेषणके रूपमें प्रयुक्त हुए हैं। यथा - अना (४.३०.३), ईमां (५.७३.३), शश्वधा (३.३३.७), अप्रायु (५.८०.३), उपपृक् (१.३२.५), वामंवामं (४.३०.२४), द्यविद्यवि (१.२५.१) आदि।

७. वाक्य-विन्यास—ऋग्वेदमें संज्ञाओंके साथ श्रेष्ठतावाचक प्रत्ययोंका प्रयोग मिलता है। यथा - कण्वतमः (१.४८.४), मातृतमा (३.३३.३), कवितरः (१.८६.७)।अनेक वाक्योंमें एक ही अर्थके द्योतक दो क्रिया-विशेषण प्रयुक्त हुए हैं। अनेक वाक्योंमें क्रियाका प्रयोग नहीं है या उनमें व्याकरणके अनुक्रमकी

कमी है। कुछ वाक्योंमें पूरक सर्वनाम नहीं है। यथा - १.२५.७ मन्त्रमें 'यः'-के बाद 'सः' सर्वनाम आना चाहिए था, परन्तु वह नहीं आया। कहींपर एक संज्ञामें संलग्न दूसरी संज्ञा दी गई है, जिससे रूपक ध्वनित होता है, जैसे - १.११३.८ में 'अग्निम् अत्रिम्' संज्ञाओंमें अग्निरूपी अत्रि अर्थ व्यक्त होता है।

वैदिक संस्कृतमें संज्ञाके आधिकारिक उपसर्गोंका बहुधा स्वतंत्र पृथक् प्रयोग मिलता है। जैसे - रोचनात् अधि (१.४९.१), मानुषान् अभि (१.४८.७), अध्वरान् उप (१.४८.११), गिरिभ्यः आ (७.९५.१), उत्तानपदः परि (१०.७२.३) आदिमें।

८. संस्कृतके कुछ ऐसे शब्द हैं, जिनका प्रयोग केवल वैदिक संस्कृतमें ही हुआ है; यथा - ईम, विचर्षणी, उक्थ, ऊति, सीम, उर्गिया, रिग्वन् आदि।

९. वैदिक शब्दोंके अर्थ लौकिक संस्कृतमें बदल भी गए हैं। वेदमें 'अराति'-का अर्थ कृपणता और शत्रुता दोनों है, परन्तु लोकमें इसका अर्थ शत्रु है। ईश्वरका वाचक 'अरि' शब्द संस्कृतमें शत्रु अर्थवाची हो गया है। वेदमें 'वध'-का अर्थ भयानक हथियार है, लोकमें मारना। 'मृडीक'-का अर्थ कृपा था, परन्तु लोकमें इसका अर्थ शिव है। वेदमें इवके अर्थके लिये 'न'-का प्रचुर प्रयोग हुआ है, परन्तु लौकिक संस्कृतमें इसका अर्थ नहीं है।

पहले वैदिक भाषा जन-सामान्यकी भाषा रही होगी, जिससे उस युगमें ऋषियोंने उस भाषामें ऋचाओंका संकलन किया। हज़ारों वर्षकी अवधिमें भाषागत परिवर्तन होते रहे। पाणिनिके समय जो भाषा शिष्टजनोंमें व्यवहृत होती थी, उसको पाणिनिने नियमोंसे बाँधकर एक परिष्कृत रूप दिया। उसके बाद संस्कृत-भाषाका रूप अविच्छिन्न रूपसे उसीप्रकार बना रहा।

वेदोंकी स्वर–प्रक्रिया

वेदोंकी भाषा संगीतात्मक है। वेद-मन्त्रोंका पाठ विशेष स्वरों-द्वारा विशेष अक्षरोंपर बल देकर किया जाता है। वेदोंमें उदात्तादि स्वर ही शब्दोंके अर्थोंके नियामक हैं। स्वर-परिवर्तनसे शब्दोंके अर्थ भी परिवर्तित हो जाते हैं। यथा - 'इन्द्रशत्रुः' शब्दमें यदि आदि पद 'इन्द्र'को उदात्त समझा जाय तो बहुव्रीहि समासमें इसका अर्थ होगा – 'इन्द्रः शत्रुः यस्य सः' अर्थात् इन्द्र उसको मारनेवाला होगा। यदि अन्तिम पदको उदात्त माना जाय तो षष्ठी तत्पुरुष समासमें इसका विग्रह – इन्द्रस्य शत्रुः अर्थात् इन्द्रको मारनेवाला होगा। इस

प्रकार स्वर-परिवर्तनसे अर्थ भी परिवर्तित हो जाता है।

वेदार्थको जाननेके लिये स्वरोंका ज्ञान अनिवार्य है। इसलिये तैत्तिरीय उपनिषद्में लिखा है – 'वर्णः स्वरः मात्रा बलम् इत्ये-तज्जिज्ञासितव्यम्' अर्थात् वेदोंके अर्थको जाननेके लिये वर्ण, स्वर, मात्रा तथा बल इन सबको जानना चाहिए। पाणिनिने अष्टाध्यायीमें और पाणिनीय शिक्षामें स्वरोंकी विस्तृत विवेचना करते हुए तत्सम्बन्धी नियमोंको भी बताया है।

स्वर तीन प्रकारके होते हैं – उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। इनके उच्चारणकी विधि पाणिनिने इस प्रकार बताई है – उच्चैरुदात्तः अर्थात् उदात्त स्वरपर बल देकर उसका उच्चारण किया जाता है। नीचैरनुदात्तः अर्थात् धीरेसे उच्चारण किया जानेवाला स्वर अनुदात्त है। समाहारः स्वरितः अर्थात् मध्यम वेगसे उच्चारण किया जानेवाला स्वर स्वरित है। वेदोंमें प्रत्येक शब्दका स्वर निश्चित है और उसके उच्चारणके ढङ्गसे ही अर्थका निर्धारण होता है। कतिपय उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किए जा रहे हैं –

'मा' शब्दके दो अर्थ हैं – मुझको और निषेध करना। यदि 'मा' अनुदात्त है तो इसका अर्थ 'मुझको' होगा। यदि उदात्त है तो इसका अर्थ निषेधात्मक 'नहीं' होगा।

'क्षयं गतः देवदत्तः' वाक्यमें 'क्षय' शब्दके दो अर्थ हैं – घर और मृत। 'क्षय' शब्दको आद्युदात्त माननेपर इसका अर्थ 'घर' होगा और अन्तोदात्त माननेपर इसका अर्थ मृत होगा।

स्वरोंके सामान्य नियम

व्याकरण-ग्रन्थोंमें स्वर-प्रक्रियाकी विस्तृत विवेचना की गई है। उनमेंसे कुछ विशेष नियम इस प्रकार हैं –

१. वैदिक भाषामें एक पदमें प्रायः एक पद उदात्त होता है और शेष पद अनुदात्त होते हैं। प्रातिपदिकों और धातुओंका प्रायः अन्तिम पद उदात्त होता है।
२. निपात आदिके अतिरिक्त अन्य उपसर्गों और प्रत्ययों आदिका स्वर उदात्त होता है।
३. लुङ् और लङ् लकारोंमें धातुओंके पूर्व आनेवाले 'अ' और 'आ' उदात्त होते हैं।
४. चित् (जिसमें 'च'-का लोप हुआ हो), तित् तद्धित (वे तद्धित प्रत्यय

जिनमें त् का लोप हुआ हो) और समस्त पदमें दो अन्तोदात्त होते हैं।

५. देवता-वाचक शब्दोंमें एक स्वर उदात्त होता है। परन्तु द्वन्द्व समास होनेपर यथा 'मित्रावरुणा'-में दो उदात्त होते हैं। द्वन्द्व समासके अतिरिक्त देवतावाचक शब्दके समासमें एक पदमें केवल एक स्वर उदात्त या स्वरित होगा और शेष शब्द अनुदात्त होंगे।

६. च आदि अव्ययोंके सभी स्वर अनुदात्त होते हैं।

७. सम्बोधन-पदोंमें प्रायः उदात्त नहीं होता। सर्वनाम शब्दोंके वैकल्पिक रूपोंमें आदिमें उदात्त नहीं होता।

८. तित् (जिसमें त् का लोप हुआ हो) स्वरित होता है।

९. यदि क्रिया-पद आदिमें न हों तो उनके सभी स्वर अनुदात्त होते हैं।

१०. पुनरावृत्तिमें दूसरा पद अनुदात्त होगा।

सन्धि-प्रक्रियामें स्वरकी स्थिति

१. उदात्त और अनुदात्तकी सन्धि होनेपर उदात्त होगा।

२. अनुदात्त और उदात्तकी सन्धि होनेपर उदात्त होगा।

३. स्वरित और उदात्तकी सन्धि होनेपर उदात्त होगा।

४. उदात्त और स्वरितकी सन्धि नहीं होती।

५. अनुदात्त और अनुदात्तकी सन्धि होनेपर अनुदात्त होता है, परन्तु दीर्घ-सन्धि होनेपर स्वरित होता है।

६. स्वरित और अनुदात्तकी सन्धिमें स्वरित होता है।

स्वरोंमें परिवर्तनके सामान्य नियम

१. उदात्तसे परवर्ती अनुदात्तको स्वरित होता है, किन्तु उस अनुदात्तके बाद कोई स्वरित या उदात्त नहीं होना चाहिए। ऐसा होनेपर वह अनुदात्त ही रहता है।

२. उदात्तसे व्यवहित पूर्व अनुदात्त यथावत् रहता है।

३. सामान्यतः एक पदमें एक ही स्वर उदात्त रहता है।

स्वराङ्कनकी विधि

भारतीय पद्धतिसे स्वराङ्कनकी विधि इस प्रकार है—

१. उदात्त—कोई चिह्न नहीं।

२. अनुदात्त – अक्षरके नीचे पड़ी रेखा (—)।

३. स्वरित – अक्षरके ऊपर खड़ी रेखा (।)।

कतिपय विदेशी विद्वान् स्वराङ्कन इस प्रकार करते हैं –

१. उदात्त – अक्षरके ऊपर (।) खड़ी रेखा।

२. अनुदात्त – कोई चिह्न नहीं।

३. स्वरित – अक्षरके नीचे (—) पड़ी रेखा।

संहिता-पाठ और पद-पाठ

वैदिक मन्त्रोंके पाठ मुख्यतः दो प्रकारके हैं – संहिता-पाठ और पद-पाठ। गुरु-श्रुति परम्परासे शिष्योंको वेदोंका ज्ञान दिया करते थे, अतः वेदोंको श्रुति भी कहते हैं। वेद-मन्त्रोंके रूपको सुरक्षित रखनेके लिये ऋषियोंने विभिन्न पाठोंका प्रचलन किया था।

भारतीय परम्पराके अनुसार ऋषियोंको वेदोंका ज्ञान संहिताओंके रूपमें हुआ था। वेदोंका अध्ययन और अध्यापन भी संहिताओंके रूपमें किया जाता है। यज्ञोंमें मन्त्रोंका विनियोग संहिताके रूपमें होता है, पदोंके रूपमें नहीं। इसलिये संहिता-पाठ अधिक पवित्र, प्रामाणिक और प्राचीन माना जाता है। पद-पाठके प्रणेता शाकल्य ऋषि माने जाते हैं। इन्होंने संहिताके पदोंकी सन्धि आदिको खोलकर पद-पाठका प्रचलन किया था। अनेक स्थलोंमें पाठमें इति शब्द जोड़े गए हैं, जो इस बातकी पुष्टि करते हैं कि पद-पाठका प्रवर्त्तन संहिता-पाठके बाद हुआ था।

संहिता-पाठको पदपाठमें परिणत करनेके लिये कुछ नियम ध्यातव्य हैं; यथा –

१. संहिता-पाठमें विद्यमान सन्धियोंमें विच्छेद करके पदोंको अलग-अलग करना चाहिए।

२. समस्त पदोंका विग्रह नहीं किया जाता, परन्तु द्वन्द्व-समासके अतिरिक्त समस्त पदोंके मध्य पदोंकी पृथकता प्रदर्शित करनेके लिये (ऽ) अवग्रह लगाया जाता है।

३. प्रगृह्योंके बाद, द्विवचनके ई, ऊ और ए-के बाद, उ निपातके बाद, ओकारान्त निपातोंके बात सप्तमी विभक्तिके ई और ऊ-के बाद, एकारान्त अस्मे, युष्मे आदिके बाद इति लगाया जाता है।

४. यदि संहिता-पाठमें पदान्तमें विसर्गको 'र्' न हो सका हो तो पद-पाठमें इसके बाद इति लगाकर विसर्गको र् कर देते हैं। यथा — अन्तरिति।

५. उपसर्गोंके बाद आनेवाले संज्ञा या कृदन्त पदोंके पूर्व अवग्रह लगाया जाता है। यथा — अपऽधा, सुऽशिप्रः आदि। प्रधान वाक्योंमें उपसर्गोंको क्रियासे अलग रक्खा जाता है। गौण वाक्यमें क्रियासे पूर्व अनेक उपसर्ग होनेपर अन्तिम उपसर्गके बाद ही अवग्रह-चिह्न लगता है।

६. प्रत्यान्त पदोंसे सुप्, भ्याम्, भिस्, भ्यस्, क्वसु, त्व, तरप्, मत्, वत् आदि प्रत्यय हों और पूर्व-प्रकृतिमें कोई विकार न हुआ हो तो प्रत्ययसे पहले अवग्रह लगाते हैं। यथा — त्रिऽभिः। जहाँ उपसर्ग और प्रत्यय दोनों प्राप्त हों, वहाँ प्रत्ययसे पहले ही अवग्रह लगाना चाहिए। यथा — आतस्थिऽवाँसो।

७. जो स्वर मूलतः ह्रस्व हों, परन्तु संहिता-पाठमें छन्दके अनुरोधसे जिनको दीर्घ कर दिया गया हो, उनको पद-पाठमें ह्रस्व कर दिया जाता है।

८. संहिता-पाठको पद-पाठमें परिवर्तित करते समय स्वराघातमें कुछ परिवर्तन हो सकते हैं। इति लगानेपर संहिता-पाठमें उदात्त स्वर यथावत् रहता है, परन्तु इसके बादका स्वर स्वरित तथा पहला अनुदात्त होता है। यदि अनुदात्तके बाद उदात्त या स्वरित हो तो वह अनुदात्त ही बना रहता है। पादके आदिमें न होनेपर सम्बोधनका पद अनुदात्त हो जाता है।

९. यदि पहले पदके उदात्त होनेके कारण अगले पादका पहला स्वर स्वरित हो, तो पद-पाठमें वह अनुदात्त हो जाता है। पहले पदके स्वरित वर्णके कारण यदि अगले अनुदात्त वर्णपर चिह्न न लगाया गया हो तो पद-पाठमें उसपर चिह्न लगा देते हैं।

१०. पहले पदमें उदात्तके पश्चात् आनेवाला अनुदात्त वर्ण यदि अगले पदके उदात्त होनेके कारण स्वरित न होकर अनुदात्त रह गया हो, तो पद-पाठमें वह स्वरित हो जाता है।

११. पदोंके मूल स्वराघातमें यदि संहिता-पाठके कारण परिवर्तन हो गया हो तो उसको मूल रूपमें रहने देते हैं।

ऋग्वेदके पाठोंका रूप शुद्ध करनेके लिये पद-पाठके अतिरिक्त क्रम-पाठ, जटा-पाठ और घन-पाठ भी प्रचलित हुए। इन पाठोंका विस्तृत परिचय परिशिष्ट भागमें दिया गया है।

ऋग्वेदके भाष्यकार

वेद-मन्त्रोंकी व्याख्याके रूपमें सबसे पहले ब्राह्मणों, आरण्यकों और उपनिषदोंकी रचना हुई किन्तु इन्हें वैदिक साहित्य ही माना जाता है। ऋग्वेदके अर्थको स्पष्ट करनेके लिये रचित ग्रन्थोंमें निघण्टु और यास्क-रचित निरुक्तको सर्वाधिक प्राचीन समझा जाता है। देवराज यड्वा निघण्टुके टीकाकार हैं। दुर्गाचार्यने निरुक्तपर अपनी सुप्रसिद्ध वृत्ति लिखी है। वेद-भाष्यकार स्कन्दस्वामी द्वारा निघण्टुपर लिखी टीका भी पाई जाती है। सायणाचार्य वेदके अर्वाचीन भाष्यकार हैं। इन्होंने चारों वेदोंपर भाष्य लिखनेके साथ ही अन्य वैदिक साहित्य ब्राह्मण-ग्रन्थों आदिपर भी विस्तृत भाष्य लिखे हैं। ऋग्वेदकी शाकल संहितापर, शुक्ल-यजुर्वेदकी काण्व-संहितापर, कृष्ण-यजुर्वेदकी तैत्तिरीय संहितापर, सामवेदकी कौथुम संहितापर और अथर्ववेदकी शौनक-संहितापर, सामवेदके ब्राह्मणों, ऐतरेय आरण्यक और उपनिषद्, तैत्तिरीय ब्राह्मण एवं आरण्यक-उपनिषद् पर तथा साम प्रातिशाख्यपर उनके भाष्य उपलब्ध हैं।

सायनने अपने पूर्ववर्ती यास्क, स्कन्दस्वामी, उद्गीथ आदिके ग्रन्थोंका पर्याप्त अध्ययन किया था। भाष्य लिखते समय यथास्थान उनके मतोंको उद्धृत भी किया गया है।

सायणने यज्ञोंकी दृष्टिसे अपने भाष्य लिखे हैं। उनके मतसे वेदोंका प्रतिपाद्य विषय यज्ञ, कर्मकाण्ड तथा देवताओंका आवाहन करना है। इसीलिये पाश्चात्य वैदिक भाष्यकारोंने सायणको याज्ञिक भाष्यकार कहा है। वेदोंका वर्ण्य-विषय विज्ञान, कर्म, उपासना और ज्ञान इन चार काण्डोंमें मा जाता है; तथा इनमें तीन प्रकारके अर्थ — आधिदैविक, आध्यात्मिक और आधिभौतिक कहे जाते हैं। सायणने आधिदैविक (याज्ञिक) अर्थों और कर्मकाण्डको प्रधानता देते हुए अपने भाष्य लिखे थे।

यास्कके समयसे लेकर सायणतक अन्य कोई प्रसिद्ध भाष्यकार नहीं हुआ। आद्य शङ्कराचार्य और उनके शिष्योंने उपनिषदोंपर भाष्य लिखे हैं और उनकी व्याख्या की है। वेदान्तियोंकी संहिताकी व्याख्यामें कोई विशेष रुचि नहीं थी; परन्तु उनके एक शिष्य आनन्दतीर्थ स्वामीने ऋग्वेद-संहिताके कुछ अंशोंका श्लोकमय भाष्य किया था। फिर रामचन्द्र तीर्थने उस भाष्यकी टीका लिखी। चण्डू पण्डित, चतुर्वेद स्वामी, युवराज, रावण और वरदराज-द्वारा

रचित भाष्योंके भी कुछ-कुछ अंश उपलब्ध होते हैं।

इनके अतिरिक्त मुद्गल, कपर्दी, आत्मानन्द और कौशिक आदि कुछ अन्य भाष्यकारोंके नाम भी सुननेमें आते हैं। भट्ट भास्कर कृष्ण-यजुर्वेदके भाष्यकार हैं। उनके भाष्यमें ही कार्श-कृत्स्न, शाकपूर्णी और यास्कके नाम पाए जाते हैं। निघण्टुके टीकाकार देवराज और उनकी टीकामें भट्ट भास्कर मिश्रने माधवदेव, भवस्वामी, गुहदेव, श्रीनिवास और उव्वट इन भाष्यकारोंके नाम दिए हैं। शुक्ल-यजुर्वेद-संहितापर उव्वटका एक भाष्य मिलता है। इसके अतिरिक्त इन्होंने ऋक् प्रातिशाख्य और शुक्ल-यजुर्वेद प्रातिशाख्यपर भी भाष्य लिखे हैं।

वेदके कतिपय व्याख्याकारोंका यह मत है कि वेदोंमें इतिहास-पुराण सम्बन्धी कोई बात नहीं आई है। वे इससे सम्बन्धित मन्त्रोंका ईश्वरपरक ही अर्थ लगाते हैं। वेदोंकी भाषा इतनी लचीली है कि एक मन्त्रके अनेक अर्थ होनेकी सम्भावना है। इसीलिये भाष्यकारोंमें गम्भीर मतभेद हैं — 'नैको ऋषिर्यस्य वचः प्रमाणम्।' अतः जो पण्डित जैसा विचार रखता है उसीके अनुरूप यह शब्द-कल्पद्रुम फल देता है।

ऋग्वेदके सम्बद्ध ग्रन्थोंका विवरण

ब्राह्मणः — ऐतरेय और कौषीतकी (शांखायन)।

आरण्यकः — ऐतरेयारण्यक और कौषीतकारण्यक।

श्रौतसूत्रः — आश्वलायन श्रौतसूत्र और शांखायन श्रौतसूत्र।

गृह्यसूत्रः — आश्वलायन गृह्यसूत्र और शांखायन गृह्यसूत्र।

व्याकरणः — ऋक् प्रातिशाख्य।

शिक्षा : — ऋग्वेदकी केवल एक पाणिनीय शिक्षा है।

ऋग्वेदके परिशिष्ट

ऋग्वेदके सूत्र–ब्राह्मणात्मक निम्नलिखित २२ परिशिष्ट प्रसिद्ध हैं —

वृहद्देवता, आर्षानुक्रमणी, छन्दोऽनुक्रमणी, अनुवाकक्रमणी, निविदध्याय, रैभ्याध्याय, कुन्तापाध्याय, पारीक्षित्यध्याय, कारव्य, दिशां क्लृप्ति, जनकल्प, इन्द्र-प्रगाथा, एतशप्रलाप, प्रवह्लिका, आजिज्ञासेन्या, प्रतिराध्य, अतिवाद, देवनीथ, भूतच्छेद, पुरोरुक्, प्रैषाध्याय और ऋग्विधान।

इनके अतिरिक्त कुछ और भी परिशिष्ट ऋक्संहितामें तत्तत्स्थलोंपर विद्यमान हैं।

ऋग्वेदका उपवेद – आयुर्वेद

चरण-व्यूहके अनुसार ऋग्वेदका उपवेद आयुर्वेद है। परन्तु सुश्रुत-मुनिके अनुसार यह अथर्ववेदका उपवेद है। उनके मतानुसार जिसके द्वारा आयुका संवर्धन हो और स्वास्थ्य बना रहे, उसे आयुर्वेद कहते हैं। सुश्रुत-संहितामें कहा गया है – "यदि कोई प्रश्नकर्त्ता पूछे कि ऋक्, साम, यजुः और अथर्व इन चारों वेदोमें किस वेदका आश्रय लेकर आयुर्वेदके विद्वान् उपदेश करते हैं तो चिकित्सक अथर्ववेदके प्रति अधिक भक्ति प्रकट करेगा क्योंकि स्वस्त्ययन, बलि, मङ्गल, होम, नियम, प्रायश्चित्त, उपवास और मन्त्रादि इस अथर्ववेदसे लेकर ही चिकित्साका उपदेश करते हैं।[1]

सुश्रुतके मतानुसार ब्रह्माजीने सर्वप्रथम एक लाख श्लोकोंका आयुर्वेद प्रकाशित किया था,[2] जिसमें एक हज़ार अध्याय थे। उनसे प्रजापतिने, प्रजापतिसे अश्विनीकुमारोंने, अश्विनीकुमारोंसे इन्द्रने और इन्द्रसे धन्वन्तरिने आयुर्वेदको पढ़ा और धन्वन्तरिसे सुनकर सुश्रुतमुनिने आयुर्वेदकी रचना कीं। ब्रह्माने आयुर्वेदको आठ भागोंमें विभक्त करके प्रत्येक भागका नाम तन्त्र रक्खा। ये तन्त्र इस प्रकार हैं –

१. शल्य-तन्त्र : इसमें बताया गया है कि नाना प्रकारके तृण, काष्ठ, पाषाण, पांशु, स्वर्ण-लौहादि धातु, छोटे-छोटे इष्टकादि, अस्थि, केश, नखादिके शरीरमें घुसकर पीब आदि पड़नेसे पीडादायक हो जाते हैं। इनसे मुक्तिके लिये यन्त्र, क्षार और अग्निकी प्रस्तुति और प्रयोगके अनेकविध रोगोंका निदान करनेके उपाय इसमें वर्णित हैं।

२. शालाक्य-तन्त्र : इसमें कन्धेके ऊपरके सभी रोग अर्थात् आँख, कान, मुँह, नाक, जीभ, दाँत, ओष्ठ, अधर, गाल, तालु और कण्ठ आदि स्थानोंके रोग और उनकी चिकित्साके उपाय लिखे गए हैं।

---

१. सुश्रुत सूत्रस्थान, १ अध्याय।

२. विधाताथर्वसर्वस्वमायुर्वेदं प्रकाशयन्।
स्वनाम्ना संहितां चक्रे लक्ष श्लोकमयीमृजुम्॥ (भावप्रकाश)

३. कायचिकित्सा-तन्त्र : इसमें ज्वर, अतिसार, रक्त-पित्त, शोष, उन्माद, अपस्मार, कुष्ठ, मेहादि सर्वाङ्गव्यापी रोगोंकी शान्तिके उपाय वर्णित हैं।

४. भूत-विद्या-तन्त्र : इसमें देवता, असुर, गन्धर्व, यक्ष, किन्नर, राक्षस, पितर, पिशाच, नाग और ग्रहादिसे त्रस्त प्राणियोंके आरोग्य हेतु उपाय-स्वरूप शान्तिकर्म और बलिदानादिका वर्णन है।

५. कौमारभृत्य-तन्त्र : इसमें बालकका प्रतिपालन, दाईके दूधके दोषका संशोधन, स्तन्यदोष और ग्रहदोषसे उत्पन्न रोगोंकी चिकित्सा वर्णित है।

६. अगद-तन्त्र : इसमें सर्प, कीट, लूता, वृश्चिक, मूषकादिके दंशसे उत्पन्न विष तथा अन्य विषोंके लक्षण और सभी प्रकारके विषोंके निराकरणके उपाय वर्णित हैं।

७. रसायन-तन्त्र : इसमें युवकके समान बलवान् होनेके उपाय, परमायु, मेधा, बल इत्यादिकी वृद्धिके तथा शरीरको नीरोग रखनेके उपाय वर्णित हैं।

८. वाजीकरण-तन्त्र : इसमें अल्प और शुष्क शुक्रकी वृद्धि करनेके, विकृत वीर्यको प्राकृत अवस्थामें लानेके, क्षीण शुक्रकी उत्पत्तिके, क्षीण शरीरमें बलवृद्धिके और मानसिक प्रसन्नताके उपाय वर्णित हैं।

इस अष्टाङ्ग आयुर्वेदके अन्तर्गत देहतत्त्व, शरीर-विज्ञान, शस्त्र-विद्या, भैषज्य और द्रव्य-गुण-तत्त्व, चिकित्सा-तत्त्व और धात्री विद्या भी है। इसके अतिरिक्त उसमें सदृश चिकित्सा (होम्योपैथी), विरोधी चिकित्सा (एलोपैथी) और जल-चिकित्सा (हेड्रोपेथी) आदि आधुनिक अभिनव चिकित्सा-प्रणालियोंके विधान भी पाए जाते हैं।

शरीर-विज्ञान और अस्त्र-चिकित्सा तो आयुर्वेदके पहले अङ्ग हैं क्योंकि इनका ज्ञान यदि न होता तो आयुर्वेदमें हृदयस्याग्रेऽवद्यत्यथः जिह्वायाः अथ वक्षसः' इत्यादि मन्त्रोंसे यज्ञार्थ निहत पशुके हृदय, जिह्वा, वक्ष, यकृत्, वृक्क, वामहस्त, द्विपार्श्व, श्रोणि, गुदनालका मध्यभाग और वसा आदि अस्त्र-विशेषसे निकालकर अग्निमें आहुति देनेकी विधि कैसे सम्पन्न होती ? यदि पशु-बलिकी बात स्वीकार न भी की जाय तो भी इन आन्तरिक अवयवोंके नाम अस्त्र-विद्याके प्रयोग और शरीर-विज्ञानकी सूक्ष्म जानकारी अवश्य प्रकट

करते हैं।

सुश्रुत-संहिताकी अपेक्षा अश्विनीकुमार संहिता अधिक प्राचीन है। इसमें एक लाख बीस हज़ार श्लोक हैं। इसके रचयिता अश्विनीकुमार हैं। इसमें सृष्टि-वर्णन, प्रकृति-वर्णन तथा विकृति-वर्णन हैं। इसमें पाँच प्रकरण हैं – आध्यात्मिक तन्त्र, स्थूल-तन्त्र, निदान-तन्त्र, पथ्य-तन्त्र और भेषज-तन्त्र। इन पाँचों प्रकरणोंमें प्रत्येक रोगका निरूपण किया गया है।

१.आध्यात्मिक तन्त्र में बताया गया है कि आत्मिक विकार के बिना कोई रोग उत्पन्न नहीं हो सकता अर्थात् अन्तःकरणके किस विकारसे उत्पन्न रोग किस स्थूल रोगमें कैसे परिणत होता है।

२. स्थूल-तन्त्रमें यह प्रदर्शित किया गया है कि प्रत्येक रोग किस प्रकारसे सञ्चरित होता और किन-किन अङ्गोंको कैसे विकृत करता है।

३. निदान तन्त्रमें प्रत्येक रोगके लक्षण, पूर्वरूप और उनके ज्ञानकी विधि बताई गई है।

४. पथ्यतन्त्रमें रहन-सहन, भोजन, शृंगार और स्थिति आदिका वर्णन है।

५. भेषज तन्त्रमें प्रत्येक रोगके लिये चार प्रकारके भेषज बताए गए हैं – पर्वतौकस, वनौकस, जलौकस और शाब्दिक (मन्त्र-द्वारा)।

परीक्षा - हस्ताक्षर-परीक्षा, चित्र-परीक्षा, छाया-परीक्षा आदिमें हस्ताक्षर, चित्र एवं छाया आदिको देखकर रोगका निदान और चिकित्साके उपाय बताए गए हैं।

पुष्कल-संहिता नामक ग्रन्थमें ३२००० श्लोक हैं। महर्षि पुष्कलने इसकी रचना की थी। इसमें चार प्रकरण हैं।

प्रथम प्रकरणमें रोगोत्पत्तिके कारण, संसर्गज; कुलज एवं निजकृत रोगोंका वर्णन है।

दूसरे प्रकरणमें कर्ममीमांसा, किस कर्मसे किस प्रकारके रोग उत्पन्न होते हैं, शुभाशुभ कर्म-विवेचन, वैद्य-परीक्षा, रोगी-दूत-परीक्षा, शकुन आदि वर्णित हैं।

तीसरे प्रकरणमें निदान, रोग-लक्षण, पूर्वरूप, विकृतरूप और रोगके साध्य-असाध्य होनेका वर्णन है।

चौथे औषधि-प्रकरणमें शाब्दिक, रहन-सहन, भोजन और भेषज,

अनुपान, औषध-समास, ग्रहशान्तिका वर्णन है।

ब्रह्मसंहिता ग्रन्थमें २४००० श्लोक हैं। इसमें ब्रह्मा-नारदका संवाद है। इसमें तीन प्रकरण हैं –

पहले प्रकरणमें रोगोत्पत्तिका कारण, परमाणुका विकार, उनकी न्यूनता और अधिकता वर्णित है।

दूसरे प्रकरणमें निदान, पूर्वरूप, रूप एवं परमाणुका सम्बन्ध बताया गया है।

तीसरे प्रकरणमें औषधि और रोगका सम्बन्ध, परमाणु-पुष्टि, विकार-दूरीकरण, रसायन-प्रक्रिया, रस और रोगका सम्बन्ध और शाब्दिक (मन्त्र) औषधि वर्णित है।

भेड संहिता नामक एक ग्रन्थमें १६००० श्लोक है। इसमें दो प्रकरण हैं।

पहले प्रकरणमें शेषनारायणका भेड़ बनकर ओषधिका परिचय करना, ओषधियोंका स्थान-निरूपण, पर्वतौकस, वनौकस एवं जलौकस (पर्वतीय, वन्य, जलीय) ओषधियोंके चिह्न वर्णित हैं।

दूसरे प्रकरणमें निघण्टु, उनका नाम और रूप, रोगसे सम्बन्ध, उनकी क्रिया और मात्रा; औषधि-सेवनका काल, बाल, युवा, वृद्धावस्था, शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष, दिन और तिथिके अनुसार ओषधिका प्रयोग।

महाराज आग्नीध-द्वारा रचित 'आग्नीध सूत्रराज' नामक ग्रन्थमें ५६००० श्लोक हैं। इसमें पाँच प्रकरण हैं।

प्रथम प्रकरणमें पारदकी उत्पत्ति, पारद-निर्माणका प्रकार, पारद-संशोधन, पारदका चाँदी-सोना इत्यादि दूसरी धातुमें परिणत करना, विद्युत्-शक्ति और प्रत्येक परमाणुका विद्युत्-शक्ति-ज्ञानका वर्णन है।

दूसरे प्रकरणमें गन्धककी उत्पत्ति, गन्धकका प्रकार, गन्धक-निर्माण, गन्धकका कार्य, गन्धक-भस्मकी निर्माण-विधि, गन्धकीय जल और उसकी आवश्यकता, प्रयोग-विधि, गन्धक-शोधन, धातुओंको गन्धक-द्वारा परिवर्तित करना और उनकी विद्युत्-शक्ति वर्णित हैं।

तीसरे प्रकरणमें गन्धक और पारदका मिश्रण, परमाणुओंके साथ सम्बन्ध और शारीरिक प्रयोजनका वर्णन है।

चौथे प्रकरणमें इनसे रोगका सम्बन्ध, रोग-निवारण हेतु इनका अनुपान एवं योग बताए गए हैं।

पाँचवें प्रकरणमें इनको प्रत्येक परमाणुओंसे पृथक् करना, अस्त्र-शस्त्रादिमें इनका प्रयोग, पर्वत आदिमें इनका जीवन, साधन-प्रकार, आत्म-संयोग, शारीरिक प्रकरण और पञ्चप्राणका सम्बन्ध निरूपित हुआ है।

क्रौंच मुनि-द्वारा रचित कुर्णक-प्रभा नामक ग्रन्थमें १२००० श्लोक हैं। इसमें दो प्रकरण हैं—

पहले प्रकरणमें शब्दकी उत्पत्ति, शब्द और शरीरका सम्बन्ध, शब्द समयसे रोगाभान, शब्द-विकृतिसे विकारका वर्णन है।

दूसरे प्रकरणमें शब्द-संयम प्रकार, जल-स्थानसे ओषधि, चन्द्र और सूर्यकी किरणोंसे जलका सम्बन्ध, उनका रोगसे सम्बन्ध, शारीरिक ध्रुव-वर्णन, जलसे ध्रुव-विकार शोधन, सूर्य अथवा चन्द्रकिरण-द्वारा रङ्गीन पात्रोंपर जलमें उनका वितरण, इस जलसे रोग-शान्ति, सेवनका प्रकार एवं विधि वर्णित हैं।

सैनिक ऋषि-द्वारा रचित धातुवाद ग्रन्थमें ६०००० श्लोक हैं। इसमें तीन प्रकरण हैं—

पहले प्रकरणमें अष्टधातुकी उत्पत्ति, उनका क्रम, उनका मिश्रण, एकका दूसरेमें परिणयंन, फूल, काँसा आदिका निर्माण, उनकी शोधन-विधि और शरीरसे सम्बन्ध वर्णित हैं।

दूसरे प्रकरणमें इनकी निर्माण-विधि, तारागणोंकी किरणोंसे सम्बन्ध, विकार-नाशन हेतु, धातु-सृष्टि-निरूपण और अस्त्र-शस्त्रादिमें प्रयोगका वर्णन है।

तीसरे प्रकरणमें ओषधि-द्वारा इनका परिणयन, धातु-वनस्पति-सम्बन्ध, वनस्पति और धातु-संयोग, हेतु और आवश्यकता, सांसारिक प्रयोजन और कार्य-कारण भाव वर्णित है।

भगवान् धन्वन्तरि-द्वारा रचित धन्वन्तरि-सूत्रमें १०,००० श्लोक हैं। इनमें दो प्रकरण हैं—

पहले प्रकरणमें निद्रा, आलस्य, जृम्भा आदिका वर्णन, इनकी आवश्यकता और प्रयोजन, ह्रास-परिहास, विहास और उपहासका वर्णन है।

दूसरे प्रकरणमें रोगोत्पत्तिके प्रकार, निदान और ओषधिका वर्णन है।

भगवान् शिव-द्वारा रचित मानसूत्र ग्रन्थमें १२००० श्लोक हैं। इसमें दो प्रकरण हैं—

पहले प्रकरणमें स्त्री-पुरुष-विभाग, गर्भाधान, मानस-सृष्टि, संघर्षण-सृष्टि, वीर्य-निर्माण, रज-निर्माण, दोनोंका समास, कन्या-पुत्र-उत्पत्तिका हेतु वर्णित हैं।

दूसरे प्रकरणमें नपुंसक-उत्पत्ति, दुष्ट-उत्पत्ति, राक्षस-उत्पत्ति, धर्म-धुरीणता, आत्मिक सम्बन्ध, ग्रन्थ-विद्या, मनुष्य-विद्या, कृषिका प्रकार और पाक-निर्माणका वर्णन है।

कश्यप ऋषि-द्वारा रचित सूपशास्त्र ग्रन्थमें ६२००० श्लोक हैं। इसमें तीन प्रकरण हैं—

पहले प्रकरणमें पाक-निर्माण और उनका प्रकार, उनकी आवश्यकता, ५६ प्रकारकी भोग-विधि, बालभोग-विधि, पञ्चामृत प्रकरण, कवलन-विधि (किस वस्तुका कैसे कवल बनाना चाहिए), ग्रास-निर्माण, भोजन-विधि, भोजन-आसन, परोसनेका प्रकार, १०८ प्रकारकी भोजन-विधि, खानेका प्रकार, अन्नकूट-विधि, आवश्यकता, किस समयमें किन सम्बन्धियोंके यहाँ भोजन करना चाहिए। बल, वीर्य, पराक्रम, शक्ति, पुष्टि, तुष्टि, शान्ति, क्षान्ति, प्रदान करनेवाले कौनसे भोजन किन-किन समयोंमें क्या-क्या गुण उत्पन्न करते हैं—इन सब विषयोंका वर्णन है।

दूसरे प्रकरणमें बाल-भोग, युवा-भोग, वृद्ध-भोजन, मङ्गल-आरती, शृंगार-आरती, सत्कार-विधि, सज्जन-आगम, समीक्षण, उनकी विदाईका प्रकार, मार्ग-भोजन, पाक-निर्माण तथा उसकी सेवन-विधिका वर्णन है।

तीसरे प्रकरणमें यज्ञान्न-विधि, दैव, पितृ और भोजनकी पाक-निर्माण-विधि वर्णित है।

नवान्न-विधिमें नवान्न भोजनका प्रकार, नवान्न-यज्ञ, प्रत्येक ऋतुके खाद्य-पदार्थ, उनके बनानेकी विधि तथा मास, पक्ष, तिथि एवं वार आदिकी दृष्टिसे पाक-निर्माण-विधि, यती, संन्यासी, राजा एवं साधारण व्यक्तिका सामान्य आतिथ्य-सत्कारका भोग-निर्माण, प्रसाद-निर्माण और इष्टदेवके अनुसार भोग-निर्माणका वर्णन है।

सौभरि मुनि-द्वारा रचित सौभरि-सूत्रमें १२००० श्लोक हैं। इसमें दो प्रकरण हैं—

पहले प्रकरणमें रस-विभाग; रसका दूसरे रसोंमें परिणयन, रस-निर्माण और ओषधि-पाक-विधिका वर्णन है।

दूसरे प्रकरणमें अचार और मिष्टान्न बनानेकी विधि, खाद्याखाद्य-काल-निर्णय, अन्तःकरण, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार्यकि रहनेका स्थान, इनका समास, क्रम और योग, इन्द्रियोंपर प्रेरणा-विधि आदि वर्णित हैं।

दाल्भ्य मुनि-रचित दाल्भ्य-सूत्रमें १०००० श्लोक हैं। इसमें दो प्रकरण हैं।

पहले प्रकरणमें वीर्य-रज-संयोग, अस्थि-मांस-निर्माण, क्रञ्जि, कुञ्ज, निकुञ्ज, कुक्कुत, यकृत, सञ्ज, नाडी आदिका क्रम, इनका वर्द्धन प्रकार, काम-क्रोध आदिका अंकुर, निद्रा, आलस्य आदिकी आवश्यकता, भयका अंकुर और आवश्यकता वर्णित है।

दूसरे प्रकरणमें जीवन, आशा, प्रेम, सम्बन्ध, उसका कलाप, महिमा, विभूति और संमर्पण-विधि वर्णित हैं।

जाबाल मुनि-रचित जाबालि-सूत्रमें १४००० श्लोक हैं। इसमें तीन प्रकरण हैं—

पहले प्रकरणमें इच्छानुसार पुत्र और कन्याकी उत्पत्तिका प्रकार, मनुष्य-विद्या, मनुष्य-व्यवहार-प्रकार, अरोग्यतापूर्वक अर्थसंग्रह-विधि, अर्थसे रोगोत्पत्ति, शिरस परीक्षा (किस प्रकारके बल होनेसे किस प्रकारकी विद्या-प्राप्तिमें सफलता अथवा प्रवृत्ति होगी), विधि, निषेध और प्रायश्चित्तका वर्णन है।

दूसरे प्रकरणमें बताया गया है कि किस प्रकारके रसमें किन मनुष्योंकी प्रवृत्ति, मानस-परीक्षा, बुद्धि-व्यवहार-परीक्षा, किस प्रकारके मनुष्यका किस प्रकारके मनुष्योंसे सम्बन्ध और मिलन होना चाहिए, स्थान और मनुष्यकी साम्यता, अर्थसाधनकी साम्यता आदि।

तीसर प्रकरणमें — रस और शारीरिक साम्यता, नित्य आरोग्य रहनेकी विधि, आयु बढ़ानेका प्रकार, क्षय-विधि, किस प्रकारकी छायामें सुख प्राप्त होता है, अपनी छायासे सुख-प्राप्तिकी विधि, विचार-साम्यता और अनुराग-साम्यता आदि वर्णित हैं।

इन्द्रमुनि द्वारा रचित इन्द्र-सूत्रमें ८००० श्लोक हैं। इसमें दो प्रकरण हैं—

पहले प्रकरणमें चन्द्र-किरण-फल, चन्द्रज ओषधि उत्पत्ति, रातमें विकसित दिवामुद्रित ओषधि, रातमें लभ्यमान, दिनमें अलभ्य, कृष्णपक्षमें लभ्य, शुक्लपक्षमें अलभ्य, शुक्लपक्षमें लभ्य, कृष्णपक्षमें अलभ्य, शुक्र,

शनि, मङ्गल, बुध, बृहस्पति, राहु, अश्विन्यादि नक्षत्र, ध्रुव, सप्तर्षि, अभिजित, शतभिषक आदिकी किरणोंसे उत्पन्न ओषधि, उनके किरण-भावसे उनका अभाव और गुण-लक्षण और रोग-सम्बन्ध वर्णित है।

दूसरे प्रकरणमें शारीरिक यन्त्रोंके नाम, शल्य, शालाक्य और जर्राही (शल्य-चिकित्सा) वर्णित है।

मैन्द ऋषि-रचित 'शब्द-कौतूहल' नामक ग्रन्थमें २४००० श्लोक हैं। इसमें तीन प्रकरण हैं —

पहले प्रकरणमें रोगीके शब्दसे रोग-निदान, हस्ताक्षरसे रोग-निदान, चित्त-निदान, दूत-निदान, अदृश्य रोग-परीक्षा, शाब्दिक यन्त्र, शाब्दिक ओषधि, वीणा, तन्त्री, पणव, शंख, भेरी, मृदंग, मञ्जीर, वंशी आदि वाद्योंसे भेषज-निर्माण और उनको सुनाकर रोगापहरण, प्रत्येक रोगके लिये पृथक्-पृथक् वाद्योंके शब्द, कौन किसके लिये प्रमुख हैं।

दूसरे प्रकरणमें ओषधिका शरीरान्तर-प्रवेशका प्रकार, ओषधि-मार्ग, चलनेकी विधि, उनका समय, उनमें विद्युत्-शक्तिका प्रवेश, देश-द्वारा ओषधि-प्रकार, अमुक दिशामें अमुक रोगीका प्रातःशयन, अमुदि दिशामें मध्याह्न-भोजन, शयन, भ्रमण करनेसे रोगहरणका वर्णन है।

इन ग्रन्थोंके अतिरिक्त भी गवायुर्वेद, अश्वायुर्वेद, गजायुर्वेद, वृक्षायुर्वेद आदि आयुर्वेदके कई विभाग बताए जाते हैं। अग्निपुराणमें इनकी चर्चा की गई है। इसके अतिरिक्त कामशास्त्रका भी आयुर्वेद-चिकित्साके अन्तर्गत समावेश किया गया है।[१] हठयोग और राजयोगके वे अंश जो रोग-निवारण तथा स्वास्थ्य-रक्षण करके साधकोंकी आयु बढ़ानेमें सहायक होते हैं, सब आयुर्वेदमें ही परिगणित होते हैं।

आयुर्वेदके अन्तर्गत वनस्पति-विद्या और खनिज-विज्ञान भी है, क्योंकि अनेक ओषधियोंके निर्माणमें इनका प्रचुर प्रयोग होता है।

---

१. कामशास्त्रमें कहा गया हे कि यदि इसमें कथित विशेष प्रकारसे आचरण किया जाय तो व्यक्तिकी सोलह वर्षसे सत्तर वर्षतक किशोरावस्था बनी रह सकती है — "आषोऽशात् सप्ततिपर्यन्तं कैशोरकम्।"

ऋग्वेदका सम्बद्ध साहित्य

कुछ विद्वानोंके मतानुसार, 'ऋग्वेद' शब्द केवल संहिता-भागका सूचक है। उसके ब्राह्मण तथा आरण्यक आदिको अत्यन्त प्राचीन भाष्य समझना चाहिए। परन्तु इन्हें वेद न समझकर वेदका सम्बद्ध साहित्य समझना चाहिए।

ऋग्वेदके दो ब्राह्मण-ग्रन्थ हैं – ऐतरेय ब्राह्मण और दूसरा शाङ्खायन ब्राह्मण। शाङ्खायनका दूसरा नाम कौशीतकी ब्राह्मण भी है। इन दोनों ब्राह्मण-ग्रन्थोंका परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। दोनों ही ग्रन्थोंमें स्थान-स्थानपर एक ही विषयकी आलोचना की गई है, किन्तु एक ब्राह्मणमें, दूसरे ब्राह्मणके विपरीत अर्थ प्रकट किया गया है। ऐतरेय ब्राह्मणकी अपेक्षा कौशीतकी ब्राह्मणमें वर्ण्य-विषयकी आलोचना भली प्रकार की गई है। ऐतरेय ब्राह्मणके बादके दस अध्यायोंमें जिन विषयोंका वर्णन है, शाङ्खायन ब्राह्मणमें उनका उल्लेख भी नहीं है, किन्तु शाङ्खायन-सूत्रोंमें इस अभावकी पूर्ति की गई है।

वर्त्तमानमें उपलब्ध ऐतरेय ब्राह्मणमें चालीस अध्याय हैं। पुनः आठ पञ्चिकाओंमें और विभाग हुआ है। शाङ्खायन ब्राह्मणमें केवल तीस अध्याय हैं। इनसे ऐतिहासिक घटनाओंका विशेष रूपसे ज्ञान नहीं हो पाता, किन्तु ऐतरेय ब्राह्मणके अध्ययनसे ऐतिहासिक बातें भी ज्ञात होती हैं। उसमें अनेक भौगोलिक विवरण हैं। भारतवर्षके उत्तरी भागमें किसी समयमें भाषा शिक्षाका कहीं केन्द्र था, इसका ज्ञान भी इन ब्राह्मण-ग्रन्थोंसे प्राप्त होता है। इन दोनों ब्राह्मण-ग्रन्थोंके संग्रहसे पूर्व ही उत्कृष्ट रचना-प्रणाली प्रारम्भ हो चुकी थी। इनमें 'आख्यान', 'गाथा', 'अभियज्ञ गाथा' और 'कारिका' आदि आख्यान भी हैं। शाङ्खायन ब्राह्मणमें तो पैंगि और कौशीतकीके मतका पुनः पुनः अवतरण आया है, किन्तु ऐतरेय ब्राह्मणमें एक स्थलके अतिरिक्त कहीं कौशीतक या पैंगका नाम नहीं लिया गया है। कुछ विद्वानोंकी सम्मतिमें यह अंश प्रक्षिप्त है। शुक्ल यजुर्वेदमें पैंगि ऋषिका नाम आया है। अन्यान्य ग्रन्थोंमें भी यह नाम पाया जाता है। निरुक्तमें और महाभाष्यमें पैंग कल्प-ग्रन्थका उल्लेख है। सायणके समयमें भी पैंगि ब्राह्मण प्रचलित था। शाङ्खायन ब्राह्मणमें कौशीतकका नाम अनेक बार लिखा होनेके कारण शाङ्खायन ब्राह्मणके भाष्यकारने उसे कौशीतकी ब्राह्मण कहा है। इसी भाष्यमें कई स्थलोंपर महाकौशीतकी ब्राह्मणका नाम भी आया है। शाङ्खायन और ऐतरेय ब्राह्मणमें अनेक प्रकारके आख्यान लिखे गए हैं। उन आख्यानोंमें यह बताया गया है कि किस मन्त्रका,

किस अवसरपर, किस प्रकार आविर्भाव हुआ है।

गोविन्दस्वामी और सायणाचार्यने ऐतरेय ब्राह्मणका भाष्य किया है। माधवपुत्र विनायक नामके एक पण्डितने कौशीतकी ब्राह्मणका एक भाष्य लिखा है।

इन दोनों ब्राह्मण-ग्रन्थोंके आरण्यक ग्रन्थ भी हैं। संसारके सब विषयोंका त्याग करके और कर्म-बन्धनोंसे मुक्ति पाकर प्राचीन आर्य ऋषिगण जब निर्जन, शान्त वनमें रहने लगते थे और ब्रह्म-विद्याका अध्ययन करके गम्भीर भावसे परमात्माकी चर्चामें लग जाते थे तब अनेक गम्भीर अनुभूत विचार लोक-कल्याणके लिये प्रकट करते थे। इसी विचार-समूहका नाम आरण्यक है। आरण्यक-ग्रन्थोंमें प्रायः उपनिषद्के ही अंश हैं।

सम्प्रति ऐतरेय आरण्यकके पाँच ग्रन्थ उपलब्ध हैं। इनमेंसे प्रत्येकका नाम आरण्यक है। दूसरे और तीसरे आरण्यक तो स्वतन्त्र उपनिषद् हैं। दूसरेके उत्तरार्द्धके शेष चार परिच्छेद वेदान्त ग्रन्थमें परिगणित किए जाते हैं। इसलिये उनका नाम ऐतरेय उपनिषद् है। दूसरे तथा तीसरे भागका महीदास ऐतरेयने सङ्कलन किया है। विशालके औरससे और ईतराके गर्भसे महीदासका जन्म हुआ। माताके नामके अनुसार इन्हें ऐतरेयकी उपाधि प्राप्त हुई। प्रथम आरण्यकका सङ्कलनकर्त्ता अज्ञात है। चौथे आरण्यकका संकलन शौनक के विषयमें आश्वलायनने किया है। ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें कहीं ऐतरेय शब्द नहीं मिलता। छान्दोग्योपनिषद् में ही सर्वप्रथम यह शब्द प्राप्त होता है। साम-सूत्रमें भी ऐतरेय सम्प्रदायका नाम मिलता है। इसके अतिरिक्त मण्डूक या मण्डूकीयकी कथा भी ब्राह्मण-ग्रन्थमें है। मण्डूकियोंकी कथा ऋक्-प्रातिशाख्यमें भी है।

कौशीतकी आरण्यकके तीन खण्ड हैं। इसमें दो खण्ड प्रधान हैं, जो कर्मकाण्डसे भरे हुए हैं। तीसरा खण्ड कौशीतकी-उपनिषद् कहलाता है। यह एक सारगर्भित उपादेय ग्रन्थ है। प्रथम अध्यायमें इस विषयपर विचार हुआ है कि आनन्दमयके धाममें कैसे प्रवेश किया जाय और उस आनन्दका कैसे उपभोग किया जाय। गृह्यकृत्य, पारिवारिक बन्धन आदि कारणोंसे बँधे हुए लोगोंके हृदयमें उस समयमें अत्यन्त कोमल हृदयकी वृत्तियोंने कैसे विकास किया है, इसका अतिसुन्दर चित्रण द्वितीय अध्यायमें हुआ है। तृतीय अध्यायमें ऐतिहासिक वृत्तान्त और इन्द्रके युद्धादिके उपाख्यान लिखे गए हैं। चतुर्थ

अध्याय भी आख्यानोंसे भरा है। काशिराज वीरेन्द्रकेशरीने एक ज्ञानी ब्राह्मणको जो उपदेश दिया था, वह भी इस अध्यायमें वर्णित है। इसमें भौगोलिक बातें भी दी हुई हैं। हिमवान् और विन्ध्यादि पर्वतोंके नाम और पहाड़ियोंके नाम भी पाए जाते हैं। सायणाचार्यने ऐतरेय और कौशीतकी दोनों आरण्यकोंके भाष्य किए हैं। इन दोनोंपर ऐतरेय और कौशीतकी दोनों आरण्यकोंके भाष्य किए हैं। इन दोनोंपर शङ्कराचार्यके भी भाष्य हैं। आनन्दज्ञान, आनन्दगिरि, आनन्दतीर्थ, अभिनवनारायण, नारायणेन्द्र सरस्वती, नृसिंहाचार्य और बालकृष्णदासने शाङ्कर भाष्यकी टीका की है।

इन आरण्यकोंके अतिरिक्त बाष्कल और मैत्रायणी उपनिषदें भी ऋग्वेदकी उपनिषदें कही जाती हैं। बाष्कल श्रुतिकी कथाका सायणाचार्य ने भी उल्लेख किया है। ऋग्वेदकी बाष्कलशाखा तो अब लुप्त हो गई है। बाष्कल उपनिषद्में उस शाखाकी स्मृति बची हुई है। बाष्कल उपनिषद्का एक उपाख्यान है कि देवराज इन्द्र मेषका रूप धारण करके कण्वके पुत्र मेधातिथिको स्वर्ग ले गए। मेघातिथिने मेघरूपी इन्द्रसे पूछा कि तुम कौन हो ? उन्होंने उत्तर दिया, "मैं विश्वेश्वर हूँ। तुम्हें सत्यके समुज्ज्वल मार्गपर ले जानेके लिये मैंने यह काम किया है, तुम कोई आशङ्का मत करो। यह सुनकर मेधातिथि निश्चिन्त हो गए।" बहुत से लोगोंका यह विश्वास है कि बाष्कल एक प्राचीन उपनिषद् है।

ऋक् साहित्यमें तीसरी वस्तु सूत्र है। श्रौतसूत्र कर्मकाण्ड विषयक सूत्र हैं। इन्हें कल्पसूत्र भी कहते हैं। ऋग्वेदके श्रौतसूत्रोंमें सबसे पहले आश्वलायन सूत्र समझे जाते हैं। आश्वलायन सूत्र बारह अध्यायोंमें उपनिबद्ध है। ऐतरेय ब्राह्मणके साथ आश्वलायनका घनिष्ठ सम्बन्ध है। शाङ्खायन श्रौतसूत्र अड़तालीस अध्यायोंमें विभक्त है। अश्वल ऋषि विदेहराज जनकके यहाँ होता थे। वही उन सूत्रोंके प्रवर्त्तक थे, इसीलिये उनका नाम आश्वलायन श्रौतसूत्र पड़ा। ऐतरेय आरण्यकके चतुर्थ काण्डके प्रणेताका नाम भी आश्वलायन है।

शाङ्खायन श्रौतसूत्रके पन्द्रहवें और सोलहवें अध्यायकी रचना ब्राह्मण-ग्रन्थोंकी भाषामें हुई है। उसका रूप प्राचीन माना जाता है। उसका सत्रहवाँ और अठारहवाँ अध्याय स्वतंत्र है। उनकी भाषा भी स्वतंत्र है। कौशीतकी आरण्यकके पहले दो अध्यायोंके साथ इन दो अध्यायोंका घनिष्ठ सम्बन्ध है। आश्वलायन श्रौतसूत्रमें शाट्यायन ब्राह्मणका विवरण है। आश्वलायन श्रौतसूत्रके ग्यारह भाष्योंका पता लगा है। नारायणगर्ग, देवत्रात, विद्यारण्य-

मुनि, कल्याणश्री, दयाशङ्कर, मण्डनभट्ट, मथुरानाथ शुक्ल, महादेव, फुल्लभट्ट सुत, षड्गुरुशिष्य और सिद्धान्ती इन ग्यारहोंके भाष्य हैं। वाजपेय, राजसूय, अश्वमेध, पुरुषमेध और सर्वमेध यज्ञ शाङ्खायन और आश्वलायन दोनों ही सूत्रोंमें वर्णित हैं। किन्तु शाङ्खायन श्रौतसूत्रमें इन यज्ञोंका विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। नारायण नामके एक अन्य विद्वान्ने शाङ्खायन श्रौतसूत्रका भाष्य किया है। यह नारायण और आश्वलायनका भाष्यकार नारायण दो भिन्न व्यक्ति हैं। नारायण गर्ग, कृष्णजीके पुत्र श्रीपतिके पौत्र इनके अतिरिक्त हैं। शाङ्खायनके भाष्यकार नारायणके पिता पशुपति शर्मा हैं। इनके ग्रन्थ शाङ्खायनके भाष्य न होकर पद्धतिमात्र हैं और ब्रह्मदत्तके अनुकरणपर लिखे गए हैं। श्रीपतिके पुत्र विष्णुने भी क्रतुरत्नमाला नामसे इसी श्रौत-सूत्रका एक भाष्य लिखा है। मलयदेशवासी वरदपुत्र पण्डित आनर्तीयने शाङ्खायन सूत्रका एक भाष्य किया है। इसके नवम, दशम और एकादश अध्यायका भाष्य नष्ट हो गया है। दास-शमनि मञ्जूषा लिखकर इन तीन अध्यायोंका भाष्य पूर्ण किया है। गोविन्दने सत्रहवें और अठारहवें अध्यायका भाष्य किया है।

ऋग्वेदके गृह्यसूत्रोंमें भी आश्वलायन और शाङ्खायनके ही गृहसूत्र प्रमुख हैं। शौनक गृह्यसूत्रमें चार और शाङ्खायनमें छह अध्याय हैं। इन सब गृह्यसूत्रोंमें विवाह, गर्भाधान, जातकर्म, चूड़ाकर्म, उपनयन, वर्णाश्रम-धर्म और श्राद्ध आदि दस कर्मोंके विधान सूत्रोंके रूपमें लिखे हुए हैं। मनुष्यके आश्रम-धर्मकि विषयकी सभी बातों और सभी विधियोंपर गृह्यसूत्रोंमें विचार हुआ है। शाङ्खायन गृह्यसूत्रोंके अनेक भाष्य हैं। सुमन्तुसूत्र-भाष्य, जैमिनीय सूत्र-भाष्य, वैशम्पायन सूत्र-भाष्य और पैलसूत्र-भाष्य आदि अनेक गृह्यसूत्रपरक वैदिक ग्रन्थ हैं। रामचन्द्र नामक एक विद्वान्ने नैमिषारण्यमें रहकर शाङ्खायन गृह्यसूत्रपर एक भाष्य लिखा है। इन सब सूत्रोंका सङ्ग्रह और कृष्णजी पुत्र नारायणकृत शाङ्खायन गृह्यसूत्र भाष्य बताए जाते हैं।

ऋक्संहिताका एक प्रातिशाख्य सूत्र भी है। प्रातिशाख्य सूत्र शौनक-द्वारा रचित बताए जाते हैं। यह शौनक आश्वलायनके गुरुके नामसे प्रसिद्ध हैं। ऋक् प्रातिशाख्य-सूत्र एक विशाल ग्रन्थ है। इसमें तीन काण्ड हैं। प्रत्येक काण्डमें छह पटल हैं। इसमें कुल मिलाकर एक सौ तीन कण्डिकाएँ हैं। इस ग्रन्थके पहले भाष्यकार विष्णुपुत्र हैं। उनके बाद उव्वटने इसका संस्कार करके एक नया भाष्य तैयार किया। प्रातिशाख्य-सूत्रके आधारपर उपलेख

नामका एक संक्षिप्त ग्रन्थ लिखा गया है, इसे प्रातिशाख्य-सूत्रका परिशिष्ट भी कहा जाता है। वैदिक-साहित्यमें अनुक्रमणी नामक एक प्रकारका ग्रन्थ है। इससे पर्याय-क्रमसे छन्द, देवता और मन्त्रदृष्टा ऋषिका पता चलता है। ऋक्-संहिताकी अनेक अनुक्रमणिकाएँ हैं। शौनक रचित अनुवाकानुक्रमणी और कात्यायन-रचित सर्वानुक्रमणी ये दो प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। इन दोनोंपर विस्तृत और सुलिखित अनेक टीकाएँ हैं। एक टीकाकार षड्गुरु-शिष्य हैं। इनके वास्तविक नामका और समयका ज्ञान नहीं है, परन्तु ग्रन्थकारने अपने छहों गुरुओंके नाम ग्रन्थमें लिखे हैं। वे नाम हैं—विनायक, त्रिशूलान्तक, गोविन्द, सूर्य, व्यास और शिवयोगी। इसके अतिरिक्त ऋग्वेदसे सम्बद्ध एक अन्य ग्रन्थ वृहद्देवता है, जिसमें दैविक आख्यानादि विस्तारपूर्वक लिखे गए हैं। यह ग्रन्थ शौनक-द्वारा रचित माना जाता है। इसकी प्राचीनता भी निर्विवाद है। यह श्लोकोंमें रचित है। इस ग्रन्थका उद्देश्य यह है कि प्रत्येक ऋचाके देवताका निर्देश हो, किन्तु ग्रन्थकारने अपना ग्रन्थ पूर्ण करते हुए देवता-सम्बन्धी एक विचित्र आख्यान दिया है। बहुतसे विद्वानोंका मानना है कि यह ग्रन्थ निरुक्तके बाद रचा गया है। कुछ विद्वानोंके मतसे इसे शौनक-सम्प्रदायके किसी व्यक्तिने रचा है। इसमें भागुरी और आश्वलायनका नाम है। वलभी ब्राह्मण और निदान-सूत्रका उल्लेख भी प्राप्त होता है। वृहद्देवता नामक ग्रन्थ शाकल शाखाके आधारपर नहीं लिखा गया है, यद्यपि उसमें कई बार शाकल शाखाका नाम आया है। वृहद्देवताके अतिरिक्त शौनक-द्वारा सङ्कलित ऋग्विधान आदि अनेक ग्रन्थ हैं। इनके अतिरिक्त वृद्धपरिशिष्ट, शाङ्खायन परिशिष्ट और आश्वलायन गृह्य परिशिष्ट नामके ग्रन्थ भी उपलब्ध हैं।



यजुर्वेद

मत्स्यपुराणके अनुसार त्रेतायुगमें एक ही वेद था — यजुर्वेद। इसी एक यजुर्वेदके अन्तर्गत सभीका समावेश था। परन्तु इसी एक यजुर्वेदके शासनके कारण त्रेतायुगमें यज्ञकर्मकी ही प्रधानता थी। हरिश्चन्द्रको पुत्र चाहिए, यज्ञ करते हैं, त्रिशङ्कुको स्वर्ग चाहिए यज्ञसे अभीष्ट साधते हैं, दशरथ पुत्रेष्टि-यज्ञ करते हैं। विश्वामित्र यज्ञकी ही रक्षाके लिये राघव-बन्धुओंको ले जाते हैं। ऋषियोंके यज्ञोंमें बाधा डालनेवाले राक्षस भी विजय-कामनासे यज्ञ करते हैं। राज्याभिषेक यज्ञसे ही होता है और प्रत्येक प्रतापशाली राजा अश्वमेध यज्ञ करनेका अभिलाषी होता है। यजुर्वेद यजन करनेका ही वेद है। ऋग्वेदके मन्त्र यज्ञमें काम आते हैं। साम मन्त्रोंका गान होता है। व्यक्तिगत इष्टि यज्ञोंमें अथर्ववेद-विहित प्रयोग होते हैं। इस प्रकार यजुर्वेदकी सर्वग्राहिता सुसङ्गत है।

कूर्मपुराणमें ४९वें अध्यायमें लिखा है —

ऋग्वेदः श्रावकं पैलं जग्राह स महामुनिः।
यजुर्वेद प्रवक्तारं वैशम्पायनमेव च॥
जैमिनं सामवेदस्य श्रावकं सोऽन्वपद्यतः।
तथैवाथर्ववेदस्य सुमन्तुं ऋषिसत्तमम्॥
एक आसीत् यजुर्वेदस्तच्चतुर्धाव्यकल्पयत्।
चातुर्होत्रमभूत् यस्मिंस्तेन यज्ञमथाकरोत्॥
आध्वर्यवं यजुर्भिःस्यात् ऋग्भिर्होत्रं द्विजोत्तमाः।
उद्गात्रं सामभिश्चक्रे ब्रह्मत्वं चाप्यथर्वभिः॥

ततः सऋच उधृत्य ऋग्वेदं कृतवान् प्रभुः।
यजुर्भिश्च यजुर्वेदं सामवेदं च सामभिः।।
एकविंशति भेदेन ऋग्वेदं कृतवान् पुरा।
शाखायास्तु शतेनाथ यजुर्वेदमथा करोत्।।

इस प्रकार कूर्मपुराण भी मत्स्यपुराणका समर्थन करता है।

यजुर्वेदके दो संस्करण या दो प्रकारके पाठ हैं। एकका नाम शुक्ल यजुर्वेद है, दूसरेका नाम कृष्ण यजुर्वेद। शुक्ल यजुर्वेदमें १५ शाखाएँ हैं। काण्व, माध्यंदिन, जाबाल, बुधेय, शाकेय, तापनीय, कापीस, पौंड्रवहा, आवर्त्तिक, परमावर्त्तिक, पाराशरीय, वैनेय, बौधेय, औधेय और गालव। इन समस्त शाखाओंको एकत्र वाजसनेय शाखा भी कहते हैं। चरण-व्यूहमें लिखा है, "द्वेसहस्रे शतन्यूनं मंत्रा वाजसनेयके। तावत्त्वन्येन संख्यातं बालखिल्यं सशुक्रियम्। ब्राह्मणस्य समाख्यातं प्रोक्तमानाच्चतुर्गुणम्।"

वाजसनेय अर्थात् शुक्ल यजुर्वेद संहितामें १९९० मंत्र हैं। बालखिल्य शाखाका भी यही परिमाण है। इन दोनोंसे चार गुणा अधिक इनके ब्राह्मणोंका परिमाण है। कृष्ण यजुर्वेदका दूसरा नाम तैत्तिरीय संहिता है – काठक, कपिष्ठल-कठ, मैत्रायणी और तैत्तिरीय ये चार शाखाएँ मिलकर कृष्ण यजुर्वेद कहा जाता है। दोनोंमें कहीं कहीं पाठ और अधिकांश उच्चारणके भेद हैं। वेदके मंत्रोंमें उच्चारणकी ही प्रधानता होनेसे गुरुमुखसे श्रवण करना अनिवार्य था। अत्यन्त दीर्घ-कालकी परम्परामें उच्चारणोंका प्रभेद पड़ जाना कोई आश्चर्यकी बात नहीं थी और विषयके क्रमका भिन्न भिन्न परम्पराओंमें विपर्य्यय हो जाना भी स्वाभाविक ही था। ऋचाएँ वहीं हैं, गद्य और पद्य दोनों अंश दोनों वेदोंमें वही हैं, परन्तु विषय-क्रम और उच्चारण शाखाओंके प्रभेदके अनुसार भिन्न हो गए हैं। इस परम्परा-भेदके साथ साथ देश-भेदका होना भी अनिवार्य ही था। भारतवर्षकी विस्तीर्ण भूमिमें देश-विदेशकी प्रधानता हो गई। बङ्गाल सामवेदी, मध्यदेश यजुर्वेदी और महाराष्ट्र आदि दक्षिण देश ऋग्वेदी हैं। अर्थात् इन देशोंमें इन वेदोंकी प्रधानता है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि और वेदोंकी परम्परावाले लोग इन देशोंमें नहीं रहते। प्रत्येक देशमें शाखा और परम्पराके अनुसार एक एक वेद बँटा हुआ है। जैसे उत्तरीय भागमें यजुर्वेदकी श्यायायन शाखा, मध्यदेशमें आरुणी शाखा और पूर्व देशमें आलम्बी शाखा

प्रधान मानी जाती है। परन्तु यह सब बातें प्रायः शास्त्रीय हैं, सार्वजनीन नहीं।

यजुर्वेदकी माध्यंदिन शाखा अथवा वाजसनेय संहिताके ही क्रमसे यहाँ शुक्ल-यजुर्वेदका विषयसार दिया जा रहा है। इसमें चालीस अध्याय हैं। उन्तालीस अध्यायोंतक तो यज्ञोंका ही वर्णन है। चालसवें अध्यायमें सारी संहिताका उपसंहार है। इस प्रकरणके अन्तमें चालीसवाँ अध्याय उद्धृत हैं जो लोकमें ईशावास्योपनिषद्के नामसे प्रसिद्ध है।

पहले अध्यायमें वर्ण्य विषय ये हैं —

दर्श और पौर्णमासेष्टिका विधान, वत्सोंका लगाना, दूध दूहना, दूधकी शुद्धि, त्यागव्रत, चावलोंका पिण्ड अग्निको, अग्निष्टोमको, हविष्यान्न, यज्ञके जलका आनयन तथा पवित्रीकरण, कृष्ण मृगकी छालाका प्रस्तरण, अन्न कूटकर पाक करना, पाषाणका मृग-छालपर रखना, हविष्यान्न-विभाग, असुर विघ्नोंका निवारण, वेदीके तीनों ओर रेखाएँ खींचना, प्रेतों-पिशाचोंका निवारण, यजमान-पत्नीका ग्रन्थिबन्धन।

दूसरे अध्यायमें ये विषय वर्णित हैं —

समिधा, वेदी और कुशोंका मार्जन, कुशोंपर प्रस्तर संनिधान, समिधाका वेदीपर रखकर अग्निका आरम्भ, असुरोंका निवारण, प्रस्तर और स्रुवोंका रखना, अग्निको होता नियुक्त करना, यज्ञरक्षार्थ प्रार्थना, समिधाका अभिषेक और अग्निनिक्षेप, यजमान-पत्नीकी ग्रन्थि खोलना, वेदीपर जल-सेचन, राक्षसोंका भाग, विष्णु त्रिविक्रम, व्रत-समाप्ति, पिण्ड, पितृयज्ञ, प्रेत-निवारणार्थ रेखा खींचना, पितरोंके लिये सूत्र, ऊर्ण या केशका वस्त्रादि प्रदान, यजमान-पत्नीका पुत्रार्थ मंत्रोच्चारण, हविष्यान्नपर जलधारा।

तीसरे अध्यायमें विषयसार ये है —

अग्न्याधान, आहवनीय, दक्षिणाग्नि, अग्निहोत्र। प्रातः तथा सायंका गोदोहन, गार्हपत्य, अग्निपूजन, गोगुण-ज्ञान, सावित्री, गार्हपत्य तथा आहवनीय अग्नियोंका पूजन, अग्निका पूजन, पाक्षिक यज्ञ, यजमान तथा उसकी दीक्षा, पत्नीकी दीक्षा, शाकमेध दान, रुद्र-त्र्यम्बकका आहुति-सहित पूजन, यजमानका यज्ञार्थ मुण्डन।

चौथे अध्यायके विषय ये हैं —

सोमयाग, अप्सुदीक्षा, औदग्रभण, कटिबन्धन, कृष्ण मृगशिर-बन्धन, वृतान्नपाक हिरण्यवत्याहुति, गोक्रय, सोमस्तुति, सोमक्रय, सोमप्रवेश।

पाँचवें अध्यायके विषय हैं —

सोमातिथ्य, तनूनपातत्यग्निक आह्वान, सोमाप्यायन, सोमवेदीकी तैयारी और कुण्डके चतुष्कोणका अभिषेचन, हविर्धानका निर्माण, होत्र्याधानका निर्माण, धिष्ण्यादिका निर्माण, उपरबकरण, होत्र्याधानमें उदुम्बस्तम्भ स्थापन, होत्र्याधानका आवरण, धिष्णियोंका संस्कार, अग्नीध्रपर अग्र्याधान, सोमकुण्ड, सोम पात्रादिका रखना, कृष्णसार चर्मपर सोमकी स्थापना, पशु-यज्ञ, पूर्वनिर्माण।

छठे अध्यायके विषय ये हैं —

यूप खड़े करना, बलिपशुका बन्धनं तथा बलि, विभक्तांशका पुनः संयोग। पुनरुज्जीवित पशुका स्वर्गगमन, सोमयाग, सोम-निष्पत्तिमें वसतीवरी जलका प्रयोग, सोमका पेषणार्थ आनयन, प्रातःपेषण, उपांशु निग्राभ्याजल, सोम-निष्कर्षण।

सातवें अध्यायके विषय ये हैं —

ग्रह, ग्रहण, उपांशुग्रह, अन्तर्याम ग्रह, ऐन्द्रवायव ग्रह, मैत्रावरुण ग्रह, अश्रितम ग्रह, शुद्धग्रह, मन्थन ग्रह, आग्रहायण ग्रह, उक्थ्य ग्रह, विप्रद् होम, अवकाश मन्त्र, ऋतु ग्रह, ऐन्द्राग्नि, ग्रहवैश्वदेव ग्रह, माध्याह्न निष्कर्ष, मरुतीय ग्रह, माहेन्द्र ग्रह, दाक्षिण होम।

आठवें अध्यायके विषय ये हैं —

सायं ग्रहण, आदित्यग्रह, सावित्री ग्रह, महा वैश्वदेव ग्रह, पात्नीवत ग्रह, सोमाय, पात्नीवत ग्रह अग्नये, हारियोजन ग्रह इन्द्राय, समिष्ट, यजुः, अवभृथ, वसाकी आहुति, गर्भ वत्सकी आहुति, अतिरिक्त सोमयाग, षोडशी, द्वादशी, अतिग्राह्यास, गवामयन, गर्ग-त्रिरात्रा, महाब्रत्या ग्रह, अदाध्या ग्रह, रात्रोत्थाना, शोधन और प्रायश्चित्तके मन्त्र।

नवें अध्यायके विषय ये हैं —

वाजपेय, सोमग्रह, सुराग्रह, घोड़ोंका मार्जन और जोतना, दुन्दुभिवाद, मासिक और ऋत्विक तर्पण, यजमानका राज्याभिषेक, वाज़प्रसवनीय, राजसूय, प्रारम्भिक-तर्पण, अपामार्ग या प्रेतनिवारण तर्पण, अष्ट देवासुरोंका तर्पण, राजाभिवादन।

दसवें अध्यायके विषय ये हैं —

अभिषेक-जलसंङ्ग्रह, व्याघ्रचर्म प्रसारण, संस्कार वस्त्राभिधान, तीनों

वाणोंका प्रदान, राजागमन, यजु, अभिषेचन, गौग्रहण, रथविमोचनीय, दशपेय, संस्रिय, सौत्रामणि।

ग्यारहवें अध्यायके विषय ये हैं –

अग्निचयन, मृत्तिका-ग्रहण, खनन, कमल-पत्र, ऊर्ध्य सन्धान, आवहनीयपर ऊर्ध्य अग्नि, पुरिष्य-स्तवन।

बारहवें अध्यायमें विषय ये हैं –

ऊर्ध्यग्न्याधान, विष्णु त्रिविक्रम, वातसत्र, वह्निवाहनं, गार्ह्यपत्यनिर्माण, भूशोधन, इष्टिकानयन, ऊर्ध्यग्नि-मोचन, निर्ऋति वेदी, सीताकरण, जलसेचन, अग्निस्तवन।

तेरहवें, चौदहवें और पन्द्रहवें अध्याय के विषय ये हैं –

कमलपत्र, हिरण्यखण्ड, हिरण्यपुरुष, इष्टिका, दूर्वा, द्वियुजः, रेतसेचन तथा ऋतव्या इष्टिकाएँ, आषाढा इष्टका, कूर्म, मुसल-ऊखल, ऊर्ध्य, बलिशिरस्, हिरण्य-समिधा, अपूर्ण कुण्ड यजन, अयस्या छन्दस्या और प्राणभृत इष्टकाएँ, द्वितीय स्तर, अश्विनी ऋतव्या, वैश्वदेवी प्राणभृता और वयस्या इष्टकाएँ, तीसरा स्तर, दिश्या, विश्वज्योति, ऋतव्या, नभस, नभस्या, ईष ऊर्ज, प्राणभृता छन्दस्या और बालखिल्या इष्टकाएँ, चौथा स्तर, स्तोमस्पृत ऋतव्या और सृष्टि इष्टकाएँ, पाँचवाँ स्तर, असपत्ना, विराजः, स्तोमयाज्ञा, पञ्चचूडा, छन्दस्या, गार्हपत्यग्नि, पुनिश्चिति, ऋतव्या, विश्वज्योतिः, लोकप्रीणाः विकर्णी, हिरण्य विकर्णी।

सोलहवें अध्यायमें आदिसे अन्ततक शत-रुद्रीय है।

सतरहवें अध्यायके विषय ये हैं –

वेदीपर अधिकार, अवका, वेदिका आरोहण, अग्निका आवाहन, मधुपर्क, अग्नि स्तवन, इन्द्रस्तवन, श्वेत वत्सवाली श्यामा गौके दुग्धसे तर्पण, त्रिकाष्ठ, मरुतको सप्तहविष्यान्न, घृत-प्रशंसा।

अठारहवें अध्यायके विषय ये हैं –

अग्नि राजा, वसोर्धारा, अर्धेन्द्र, जिग्राह, यज्ञक्रतुः, स्तोम, नाम-कल्प, वाज-प्रसवीय, राष्ट्रभृत, युद्धरथ, वायु, अर्काश्व, मेघ-सन्तति, अग्नियोजन, समिष्ट-यजुः, अग्न्याधान।

उन्नीसवें अध्यायके विषय ये हैं –

सौत्रामणि, अश्विनीकुमार, इन्द्र और सरस्वती को दूध, यजमानकी शुद्धि,

सुराका परिवर्तन, दक्षिणाग्निमें सुराका हवन, पितरोंका स्तवन, शतछिद्र सुराधर, यजमानका प्रसादपान, सोमपाः पितरोंके लिये यजु, बर्हिषद पितरोंके यजु, अग्निष्वात्ताः पितरोंके यजु, सब प्रकारके पितरोंका स्तवन, इन्द्र और अग्निका आवाहन, वसाकी ३२ आहुति, इन्द्रकी पुनरुत्पत्ति।

बीसवें अध्यायके विषय ये हैं –

आसन्दी, यजमानका स्वमार्जन, मञ्च, अवभृथ, अघमर्षण, आहवनीय अग्निपर समिधा, इन्द्रार्थ हविष्यान्न, तैंतीसवीं आहुति, अवशिष्ट हवनीयका आघ्राण, आपृसूक्त, यज्ञमें इन्द्रका आवाहन, अश्विनीकुमारों तथा सरस्वतीका स्तवन, अग्नि-स्तवन, इन्द्र और अश्विनियोंका निमन्त्रण।

इक्कीसवें अध्यायके विषय ये हैं –

वरुण-स्तवन, हविष्यान्न-प्रदान, अग्नि-स्तुति, अदिति-पूजा, मित्रावरुणका हवन, इंद्रसूक्त, त्रिविध देवताओंकी पूजाके लिये होताको आदेश, सौत्रामणिका उपसंहार।

बाईसवें अध्यायके विषय ये हैं –

अश्वमेध, यजमानको हिरण्याभूषित करना, अश्वका मार्जन, दस देवताओंको हविष्य, सावित्री-यज्ञ, अग्न्यावाहन, अश्वरक्षार्थ मन्त्र, प्रजापति आदि देवताओंकी स्तुति, राज्यके कल्याणके लिये राजाकी प्रार्थना, देवस्तुति।

तेईसवें-पच्चीसवें अध्यायतकके विषय ये हैं –

अश्वके लौट आनेपर रीतियाँ, बलि पशुओंकी सूचि, अश्वमेध यज्ञमें अश्वके भुने मांसको प्रजापति आदि समस्त देवताओंको आमन्त्रणपूर्वक आभक्ष, अश्वप्रशंसा, यज्ञका उपसंहार।[1]

छब्बीसवें-उन्तीसवें अध्यायतकके विषय ये हैं –

विविध यज्ञोंसे अधिक विधान और मन्त्र, सौत्रामणिके विशेष यज्ञ, आपृसूक्त, अश्वमेधके पूरक यज्ञ, सूर्य और अश्वको एक मानकर स्तुति, युद्धके साधनों और शस्त्रास्त्रोंकी प्रशंसा, २४वें अध्यायकी बलिपशु नामावलीका परिशिष्ट।

तीसवें और इकतीसवें अध्यायमें पहले पुरुषमेधका वर्णन है – फिर उसके लिये उपयुक्त उन स्त्रियों और पुरुषोंका वर्णन है जो विविध देवताओंके

१. विशेष विवरण परिशिष्ट में देखिए।

लि़ये बलि किए जा सकते थे। फिर पुरुषमेधके सम्बन्धमें ही पुरुषसूक्त दिया गया है और अन्तमें सबसे पहले पुरुषमेध करनेवाले का स्तवन है।[१]

बत्तीसवें और तैंतीसवें अध्यायमें सर्वमेध यज्ञके विधान और मन्त्र हैं। यजमानकी प्रशंसा, विद्या, बुद्धि, ऐश्वर्य और कल्याणकी प्रार्थना है। सर्वमेधके विशेष मन्त्र और यजु हैं। अग्नि, इन्द्र, सूर्य और विविध देवताओंकी स्तुतिके मन्त्र हैं।

चौंतीसवें अध्यायमें शिवसङ्कल्प उपनिषद् है, साधारण यज्ञके विविध विधान हैं। भग, पूषण और ब्रह्मणस्पतिकी स्तुति और प्रार्थना है।

पैंतीसवें अध्यायमें अन्त्येष्टि-संस्कार और प्रेतकर्मके समयमें होनेवाले पितृयज्ञके मन्त्र हैं, शुद्धि और कल्याण-प्रार्थनाके मन्त्र हैं।

छत्तीसवेंसे उन्तालीसवें अध्यायतकके विषय ये हैं —

प्रवर्ग्य सिद्धिके आरम्भिक, क्रियाके समयके मन्त्र, धूपकी क्रिया, महावीरकी यात्रा, रौहिण्य तर्पण, धेन्वावाहन, दोहन, महावीराभिषेक, महावीरके रूपमें अग्निस्तवन, प्रवर्ग्यकी रीतिमें दोषनिवारणके लिये प्रायश्चित्त-मन्त्र, विधि, देवताओंका महावीर-द्वारा प्रतिनिधित्व, सातों मरुतोंके नाम, विविध देवताओंकी पूजा और प्रवर्ग्यका उद्देश्य।

चालीसवें अध्यायमें ईशोपनिषद् है। इसमें कुल १८ मन्त्र हैं। इसे इस वेदका उपसंहार समझना चाहिए। उन्तालीस अध्यायोंमें जिस कर्मकाण्डका विस्तारसे वर्णन है, उसे केवल कर्त्तव्यनिष्ठासे असङ्ग हो करते रहनेसे मनुष्य

---

१. जैसे काशीमें लोग मुक्तिके लोभमें करवत लेते या अपनेको आरेसे चिरवाते थे या जगन्नाथपुरीमें आषाढ शुक्ला द्वितीयाको जगन्नाथजीके रथके पहिएके नीचे लेटकर प्राण दे डालते थे या गोवर्द्धनकी खोहमें नित्यलीला-प्रवेशके लोभमें भीतर जाकर रह जाते थे वैसे ही स्वर्गके लोभमें बहुतसे लोग स्वयंको यज्ञ-पशु बननेके लिये अर्पित कर देते थे। कभी कभी पुरुषमेधके लिये राजा लोग किसीको उस व्यक्तिकी इच्छाके विरुद्ध मोल भी ले लेते थे जैसे हरिश्चन्द्रने भृगुवंशी अजीगर्त ऋषिके मँझले पुत्र और विश्वामित्रके भतीजे शुनःशेपको अजीगर्तसे मोल ले लिया था किन्तु विश्वामित्रने उसे बचा लिया था और अपना पट्टशिष्य बना लिया था। शुनःशेप तबसे विश्वामित्र गोत्रीय बन गया।

सौ वर्षतक भी कर्ममें लगा हुआ, कर्मसे निर्लिप्त रहता है। इन कर्मोंके करते हुए भी उसे जिस प्रकारके अध्यात्मज्ञानकी आवश्यकता है, उसी अध्यात्मज्ञानको सूक्ष्मरूपसे दर्शाया है। अन्तमें परमसत्यकी प्राप्तिके लिये प्रार्थना है।

यजुर्वेदमें ऋग्वेदके दसों मण्डलोंके १००० सूत्र और अथर्ववेदके सातवें काण्डतक के और ९, १०, १२ और १९वें काण्डके अनेक मन्त्र इस वेदमें स्थल-स्थलपर आए हैं।

ईशोपनिषद्

शान्तिपाठ : ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमिवावशिष्यते॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः
ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मागृधः कस्य स्विद्धनम्॥१॥
कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म्म लिप्यते नरे॥२॥
असुर्य्यानाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनोजनाः॥३॥
अनेजदेकम्मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्व दधाति॥४॥
तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वदन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥५॥
यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥६॥
यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥७॥
स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥८॥
अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः॥९॥

अन्यदेवाहुर्विद्यया अन्यदाहुरविद्यया।
इति शुश्रुम धीराणां येनस्तद्विचचक्षिरे॥१०॥
विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते॥११॥
अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्यां रताः॥१२॥
अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात्।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे॥१३॥
सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते॥१४॥
हिरण्यमयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वम्पूषन्नपावृणु सत्य धर्माय दृष्टये॥१५॥
पूषन्नेकर्षे यम सूर्यं प्राजापत्यव्यूह रश्मीन् समूहः।
तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमन्तत्ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि॥१६॥
वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम्।
ओं क्रतो स्मर कृतं स्मर क्रतोस्मर कृतं स्मर॥१७॥
अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्, विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते नम उक्तिं विधेम॥१८॥
शान्तिपाठ : ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूणमिवावशिष्यते॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

(ईशावस्योपनिषद् सबसे पहला उपनिषद् माना जाता है। सभी उपनिषदोंमें सबसे पहले मन, बुद्धि और आत्मा की शान्तिके लिये शान्तिपाठ किया गया है।)

शान्तिपाठ : वह परमात्मा भी पूरा है और यह संसार भी पूरा है क्योंकि यह पूरा संसार उसी पूरे परमात्मासे ही तो उत्पन्न हुआ है। पूरेसे पूरा निकाल लेनेपर भी वह पूरा ही बच रहता है। जैसे एक जलते हुए दीपककी लौ भी ज्योंकी त्यों रहती है वैसे ही परमात्मासे यह पूरा संसार उत्पन्न होनेपर भी वह परमात्मा पूरा ही बना रहता है।

इस सारे संसारमें जो कुछ भी चहल-पहल दिखाई पड़ रही है उस सबमें ईश्वर ही तो रमा हुआ है (सब ईश्वर ही ईश्वर है), यह समझते हुए जो कुछ भी धन दिखाई पड़ रहा है, उसपर ललचाओ मत। उसे अपना न मानते हुए उसे भोगते चलो क्योंकि (जब सबमें ईश्वर ही रमा हुआ है तब) यह भला किसका हो सकता है ? (किसीका भी नहीं, तुम्हारा भी नहीं। यदि यह धन किसीका हुआ रहा करता तो सदा उसीके पास रहता और उसके मरनेपर उसीके साथ चला जाया करता पर यह तो यहींका यहीं पड़ा रह जाता है।) ॥ १ ॥

इस संसारमें आकर तुम्हें कर्म (यज्ञ, ईश्वरकी पूजा और ईश्वरके बनाए हुए प्राणियोंकी सेवा, सहायता) करते हुए ही सौ वर्षतक जीनेकी इच्छा करनी चाहिए। ऐसे कर्म करते रहोगे तो तुम कर्मोंकी लपेटसे बचे रहोगे। कर्मोंसे बचनेकी यही एकमात्र राह है, दूसरी कोई नहीं ॥ २ ॥

जो लोग अपने आत्माको मार डालते हैं (कर्मोंकी लपेटसे न बचकर भोग भोगनेमें और लूट-खसोट, मार-काट, छल-कपट, खाने-पीने और जूए, नशे या खोटे कामोंमें लगे रहकर अपने आत्माको दबाए रखते हैं) वे ऐसे अँधेरे (दुःखही दुःखसे भरे) लोकों (या योनियों)-में जा पड़ते हैं और मारे-मारे भटकते फिरते हैं जहाँसे उन्हें कभी छुटकारा नहीं मिल पाता और जहाँ बुरे ही बुरे लोग रहा करते हैं ॥ ३ ॥

वह परमात्मा सबमें रमा हुआ है इसलिये वह चलता-फिरता तो नहीं पर उसकी चाल मनकी चालसे भी कहीं बहुत बढ़कर है (जहाँ मनकी भी पहुँच नहीं हो पाती वहाँ परमात्मा पहुँचा रहता है क्योंकि वह तो सबमें रमा हुआ है)। जब कुछ भी नहीं था तब भी वही एक था और वही एक ऐसा है जो सबको और सब कुछ जानता है पर उसे देवता भी आजतक न जान पा सके, न उसतक पहुँच पा सके।

यों तो वे जहाँके तहाँ बैठे हैं पर बड़ेसे बड़े सरपट दौड़नेवालोंको भी पछाड़कर उनसे आगे जा पहुँचे रहते हैं क्योंकि वे तो सब कहीं रमे हुए हैं। यह जो पवन (बादलोंको घेरकर) पानी लाकर बरसाता है यह उसीके बलपर तो बरसाता है (नहीं तो उसमें क्या रक्खा है ?) ॥ ४ ॥

(ये जो प्राणी चलते-फिरते-भागते-दौड़ते दिखाई देते हैं सब) वे परमात्मा ही तो चल रहे हैं और सब पेड़, पहाड़ जो नहीं चलते, वे न चलनेवाले भी सब परमात्मा ही तो हैं। वे दूरसे भी दूर हैं (क्योंकि किसीको मिल नहीं पाते) और

पाससे भी पास हैं क्योंकि सबमें रमे बैठे हैं। यह समझो कि वे इस सारे संसारके भीतर भी समाए हुए हैं और बाहर भी। इस सारे संसारके अन्दर-बाहर अगर कोई है तो वे परमात्मा ही परमात्मा हैं॥५॥

जो मनुष्य यह समझने लगता है कि जितने भी जीव जी रहे हैं सब परमात्मामें ही बसे हुए हैं और सबमें परमात्मा बसा हुआ है, वह किसीको बुरा या खोटा या ओछा समझता ही नहीं (जो मनुष्य परमात्मामें इतना रम जाता है कि वह सब प्राणियोंको अपनेमें और अपनेको सब प्राणियोंमें रमा हुआ देखने-समझने लगता है उसके लिये कोई भी ऐसा बुरा नहीं रह जाता कि वह उससे नाक-भौं सिकोड़े)॥६॥

परमात्माको ठीक-ठीक समझ लेनेवाला जो मनुष्य संसारके सारे प्राणियोंमें परमात्मा ही परमात्मा देखने लगता है उसके लिये फिर किसे तो अपने पास रखनेकी ललक रह जाती है और किसके बिछुड़नेका दुःख हो पाता है क्योंकि परमात्मा तो सदा उसके साथ रहता ही है। उसके लिये कोई अपना-पराया नहीं रह जाता॥७॥

जो मनुष्य यह समझ लेता है कि सब जीव उस परमात्मामें बसे हुए हैं और वह परमात्मा सब जीवोंमें बसा हुआ है वह उसी परमात्माके पास जा पहुँचता है जो बहुत घनी चमकसे दमता रहता है, पर न तो जिसके हमारे-जैसी कोई देह है, न जिसमें कोई भी कमी है जो उजला ही उजला है और जिसे कोई पाप (बुरा काम) छू-तक नहीं पा सकता। सब कुछ देखते रहनेवाले, सब कुछ जानते रहनेवाले, सबको अपनी मुट्ठीमें किए रखनेवाले और जब चाहे तब झट सामने आ खड़े होनेवाले परमात्मा सदासे सब प्राणियोंको उनकी करनी (कर्म) देखकर उनके लिये सब कुछ रचते चले आ रहे हैं॥८॥

यह समझ रक्खो कि जो लोग वेद पढ़ने, यज्ञ, दान करनेकी बातोंके फेरमें पड़े रहते हैं, वे सब तो घने अँधेरे और दुःखोंसे भरे हुए लोकों और योनियोंमें पड़े सड़ा ही करते हैं पर जो लोग सब कुछ छोड़-छाड़कर (दूसरे प्राणियोंकी सेवा और सहायता न करके) परमात्मा को जाननेकी विद्याके फेरमें पड़े रहते हैं वे तो और भी घने अँधेरे और दुखोंसे भरे लोकों और योनियोंमें पड़े भटकते और सड़ते रहते हैं (क्योंकि ऊपर मन्त्र-मन्त्रमें स्पष्ट बता दिया गया है कि जिसके लिये जो काम बताए गए हैं, वे काम करके भगवान्की पूजा करके, सब प्राणियोंकी सेवा और सहायता आदि करके सौ

बरसोंतक जीनेकी इच्छा करनी चाहिए, कर्म छोड़कर नहीं) ॥९॥

बड़ी सच्ची लगनसे परमात्माको जाने लेनेवाले जिन बहुत समझदार लोगोंने बड़े अच्छे ढंगसे विद्या (परमात्माको पानेकी जानकारी) और अविद्या (कर्म या यज्ञ आदिसे देवता और सब जीवोंकी सेवा-पूजा करने) के भेदको ठीक ठीक जान लेता है वह कर्म (यज्ञ, पूजा और प्राणियोंकी सेवा) करके मृत्युको पार कर जाता है, अमर हो जाता है और परमात्माको ठीक-ठीक समझ लेनेपर उस आनन्द ही आनन्दसे भरे परमात्माको पा लेता है जो कभी मिटता ही नहीं ॥११॥

यह समझो कि जो मनुष्य सदा न रह सकनेवालों, मिट जानेवालों (देवता-पितरों)-की ही पूजामें लगे रहते हैं वे तो बड़े घने दुःख ही दुःखसे भरे अँधेरेमें पड़े सड़ा ही करते हैं पर जो मनुष्य सब कर्म छोड़कर कभी न मिट पा सकनेवाले परमात्माकी खोजमें ही पड़े रहते हैं वे तो उससे भी घने दुःख ही दुःखसे भरे अँधेरेमें भटकते रह जाते हैं (क्योंकि जो कर्म नहीं करता, देवताओंकी पूजा और भगवान्‌के बनाए जीवोंकी सेवा नहीं करता वह भला भगवान्‌को कैसे पा सकता है ? उसका किया-कराया सब बेकार हुआ रहता है, वह कभी परमात्माको नहीं पा सकता) ॥१२॥

उस सदा बने रहनेवाले परमात्मामें लौ लगाए रखनेवालोंको कुछ दूसरा ही फल मिलनेकी बात कही गई है (उन्हें परमात्मा मिल ही जाते हैं) और जो सदा न रहनेवाले (देवता आदि) की पूजाके फेरमें पड़े रहते हैं उन्हें कुछ दूसरा ही फल मिलनेकी बात कही गई है (उन्हें परमात्मा नहीं मिलता और उन्हें जन्मते-मरते रहना पड़ता है)। यह बात हमने भगवान्‌में सच्ची लगनसे लौ लगाए हुए उन विद्वानोंसे सुनी है, जिन्होंने यह बात हमें बहुत खोलकर समझाई थी ॥१३॥

(इसलिये) जो मनुष्य उस सदा बने रहनेवाले परमात्मा और सदा न बने रह सकनेवाले देवता आदि दोनोंको एक साथ ठीक ठीक जान जाता है वह देवता आदिकी पूजा और यज्ञ करके तो मृत्युको पार कर जाता है, अमर हो जाता है और सदा बने रहनेवाले परमात्मामें सच्ची लगनसे लौ लगाए रखकर (उसका ध्यान करके) परमात्माको पा लेता है, उसीमें जा मिलता है ॥१४॥

सबको पालने-पोसनेवाले परमात्मा ! आपके सच्चे रूपको जो चमचमाता, चकौचौंध कर देनेवाला ढकना (लुभावना संसार) ढके बैठा है वह ढकना मेरे लिए हटा लीजिए जिससे मैं आपकी ठीक ठीक झाँकी पा सकूँ

क्योंकि मैं तो आपमें ही सच्ची लौ लगाए बैठा हूँ। (संसारकी चकाचौंध कर देनेवाली और अपनी ओर खींचती रहनेवाली मायाको हटा लीजिए जिससे मैं आपको ठीक ठीक जान-पहचान सकूँ ॥१५॥

भगवन्! आप तो सबको पालते-पोसते हैं, आप ही ऐसे हैं जो सब कुछ जानते हैं, आप ही सबको अपनी मुट्ठीमें किए हुए हैं, आप ही ऐसे हैं जिन्हें समझदार और सच्ची लगनवाले लोग पा लेनेके लिये उतावले रहते हैं, आपको ही प्रजापति भी प्यार करते हैं। बस आप चकाचौध करनेवाली (संसारकी मायामें फँसाए रखनेवाली) इन चमचमाती किरणोंको समेट लीजिए। बस अब मैं आपका वह चमचमाता अनोखा रूप देख पा रहा हूँ जो सबका भला ही भला किया करता है और जिसे देखकर मैं यह समझने लगा हूँ कि जो चमचमाता, अनोखे रूपवाला वह परमात्मा है वही मैं भी हूँ। (आप अपनी माया हटा लीजिए, तब मुझमें और आपमें कोई भेद नहीं रह जायगा। जो तू है वही मैं हूँ) ॥१६॥

ऐसा हो जानेपर (परमात्माका रूप पा लेनेपर) अब ये प्राण और सब इन्द्रियाँ तो वायु आदि (वायु, अग्नि, आकाश, जल, पृथ्वी)-में जा मिलें, यह शरीर भी जलकर राख हो जाय और बस, हे ॐ (परब्रह्म परमात्मा!), हे यज्ञके रूपवाले भगवन्! बस आप मुझे अपने मनमें बैठाए रक्खें और जो कुछ मैंने किया है उसे भी मनमें ही रक्खे रहें (क्योंकि आपको पा लेनेपर इस शरीरका रहना न रहना बराबर है, यह मिटे तो मिटा करे। 'ज्ञानाग्निदग्धदेहस्य पुनर्दाहो न विद्यते' ज्ञानको, अर्थात् परमात्माको ठीक ठीक जान लेने और यह समझनेपर कि यह सब संसारका पसारा झूठा है सारे कर्म जल जाते हैं, फिर उसका दाह नहीं होता, उसे जलाया जाय या न जलाया जाय, उससे कुछ नहीं होता, सब फन्दोंसे छुटकारा पा लेता है) ॥१७॥

इसलिये हे ज्ञानकी अग्नि (परमात्माको ठीक ठीक दिखा सकनेवाली चमक)! तुम हमें सबसे बड़े धनके भाण्डार (परमात्मा)-तक पहुँचानेके लिये ठीक-ठीक राहसे लिवाते ले चलो क्योंकि हे देव! आप तो हमारे किए हुए सब अच्छे-बुरे काम जानते हो इसलिये परमात्मासे मिलनेकी राहमें बाधा डालनेवाले जो भी बुरे काम (पाप) हमने किए हों उन सबको दया करके दूर हटा फेंको। मैं बार बार आपको हाथ जोड़ता हूँ, आपके आगे शीश नवाता हूँ ॥१८॥

शान्ति-पाठका अर्थ पहले ही दिया जा चुका है।

यजुर्वेदीय ऋषियोंका संक्षिप्त परिचय

१. **अंगिरस (४.१०)**[१] — ऋ० (१.४५, १३९.९; ३.३१७ आदि)-में ऋषि अंगिरस्का सर्वप्रथम उल्लेख मिलता है, जहाँ उन्हें अंगिरस् गोत्रका प्रवर्त्तक माना गया है — अंगिरस्वन महिव्रत प्रस्कण्वस्य श्रुधी हवम्। (ऋ० १.४५.३) अथर्ववेदमें भी अंगिरस्का उल्लेख हुआ है, 'अंगिरसामयनं पूर्वो...... (अथर्व० १८.४.८)। यजुर्वेदके अन्तर्गत आपके ऋषित्वका प्रतिपादन सर्वानुक्रमसूत्रकारने इस प्रकार किया है — ऊर्गस्यङ्गिरोभिर्दृष्टं मैखलम् (सर्वा० १.१७)। आचार्य महीधरने इसी प्रकरणको इस प्रकार उल्लिखित किया है — अंगिरोभिर्दृष्टं यजुः। (यजु० ४.१० मही०भा०)।

२. **अगस्त्य (३.४६-४७)** — सभी वेदोंमें अगस्त्यको ऋषि माना गया है। इनका वर्णन मान्य अथवा मानके पुत्रके रूपमें किया गया है — मानस्य सूनुः (ऋ० १.१८९.८) ऋग्वेदमें अगस्त्य और लोपमुद्राका शास्त्रार्थ विवेचित है, जिसमें लोपामुद्राके समक्ष उनके प्रलोभनकी बात कही गई है। उन्हें अश्विनोंका सहायक भी कहा जाता है। विश्पलाके पैरकी चिकित्सामें अश्विनोंकी सहायता इन्होंने ही की थी — याभिर्विश्पलां धनसामथर्व्यं सहस्रमीळ्ह आजावजिन्वतम्। (ऋ० १.११२.१०)।

३. **अग्नि (२७.१-७)** — 'अग्नि' का नाम वेदोंमें अनेक सूक्त और मंत्रोंके दृष्टा ऋषिके रूपमें भी पाया जाता है और अनेक स्थानोंमें विशेषणके रूपमें भी। ऋग्वेदमें 'अग्नि' देवता और मंत्रदृष्टा दोनों हैं — 'इमं नो अग्ने' इति नवर्चं द्वादशं सूक्तं। द्वितीयाद्याभिस्तिसृभिर-ग्निऋषिर्भूत्वा स्वात्मानं देवता रूपिणमस्तौत्। (ऋ० १०.१२४ सा०भा०)। यजु० २७-१-७ मंत्रोंमें अग्नि ऋषि हैं तथा इनके देवता भी अग्नि ही हैं — नव ऋचोऽग्निदेवत्यास्त्रिष्टुभोऽग्निना दृष्टा (मही०भा०)। यजुर्वेदके अनेक मंत्रोंमें अग्निके पर्यायवाची शब्दों तनूनपात्, विश्ववेदा, नराशंस, जातवेदा, इत्यादि-द्वारा अग्निसे प्रार्थना की गई है।

४. **अघशंस (१.२८)** — वैदिक साहित्य में 'अघशंस'-के विषयमें अत्यल्प ही प्रकाश पड़ पाया है। यही कारण है कि इनके सन्दर्भमें बहुत

१. (शुक्ल) यजुर्वेदके अध्याय एवं मंत्र (कण्डिका)-की संख्या

ढूँढ़-खोज करनेपर भी बहुत मामूली-सी जानकारी ही प्राप्त हो पाई है। चारों वेदोंमें आपके ऋषित्व का मात्र एक मंत्र ही प्राप्त है, यजुर्वेदके प्रथम अध्यायका २८वाँ मंत्र। इस मंत्रके ऋषि-निर्धारण-प्रकरणमें सर्वानुक्रम-सूत्रमें कहा गया है – पुराऽघशठ्ठं सोऽपश्यच्चान्द्रमसीं त्रिष्टु भम्। (सर्वा० १.५)

५. अजमीढ (२७.३०) —— द्रष्टव्य पुरुमीढ-अजमीढ क्र० - ८२।

६. अत्रि (८.१५) —— अत्रिगोत्र प्रवर्त्तक ऋषि थे। सप्तऋषिगणमें इनका नाम आता है। अनेक सन्दर्भोंमें इनका उल्लेख हुआ है – नवमं सूक्तं भौमस्यात्रेरार्षं (ऋ० ५.४१ सा०भा०)। अथ पंचानां भौमोऽत्रिर्ऋषिः। (ऋ० ९.८६ सा०भा०)। यजुर्वेदमें आपके ऋषित्व का मात्र एक मंत्र है, जिसका उल्लेख सर्वानुक्रम सूत्रमें इस प्रकार हुआ है – समिन्द्राऽत्रिर्वैश्वदेवीं त्रिष्टुभम्......(सर्वा० १.३१)। यजुर्वेदके भाष्यमें यही तथ्य इस प्रकार उल्लिखित है – तत्राद्यः विश्वदेव देवता त्रिष्टुप् अत्रि दृष्टा (यजु० ८.१५ मही०भा०)। आपके द्वारा दृष्ट एक मंत्र अथर्ववेदमें भी है, २०वें काण्डके १२वें अध्यायका ७वाँ मंत्र।

७. अत्रिदुहिता विश्ववारा (३३.१२) —— वैदिक साहित्यमें जहाँ ऋषियोंका गौरवपूर्ण स्थान रहा है, वहीं ऋषिकाओंका भी कम गरिमामण्डित स्थान नहीं रहा, प्रत्युत बढ़ा-चढ़ा ही रहा है। उसीका एक ज्वलन्त उदाहरण 'अत्रिदुहिता विश्ववारा' है। ऋग्वेद एवं यजुर्वेदके कई मंत्रोंकी द्रष्टा ऋषिका होनेकी उन्हें प्रतिष्ठा प्राप्त है। अत्रि-पुत्री होनेसे कहीं इन्हें 'अत्रिदुहिता विश्ववारा' कहा गया और कहीं 'विश्ववारा आत्रेयी'। यजुर्वेदमें इनके ऋषित्वका विवरण सर्वानुक्रममें इस प्रकार होता है – अग्ने शर्द्धाऽत्रिदुहिता विश्ववारा (सर्वा० ३.१७)। यजुर्वेदके इसी मंत्र (३३.१२)-का भाष्य करते हुए आचार्य महीधर लिखते हैं – त्रिष्टुप् विश्ववारा दृष्टा द्वितीयमरुत्वतीयपुरोरुक्। (मही०भा०)

८. अप्रतिरथ (१७.३३-५८) —— अप्रतिरथ ऋषि द्वारा दृष्ट मंत्र इन्द्रके पराक्रमको सूचित करते हैं। अप्रतिरथ ऋषिने अपने नामके अनुसार – जिसके रथका प्रतिरोध न हो, इसी आशयको अपने मंत्रोंमें अभिव्यक्त किया है। यजुर्वेदमें इनका स्वतंत्र ऋषित्व है – अप्रतिरथदृष्टा इन्द्रदेवत्या

द्वादश त्रिष्टुभः (महीभा० १७.३३); परन्तु ऋग्वेदमें इनका संयुक्त ऋषित्व प्रदर्शित किया गया है तथा इनके पिताके रूपमें इन्द्रका उल्लेख प्राप्त होता है—चतुर्थं सूक्तमिन्द्रपुत्रस्याप्रतिरथनाम्न आर्षम्...... (ऋ० १०.१०३ सा०भा०)।

९. अभितपन सूर्य (४.३५)— वैदिक संहिताओंमें मंत्रद्रष्टा ऋषियोंके अन्तर्गत आपका स्वल्प नामोल्लेख पाया जाता है। ऋग्वेदके १०.३७वें सूक्तके मंत्रद्रष्टा ऋषिके रूपमें 'अभितपाः सौर्य'-का नामोल्लेख प्राप्त होता है, जो सम्भवतः आपका पर्याय है। यजुर्वेदके चतुर्थ अध्यायके अन्तर्गत पैतीसवें मन्त्रका ऋषित्व आपका ही है—नमो मित्रस्याभिपतनः सूर्यः सौरीं जगतीम्......... (सर्वा० १.१८)। यही तथ्य भाष्यमें इस प्रकार उल्लिखित हुआ है — सौरी जगती सूर्य दृष्टा (यजु० ४.३५ मही०भा०)।

१०. अवत्सार काश्यप (३.१६-१९) — ऋग्वेद (५.५४.१०)-में अवत्सारको एक ऋषि कहा गया है। ऐ०ब्रा० (२.२४)-में उन्हें एक पुरोहित कहा गया है। कौषी० ब्रा० (१३.३)-में उन्हें प्रस्रवण पुत्र प्रास्रवण (या प्राश्रवण) कहा गया है। इन्हें कश्यपगोत्रीय भी कहा गया है — अवत्सारो नाम ऋषिः स च कश्यपगोत्रः ....तं प्रत्नथा पञ्चोना काश्यपोऽवत्सारोऽन्ये च ऋषयोऽत्र............. (ऋ० ५.४४ सा०भा०)। यजुर्वेदके तीसरे अध्यायके १६वेंसे १९वें मंत्रतकका ऋषित्व उन्हें प्राप्त है — गायत्र्यवत्सार दृष्टा गोऽग्निपयोदेवत्या (यजु० ३.१६ मही०भा०)।

११. अश्व-सामुद्रि (२९.१-११ — वैदिक साहित्यमें आपकी चर्चा 'न'-के बराबर है। आपका ऋषित्व मात्र यजुर्वेदके २९वें अध्यायमें पाया जाता है, वह भी वैकल्पिक रूपमें। यजुर्वेद २९वें अध्यायके १-से ११-तकके मंत्र बृहदुक्थ वामदेव्य-द्वारा दृष्ट हैं, उन्हींके विकल्पमें आपका नाम उल्लिखित हुआ है — समिद्धोऽजनाश्वमेधिकोऽध्यायः............. बृहदुक्थो वामदेव्यो ददर्शाश्वो वा सामुद्रिः (सर्वा० ३.११)। यही तथ्य यजुर्वेद भाष्यमें इस प्रकार प्रतिपादित हुआ है — ....आद्या. एकादश त्रिष्टुभः आप्रीसंज्ञाः अश्वस्तुतयो वामदेव पुत्रेण बृहदुक्थेन समुद्र पुत्रेणाश्वेन वा दृष्टा...... (यजु० २९.१ मही०भा०)

१२. अश्विनौ (२०.३) — यजुर्वेद तथा सामवेदमें 'अश्विनौ' को ऋषि भी माना गया है। वैसे इनकी प्रसिद्धि देव वैद्य (देवता)-के रूपमें अधिक है। अश्विनौभैंषज्येन (यजुर्वेद २०.३); यजुर्वेदमें अश्विनौ - अश्विनीकुमारोंका संयुक्त ऋषित्व उल्लिखित है – अथ सौत्रामणी प्रजापतेरार्षमश्विनोः सरस्वत्याश्च .... (सर्वा० ३.२१)। आचार्य महीधरने भी लिखा है – सौत्रामणी मन्त्राणां प्रजापत्यश्विसरस्वत्य ऋषयः (यजु० १९.१ महीoभाo)।

१३. असित (३३.६२) — असित का स्वतंत्र ऋषित्व वैदिक संहिताओंमें कहीं भी प्राप्त नहीं होता है। यजुर्वेदके ३३वें अध्यायमें मात्र एक मंत्र (६२वाँ मंत्र) है, जिसमें 'असित'-को ऋषित्व प्राप्त है, परन्तु वह भी विकल्पके रूपमें। सर्वानुक्रम-सूत्रमें इस स्थलका उल्लेख इस प्रकार है– उपास्मै सौमीं देवलोऽसितो वा...... (सर्वा० ३.२१)। इसी मंत्रके भाष्यमें आचार्य महीधरने ऋषिके रूपमें केवल 'देवल'-का ही उल्लेख किया है, असितका नाम ही नहीं लिया – देव दृष्टा सोम देवत्या गायत्री। (यजु० ३३.६२ मही० भा०)।

१४. आंगिरस (२०.३६-४६) — यह अंगिरस् परिवारकी उपाधि है, जिसे बहुतसे आचार्योंने ग्रहण किया था। इस उपाधिको धारण करनेवाले कुछ आचार्योंके नाम हैं – कृष्ण आजीगर्ति, च्यवन, अयास्य, सुधन्वन् इत्यादि। यजुर्वेदमें आंगिरसका ऋषित्व बृहस्पतिके साथ संयुक्त है – ब्रह्मत्वं प्रतिष्ठान्तं बृहस्पतिाङ्गिरसोऽपश्यदग्रेष्ट्वा .... (सर्वा० १.७)

१५. आथर्वण भिषक् (१२.७५-८९) — ऋग्वेद १०.९७ सूक्तके ऋषि अथर्वणके पुत्र भिषक् हैं। भिषक् शब्दका प्रयोग सामान्यतः वैद्यके अर्थमें किया जाता है। यजुर्वेद भाष्यकार आचार्य महीधरने इनके ऋषित्वका विवेचन किया है – अथर्वपुत्र भिषग्दृष्टा ओषधिदेवत्या ...... (यजु० १२.७५ मही०भा०)। सर्वानुक्रम-सूत्रमें भी इनका सुस्पष्ट ऋषित्व निरूपित किया गया है – या ओषधीः सप्तविंशतिमनुष्टुभ ओषधिस्तुतिमाथर्वणो भिषङ् (सर्वा० २.११)।

१६. आदित्य (३५.२, ४) — यजुर्वेदके तीसरे अध्यायमें 'आदित्य'को ऋषित्व प्राप्त है और ३५वें अध्यायके कुछ मंत्रोंमें 'आदित्य अथवा

देवगण' वैकल्पिक ऋषिके रूपमें भी उल्लिखित हैं — आदित्यस्यार्षं देवानां वा (यजु० ३५.१ उ० भा०) सम्भवतः मानवीय द्रष्टा ऋषियोंने आदित्य आदि दैवी शक्तियोंका मंत्र-रूपमें दर्शन किया था, उन्हींके विशेषण अथवा नामसे उन्होंने यह नाम स्वयं धारण किया है।

१७. आभूति (१९.३-९) — यजुर्वेदमें आभूतिको मंत्रद्रष्टा कहा गया है, इनके मंत्र १९वें अध्यायमें संकलित हैं। इन्हें विश्वरूपका शिष्य कहा जाता है। त्वष्टा इनके पिताका नाम था, क्योंकि इनका पैतृक नाम त्वाष्ट्र भी प्राप्त होता है। यह तथ्य बृहदारण्यकोपनिषद्के २.६.३ तथा ४.६.३-में उल्लिखित गुरु-शिष्य-परम्पराकी वंशावलियोंमें विद्यमान है।

१८. आमहीयव (२६.१६-१८) — ऋषिके रूपमें 'आमहीयव'-का नाम 'वैदिक कोश' जैसे ग्रन्थमें अनुपलब्ध है। वहाँ तो एक 'सामविशेष'-के रूपमें आमहीयव-का उल्लेख किया गया है, जिससे प्रजापतिने प्रजाकी सृष्टिपालन आदि दायित्वोंका निर्वाह किया। बहुत कुछ सम्भव है, इसी अमूर्त भावोंको मूर्त्त रूप प्रदान कर उन्हें ऋषित्वका महनीय स्थान प्रदान कर दिया गया हो, जो कुछ भी हो। सर्वानुक्रम-सूत्रमें इन्हें ऋषिका स्थान प्रदान करते हुए लिखा गया है — उच्चा ते गायत्रं तृच — सौम्यमामहीयवः (सर्वा० ३.७) यही प्रसंग यजुर्वेद भाष्यमें इस प्रकार उल्लिखित हुआ है — सोमदेवत्यास्तिस्रो गायत्र्य आमहीयव दृष्टा। (यजु० २६.१६ मही०भा०)।

१९. आरुणि (११.७२) — आरुणिका नाम उद्दालकके लिए प्रयुक्त होता है, क्योंकि वे अरुण औपवेशिके पुत्र थे। चारों वेदोंमें मात्र यजुर्वेदके एक मंत्र (११.७२)-का ऋषित्व इन्हें प्राप्त है, जिसका उल्लेख सर्वानुक्रममें इस प्रकार किया गया है — परमस्या आरुणिरनुष्टुभम्....... (सर्वा० २.६)। परन्तु इस मंत्रका भाष्य करते हुए आचार्य महीधरने सम्भवतः (प्रमादवश) वारुणि नाम ही उल्लिखित किया है — अनुष्टुब्वारुणी दृष्टा यजु० ११.७२ (मही०भा०)।

२०. आश्वतर आश्वि या आश्वतराश्वि (२०.२४-२६) — ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें इन ऋषिका नाम उल्लिखित है, इन्हें बुडिल गोत्रोत्पन्न माना गया है — तदु होवाच बुडिल आश्वतराश्विः (शत०ब्रा० ४.६.१.९)

सायणका अभिमत है कि ये 'अश्व'-के पुत्र तथा 'अश्वतर'-के वंशज थे। यजुर्वेदमें उनके ऋषित्वकी प्रतिष्ठा सर्वानुक्रमसूत्रका-द्वारा इस प्रकार व्यक्त हुई है — .... अभ्यादधाम्याग्नेयं तृचमानुष्टुभमाश्वतराश्विर थ्वंशुना सौर्यनुष्टुप् .... (सर्वा० २.३७)।

२१. आसुरि (३.३७) — आसुरिको यज्ञीय कार्योंके विषयमें आप्त (सर्वाधिक प्रामाणिक) माना जाता है, जो इनके ज्ञान-वैशिष्ट्यको सिद्ध करता है। शतपथ ब्राह्मणका कहना है कि — तदु होवाचासुरिः। आज्यभागाभ्यामेवातो यतमे वा .... (शत०ब्रा० १.६.३.२६)। बृहदारण्यकोपनिषद्की सुप्रसिद्ध वंशावलियोंकी सूचीमें 'आसुरि'-को भारद्वाजका शिष्य और औपजन्धनिका गुरु बताया गया, किन्तु तीसरी वंशावली ६.५.२ में इन्हें, याज्ञवल्क्यका शिष्य और आसुरायणका गुरु बताया गया है। यजुर्वेदके प्रसिद्ध भाष्यकार 'उवट' और महीधरने इनके ऋषित्वका उल्लेख इस प्रकार किया है — आसुरेरार्षम्। (उ०भा० ३.३७); अथ क्षुल्लकोपस्थानमासुरिदृष्टम् (मही०भा० ३.३७)।

२२. इन्द्राग्नी (१३.२२-२५) — यजुर्वेदमें कुछ स्थानोंमें 'इन्द्र और अग्नि' का युग्म, ऋषि-रूपमें उल्लिखित है। सम्भवतः मानवीय दृष्टा ऋषिने इन्द्र और अग्निका साक्षात् दर्शन कर, उन (देव)-से अभिन्नता प्राप्त कर ली थी, तबसे वे 'इन्द्राग्नी' ऋषिका नाम यजुर्वेदमें उल्लिखित है— 'इन्द्राग्निदृष्टे अग्निदेवत्ये द्वे अनुष्टुभौ' (यजु० १३.२२ मही०भा०)।

२३. इष (१५.२९) — इषका वैदिक साहित्यमें नामोल्लेख प्रायः 'आत्रेय'-के साथ सम्मिलित रूपमें आया है, केवल यजुर्वेद (१५.२९)-में ही उनका स्वतंत्र ऋषित्व प्राप्त होता है। सम्भवतः वे 'अत्रि-गोत्र'-के होंगे, जिसके कारण वे इष आत्रेय कहलाए। यजुर्वेदमें कुछ ऋषियोंके नाम अधूरे पाए गए, इसीलिये वहाँ केवल 'इष' नाम ही आया है — सखाय इषः (सर्वा० २.२०)।

२४. उत्कील कात्य (११.४९) — कल्पसूत्रोंके अन्तर्गत कातीय शाखाका विवेचन प्राप्त होता है, इसके अनुयायियोंको कात्य या कात्यायन कहा जाता है। उत्कीलका प्रस्तुत नामकरण पड़नेका कारण है, उनका कातीय शाखानुयायी होना। उत्कीलकात्यं का ऋषित्व यजुर्वेदमें इस

प्रकार उल्लिखित है – व्यस्यन्नाग्नेयोऽर्द्धर्चो, वि पाजसोत्कीलः कात्य आग्नेयीं त्रिष्टुभम् (सर्वा० २.४)। यजुर्वेदके प्रसिद्ध भाष्यकार आचार्य महीधरने लिखा है – अग्निदेवत्या त्रिष्टुबुत्कील दृष्टा (यजु० ११.४९ मही० भा०)।

२५. उत्तर-नारायण (३१.१७-२२) — यजु० (३१.१७-२२)-के ऋषिका नाम उत्तरनारायण है। 'उत्तरनारायण' शब्द का अर्थ नारायणका उत्तर भाग प्रतीत होता है। ऋ० १०.९० (पुरुष-सूक्त)-के ऋषि 'नारायण' हैं – तथा देवता 'पुरुष' हैं। इस कारण इस सूक्तका नाम नारायण पड़ गया। यजु० ३१वें अध्यायमें पुरुष-सूक्त अभिन्न रूपसे उद्धृत है, इसीमें ६ मंत्र (१७-२२) अतिरिक्त जोड़े गए हैं, जो अन्यत्र और किसी वेदमें नहीं मिलते। इस तरह नारायण (पुरुष-सूक्त) सूक्तमें बादमें उत्तर भागमें संकलित होनेके कारण संभवतः इन मंत्रोंके ऋषिका नाम उत्तरनारायण हुआ। इसका उल्लेख आचार्य महीधरने इस प्रकार किया है – अद्भ्यः सम्भृत इत्युत्तरनारायणेनादित्यमुपस्थायेति षट् कण्डिका उत्तरनारायणम् (यजु० ३१.१७ मही०भा०)।

२६. उशना काव्य (१३.५२-५८; १८.७७) — ये एक प्राचीन ऋषि हैं। इस नामका एक दूसरा रूप भी है। इन्होंने आग्नेय मंत्रोंका दर्शन किया था – ....कवेः पुत्रस्योशनस आर्षं गायत्रमाग्नेयम (ऋ० ८.८४ सा०भा०)। यजुर्वेदमें आपका ऋषित्व १३.५२-५८ मंत्रोंका है। इसके सन्दर्भमें महर्षि कात्यायनने लिखा है – त्वं यविष्ठोशनाः काव्य आग्नेयीमनिरुक्तां गायत्रीम्......... (सर्वा० २.१४)।

२७. ऋजिश्वा (३३.५५; ३४.४२) — ऋजिश्वाका उल्लेख ऋ० (१.५१.५; ५.३.८)-में अनेक बार आया है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह अति प्राचीन नाम है। इनके पिता द्वारा पिप्रु तथा कृष्णगर्भा आदि दैत्योंसे युद्ध करनेमें इन्द्रकी सहायता करनेका वर्णन प्राप्त होता है। ये अम्बरीष भारद्वाजके पुत्र होनेसे ऋजिश्वा भारद्वाज कहलाये। सर्वानुक्रम सूत्रानुसार इनका यजुर्वेदका ऋषित्व इस प्रकार है – प्र वायुं पुरोरुग्गणो द्वे च प्रतीकोक्ते, प्र वायुमृजिश्वा .... (सर्वा० ३.२१)। यही प्रसंग यजुर्वेद भाष्यमें भी प्राप्त होता है .... ऋजिश्वदृष्टा त्रिष्टुप् वायुदेवता (यजु० ३३.५५, मही०भा०)।

२८. ऋषि-गण (३.१८) —— चारों वेदोंमें कई ऋषियोंका एक साथ और वह भी बिना किसी नामोल्लेखके ऋषित्व प्राप्त होता है। यजुर्वेदमें इनके ऋषित्वका प्रतिपादन ३.१८ तथा १४.२३-२७ के मंत्रोंके लिये प्राप्त होता है। 'ऋषयः' पद बहुवचनान्त होनेसे इन मंत्रोंके अनेक ऋषि अभिप्रेत हैं; यह सिद्ध होता है – 'चित्रावसो रात्रिदेवत्यमृषयोऽपश्यन्।' (सर्वा० १.१३)। यही तथ्य यजु० भाष्यमें इस प्रकार प्रस्तुत हुआ है – 'चित्रावसो रात्रिदेवत्यं यजुर्ऋषिदृष्टम् (यजु० ३.१८ मही०भा०)

२९. ऋषिसुता लोपामुद्रा (१७.११; ३६.२०) —— मंत्रद्रष्ट ऋषिकाओंमें 'विश्ववारा' की तरह लोपामुद्राका भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह ऋषि अगस्त्यकी पत्नी थीं, जिन्होंने अपने तप और ज्ञानके प्रभावसे आर्य-जगत्में नारियों (गृहणियों)-का ललाट ऊँचा कर दिया – मंत्रदर्शी ऋषिका बनकर। ऋग्वेद तथा यजुर्वेदके अनेक मंत्रोंका ऋषित्व उन्हें प्राप्त है। यजुर्वेदमें आपके ऋषित्वको प्रमाणित करते हुए सर्वानुक्रम सूत्रकारने लिखा है – नमस्ते बृहतीमाग्नेयीमृषिसुता लोपामुद्रा (सर्वा० २.२४)। आचार्य महीधरने यही प्रसंग स्पष्ट करते हुए लिखा है – आग्नेयी बृहती लोपामुद्रा दृष्टा (यजु० १७.११ मही०भा०)।

३०. और्णवाभ (३.४९-५०) —— ऊर्णवाभिके वंशजको और्णवाभ कहा जाता है। कुछ लोगोंने इन्हें कौण्डिन्यका शिष्य भी कहा है। यास्कने इनका उल्लेख अनेक स्थलोंपर आचार्यके रूपमें किया है – जुहोतेर्होतेत्यौर्णवाभः (नि० ७.१५.१२)। यजुर्वेद (३.४९-५०)-के द्रष्टा ऋषि यही हैं। जैसा कि महर्षि कात्यायन प्रणीत सर्वानुक्रम-सूत्रमें उल्लिखित है – पूर्णादर्वि द्वे और्णवाभ ऐन्द्रावनुष्टुभावक्षन् (सर्वा० १.१५)।

३१. कण्व घौर (११.४२; १७.७४; ३४.५६-५७) —ऋग्वेदके प्रथम सात मण्डलोंके सात प्रमुख ऋषियोंमें कण्वका नाम आता है। आठवें मण्डलकी ऋचाओंकीरचना भी कण्व-परिवारकी है, जो पहले मण्डलके रचयिता हैं। ऋग्वेद, अथर्ववेद, वाजसनेयी संहिता तथा पंचविश् ब्राह्मण आदिमें कण्वका नाम बार-बार आया है। यही तथ्य यजुर्वेद भाष्यमें इस प्रकार प्रतिपादित हुआ है – अग्नि देवत्योपरिष्टाद् बृहती कण्व दृष्टा (यजु० ११.४२ मही०भा०); कण्वदृष्टा सावित्री त्रिष्टुप् (यजु० १७.७४

महीभा०)। कण्वको घोरका पुत्र कहा गया है, इसीलिये इनके नामके साथ 'घौर' शब्दका प्रयोग हुआ है — घोरपुत्रः कण्व ऋषिः (ऋ० १.३६ सा०भा०)।

३२. कपि (२.१६) — बोर्टेरबूखके अनुसार काठक संहिता (३०.२)-में पाये जानेवाले 'लुश खार्गलि' -का ही एक नाम कपि है। सम्भवतः इनका नाम लुशा कपि रहा हो। यजुर्वेद (२.१६)-में मंत्रके दो अंशोंके ऋषि नाममें 'कपि' नाम निर्दिष्ट है — मरुतां कपिर्बृहतीं प्रास्तरीमन्त्यः पाद आग्नेयो .... (सर्वा० १.७)। इसी तथ्यको भाष्यकारने दूसरे शब्दोंमें व्यक्त किया है — मरुतामिति प्रस्तरदेवत्याबृहती कपिदृष्टा। चतुर्थः पाद आग्नेयः (यजु० २.१६ महीभा०)। अन्य किसी वेदमें इनका नाम कहीं नहीं आता है।

३३. कशिपा भरद्वाज दुहिता (३४.३२) — ऋषिका होनेके की महनीय कीर्ति प्राप्त करनेवाली स्त्रियोंमें 'कशिपा' -का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। नामोल्लेखसे ज्ञात होता है कि आप ऋषि भारद्वाजकी पुत्री हैं। महर्षि कात्यायन प्रणीत सर्वानुक्रम-सूत्रमें आपका उल्लेख इस प्रकार हुआ है—आ रात्रि पथ्या बृहती ॐ रात्रिदेवत्यां कशिपा भरद्वाजदुहिता (सर्वा० ४.२)।

३४. काक्षीवत सुकीर्ति (१०.३२) — 'सुकीर्ति कक्षीवत्-गोत्रीय होनेके कारण काक्षीवत सुकीर्ति कहलाए। जो ऋग्वेद (१०.१३१) सूक्तके ऋषि हैं — अपप्राचइति सप्तर्चं तृतीयं सूक्तं कक्षीवतः पुत्रस्य सुकीर्तेरार्षम् .... (ऋ० १०.१३१सा०भा०)। यजुर्वेदमें इनका ऋषित्व अध्याय १० के ३२वें मन्त्रमें प्राप्त होता है — तृचं काक्षीवत-सुकीर्तिदृष्टम् (महीधर भा०यजु० १०.३२)।

३५. कुत्स (८.४; १२.२) — अष्टाध्ययी (पाणिनि)-के सूत्रोंमें जिन पूर्वाचार्योंके नाम आए हैं, उनमें कुत्स भी है। त्रित आप्त्यके वैकल्पिक ऋषिके रूपमें कुत्सका नाम स्मरण किया जाता है। कुछ स्थलोंपर स्वतंत्र ऋषिके रूपमें भी इन्हें वर्णित किया गया है — अनुवर्तमानत्वात् कुत्स ऋषिः (ऋ० १.१०६.१ सा०भा०)। अपां पुत्रस्य त्रितस्य कूपे पतितस्य कुत्सस्यवार्षम् (ऋ० १.१०५.१ सा०भा०)। यजु०में आपके ऋषित्वको

प्रमाणित करते हुए सर्वानुक्रम सूत्रकार लिखतें हैं – यज्ञो देवानां कुत्सस्त्रिष्टुभम् (सर्वा० १.३०); इस प्रकार हम देखतें हैं कि वैदिक साहित्यमें 'कुत्स'-का महत्वपूर्ण स्थान है।

३६. कुमार-वृष (१५.४१-४७) — कुमार और वृष दोनोंका समुदित ऋषित्व यजुर्वेद (१५.४१-४७)-में एक स्थानपर ही उपलब्ध होता है, जबकि कुमार हारीत, कुमार आग्रेय, कुमार आत्रेय तथा कुमार यामायनके नाम अन्यत्र भी पाए जाते हैं; परन्तु यह कहना बड़ा कठिन है कि जो कुमार, वृषके साथ आए हैं, वे ही हारीत, आग्रेय एवं यामायनके साथ हैं। यजुर्वेदमें इनके ऋषित्वका प्रतिपादन करते हुए सर्वानुक्रम सूत्रकार ने लिखा है – अग्निं तं कुमारवृषौ (सर्वा० २.२०)। यही मंत्र ऋ० ५.६.१ तथा साम० ४२५ में भी पठित है परन्तु वहाँ अनुक्रमणीमें इस मंत्रके ऋषिका नाम कुमार वृषके स्थानपर वसुश्रुत आत्रेय आया है।

३७. कुमार हारीत (१२.६९) — 'बृहदारण्यक उपनिषद्'-में आचार्योंकी प्रथम वंश-सूची (२.५.२)-में गालवके शिष्य कुमार हारीतका उल्लेख है। यजुर्वेद १२.६९ में मंत्रदृष्टाके रूपमें इनका नाम प्रयुक्त है। सूत्रकारने लिखा है – शुनं चतस्रः सीता देवत्याः कुमार हारितो द्वे त्रिष्टुभौ .... (सर्वा० २.१०)। आचार्य महीधरने अपने भाष्यमें इसे इस प्रकार उल्लिखित किया है – कुमार हारितदृष्टाः सीता देवत्याश्चतस्रः (यजु० १२.६९ मही०भा०)।

३८. कुरुस्तुति (८.३९) — वैदिक साहित्यमें कुरुस्तुतिका ऋषित्व अत्यल्प ही पाया जाता है। यजुर्वेदमें मात्र एक मंत्र (८.३९)-में ही इनका ऋषित्वं विवेचित है। अथर्ववेदमें भी मात्र २०.४२ सूक्तका ऋषित्व इनके नामसे उपलब्ध होता है। सर्वानुक्रम सूत्रमें इनके सम्बन्धमें लिखा है – उत्तिष्ठन् कुरुस्तुति ऐन्द्रीमदृश्रम् (सर्वा० १.३२)। आचार्य महीधरने 'कुरुस्तुति'-का ऋषित्व इस प्रकार स्वीकार किया है – इन्द्रदेवत्या गायत्री कुरुस्तुतिदृष्टा यजुरन्ता (यजु० ८.३९ मही०भा०)।

३९. कुशिक (३३.५९) — ऐतरेय ब्राह्मण (७.१८)-से स्पष्ट है कि वे पुरोहितोंके वंशके थे जो भरतोंके पौरोहित्य-कार्यमें संलग्न थे। यजुर्वेदमें 'कुशिक'-का ऋषित्व प्रकट करते हुए महर्षि कात्यायन कहते हैं –

विदद्यदिन्द्रो कुशिको........... (सर्वा० ३.२१)। आचार्य महीधरने इस तथ्यको उद्घाटित करते हुए लिखा है – कुशिक दृष्टा त्रिष्टुप इन्द्रदेवत्या (यजु० ३३.५९ मही०भा०)।

४०. कुश्रि (११.१३) — यजुर्वेदमें मंत्रद्रष्टाके रूपमें 'कुश्रि' ऋषिका नाम आता है। बृहदारण्यक उप० की वंशसूची (६.४.३३)-में इन्हें वाजश्रवस-का शिष्य कहा गया है। सर्वानुक्रम-सूत्रमें कुश्रिका ऋषित्व इस प्रकार व्यक्त किया गया है – युञ्जाथां कुश्रिर्गार्दर्भी गायत्रीम् (सर्वा० २.२)। इसी तथ्यको आचार्य महीधरने इस प्रकार लिखा है – गर्दभदेवत्या गायत्री कुश्रि दृष्टा (यजु० - ११.१३ मही०भा०) यजुर्वेदके इस मंत्रके अतिरिक्त इनको ऋषित्व नहीं प्राप्त हुआ है।

४१. कुसीदी काण्व (३३.४७) — कुसीदन ऋषि कण्वके पुत्र थे। इन्होंने इन्द्र विषयक ऋचाओंका दर्शन किया था। इसी तथ्यकी पुष्टि आचार्य सायणने अपने ऋग्वेद भाष्यमें की है – कण्वपुत्रस्य कुसीदिन आर्षं गायत्रमैंद्रम् .... (ऋ० ८.८१ सा०भा०)। बृहद्देवताकारने इन्हें एक द्रष्टाके रूपमें विवेचित किया है – यमोऽग्निस्तापसः कुत्सः कुसीदी त्रित एव च (बृह० ३.५८)। यजुर्वेद भाष्यमें इनके ऋषित्वका स्पष्ट विवेचन किया गया है – कुसीदिदृष्टा गायत्र्याश्विनपुरोरुक् (यजु० ३३.४७ मही०भा०)।

४२. कुसुरुबिन्दु (कौसुरुबिन्दु) (८.४२-४३) — ये यज्ञादिके विषयमें एक प्रामाणिक ऋषि हैं। कुसुरुबिन्द औद्दालकिका उल्लेख पंचविंश ब्राह्मण (२२.१५.१,१०)-में और तैत्तरीय संहिता (७.२.२.१)-में मिलता है। यजुर्वेदमें इनके ऋषित्वका उल्लेख सर्वप्रथम सर्वानुक्रम सूत्रमें किया गया है – .....आजिघ्रेडे कोसुरुबिन्दुर्गत्ये महापंक्ति-प्रस्तारपंक्ति (सर्वा० १.३२)। इसी प्रसंगको यजुर्वेद भाष्यमें इस प्रकार कहा गया है– ...... गोदेवत्या महापंक्तिः कुसुरुबिन्दुदृष्टा अष्टार्णषट्पादा (यजु० ८.४२. मही०भा०)। वेबरके विचारसे वे श्वेतकेतुके भाई सिद्ध होते हैं। षड्विंश ब्राह्मण (१.१६) और शांखायन श्रौतसूत्र (१६.२२.१४)-में इन्हें 'कुसुरुबिन्दु' कहा गया है।

४३. कूर्म गार्त्समद (३३.५१) — कूर्म ऋषिको गृत्समदका पुत्र कहा

गया है; अतएव कुछ स्थलोंपर 'कूर्म गार्त्समद' नाम प्रयुक्त हुआ है। ऋग्वेद (२.२७ से २.२९)-के ऋषि कूर्म गार्त्समद अथवा गृत्समद माने गये हैं। कूर्म ऋषिकी यजुर्वेदके अन्तर्गत ऋषित्व पदकी प्रतिष्ठा अधोलिखित पंक्तियोंसे स्पष्ट हो जाती है — इमा गिरः कूर्मो गार्त्समद आदित्यदेवत्यां त्रिष्टुभम् ......(सर्वा० ४.३)। यही तथ्य यजुर्वेद भाष्यमें भी उपलब्ध है — कूर्मदृष्टादित्यस्य प्रथमा पुरोरुक् (यजु० ३३.५१ मही०भा०)।

४४. क्रतु भार्गव (५.३५) — 'क्रतु भार्गव'-का ऋषित्व वैदिक संहिताओंमे अत्यल्प पाया जाता है। यजुर्वेदके ५.३५वीं कण्डिकाका उत्तरार्ध आपके द्वारा दृष्ट माना जाता है। भार्गव संज्ञा आपको भृगु-गोत्रीय सिद्ध करती है। वस्तुतः आप 'भृगु' ऋषिके पुत्र ही हैं, जैसा कि यजुर्वेद ५.३५ के महीधर भाष्यसे सिद्ध है — अवसानरहिता सोमदेवत्या गायत्री भृगुसुतक्रतुदृष्टा (यजु० ५.३५ मही०भा०)।

४५. गंधर्व (३.१) — यजुर्वेदमें संगृहीत अग्न्याधेय मंत्र-समूहमें ऋषि-विकल्प उल्लिखित हैं, जिनमें देवा, अग्नि और गंधर्वका विकल्प मिलता है — अग्न्याधेयं प्रजापतेरार्षं देवानामग्नेर्गन्धर्वाणां वा (सर्वा० १.१०)। वैदिक साहित्यमें अन्यत्र गन्धर्वका ऋषित्व प्राप्त नहीं होता है। यजुर्वेद भाष्यमें आचार्य उवट एवं महीधरके ऋषित्व विवेचनमें विभेद है। यहाँ आचार्य उवटने गन्धर्वकि ऋषित्वको प्रमाणित नहीं किया है, जबकि आचार्य महीधरने सर्वानुक्रम-सूत्रकारके ऋषित्व-विवेचनको ही स्वीकृत किया है — देवानां प्रजापतेरग्नेर्गन्धर्वाणां वार्षम् (यजु० ३.१ मही०भा०)

४६. गय प्लात — ये प्लतिके वंशज हैं। ऋग्वेद १०.६३ तथा १०.६४ सूक्तोंके ऋषि गयप्लात हैं — परावतो य इति सप्तदशर्चं तृतीयं सूक्तं प्लतेः पुत्रस्य गयस्यार्षं (ऋ० १०.६३ सा०भा०)। यजुर्वेदके अन्तर्गत इनके ऋषित्वका उल्लेख करते हुए सर्वानुक्रमसूत्रकारने लिखा है — त्रिष्टुबादित्या सुत्रामाणं गयः प्लातः ....(सर्वा० २.४०)। इसी प्रकरणको आचार्य महीधरने इस प्रकार लिखा है — अदिति देवत्या त्रिष्टुप् गयः प्लात दृष्टा (यजु० २९.६ मही०भा०)।

४७. गर्ग (२०.५०-५२) — गर्ग ऋषि यजुर्वेदमें स्वतंत्र मन्त्रद्रष्टा-

रूपमें उल्लिखित हैं। अनुक्रमणीमें ऋग्वेद (६.४७) सूक्तके ऋषिका नाम 'गर्ग भारद्वाज' आया है। सायणने ऋग्वेद (६.४७)-के भाष्यमें गर्गको भरद्वाजका पुत्र बताया है – चतुर्थं सूक्तं भरद्वाजपुत्रस्य गर्गस्यार्षम्। सर्वानुक्रम सूत्रकारने यजुर्वेदमें इनके ऋषित्वको प्रमाणित करते हुए लिखा हैं – त्रातारं गर्गः .... (सर्वा० २.३९)। आचार्य महीधरने गर्ग-द्रष्टा कहकर इसे परिपुष्ट कर दिया है।

४८. गालव (१८.५६-५७) — बृहदारण्यक उपनिषद्में आचार्योंकी प्रथम दो वंश-सूचियोंमें अर्थात् (२.६.३) तथा (४.६.३)-में विदर्भी कोण्डिन्यके एक शिष्यका नाम गालव है। इसी सूचीमें गालवके शिष्य कुमार हारीतका उल्लेख भी मिलता है। इनका ऋषित्व केवल यजुर्वेदमें ही प्राप्त होता है, अन्यत्र नहीं। सर्वानुक्रम-सूत्रमें आचार्य कात्यायन लिखते हैं – इष्टो यज्ञे द्व्यृचं यजमानाग्निदेवत्यं गालवः ....(सर्वा० २.३०)। यही तथ्य यजुर्वेद भाष्यमें इस प्रकार व्यक्त हुआ है – यज्ञ देवत्या उष्णिग्गालवदृष्टा अष्टाविंशत्यक्षरत्वात् (यजु० १८.५६ मही०भा०)।

४९. गृत्समद (७.,३४; १.२३-२४) — 'गृत्समद ऋषि' का ऋग्वेदके अतिरिक्त यजुर्वेद और अथर्ववेदमें भी पर्याप्त ऋषित्व प्राप्त होता है। सर्वानुक्रम सूत्रकारने इसका विवरण देते हुए लिखा है – अयं वां गृत्समदो मैत्रावरुणीम् – (सर्वा० १.२६)। आचार्य महीधर भी लिखते हैं – मित्रावरुणदेवत्या गायत्री गृत्समददृष्टा यजुरन्ता (यजु० ७.९ मही०भा०)।

५०. गोतम राहूगण (३.११, ५१; ४.३७) — प्राचीन ऋषियोंमें राहूगणका वर्णन प्राप्त होता है। इनके पुत्रका नाम गोतम था। इसी कारण इनका उपयुक्त नामकरण किया गया है। यजुर्वेदमें इनके ऋषित्वका प्रतिपादन सर्वानुक्रम-सूत्रकारने इस प्रकार किया है – उपप्रयन्तं ....गोतमो राहूगणो (सर्वा० १.१२)। यजुर्वेदमें इन्हें बहुशः 'गोतम' ही उद्धृत किया गया है, 'गोतम राहूगण' नहीं, यथा यजु० ३.५१-५२ (अक्षन् द्वे गोतम ऐन्द्र्यौ पंक्ती – सर्वा० १.१५), यजु० ४.३७ (या ते सौमीं त्रिष्टुभं गोतमः – सर्वा० १.१८)।

५१. गौरिर्वीति शाक्त्य (३३.६४) — गौरिर्वीतिको शक्ति गोत्रज होनेके कारण शाक्त्य कहा जाता है। गौरिर्वीतिका उल्लेख ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें भी यत्र-तत्र प्राप्त होता है। ऋग्वेद और सामवेदमें ये मंत्रोंके द्रष्टाके रूपमें निरूपित हैं। यजुर्वेदमें आपके ऋषित्वको प्रमाणित करते हुए सर्वानुक्रमसूत्रकारने लिखा है — आ तद्गौरीवितिः शाक्त्य (सर्वा० ३.१८)। यहाँ एक बात स्पष्ट हो जाती है कि 'गौरीविति दृष्टा त्रिष्टुप आदित्यग्रहस्य दधिश्रवणे विनियोगः (यजु० ३३.२८ मही०भा०)। आगेके मन्त्रद्रष्टा ऋषिके रूपमें 'गौरिवीतिदृष्टा' लिखा जिससे सिद्ध होता है कि दोनों नाम प्रायः एक ही व्यक्तिके हैं।

५२. जमदग्नि (११.७३-७४)— जमदग्निकी गणना प्रसिद्ध ऋषियोंमें की जाती है। शतपथ ब्राह्मणमें जमदग्निको दार्शनिक जामा पहनाते हुए उन्हें 'चक्षु' (नेत्र) कहा है, जिससे यह जगत् देखा जाता है — मनन किया जाता है। यजुर्वेदमें आपका ऋषिके रूपमें महत्त्वपूर्ण स्थान है। सर्वानुक्रम सूत्रमें (२.६) आपका उल्लेख मिलता है — यदग्ने द्वे जमदग्निः। इस प्रसंगमें आचार्य महीधरका कथन है — द्वे अनुष्टुभौ जमदग्निदृष्टे (यजु० ११.७३ मही०भा०)।

५३. जय-ऐन्द्र (१८.७१) — ऋग्वेद, यजुर्वेद एवं सामवेदमें जय ऐन्द्रका नाम ऋषिके रूपमें एक-एक बार ही विवेचित है। ऐन्द्र विशेषणका प्रयोग अप्रतिरथ, जय, बरु, वसुक्र, वृषाकपि तथा सर्वहरि ऋषियोंके साथ भी किया जाता है। आचार्य सायणने ऐन्द्रका अर्थ इन्द्रपुत्र किया है। इनके ऋषित्वका प्रतिपादन करते हुए आचार्य सायण लिखते हैं — प्र ससाहिषे इति तृचमेकोनत्रिंशं सूक्तमिन्द्रपुत्रस्य जयस्यार्षं त्रैष्टुभमैन्द्रम् (ऋ० १०.१८० सा०भा०)। यजुर्वेदमें इनके ऋषित्वका प्रतिपादन करते हुए सर्वानुक्रमसूत्रकार महर्षि कात्यायनने लिखा है — मृगो न त्रिष्टुप् ......द्वितीयां जय ऐन्द्रो (सर्वा० २.३२)।

५४. जेता माधुच्छन्दस (१२.५६; १५.६१) — मधुच्छन्दस्का पुत्र होनेके कारण इन्हें माधुच्छान्दस कहा गया है। ऋग्वेदके प्रथम मण्डलमें इन्हें ११वें सूक्तका ऋषि कहा गया है — 'इन्द्रं विश्वा' इत्यष्टर्चस्य सूक्तस्य मधुच्छन्दसः पुत्रो जेतृनामक ऋषिः। तथा चानुक्रान्तम्। इन्द्रमष्टौ जेता

माधुच्छन्दस' इति (ऋ० १.११ सा०भा०)। यजुर्वेदमें इनके ऋषित्वकी प्रामाणिकता सर्वा० सूत्रकारके शब्दोंमें सिद्ध हो जाती है – इन्द्रं जेता माधुच्छन्दस ऐन्द्रीम। (सर्वा० २.९)। इससे यह भली-भाँति सिद्ध हो जाता है कि जेता (जेतृ) मधुच्छन्दसके पुत्र थे।

५५. तक्षा – जीवल चैलकि (३.९ का मंत्रांश) —— सर्वानुक्रम-सूत्रकारने यजुर्वेदके तीसरे अध्यायके नवम मंत्रके तीसरे और चौथे मंत्रांशमें ऋषि-नाम 'तक्षा' तथा पाँचवें मंत्रांशमें ऋषि नाम 'जीवल-चैलकि' उल्लिखित किया है। संहिताओंमें अन्यत्र कहीं इनका ऋषित्व नहीं मिलता है। सर्वानुक्रम-सूत्रमें इनका ऋषित्व इस प्रकार उद्धृत है – अग्निर्वचो द्वे तक्षाऽपश्यत्परां जीवलश्चैलकिः (सर्वा० १.११)। इसी प्रकार यजुर्वेद भाष्यमें आचार्य उवट और महीधरने भी इनके ऋषित्वका प्रतिपादन अनुक्रमणिकाका उद्धरण देकर किया है।

५६. तापस (अग्नि) (९.२६-३४) —— तापसका संयुक्त ऋषित्व दृष्टिगोचर होता है। इनके साथ विरूप-पुत्र सध्रिका नाम लिया गया है। तापसको तपस् पुत्र कहा जाता है। इनके नामके साथ धर्म, मन्यु और अग्निको सम्मिलित किया गया है। इनके ऋषित्वका प्रतिपादन करते हुए आचार्य सायण लिखते हैं – अग्न इति षड्टचं त्रयोदशं सूक्तम्। तापस गुणविशिष्टस्याग्नेरार्षं वैश्वदेवमानुष्टभम् (ऋ० १०.१४१)। आचार्य महीधरने भी लिखा है – तिस्रोऽनुष्टुभस्तापसदृष्टाः (यजु० ९.२६ मही०भा०)।

५७. त्र्यरुण-त्रसदस्यु (२२.१८) —— ऋग्वेद ५.२७ सूक्तके तीन समुदित ऋषि त्र्यरुण त्रैवृष्णके पुत्र, त्रसदस्यु पुरुकुत्सके पुत्र और अश्वमेध भरतके पुत्र माने गए हैं। यजुर्वेदमें इनके ऋषित्वको प्रमाणित करते हुए सर्वानुक्रम-सूत्रकारने लिखा है – अर्जाजनो हि पावमानीं कृतिं पिपीलिकामध्यामनुष्टुभं त्र्यरुणत्रसदस्यू (सर्वा० ३.१)। आचार्य महीधरने त्र्यरुणकी जगह 'अरुण'-का उल्लेख किया है – अरुणत्रसदस्युभ्यां दृष्टा पवमानदेवत्या पिपीलिकामध्याकृतिरनुष्टुप (यजु० २२.१८ मही०भा०)।

५८. त्रित आप्त्य (३३.९०) —— एकत, द्वित तथा त्रित ऋषियोंको जलसे

उत्पन्न माना गया है, इसलिये इन्हें आप्य कहा गया। कालान्तरमें तकार आगमसे आप्त्य प्रसिद्ध हुआ। यजुर्वेद ११.४३ और १२.१३ में इनका ऋषित्व केवल 'त्रित' नामसे उल्लिखित है। ऋग्वेदमें अनेक स्थानोंपर इनके नाम और ऋषित्वका उल्लेख मिलता है। ऋग्वेदमें इनके कूप पतनका उल्लेख भी मिलता है — अपां पुत्रस्य त्रितस्य कूपे पतितस्य कुत्सस्य वार्षं (ऋग्वेद १.१०५ सा०भा०)। इनके ऋषित्वका प्रतिपादन सर्वानुक्रम सूत्रकारने इस प्रकार किया है — चन्द्रमा अप्स्वैन्द्रीमाहुतिपरिणामवादिनीं त्रित आप्त्यो (सर्वा० ३.२३)। यजुर्वेद भाष्यकार महीधरने इस स्थानपर केवल 'त्रित' नाम ही दिया है — त्रितदृष्टाहुतिपरिणामवादिन्यैन्द्री (यजु० ३३.९० मही०भा०)।

५९. त्रिशिरा (१३.१५) — त्रिशिराका ऋषित्व 'त्रिशिरा त्वाष्ट्र'-के रूपमें ऋग्वेद १०.८.९ में निर्दिष्ट हैं। सामवेदमें भी अनेक स्थानोंपर इनके ऋषित्वका प्रमाण मिलता है। यहाँ भी त्रिशिराके साथ 'त्वाष्ट्र' शब्द जुड़ा हैं, जिसका अर्थ है — त्वष्टृका वंशज। सर्वानुक्रम-सूत्रमें इनका ऋषित्व निम्नलिखित प्रकार उद्धृत है — भुवस्त्रिशिरा आग्नेयीं त्रिष्टुभम् (सर्वा० २.१२)। यजुर्वेद भाष्यकार महीधरने भी इनके ऋषित्वको निम्न प्रकार स्वीकार किया है — त्रिशिरोदृष्टाग्निदेवत्या त्रिष्टुप् (यजु० १३.१५ मही०भा०)।

६०. त्रिशोक (७.३२; ३३.२४) — एक प्राचीन देवशास्त्रीय व्यक्तिके रूपमें इनका उल्लेख ऋग्वेद १.११२.१३ और अथर्ववेद ४.२९.६में मिलता हैं। इनका ऋषित्व सभी संहिताओंमें मिलता है, परन्तु ऋग्वेद और सामवेदमें 'त्रिशोक काण्व'-के रूपमें और यजुर्वेद और अथर्ववेदमें 'त्रिशोक'-के रूपमें मिलता है। सर्वानुक्रम सूत्रकारने इनके ऋषित्वका प्रतिपादन इस प्रकार किया है — आ घ त्रिशोक आग्नैन्द्रीम् (सर्वा० १.२९)। यजुर्वेद भाष्यमें आचार्य महीधरने इनका ऋषित्व इस प्रकार उल्लिखित किया है — अग्नीन्द्रदेवता गायत्री त्रिशोकदृष्टा (यजु० ७.३२ मही०भा०)।

६१. दक्ष (३३.७२-७३) — दक्ष प्रजापतिका वर्णन वेदोंके अनेक सन्दर्भोंमें किया गया है। यजुर्वेदमें मात्र दक्षका ही विवरण दिया गया है। यजुर्वेदमें इनके ऋषित्वका प्रतिपादन करते हुए सर्वानुक्रम सूत्रकारने

लिखा है– काव्योराजानेषु दक्षः (सर्वा० ३.२२)। यही तथ्य यजुर्वेद भाष्यमें इस प्रकार विवेचित हुआ है – दक्ष दृष्टा गायत्री मैत्रावरुणी......(यजु० ३३.७२ मही०भा०)।

६२. दधिक्रावा वामदेव्य (९.१४-१५) — 'दधिक्रा' शब्दका उल्लेख ऋग्वेदमें दैवी अश्वके रूपमें मिलता है (ऋ० ३.२०.१ और ऋ० ४.३९.१ इत्यादि)। यजुर्वेदमें इनके ऋषित्वका प्रतिपादन करते हुए सूत्रकारने लिखा है – वाजिनोऽश्वा, एषस्य दधिक्रावा वामदेव्योऽश्वदेवत्ये जगत्यौ (सर्वा० १.३४)। यजुर्वेद भाष्यमें यही तथ्य इस प्रकार विवेचित हुआ है – 'एष स्य इति...... अश्वदेवत्ये जगत्यौ दधिक्राव दृष्टे (यजु० ९.१४ मही०भा०)।

६३. दध्यङ् आथर्वण (३६.१-२; ३८.१-४) — यजुर्वेदमें ३६-४० अध्यायोंमें दध्यङ् आथर्वण ऋषिका ऋषित्व निरूपित किया गया है। सामवेदमें भी एक मंत्र ११७ के द्रष्टा रूपमें ये उल्लिखित हुए हैं, परन्तु ऋग्वेद और अथर्ववेदमें इनके द्वारा दृष्ट मंत्रोंका उल्लेख नहीं मिलता। सर्वानुक्रम सूत्रकारने इनके ऋषित्वका स्पष्ट उल्लेख किया है – ऋचं वाचं पञ्चाध्यायीं दध्यङ्ङ्थर्वणो ददर्श (सर्वा० ४.५)। यजुर्वेद भाष्यमें आचार्य उवट और महीधरने भी इनके ऋषित्वको प्रमाणित किया है – परिशिष्टं दध्यङ् आथर्वणोऽपश्यत् (यजु० ३६.१ उ०भा०)।

६४. दमन (३५.१९) — दमनको यमपुत्र माना गया है। अतएव इनको यामायन कहा जाता है – यमपुत्रस्य दमनस्यार्षम् (ऋ० १०.१६ सा०भा०)। यजु० ३५.१९ भी दमन ऋषि-द्वारा ही दृष्ट है। इसका प्रतिपादन करते हुए सर्वानुक्रम-सूत्रकारने लिखा है – क्रव्यदमग्निं त्रिष्टुभमाग्नेयीं दमनो (सर्वा० ४.४)। यजु०भा० में यही तथ्य इस प्रकार विवेचित है – क्रव्यादमिति .....अग्निदेवत्या त्रिष्टुप् दमनदृष्टा (यजु० ३५.१९ मही०भा०)।

६५. दीर्घतमा (औतथ्य) (६.३; १२.४२; ५.१८-२०) — दीर्घतमा ऋषिका ऋषित्व केवल यजुर्वेदमें ही प्राप्त होता है। ऋग्वेदमें आपको 'औचथ्य' कहा गया है (........औचथ्यः उचथ्यस्य पुत्रो दीर्घतमाः – ऋ० १.१५८.१ सा०भा०)। ममताका पुत्र होनेसे उन्हें

मामतेय भी कहा गया है – दीर्घतमाः एतन्नामा महर्षि..... ममतायाः पुत्रः .... (ऋ० १.१५९.६ सा० भा०)। यजुर्वेदमें अधिकांश स्थलोंपर आपका ऋषित्व केवल 'दीर्घतमा' नामसे ही है – यातें दीर्घतमा यूप देवत्यां – (सर्वा० १.२३); यजुर्वेदके अध्याय ५में कण्डिका संख्या १८-२०के बीच आपका नाम 'उतथ्य'-के साथ जुड़ा हुआ प्राप्त होता है – विष्णोर्नु प्र त दीर्घतमा औतथ्यो ...... (सर्वा० १.२०)। यजुर्वेद भाष्यमें आचार्य महीधरने 'दीर्घतमा'-को ही मान्यता दी है 'औतथ्य' या 'औचथ्य'-को नहीं।

६६. देवगण (८.४८-५३) — 'देवगण' मंत्रद्रष्टा ऋषि नामोंमें यजुर्वेद (८.४८-५३) आदि तथा ऋ० १०.५१.१ इत्यादि मंत्रोंमें निर्दिष्ट है। यजुर्वेदके अनेक मंत्रोंके ऋषि देवा हैं। सर्वा० सूत्रमें देवगण (देवाः)का ऋषित्व इस प्रकार वर्णित है – अग्नये त्वा देवार्षाण्यदाभ्यदेवत्यानि। यही प्रसंग यजुर्वेद भाष्यमें इस प्रकार उद्धृत है – अदाभ्य देवत्यानि त्रीणि यजूंषि देव दृष्टानि (यजु० ८.४७ मही०भा०)।

६७. देवल (२.१७) — यजुर्वेद (२.१७)-में एक मंत्र देवल ऋषिके नामसे निर्दिष्ट है। ऋग्वेदका एक मंत्र (९.११.१) यजुर्वेद ३३.६२ में आता है, किन्तु वहाँ उस मंत्रके ऋषि 'असित अथवा देवल' कहे गए हैं। भगवद्गीता १०.१३ में इन दोनों ऋषियोंका नाम व्यासके साथ मिलता है– असितो देवलो व्यासः ....। यजुर्वेदमें इनके ऋषित्वको प्रमाणित करते हुए सर्वानुक्रम-सूत्रमें लिखा है – यं परिधिं देवल आग्नेयीं त्रिष्टुभं विराड्रूपां यजुरन्ताम् (सर्वा० १.७)। आचार्य महीधरने भी लिखा है– अग्नेः प्रियमिति यजुः देवल दृष्टा (यजु० २.१७ मही० भा०)।

६८. देवश्रवा-देववात भारत (३.१४; ९.३७) — देवश्रवा और देवरात ऋषिका नाम 'देवश्रवा-देववात भारत'-के साथ समुदित रूपमें मिलता है। ऋग्वेद ४.१५.४ में 'दैववाते सृंजये'-का प्रयोग हुआ है, जिसमें किसी 'देववात' नामक राजाके पुत्र सृंजय-का उल्लेख है। ऋ० ३.२३.२ में देवश्रवा-देववात 'भरत' राजाका वर्णन पाया जाता है, जिन्होंने दृषद्वती, सरस्वती और आपयाके तटपर यज्ञ किया था – देवश्रवा-देववातः सुदक्षम्। यजुर्वेदके अन्तर्गत इनके ऋषित्वका ख्यापन सर्वानुक्रम सूत्र द्वारा हो जाता है – अयं ते देवश्रवा देववातश्च भारतौ आग्नेयीमनुष्टुभम्

(सर्वा० १.१२); यही तथ्य यजुर्वेद भाष्यमें दूसरे शब्दोंमें व्यक्त हुआ है – आग्नेयी त्रिष्टुप् देवश्रवो देववाताभ्यां दृष्टा (यजु० ११.३५ मही०भा०)।

६९. ध्रुव (१२.११) — यजुर्वेदका १२.११ मंत्र ध्रुव ऋषि-द्वारा दृष्ट है। इन्हें अंगिरस् गोत्रीय भी कहा गया है। इनके द्वारा दृष्ट मंत्रोंमें राष्ट्रकी सुस्थिरताकी कामना की गई है तथा उसमें दृढता आदि भावोंकी अभिव्यक्ति मिलती है। यजुर्वेदमें ऋषि 'ध्रुव'के ऋषित्वका प्रतिपादन सर्वानुक्रम सूत्रमें इस प्रकार प्राप्त होता है – आ त्वा ध्रुवोऽनुष्टुभम् (सर्वा० २.७)। यही तथ्य अपने शब्दोंमें प्रकट करते हुए आचार्य महीधर लिखते हैं – आग्नेय्यनुष्टुब् ध्रुव दृष्टा (यजु० १२.११ मही०भा०)।

७०. नाभानेदिष्ठ (९.१७) — नाभानेदिष्ठको मनुपुत्र कहा गया है, अतएव इनके नामके आगे मानव-पद भी जोड़ा जाता है। ऋग्वेदके दो सूक्तों १०.६१-६२ और यजुर्वेदमें कुछ मंत्रोंके द्रष्टा ऋषि नाममें नाभानेदिष्ठ निर्दिष्ट हैं – 'यं यज्ञेन'....... द्वितीयं सूक्तं मानवस्य नाभानेदिष्ठस्यार्षम् (ऋ० १०.६२ सा०भा०)। यजुर्वेदके भाष्यकार महीधरने इनके ऋषित्वको निर्देशित किया है – नाभानेदिष्ठदृष्टा (यजु० ९.१७ मही०भा०)। तैत्तिरीय शाखामें भी यही तथ्य उल्लिखित है – मनुः पुत्रेभ्यो दायं व्यभजत् स नाभानेदिष्ठं (तैत्ति०सं० ३.१.९.४)।

७१. नारायण (३१.१-१६) — प्रसिद्ध पुरुष-सूक्तका दर्शन नारायण ऋषि-द्वारा ही किया गया है। आचार्य सायणका अभिमत है कि आदि कारण पुरुषका प्रतिपादन करने के कारण इसे पुरुष-सूक्त कहा गया है। यजुर्वेदीय सर्वानुक्रम-सूत्रमें नारायणको ऋषि-रूपमें अंगीकृत किया गया है – त्र्यायुषं नारायणॐ (सर्वा० १.१५)। यजुर्वेद भाष्यकार उवटने भी इनके ऋषित्वको विवेचित किया है – पुरुषसूक्तस्य नारायण ऋषिः पुरुषो देवतानुष्टुप् छन्दः (यजु० ३१.१ उ०भा०)।

७२. नारायण कौण्डिन्य (२०.३२) — कौण्डिन्यको शाण्डिल्यका शिष्य कहा जाता है। पंक्ति छन्दवाले इस मंत्रमें नारायणकी स्तुति है। नारायणकी स्तुति होनेके कारण ही सम्भवतः मंत्रके ऋषि कौण्डिन्यके साथ नारायण पद संयुक्त हुआ। सर्वानुक्रम सूत्रमें उपर्युक्त तथ्यका सुस्पष्ट उल्लेख किया गया है – यो भूतानामात्म प्रवादा पंक्तिर्नारायणीया

कौण्डिन्यस्य (सर्वा० २.३८)। कौण्डिन्य उपनाम कण्डिकासे सम्बद्ध प्रतीत होता है।

७३. **नृमेध (३३.४१)** — नृमेध ऋषि-द्वारा दृष्ट मंत्र चारों वेदोंमें मिलते हैं। ऋग्वेद एवं सामवेदमें इनके नामके साथ अपत्यार्थक पद-नाम अंगिरस भी संयुक्त है; परन्तु यजुर्वेद एवं अथर्ववेदमें यह पद-नाम संयुक्त नहीं है। यजुर्वेद सर्वानुक्रम-सूत्र एवं यजुर्वेद महीधर भाष्यमें इनके ऋषित्वको उल्लिखित किया गया है — श्रायन्त इव नृमेधो बृहतीम् (सर्वा० ३.१९)। नृमेधदृष्टा बृहती (यजु० ३३.४१ मही०भा०)।

७४. **नृमेध-पुरुषमेध (२०.३०-३१)** — यजु० २०.३०-३१ मंत्रमें ऋषि नाममें 'नृमेध-पुरुषमेधौ' नाम निर्दिष्ट है। यही मंत्र ऋग्वेद ८.८९.१ में आया है, जहाँ ऋषि नाम नृमेध-पुरुमेधौ उल्लिखित है, अतएव सम्भवतः 'नृमेध-पुरुमेधौ'-के स्थानपर 'नृमेध-पुरुषमेधौ' नाम अशुद्ध है। नृमेध ऋषिका नाम स्वतंत्र रूपसे ऋक्, यजु, अथर्व० में मिलता है, परन्तु पुरुमेधके ऋषित्ववाले मंत्र चारों वेदोंमें कहीं नहीं मिलते। यजुर्वेद भाष्यकार आचार्य महीधर भी युगल-ऋषियोंको द्रष्टाके रूपमें स्वीकार करते हैं – नृमेधपुरुषमेधदृष्टा (यजु० २०.३० मही०भा०)। इसका समर्थन सर्वानुक्रम सूत्रकार भी करते हैं – बृहदिन्द्राय बृहती नृमेधपुरुषमेधयोः...... (सर्वा० २.३७)।

७५. **नैध्रुवि कश्यप (८.६३)** — ऋक्, यजु, साम तीनों वेदोंमें निध्रुवि काश्यप द्वारा दृष्ट सूक्त एवं मंत्र संगृहीत हैं। ऋग्वेदमें एक सूक्त ९.६३ इन्हींके द्वारा दृष्ट है। इसी सूक्तका एक मंत्र ९.६३.१८ यजुर्वेदमें ८.६३ में संगृहीत है, परन्तु यजु० सर्वानुक्रम-सूत्रमें इनके द्रष्टाका नाम 'नैध्रुविः कश्यपः' निर्दिष्ट है, जो अशुद्ध पाठ प्रतीत होता है – आ पवस्व सौमीं गायत्री नैध्रुविः कश्यपः (सर्वा० १.३३)। सम्भव है नैध्रुवि निध्रुवके वंशज हों। यजुर्वेद भाष्यकार महीधरने इनके ऋषित्व-विवेचनमें केवल कश्यप नाम ही प्रयुक्त किया है – सोमदेवत्या गायत्री कश्यपदृष्टा (यजु० ८.६३ मही०भा०)।

७६. **नोधा गोतम (२६.११)** — नोधस् नामक कविका उल्लेख ऋग्वेदके पहले मण्डलके सूक्तों (६१-६२ आदि)-में कई बार हुआ है। ऋग्वेदके

पहले मण्डलके सूक्तों ५८ से ६४ तकके ऋषि नाममें इनका नाम निर्दिष्ट हैं — 'नू चित्' इति नवर्चं सूक्तं गौतमस्य नोधस आर्षमाग्नेयम् (ऋ० १.५८ सा०भा०)। यजुर्वेदमें भी नोधा गोतम द्रष्टा रूपमें विवेचित हैं — इन्द्रदेवत्या पथ्या बृहती नोधा गोतम दृष्टा (यजु० २६.११ मही०भा०)। सर्वानुक्रम सूत्रकारने भी इनके ऋषित्वको विवेचित किया है — पथ्या बृहतीं नोधागोतमो— (सर्वा० ३.६)

७७. परमेष्ठी प्रजापति (१.१-३१) — संहिताओं और ब्राह्मणोंमें परमेष्ठी शब्द प्रजापतिके लिये निर्दिष्ट है। सामान्यतः परमेष्ठी शब्द परमपदपर अधिष्ठित व्यक्तिके विशेषणके रूपमे आया है — 'परमेष्ठी.....प्रजापतिः परमेष्ठी ता हि परमे स्थाने तिष्ठन्ति' - (शत०ब्रा० ८.२.३.१३)। सर्वानुक्रम सूत्रमें परमेष्ठी प्रजापतिके ऋषित्वको उपन्यस्त किया गया है — परमेष्ठी प्राजापत्यो दर्शपूर्णमासमन्त्राणां ऋषिर्देवा वा प्राजापत्याः (सर्वा० १.२)। आचार्य सायणने भी अपने भाष्यमें इसी तथ्यका प्रतिपादन किया है — परमेष्ठी नाम प्रजापतिर्ऋषिः (ऋ० १०.१२९ सा०भा०)। — द्रष्टव्य — प्रजापति क्र० ८५।

७८. पराशर शाक्त्य (३३.११) — यजुर्वेद ३३.११ में पराशर शाक्त्यको ऋषिका गौरवपूर्ण स्थान दिया गया है। ऋग्वेदके ५.२८में इनका उल्लेख वसिष्ठ आदि ऋषियोंके साथ किया गया है। निरुक्तमें इन्हें वसिष्ठ-वंशीय विवेचित किया गया हैं तथा शक्ति-पुत्रके रूपमें उल्लिखित किया है — पराशरः ऋषिर्वसिष्ठस्य शक्तेः पुत्र एव (निरुक्त ६.६.३०)। सर्वानुक्रम सूत्रकार भी इनके ऋषित्वको विवेचित करते हैं— आयत्पराशरः शाक्त्योऽग्ने (सर्वा० ३.१७)।

७९. परुच्छेप (७.१९-२३, ८.५३) — परुच्छेप ऋषिका ऋषित्व चारों संहिताओंमें दृष्टिगोचर होता है। ऋग्वेद और सामवेदमें इस नामके साथ अपत्यार्थक नाम दैवोदासि भी संयुक्त है; जिसका आशय दिवोदासके वंशजसे है। निरुक्तमें इन्हें सुस्पष्टतः ऋषि-रूपमें स्वीकार किया गया है — परुच्छेपस्य तन्नाम्नौ मन्त्रदृशः शीलम् (नि० १०.४२)। यजुर्वेद भाष्य और यजुर्वेद सर्वानुक्रम सूत्रमें भी इनका ऋषित्व-विवेचन मिलता है — वैश्वदेवी त्रिष्टुप् परुच्छेपदृष्टा (यजु० ७.१९ मही०भा०)। ये देवासः परुच्छेपो वैश्वदेवी त्रिष्टुभम् (सर्वा० १.२७)।

८०. पायु भारद्वाज (२९.३८) — पायु, भारद्वाज-परम्पराके ऋषि हैं — पायुर्नाम भारद्वाज ऋषि. .... (ऋग्वेद १०.८७ सा०भा०)। इनके द्वारा दृष्ट मंत्र आयुधोंसे सम्बन्धित हैं — भरद्वाजसुतः पायुः संग्रामाङ्गानि प्रत्यृचं स्तौति (यजु० २९.३८ महो०भा०)। सर्वानुक्रम-सूत्रमें भी इनका सम्बन्ध अस्त्र-शस्त्रोंके साथ ही माना गया है — जीमूतस्येव पायुर्भारद्वाजः संग्रामाङ्गान्यृक्शोऽस्तौषीत् सन्नाहं, कार्मुकं. .... (सर्वा० ३.१२)।

८१. पावकाग्नि (१२.१०६-१११) — पावकाग्नि संज्ञक ऋषिनाम केवल साम और यजुर्वेदमें ही निर्दिष्ट है। यजुर्वेदमें १२वें अध्यायमें इनके द्वारा दृष्ट छह मंत्र (१०६-१११) संगृहीत हैं, और सामवेदमें तीन मंत्र (९५२-९५४)। वहाँ अपत्यार्थक नाम बार्हस्पत्य भी संयुक्त हुआ है, जिसका आशय बृहस्पतिके वंशजके रूपमें है। ऋग्वेद-संहितामें यहाँ पावक-अग्निको ही सम्बोधित करके कहा गया है — यो अग्निं देववीतये हविष्माँ आविवासति। तस्मै पावक मृळय (ऋ० १.१२.९)। यजुर्वेदके १७वें अध्यायमें अनेक स्थानोंपर पावक-अग्निसे कल्याणकारक होनेकी प्रार्थना की गई है — पावकोऽअस्मभ्यं शिवो भव (यजु० १७.४)। यजुर्वेद-भाष्यमें आचार्य महीधरने इनके ऋषित्वका स्पष्ट निरूपण किया है — पावकाग्निदृष्टं षड्चमग्निदेवत्यम् (यजु० १२.१०६ मही०भा०)।

८२. पुरुमीढ-अजमीढ (२७-३०-३१; ३३.१९) — पुरुमीढ और अजमीढका सम्मिलित ऋषित्व यजुर्वेद २७.३०-३१ और ३३.१९में मिलता है, परन्तु यही मंत्र ऋग्वेदमें विभिन्न ऋषि नामसे मिलते हैं। ऋग्वेदके ऋषित्व-विवेचनमें इन दोनोंको सुहोत्रका पुत्र अथवा सुहोत्रगोत्रीय माना गया है — 'क उ श्रवत' इति सप्तर्चमेकादशं सूक्तम्। सुहोत्रपुत्रो पुरुमीळहा-जमीळहावृषी — (ऋ० ४.४३ सा०भा०)। ऋ० ६.३१-३२ के ऋषि विषयक उल्लेखमें सुहोत्रको भारद्वाज (भरद्वाज-गोत्रीय) कहा गया है, जबकि सामवेदः६.४९ में पुरुमीळहको आंगिरस (अंगिरस-गोत्रीय) कहा गया है। बृहद्देवतामें पुरुमीळ्ह और उनके भाई तरन्तको विददश्वका पुत्र माना गया — तरन्त पुरुमीळहौ तु राजानौ वैददश्व्यृषी (बृह० ५.६२)। यजु० सर्वानुक्रम-सूत्र एवं यजुर्वेद भाष्यमें भी इनके ऋषि-विषयक उल्लेख प्रतिपादित हैं — वायो शुक्रः पुरुमीढाजमीढौ (सर्वा० ३.९)। अनुष्टुप पुरुमीढाजमीढदृष्टा (यजु० २७.३० मही०भा०)।

८३. पुरोधस् (११.१७) — पुरोधा ऋषिके द्वारा दृष्ट मंत्र चारों वेदोंमें केवल यजुर्वेद ११.१७ में संकलित है। अथर्ववेद और ब्राह्मण-ग्रन्थमें इन्हें समादृत पुरोहित या कुलविप्रके रूपमें मान्यता प्रदान की गई है — सोऽएव पुरोधा। .... (शत० ब्रा० ४.१.४.५)। आचार्य महीधरने भी अपने भाष्यमें उपन्यस्त किया है — अग्निदेवत्या त्रिष्टुप्पुरोधो दृष्टा प्रथमस्य व्यूहनम् (यजु० ११.१७ मही०भा०)। सर्वानुक्रम सूत्रमें इन्हें मंत्रद्रष्टा ऋषिके रूपमें उल्लिखित किया गया है — आग्नेयीं त्रिष्टुप् पुरोधस् .... (सर्वा० २.२)।

८४. प्रगाथ (३३.५०) — ऐतरेय आरण्यक २.२२ में ऋग्वेदके अष्टम मण्डलके ऋषियोंको 'प्रगाथ' कहा गया है, क्योंकि उन्होंने प्रगाथ (बृहती या ककुभ और सतोबृहती) छन्दोंकी रचना की। आचार्य सायणने अपने ऋग्वेद भाष्यमें इन्हें घोर पुत्रके रूपमें विवेचित किया है — आद्यस्य द्वृचस्य तु घोरस्य पुत्रः स्वकीय भ्रातुः कण्वस्य पुत्रतां प्राप्तवात् काण्वः प्रगाथाख्य ऋषिः (ऋ० ८.१ सा०भा०)। इनके द्वारा दृष्ट ऋचाओंका प्रयोग इन्द्रने वृत्रवधके निमित्त किया था ....आद्या प्रगाथदृष्टा माहेन्द्र पुरोरुक् (यजु० ३३.५० मही०भा०)। इसी प्रकार सर्वानुक्रम सूत्रमें भी इनके ऋषित्वका विवेचन है — अस्मे रुद्राः प्रगाथोऽर्वाञ्चो .....(सर्वा० ३.२०)।

८५. प्रजापति (३.९) — यजुर्वेदमें अनेक अध्यायोंके मंत्रोंके ऋषि प्रजापति हैं। सामवेदके दस मंत्रों (६४१-५०)-के ऋषि प्रजापति हैं। अथर्ववेदके अनेक सूक्तोंके ऋषि प्रजापति हैं। सम्भवतः प्रजापतिके साक्षात् द्रष्टा ही अपने पूर्व नामसे मुक्त होकर प्रजापति कहलाए। अनेक स्थानोंपर प्रजापति नामके साथ तीन वैकल्पिक नाम संयुक्त हुए हैं — (अ) वाच्य, (ब) वैश्वामित्र, (स) परमेष्ठी। प्रजापति शब्दका उल्लेख अनेक स्थानोंपर सम्पूर्ण जीवोंके रचयिता या ब्रह्मा, प्रजापालक, सविता या अग्नि आदिके लिये भी हुआ है — प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव (ऋ० १०.१२१.१०)। द्रष्टव्य — परमेष्ठी प्रजापति ७७।

८६. प्रतिक्षत्र (३३.४८) — यजुर्वेद ३३.४८ के ऋषि-स्थानमें प्रतिक्षत्रका नाम निर्दिष्ट है। ऋग्वेदमें भी इन्हें मंत्रद्रष्टाके रूपमें स्वीकार किया गया

है – 'ह्यो न' इत्यष्टर्चं द्वितीय सूक्तं प्रतिक्षत्रस्यार्षम् (ऋ० ५.४६ सा०भा०)। आचार्य महीधरने यजुर्वेद भाष्यमें इनके ऋषित्वका विवेचन किया है – प्रतिक्षत्र दृष्टा .... (यजु० ३३.४८ मही०भा०)। सर्वानुक्रम-सूत्रमें भी इनके ऋषित्वका विवेचन किया है – इन्द्र प्रतिक्षत्र ....(सर्वा० ३.२०)। वैश्वदेव स्तुतिके चतुर्थ दिन इनके द्वारा दृष्ट मंत्रोंका विनियोग किया जाता है।

८७. **प्रस्कण्व (७.४१; ८.४०)** – प्रस्कण्व ऋषि-द्वारा दृष्ट मंत्र चारों वेदोंमें संगृहीत हैं, किन्तु यजुर्वेद एवं अथर्ववेदमें प्रायः ऋषियोंके नाम अपत्यार्थक नामसे रिक्त हैं, जबकि ऋग्वेद एवं सामवेदमें इनके साथ काण्व (कण्व-गोत्रीय) पद-नाम संयुक्त है। प्रस्कण्व ऋषिका नाम ऋग्वेदमें अनेक स्थानोंपर उल्लिखित है। आचार्य सायणने इनके ऋषित्वका प्रमाण अनुक्रमणिकाके उद्धरणसे दिया है – अग्ने पळ्ना प्रस्कण्वः काण्व आग्नेयं तु प्रागाथमाद्यो द्वृचो ऽश्व्युषसां च इति। कण्वपुत्रः प्रस्कण्व ऋषिः (ऋ० १.४४ सा०भा०)। सर्वानुक्रम सूत्र एवं यजुर्वेद भाष्यमें भी इनके ऋषित्वका विवेचन किया गया है – उदु त्यं प्रस्कण्वः सौरीं गायत्रीं (सर्वा० १.२९)। सौरी गायत्री प्रस्कण्व दृष्टा (यजु० ७.४१ मही०भा०)।

८८. **प्रादुराक्षि (२६.६)** – यजुर्वेदके २६वें अध्यायमें मंत्रद्रष्टा ऋषियोंमें लौगाक्षि, रम्याक्षी और प्रादुराक्षिका नाम निर्दिष्ट है। अन्य किसी वेदमें इनके नाम नहीं मिलते। यहाँ वैश्वानर देव से सम्बन्धित तीन ऋचाएँ पुरानुवाक्या कही गयी है, जिनमें से प्रथम ऋचाके द्रष्टा-रूपमें प्रादुराक्षिका नाम उल्लिखित है – तिस्रो वैश्वानरीयाः पुरोनुवाक्याः। आद्या गायत्री प्रदुराक्षि दृष्टा। (यजु० २६.६ मही०भा०)। यहाँ आचार्य महीधरने नाम 'प्रदुराक्षि' दिया है और यजुर्वेद सर्वानुक्रम-सूत्रकार ने वैश्वानराग्निकी स्तुतिमें विनियुक्त इस मंत्र के द्रष्टाका नाम 'प्रादुराक्षि' लिया है – प्रादुराक्षिर्वैश्वानरीयां – (सर्वा० ३.६)।

८९. **प्रियमेध ऐन्द्र (१२.५५)** – 'प्रियमेध' ऋषिके मन्त्र चारों वेदोंमें मिलते हैं। ऋग्वेद ८.६९ सूक्तके ऋषि नाममें 'प्रियमेध आंगिरस' नाम मिलता है। इसी सूक्तके मन्त्र ८.६९.३ को यजु० १५.६० में दो बार संगृहीत किया गया है; परन्तु यहाँ ऋषि नाम प्रियमेध ऐन्द्र उल्लिखित

है। इनकी ख्याति इन्द्रके पुत्रके रूपमें है, अतएव इन्हें ऐन्द्र उपाधिसे विभूषित किया गया है – इन्द्रपुत्रप्रियमेधदृष्टाब्देवत्यानुष्टुप (यजु० १२.५५ मही०भा०)। सर्वानुक्रम सूत्रकारने भी इन्हें यहाँ ऐन्द्र कहा है– ता अस्यार्पीं प्रियमेध ऐन्द्र . ...(सर्वा० २.९)।

९०. बन्धु (३.२५) – बन्धु ऋषिका नाम स्वतंत्र रूपसे उल्लिखित नहीं है। ऋग्वेद ५.२४ में बन्धु, सुबन्धु, श्रुतबन्धु, विप्रबन्धु आदि का सम्मिलित ऋषित्व प्राप्त होता है– बन्धुः सुबन्धु विप्रबन्धुश्च क्रमेण चतसृणामृषयः (ऋ० ५.२४ सा०भा०)। यजुर्वेद भाष्यकार आचार्य महीधरने बन्धु आदिको द्रष्टा रूपमें स्वीकार किया है – दशार्णपादा विराट् बन्ध्वादिदृष्टाः (यजु० ३.२५ मही०भा०)। यजुर्वेद सर्वानुक्रम सूत्रमें आग्नेयी ऋचाओंके द्रष्टाको बन्धु कहा गया है चतस्रो द्विपदा आग्नेयीर्बन्धुः (सर्वा० १.१३)।

९१. बुध-गविष्ठिर (१५.२४) – बुध-गविष्ठिरका ऋषित्व यजुर्वेद १५.२४, सामवेद ७३ और ऋग्वेद ५.१ सूक्तमें दृष्टिगोचर होता है। ऋ० ५.१.१ मन्त्र ही यजु० १५.२४ और अथर्व० १३.२.४६ में मिलता है। यजुर्वेदमें तो बुध-गविष्ठिर ऋषि-नाम उल्लिखित है, परन्तु अथर्ववेदमें इस मंत्रके ऋषि 'ब्रह्मा' हैं। ऋग्वेद भाष्यमें अनुरक्त (अनुल्लिखित) गोत्र होनेके कारण आत्रेय मान लिया गया है – पंचमे मण्डलेऽनुक्तगोत्रम् विद्याद् इति परिभाषितत्वाद् आत्रेयौ बुधगविष्ठिरावृषी (ऋ० ५.१ सा०भा०)। यजुर्वेद सर्वानुक्रम सूत्रमें इनके ऋषित्वका स्पष्ट उल्लेख मिलता है – अयमग्निर्विरूपोऽबोधि बुधगविष्ठिरौ (सर्वा० २.२०)।

९२. बुध सौम्य (१२.६७-६८) – बुध सौम्यका ऋषित्व यजु० १२.६७-६८ और ऋग्वेद १०.१०.१ में दृष्टिगोचर होता है। ऋ० १०.१०.१ सूक्तका १२वाँ मंत्र अथर्ववेद २०.१३७ में निर्दिष्ट है, परन्तु यहाँ केवल बुध नाम ही विवेचित है। इसी सूक्तके दो मंत्र (३-४) ही यजुर्वेदमें इसी ऋषि नामसे संगृहीत हैं। आचार्य सायणने ऋग्वेद भाष्यमें इन्हें सोम-पुत्र कहकर ऋषि-विवेचन किया है – 'उद्बुध्यध्वम्' इति द्वादशर्चं द्वितीयं सूक्तं सोम पुत्रस्य बुधस्यार्षम् (ऋ० १०.१०.१ सा०भा०)। पंचविंश ब्रा० २४.१८.६ में एक आचार्य 'बुध सौमायन' का उल्लेख मिलता है,

जो सम्भवतः यही हैं क्योंकि सौमायनका आशय भी 'सोमके वंशज' -से है। आचार्य महीधरने भी सुस्पष्टतः इन्हें सोम-पुत्र कहकर उल्लिखित किया है—सीरदेवत्ये सोमपुत्रबुधदृष्टे द्वे गायत्री त्रिष्टुभौ (यजु० १२.६७ मही०भा०)।

९३. बृहदुक्थ वामदेव्य (२९.१) – बृहदुक्थको ऋग्वेद, यजुर्वेद एवं सामवेदमें ऋषित्व प्राप्त है। ऋग्वेद भाष्यमें इन्हें वामदेव-गोत्रीय निरूपित किया गया है। इन्हें अन्यत्र याज्ञिक पुरोहितके रूपमें उल्लिखित किया गया है। आश्वमेधिक अध्यायमें इन्हें वामदेवका पुत्र कहकर इनके ऋषित्वको उल्लिखित किया गया है। इस अध्यायमें अश्वकी स्तुति की गई है – अश्वस्तुतयो वामदेव पुत्रेण वृहदुक्थेन समुद्रपुत्रेणाश्वेन वा दृष्टाः (यजु० २९.१ मही०भा०)। सर्वानुक्रम सूत्रकार भी इनके ऋषित्वको प्रतिपादित करते हैं –आद्या आप्रीस्त्रिष्टुभ एकादशाश्वस्तुतिर्वृहदुक्थो वामदेव्यो ददर्शाश्वो वा (सर्वा० ३.११)।

९४. बृहद्दिव (३३.८०) – आचार्य सायणने अपने भाष्यमें इन्हें अथर्वण ऋषिका पुत्र कहकर इनके ऋषित्वको उल्लिखित किया है – 'तदित् इति नवर्चमष्टमं सूक्तमथर्वणः पुत्रस्य बृहद्दिवस्यार्षं......(ऋ० १०.१२० सा०भा०)। चारों वेदोंमें इनके द्वारा दृष्ट मंत्र मिलते हैं। यजुर्वेद भाष्यकार महीधरने इन्हें द्रष्टा-रूपमें प्रतिपादित किया है – बृहद्दिवद्रष्टा माहेन्द्री त्रिष्टुप् (यजु० ३३.८० मही०भा०)। यजुर्वेदमें मात्र ३३.८० में इनके द्वारा दृष्ट ऋचा संकलित है – तदिदाथर्वणो बृहद्दिव (सर्वा० ३.२२)। बृहद्दिव ऋषिको सुमन्युका शिष्य भी कहा गया है।

९५. बृहस्पति अंगिरस (२.११-१३) – बृहस्पतिको मंत्रोंका द्रष्टा प्रायः सभी संहिताओंमें कहा गया है। इन्हें लोकका पुत्र तथा अंगिरस् गोत्रीय माना गया है – लोकनाम्नः पुत्रो बृहस्पतिराङ्गिरस एव वा बृहस्पतिर्ऋषिः (ऋ० १०.७२ सायण भा०)। यजुर्वेदमें आचार्य महीधरने इनके ऋषित्वको विवेचित किया है – तस्याङ्गिरसो बृहस्पतिर्ऋषिः (यजु० २.११ मही०भा०)। सर्वानुक्रम सूत्रकारने इन्हें ऋषिके रूपमें निरूपित किया है – 'ब्रह्मत्वं प्रतिष्ठान्तं' बृहस्पतिराङ्गिरसोऽपश्यद्.... (सर्वा० १.७)।

९६. **बृहस्पति-इन्द्र (९.१-१३)** – वेदोंमें देवताओंको भी ऋषित्व प्राप्त है। यजुर्वेद ९.१-१३में बृहस्पति-इन्द्रका सम्मिलित ऋषित्व प्रतिपादित किया गया है। वाजपेय मंत्रोंके ऋषि रूपमें सर्वानुक्रम सूत्रकारने इन्हें विवेचित किया है – अथ वाजपेयो-बृहस्पतेरार्षमिन्द्रस्य च, देव सवितः .... (सर्वा० १.३४)। आचार्य उवट-महीधरने भी अपने यजुर्वेद भाष्यमें इनके ऋषित्वको उल्लिखित किया है – बृहस्पतेरार्षम् इन्द्रस्य च (यजु० ९.१ उ०भा०)

९७. **ब्रह्मणस्पति (३.२८-३०)** – ब्रह्मणस्पति ऋषिका ऋषित्व केवल यजुर्वेदमें ही प्राप्त होता है, अन्यत्र नहीं। निरुक्तमें यास्कके वचनानुसार ब्रह्मणस्पति ब्रह्मके पाता या पालयिताका नाम है – ब्रह्मणस्पतिर्ब्रह्मणः पाता वा पालयिता वा (नि० १०.१२)। ब्रह्मणस्पतिका उल्लेख दूसरे मण्डलके २३, २४, २५ आदि सूक्तोंमें बृहस्पति, ब्रह्मा, पुरोहित आदिके रूपमें विवेचित हैं। यजु० सर्वानुक्रम-सूत्रमें इनके द्वारा दृष्ट मंत्र ब्रह्मणस्पतिसे ही सम्बन्धित है – सोमानं ब्राह्मणस्पत्यं तृचं गायत्रं ब्रह्मणस्पतिर्मेधातिथिर्वा (सर्वा० १.१३)। यजुर्वेद भाष्यमें आचार्य महीधरने इनके ऋषित्वको प्रमाणित किया है – सोमानं स्वरणं तृचो गायत्रो ब्रह्मणस्पति देवत्यस्तेनैव दृष्टः (यजु० ३.२८ मही०भा०)।

९८. **ब्रह्म स्वयंभु (३२.१-१२)** – ब्रह्म स्वयंभु यजुर्वेदके मंत्र-द्रष्टाओंमें महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। अन्य वेदोंमें इनके द्वारा दृष्ट मंत्र नहीं मिलते। इनके द्वारा दृष्ट १२ मंत्र यजुर्वेदके ३२वें अध्याय (सर्वमेध अध्याय)-में मिलते हैं, जिसका विवेचन यजु० सर्वानुक्रम सूत्रकारने किया है – तदेव सर्वमेधोऽध्याय आत्म दैवतः सप्तमेऽहनि सर्वहोमे विनियुक्तः, सर्वमेधं ब्रह्म स्वयंम्भ्वैक्षत (सर्वा० ३.१५)। तैत्तिरीय आरण्यकमें स्वयंभु ब्रह्म शब्द उल्लिखित है – तस्मादिदं सर्वं ब्रह्म स्वयम्भिवति (तैत्ति०आ० १.२३.८)। प्रसिद्ध भाष्यकार उवटने इनके ऋषित्वपर प्रकाश डालते हुए केवल ब्रह्मण शब्द उल्लिखित किया है – सर्वमेधसंबद्धाः। ब्रह्मण आर्षम्। तदेवाग्निः द्वे अनुष्टुभौ (यजु० ३२.१ उ०भा०), आचार्य महीधरने सुस्पष्टतः इनका ऋषित्व उल्लिखित किया है – अथ सर्वमेधमंत्रा उच्यन्ते प्रवायुमच्छेत्यस्मात्प्राक्। स्वयंभु ब्रह्म द्रष्टा आत्मदेवत्याः (यजु० ३२.१ मही०भा०)।

९९. ब्रह्मा (४०.१५) — ब्रह्मा ऋषि-द्वारा दृष्ट मंत्र अथर्ववेदमें ही संगृहीत हैं, किन्तु यजुर्वेद ४०.१५ का मन्त्रांश 'ओम्' ब्रह्मा-द्वारा दृष्ट है। यजुर्वेद सर्वा० सूत्रमें इनके ऋषित्वको प्रमाणित किया गया है— ओम इति परमाक्षरस्य योगिनाम् आलम्बभूतस्य परस्य ब्रह्मणः प्रणवाख्यस्यास्थूलादि गुणयुक्तस्य ब्रह्मा ऋषिः (सर्वा० ४.९)। आचार्य महीधरने भी इनके ऋषित्वको उल्लिखित किया है — अस्य ब्रह्म ऋषिः गायत्रीच्छन्दः परमात्मा देवता (यजु० ४०.१५ मही०भा०)।

१००. भरद्वाज बार्हस्पत्य (८.६) — भरद्वाज ऋषि मंत्र-द्रष्टाके रूपमें विवेचित किए गए हैं। दिवोदासके पुरोहितके रूपमें और ब्रह्मनिष्ठ ऋषिके रूपमें भी इनका विवेचन मिलता है। बृहस्पतिके वंशज होनेके कारण इन्हें बार्हस्पत्य कहा गया है। ऋग्वेद षष्ठ मंडल (१-३० सूक्त)-के द्रष्टाके रूपमें इन्हें प्रतिष्ठा प्राप्त है — ..... बार्हस्पत्यो भरद्वाजः षष्ठं मण्डलमपश्यत्। (ऋ० ६.१ सा०भा०)। यजुर्वेद भाष्यमें आचार्य महीधरने भी इनके ऋषित्वको प्रतिपादित किया है — सवितृदेवत्या त्रिष्टुब् भरद्वाजदृष्टा (यजु० ८.६ मही०भा०)।

१०१. भुवन आप्त्य अथवा सौधन भौवन (२५.४६) — 'भुवन आप्त्य अथवा साधन' का वैकल्पिक ऋषित्व यजुर्वेद, सामवेद और ऋग्वेदमें मिलते हैं, परन्तु अथर्ववेदमें भुवनका स्वतंत्र ऋषित्व भी प्राप्त होता है। ऋग्वेद भाष्यमें आचार्य सायणने भुवनको अप्त्यका पुत्र और साधनको भुवनका पुत्र कहा है — 'इमा न कम्' इति पञ्चर्चं षष्ठं सूक्तमप्त्यपुत्रस्य भुवनस्यार्षं भुवनपुत्रस्य साधन संज्ञस्य वा वैश्वदेवम् (ऋ० १०.१५७ सा०भा०)। सर्वानुक्रम-सूत्रकारने इनके ऋषित्व-विवेचनमें विकल्प स्पष्ट उल्लिखित किया है — इमा नु द्वेपदं वैश्वदेवं तृचं भौवन आप्त्यो वा साधनो भौवनो वा (सर्वा० ३.५)।

१०२. मधुच्छन्दा वैश्वामित्र (३.२२-२४) — ऋग्वेदके प्रथम मण्डलके एकसे दस सूक्तोंके प्रख्यात ऋषि 'मधुच्छन्दा' हैं। एक ऋषिके रूपमें कौषी०ब्रा० २८.२ और ऐतरेय आरण्यक १.१.३ में इनका उल्लेख मिलता है। मधुच्छन्दा नामके साथ वैश्वामित्र (विश्वामित्र गोत्रीय) संयुक्त होता है। ऋग्वेद भाष्यके आदिमें आचार्य सायणने इनके ऋषित्वको

विवेचित किया है — विश्वामित्र पुत्रो मधुच्छन्दो नामकस्तस्य सूक्तस्य द्रष्टृत्वात् तर्दीय ऋषिः (ऋ० १.१ सा०भा०)। यजुर्वेदमें इनका अपत्यार्थक पद रहित नाम भी उल्लिखित हुआ है — पावका नो मधुच्छन्दा सारस्वतीम् (सर्वा० २.३९)। सर्वानुक्रम सूत्रमें वैश्वामित्र पदनामके साथ ही इनका निरूपण हुआ है — उप त्वाग्नेयं तृचं गायत्रं मधुच्छन्दा वैश्वामित्रोः (सर्वा० १.१३)। ऐतरेय आरण्यकमें इनके नामकरणका कारण इनका मधुसे विशेष सम्बन्ध होना बतलाया गया है — मधु ह स्म वा ऋषिभ्यो मधुच्छन्दाश्छन्दति तन्मधुच्छन्दसो मधुच्छन्दसो मधुच्छन्दस्त्वम् (ऐ०आ०१.१३)।

१०३. मनसस्पति (२.२१; ८.२१) — 'मनसस्पति'-का अर्थ 'मनसः पति', 'मन-का स्वामी' विवेचित किया गया है। यजुर्वेदमें ऋषि नाममें यह नाम कई बार उल्लिखित है। ऋ० ५.४४.१० में आचार्य सायणने मनस्को ऋषि-नाम कहकर निरूपित किया है। यह शब्द ब्राह्मण ग्रन्थमें अन्य अर्थोंमें प्रयुक्त हुआ है — मनसि हि सर्वे प्राणाः प्रतिष्ठिताः (शंत० ब्रा० ७.५.२.६)। यजुर्वेद भाष्यमें इनके द्वारा दृष्ट मंत्रोंको वात देवतासे सम्बन्धित माना गया है — वात देवत्या विराट् मनसस्पतिदृष्टा व्याख्यातापि (यजु० ८.२१ मही०भा०)। सर्वानुक्रम सूत्रकार भी इसी प्रकार इनके ऋषित्वका विवेचन करते हैं — देवा मनसस्पतिर्वातदेवत्यां विराजं ....(सर्वा० १-७)।

१०४. मनु वैवस्वत (३३.९१) — ऋक्, यजु, साम तीनों वेदोंमें मनु वैवस्वत द्वारा दृष्ट सूक्त और मंत्र मिलते हैं। विवस्वान्से अश्विनीकुमारों, यम और यमीकी उत्पत्तिका सन्दर्भ वेदोंमें मिलता है, सम्भवतः विवस्वान् (आदित्य)-से ही मनुकी उत्पत्ति हुई, जिससे इनके साथ पद-नाम वैवस्वत संयुक्त हुआ। गीतामें विवस्वान्ने मनुको योगका उपदेश दिया है — विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् (गीता ४.१)। अतएव मनुका विवस्वान्के शिष्य होनेकी सम्भावना भी युक्तिसंगत है; परन्तु आचार्य सायणने अपने ऋग्वेद भाष्यमें इन्हें विवस्वान्का पुत्र कहकर निरूपित किया है — विवस्वतः पुत्रो मनुर्ऋषिः (ऋ० ८.२७ सा०भा०)। यजुर्वेद भाष्यमें आचार्य महीधरने अपत्यार्थक पद-रहित नाम ही विवेचित किया है — मनुदृष्टा वैश्वदेवी (यजु० ३३.९१ मही०भा०)। सर्वानुक्रम

सूत्रकारने सुस्पष्टतः पद-नाम भी उल्लेखित किया है — देवं देवं वो मनुर्वैवस्वतो वैश्वदेवीं (सर्वा० ४.२३)।

१०५. मयोभुव (११.१८-२२) — अथर्ववेद और यजुर्वेदमें मयोभूकी गणना ऋषि-रूपमें की गई है। यह नाम गुणवाचक प्रतीत होता है। मयस्का आशय सुखसे है। इनके द्वारा दृष्ट मंत्र सुख-स्वरूप हैं, अतएव यह नामकरण किया गया है। सर्वानुक्रम-सूत्रकारने इनके ऋषित्वको विवेचित किया है — आगत्य मयोभुव आर्श्वीमनुष्टुभम् (सर्वा० २.२)। यजुर्वेद भाष्यमें आचार्य महीधरने भी इनके ऋषित्वको उपन्यस्त किया है — अश्वदेवत्यानुष्टुब्मयोभूदृष्टा (यजु० ११.१८ मही०भा०)।

१०६. मुद्गल यज्ञपुरुष (२६.१९) — यजुर्वेदमें मुद्गल यज्ञ-पुरुषको २६.१९ का ऋषित्व प्राप्त है। ऋग्वेदमें भी मुद्गल ऋषिको विवेचित किया गया है, परन्तु यहाँ भाष्यमें आचार्य सायणने इन्हें भर्म्यश्वका पुत्र बताया है — भर्म्यश्व पुत्रो मुद्गल ऋषिः। (ऋ० १०.१०२ सा०भा०)। बृहद्देवतामे भी इनका उल्लेख मिलता है — मुद्गलः शाकपूणिश्च आचार्यः शाकटायनः (बृह० ८.९०)। निरुक्त (९.२३)-में भी संग्राम-विजयसे सम्बन्धित इनका उल्लेख मिलता है। यजुर्वेद भाष्यमें आचार्य महीधर द्वारा भी इनका ऋषित्व उल्लिखित किया गया है — आशीरियं देवदेवत्या त्रिष्टुप् मुद्गलदृष्टा (यजु० २६.१९ मही०भा०)। सर्वानुक्रम सूत्रमें इनके नामके साथ यज्ञ पुरुष पद भी संयुक्त है — अनुर्वीरैर्मुद्गलो यज्ञपुरुषस्त्रिष्टुभम् (सर्वा० ३.७)।

१०७. मेध ऐन्द्र (३३.९२) — यजुर्वेदमें मेध ऋषिका वर्णन किया गया है। मेध शब्द यज्ञ-वाचक है। पवित्र यज्ञादि प्रयोगसे सम्बन्धित ऋषिका नामकरण अनन्तरमें मेध हो गया होगा। निरुक्तमें यह नाम यज्ञसे सम्बद्ध है — मेधा यज्ञा इति — (दु०नि० ३.३.१७)। यजुर्वेदमें वैश्वानर अग्निसे सम्बन्धित मंत्रके द्रष्टाके रूपमें इनका विवेचन उल्लिखित है — मेधदृष्टा वैश्वानरी (यजु० ३३.९२ मही०भा०)। सर्वानुक्रममें इनके नामके साथ ऐन्द्र विशेषण-पद संयुक्त किया गया है — दिवि पृष्टो मेध ऐन्द्र (सर्वा० ३.२३)।

१०८. मेधाकाम (३२.१३-१५) — यजुर्वेदके ३२वें अध्यायके १३-१५

तकके मंत्र पूर्णरूपेण मेधाको समर्पित हैं, जिसमें मेधा-प्राप्तिकी कामना की गई है; अतएव इन मंत्रोंके ऋषिका औपाधिक नामकरण सम्भवतः मेधाकाम हो गया — सदसस्पतिं तृचेन मेधाकामो मेधां याचते .... (सर्वा० ३.१६)। आचार्य महीधरने भी मेधाकाम ऋषिसे सम्बन्धित ऋचाओंमें मेधाकी कामना की बात प्रतिपादित की है — इत उत्तरमृक्त्रयं मेधा याच्यते (यजु० ३२.१३ मही०भा०)।

१०९. मेधातिथि (३.२८-३०; ५.१५) — चारों वेदोंमें मेधातिथि द्रष्टा-रूपमें निरूपित हैं। ऋक्, साममें कण्व-वंशीय (काण्व) पदनाम भी संयुक्त है। अतिथि-सत्कार करनेवालेके अर्थमें इनका नाम विशेष रूपसे प्रयुक्त होता है। ऋग्वेद भाष्यमें आचार्य सायणने इन्हें कण्व-गोत्रीयके रूपमें निरूपित किया है — मेधातिथिमेध्यातिथिनामानौ द्वावृषी तौ च कण्वगोत्रौ (ऋ० ८.१ सा०भा०)। शकट मार्ग-पूजनमें इनके द्वारा दृष्ट मंत्रोंका प्रयोग होता है। विष्णु देवतासे सम्बन्धित ऋचाओंमें इनका ऋषित्व उल्लिखित है — विष्णुदेवत्या गायत्री मेधातिथिदृष्टा (यजु० ५.१५ मही०भा०)। विष्णुर्मेधातिथिर्वैष्णवीं गायत्रीम् (सर्वा० १.२०)।

११०. यज्ञ प्राजापत्य (३४.४९) — ऋग्वेद १०.१३० में यज्ञ प्राजापत्य ऋषि-स्थानमें दृष्टिगोचर होते हैं। इसी सूक्तका एक मंत्र यजुर्वेद (३४.४९)-में मिलता है, वहाँ भी उपर्युक्त संज्ञक ऋषिको ही स्वीकार किया गया है। आदि पुरुष प्रजापतिने यज्ञके साथ ही यह सृष्टि की और तदनन्तर विस्तार किया, उसके द्रष्टा ही सम्भवतः यज्ञ प्राजापत्य कहलाए। ऐतरेय ब्राह्मणमें उपर्युक्त तथ्यकी अंशतः पुष्टि होती है — स प्रजापतिर्यज्ञमतनुत; तमाहरत्; तेनायजत; (ऐ०ब्रा० ५.३२)। यज्ञः प्रजापतिः (ऐ०ब्रा० २.१६)। ऋग्वेद भाष्यमें आचार्य सायणने इन्हें प्रजापतिका पुत्र कहकर निरूपित किया है — 'यो यज्ञः' इति सप्तर्चं द्वितीयं सूक्तम् प्रजापति पुत्रस्य यज्ञाख्यस्यार्षम्। (ऋ० १०.१३० सा०भा०)। सर्वानुक्रम-सूत्रकारने इन्हें ऋषि-सृष्टिका प्रतिपादन करनेवाली ऋचाका द्रष्टा कहा है — सहस्तोमा ऋषि सृष्टि प्रतिपादिकां त्रिष्टुभं यज्ञः प्राजापत्यः (सर्वा० ४.३)।

१११. याज्ञवल्क्य (३३.५५-५६; ३४.१-६) — याज्ञवल्क्य यज्ञ-विद्याके पुरोधा थे। उन्होंने शुक्ल यजुर्वेदके मंत्रोंका दर्शन किया था।

वैदिक साहित्यमें इन्हें नूतन यज्ञ-विधि प्रचलित करनेका श्रेय है। गुरु-विरोधका प्रसंग भी परवर्ती वैदिक साहित्यमें मिलता है। इनके गुरुके रूपमें उद्दालक आरुणि या वैशम्पायनका नाम प्रसिद्ध है और शिष्य आसुरिके नामसे प्रसिद्ध हैं — आसुरिर्याज्ञवल्क्याद्याज्ञवल्क्य उद्दालक ..... (शत०ब्रा० १४९.४.३३)। इन्होंने गुरुज्ञानका वमन करके सूर्य-कृपासे नूतन मंत्रोंका साक्षात्कार किया था और नवीन याज्ञिक व्यवस्था दी — आदित्यानीमानि शुक्लानि यजूंषि वाजसनेयेन याज्ञवल्क्येनाख्यायन्ते (शत०ब्रा० १४.९.४.३३)। आचार्य महीधरने यजुर्वेद भाष्यके प्रथम अध्यायके आरम्भमें इसी तथ्यकी पुष्टि की है — तत्र व्यासशिष्यो वैशम्पायनो याज्ञवल्क्यादिभ्यः स्वशिष्ययेभ्यो यजुर्वेदमध्यापयत्। तत्र दैवात्केनापि हेतुना क्रुद्धो वैशम्पायनो याज्ञवल्क्यं प्रत्युवाच मदधीतं त्यजेति। ......ततो दुःखितो याज्ञवल्क्यः सूर्यमाराध्य अन्यानि शुक्लानि यजूंषि प्राप्तवान् (यजु० अध्याय-१ मही०भा०)। बृह०उप० ३.१.२ में एवं आगे भभ इनके वैदेह जनक सम्बन्धी उल्लेख मिलते हैं। इनकी दो पत्नियों मैत्रेयी और कात्यायनी सम्बन्धी उल्लेख बृह०उप० २.४.१ में प्राप्त होते हैं। ब्रह्मयज्ञके मंत्रोंको इन्होंने ही देखा है — ब्रह्मयज्ञार्हा आदित्ययाज्ञवल्क्यदृष्टाः पितृमेधपर्यन्तम्.......... (यजु० ३३.५५. मही०भा०)। शिवसंकल्प-सूक्तके द्रष्टाके रूपमें भी ये उल्लिखित हैं। समुदित ऋषिके रूपमें इनके नामके साथ आदित्य नाम भी उल्लिखित है — अथानारभ्याधीतं मन्त्रगणमर्वाक्पितृमेधा-दादित्याज्ञवल्क्यौ ददृशतुः (सर्वा० ३.२१)।

११२. रम्याक्षि (२६.४-५) — इनका वर्णन मात्र यजुर्वेद २६.४-५ में ही प्राप्त होता है। अन्यत्र कहीं इनका ऋषि-विषयक उल्लेख प्राप्त नहीं होता। गोसव यज्ञके मंत्रका दर्शन इन्हींके द्वारा किया गया था, इसकी पुष्टि आचार्य महीधरने अपने भाष्यमें की है — द्वे इन्द्र देवत्ये गायत्र्यौ, रम्याक्षिदृष्टे गोसवे यज्ञे ग्रहग्रहणे नियुक्ते सोपयामे (यजु० २६.४ मही०भा०)। इन्द्र गोमन्नेन्द्रयौ गायत्र्यौ रम्याक्षिः (सर्वा० ३.६)।

११३. लुशोधानाक (१८.३१-४५; ११.१७) — लुश ऋषिका वर्णन उपनिषदोंमें प्राप्त होता है। ब्राह्मण ग्रन्थोंमें कुत्स ऋषिके साथ इनकी प्रतिद्वन्द्विताका उल्लेख किया गया है। ऋग्वेद भाष्यमें ऋषि-विषयक

उल्लेखमें आचार्य सायणने इन्हें धनाकका पुत्र कहकर विवेचित किया है — 'अबुध्रम्' इति चतुर्दशर्चं षष्ठं सूक्तं धनाकपुत्रस्य लुशस्यार्षं (ऋ० १०.३५ सा०भा०)। आचार्य महीधरने भी इनके ऋषित्वका विवेचन किया है — लुशो धानाकदृष्टा त्रिष्टुप् (यजु० ३३.१७ मही०भा०)। सर्वानुक्रम सूत्रमें भी इनके ऋषित्वका विवेचन मिलता है — महो अग्नेः सावित्रस्य लुशोधानाकोऽनुक्तं गायत्रं त्रैष्टुभं ...... (सर्वा० ३.१७)।

११४. लौगाक्षि (२६.२) — लौगाक्षिको यजुर्वेद २६.२का ऋषि माना गया है। इन्हें लोगाक्षका वंशज कहा गया है। कात्यायन श्रौत सूत्र १.६.२४ में इन्हें एक आचार्यके रूपमें प्रतिष्ठा प्राप्त है — साम्युत्थानमिति लौगाक्षिः (का० श्रौ० १.६.२४)। आचार्य महीधरने अपने यजुर्वेद भाष्यमें इनके ऋषित्वपर प्रकाश डाला है — प्रियो देवानां मध्येऽवसानरहितानुष्टुप् लौगाक्षिदृष्टा (यजु० २६.२ मही०भा०)। सर्वानुक्रम सूत्रमें भी इनका ऋषित्व स्पष्ट निर्दिष्ट है — प्रियो देवानां लौगाक्षिरनुष्टुभमनवसानां (सर्वा० ३.६)।

११५. वत्स (४.१६; ७.४०; २६.१५) — वत्सका ऋषित्व चारों वेदोंमें दृष्टिगोचर होता है। यजुर्वेद एवं अथर्ववेदमें प्रायः अपत्यार्थक नाम अनुल्लिखित है, परन्तु ऋग्वेद एवं सामवेदमें इनके नामके साथ काण्व (कण्व-गोत्रीय) नाम संयुक्त है। ऋग्वेदके १०.१८७ सूक्तके द्रष्टा वत्सके साथ आग्नेय नाम संयुक्त है। सम्भवतः आग्नेयी ऋचाओंका द्रष्टा होनेके कारण यहाँ आग्नेय पद संयुक्त हुआ हो। यजुर्वेदके ४.१६ में भी आग्नेयी ऋचाके द्रष्टाके रूपमें उल्लेख है — गायत्र्याग्नेयी वत्सदृष्टा (यजु० ४.१६ मही०भा०)। ऋ० सूक्त ८.६ का पहला मंत्र यजु० ७.४० में संगृहीत है, इसका द्रष्टा वत्सको ही स्वीकार किया गया है — माहेन्द्री गायत्री वत्सदृष्टा (यजु० ७.४० मही०भा०)। सर्वानुक्रम-सूत्रकारने भी उपर्युक्त तथ्यको स्वीकार किया है — य ओजसा वत्सो गायत्रीम् (सर्वा० १.२९)।

११६. वत्सप्रीर्भालन्दन (१२.१८-२९) — वत्सप्री-भालन्दनका ऋषित्व तीनों वेदों (ऋक्, यजु, साम)-में मिलता है। यजुर्वेदमें प्रायः अपत्यार्थक नाम भालन्दन अनुल्लिखित है। ऋग्वेद ९.६८; १०.४५-४६ सूक्तोंके ऋषि यही हैं, इन्हें यहाँ भलन्दन पुत्र वत्सप्रि कहकर आचार्य सायणने विवेचित किया है — तत्र 'प्र देवम्' इति दशर्चं प्रथमं सूक्तं भलन्दनपुत्रस्य

वत्सप्रेरार्षम (ऋ० ९.६८ सा०भा०)। एक आचार्यके रूपमें परवर्ती संहिताओंमें इनका उल्लेख आता है, जिन्होंने वात्सप्र नामक सामका दर्शन किया था। यजुर्वेद भाष्यमें आचार्य महीधरने इनके ऋषित्वका विवेचन किया है — अग्नि देवत्या द्वादशत्रिष्टुभो भलन्दन पुत्रवत्सप्रीदृष्टाः (यजु० १२.१८ मही०भा०)।

११७. वरुण (९.३५; १०.१-१७) — वेदोंमें प्रायः अनेक देवताओंका भी ऋषित्व स्वीकार किया गया है। वरुणका ऋषित्व सामवेदको छोड़कर अन्य तीनों वेदोंमें मिलता है। सम्पूर्ण भुवनोंके सम्राट्के रूपमें इनका उल्लेख मिलता है — आसीदद् विश्वा भुवनानि सम्राड् विश्वेत् तानि वरुणस्य व्रतानि (ऋ० ८.४२.१)। इनकी विशेषताओंमें प्रमुख है इनका धृतव्रती होना — त्वमग्ने रजा वरुणो धृतव्रतस्त्वं ....(ऋ० २.१.४)। राजसूय मंत्रका प्रारम्भ इन्हींके द्वारा दृष्ट मंत्रोंसे होता है — अथ राजसूयमंत्राः तेषां वरुण ऋषिः (यजु० ९.३५ मही०भा०)।

११८. वसिष्ठ (३.६०; ५.१६) — ऋग्वेदके सातवें एवं नवें मण्डलके अनेक सूक्तोंके मंत्रद्रष्टा वसिष्ठ हैं। यजुर्वेद, सामवेद एवं अथर्ववेदके भी अनेक मंत्रोंके ऋषि वसिष्ठ हैं। सामवेद एवं ऋग्वेदमें वसिष्ठके साथ अपत्यार्थक नाम मैत्रावरुण भी संयुक्त है, जबकि यजुर्वेद एवं अथर्ववेदमें केवल वसिष्ठ नाम ही प्रयुक्त है। ऋग्वेद ७.३३.११ के आधारपर वसिष्ठको मित्रावरुण एवं उर्वशीका पुत्र भी माना गया है — उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठोर्वश्या ब्रह्मन्मनसोऽधि जातः (ऋ० ७.३३.११)। आचार्य महीधरने इनके ऋषित्वका विवेचन किया है — वैष्णवी त्रिष्टुप् वसिष्ठदृष्टा (यजु० ५.१६ मही०भा०)। महामृत्युंजय मंत्र वसिष्ठके द्वारा ही दृष्ट है — त्र्यम्बकं द्वे अनुष्टुभौ पूर्वस्यां वसिष्ठ (सर्वा० १.१५)।

११९. वसुश्रुत (३.२) — वसुश्रुत ऋषि द्वारा दृष्ट मंत्र ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तीनों वेदोंमें मिलते हैं। ऋग्वेद भाष्यमें आचार्य सायणने इन्हें आत्रेय (अत्रि-गोत्रीय) कहकर निरूपित किया है — त्वमग्ने वरुणः इति द्वादशर्चं तृतीयं सूक्तमात्रेयस्य वसुश्रुतस्यार्षं त्रैष्टुभमाग्नेयम् (ऋ० ५.३ सा०भा०)। सर्वानुक्रम-सूत्रमें भी इनके ऋषित्वका विवेचन किया गया है — सुसमिद्धाय वसुश्रुतः (सर्वा० १.१०)। यजुर्वेद भाष्यमें आचार्य उवट-महीधरने इनके ऋषित्वपर कोई विवेचन नहीं किया है।

१२०. वसूयव (१७.८) – वसूयव ऋषिका ऋषित्व केवल ऋग्वेद एवं यजुर्वेदमें मिलता है। ऋग्वेदके पाँचवें मण्डलमें दो सूक्त २५-२६में वसूयव आत्रेयाःका ऋषित्व मिलता है। ऋग्वेद ५.२६का पहला मंत्र ही यजुर्वेद १७.८ में संगृहीत है, परन्तु यहाँ केवल वसूयव उल्लिखित है। ऋग्वेद भाष्यमें आचार्य सायणने इनके ऋषित्वका विवेचन किया है – अग्ने पावक इति नवर्चं द्वादशं सूक्तम्। वसूयव ऋषयः (ऋ० ५.२६ सा०भा०)। आचार्य महीधरने आग्नेयी ऋचाके द्रष्टा वसूयुका उल्लेख किया है – आग्नेयी गायत्री वसूयुदृष्टा (यजु० १७.८ मही०भा०)। सर्वा० में भी इनके ऋषित्वका वर्णन विवेचित है – अग्ने पावक वसूयवः (सर्वा० २.२४)।

१२१. वामदेव (३.१५, ३६; १०.२४-२६) – ऋग्वेदके चतुर्थ मण्डलके ऋषिके रूपमें वामदेवका नाम आता है। चारों वेदोंमें इनका ऋषित्व दृष्टिगोचर होता है; परन्तु यजुर्वेद एवं अथर्ववेदमें प्रायः ऋषियोंके नाम अपत्यार्थक नामसे रिक्त हैं। सामवेद एवं ऋग्वेदमें इनके साथ 'गौतम' नाम संयुक्त है। यजुर्वेद सर्वानुक्रम-सूत्रमें इनके ऋषित्वको प्रमाणित किया है – आग्नेयी गायत्री वामदेव दृष्टा जपे विनियुक्ता (यजु० ३.३६ मही०भा०)। वामदेवका सम्बन्ध कश्यप, गौतम, अंहोमुक्, दधिक्रावा, बृहदुक्थ और मूर्धन्वान्से निर्दिष्ट है।

१२२. विदर्भि (२०.५५-८०) – विदर्भि द्वारा दृष्ट मंत्र केवल यजुर्वेद में संकलित किए गए हैं। इन्हें वत्सनपात्का शिष्य कहा गया है और गालवको विदर्भी कौण्डिन्यका शिष्य कहा गया है (बृ०उ० २.६.३)। यहाँ इनके नामके साथ 'कौण्डिन्य' अपत्यार्थक नाम भी संयुक्त है। आचार्य महीधर ने अपने यजुर्वेद भाष्य में इन्हें आप्री संज्ञक सूक्तके द्रष्टाके रूप में स्वीकार किया है – विदर्भिदृष्टा अश्विसरस्वतीन्द्रदेवत्या आप्रीसंज्ञा द्वादशानुष्टुभः (यजु० २०.५५ मही०भा०)।

१२३. विधृति (१७.६२-६९) – वेदोंमें अनेक मंत्रोंमें भावनाओं, गुणों, देवों और वस्तु आदि अर्थमें प्रयुक्त नामोंका ऋषित्व भी दृष्टिगोचर होता है। यजुर्वेदमें विधृतिका ऋषित्व केवल १७.६२-६९ में मिलता है। देवोंका आवाहन करनेवाले यज्ञको देवहूयज्ञ कहा जाता है। विधृति इसी यज्ञके

मंत्रोंके द्रष्टा हैं– विधृतिदृष्टा यज्ञ देवत्यानुष्टुप्। देवानाह्वयतीति देवहूः देवानामाह्वाता यज्ञो देवानावक्षत् आवहतु (यजु० १७.६२ महीःभा०)।

१२४. विप्रबन्धु (३.२६) – ऋग्वेद ५.२४ सूक्तका सामूहिक ऋषित्व प्राप्त होता है, जिनमें चार भ्राता ऋषियोंका विवरण प्राप्त होता है। उनमेंसे एक भाई विप्रबन्धुको भी ऋषित्व प्राप्त है। इसी सूक्तके प्रथम चार मंत्र यजुर्वेद ३.२५-२६ में संगृहीत हैं, जिसके ऋषि उपर्युक्त चारों भ्राता हैं। बृहद्देवतामें भी इनका विवेचन किया गया है – बन्धु-प्रभृतीन् द्वैपदा येऽत्रिमण्डले (बृह० ७.८६)। यजुर्वेद ३.२६ का मात्र पूर्वार्द्धर्च ही विप्रबन्धु-द्वारा दृष्ट है, परन्तु ३.२५ एवं ३.२६ में चारों भाइयोंको अर्द्धर्चका ऋषित्व ही प्राप्त होता है – अग्ने त्वं चतस्रो द्विपदाऽऽग्नेयीर्बन्धुः सुबन्धुः, श्रुतबन्धुर्विप्रबन्धुरेकैकश....... (सर्वा० १.१३)।

१२५. विभ्राट् सौर्य (३३.३०) – विभ्राट् सौर्यका ऋषित्व ऋक्, यजु, साम तीनों वेदोंमें मिलता है। ऋग्वेद १०.१७० सूक्तके देवता सूर्य हैं तथा ऋषि विभ्राट् सौर्य हैं। सूर्य-पुत्र होनेके कारण इनकी उपाधि सौर्य है। सर्वमेध यज्ञमें तृतीय दिन सूर्य-स्तुतिके सन्दर्भमें दृष्ट मंत्र विभ्राट् सौर्यके ही हैं – अथ......सूर्यस्तुत् ....विभ्राड्दृष्टा जगती एन्द्रवायवपुरोरुक् (यजु० ३३.३० महीःभा०)। विभ्राट् शब्द सूर्यके विशेषणके रूपमें भी प्रयुक्त किया गया है – विभ्राट् विभ्राजमानो विशेषेण दीप्यमानः सूर्यः (ऋ० १०.१७०.१ सा०भा०)।

१२६. विरूप आंगिरस (३.१; ११.७१) – विरूप आंगिरसका ऋषित्व चारों वेदोंमें निरूपित है। विरूपको 'आंगिरस' पद 'अंगिरस गोत्रीय' होनेके कारण प्राप्त है। यजुर्वेद सर्वानुक्रम सूत्रकारने इनके ऋषित्वपर प्रकाश डाला है– समिधा विरूप आङ्गिरसः (सर्वा० १.१०)। परस्या विरूप आङ्गिरसः (सर्वा० २.६)। आचार्य महीधरने पद-नाम उल्लिखित नहीं किया है – आग्नेयी गायत्री विरूप दृष्टा (यजु० ११.७१ महीःभा०)।

१२७. विरूपाक्ष आंगिरस (१२.३०) – 'विरूपाक्ष' ऋषिका नाम 'संयुक्त-ऋषि' के रूपमें आता है, जिसके अन्तर्गत दो संयुक्त ऋषि 'विरूप और अक्ष' आते हैं। इन दोनोंका पृथक् पृथक् ऋषित्व भी (ऋ०

८.४३-४४ और १०.३४में) उपलब्ध होता है। आचार्य महीधरने विरूपाक्षके ऋषित्वका विवेचन किया है — विरूपाक्षदृष्टा आग्नेयी गायत्री व्याख्याताप्युच्यते (यजु० १२.३० मही०भा०)। सर्वानुक्रम-सूत्रमें भी उल्लिखित है — समिधाग्निं विरूपाक्ष आङ्गिरस आग्नेयं गायत्रं (सर्वा० २.८)।

१२८. विवस्वान् (८.३६-३७) — विवस्वान्‌को सम्पूर्ण यजुर्वेदका सामूहिक ऋषित्व प्राप्त है — 'इषे त्वादि खं ब्रह्मान्तं' विवस्वानपश्यत् (सर्वा० १.२), परन्तु विशेष रूपसे यजुर्वेद ८.३६-३७ एवं ऋग्वेद १०.१३ सूक्तका द्रष्टा माना गया है, यहाँ विवस्वान्‌के साथ 'आदित्य' नाम भी ऋग्वेदमें संयुक्त है। इन्हें आदित्योंमें स्थान प्राप्त है और अदितिका पुत्र भी कहा गया है। (बृह० ६.१६३)-के अनुसार विवस्वान्‌ने सरण्यू नामक पत्नीसे अश्विनीकुमारको उत्पन्न किया। यम और यमीको भी उत्पन्न किया, इसी कारण वे वैवस्वत कहलाए। यजुर्वेद भाष्यमें इनके ऋषित्वका स्पष्ट विवेचन आचार्य महीधरने किया — इन्द्रदेवत्या त्रिष्टुप् विवस्वत् दृष्टा (यजु० ८.३६ मही०भा०)। .... सह प्राणेनेति यजुः विवस्वद्दृष्टा (यजु० ८.३७ मही०भा०)।

१२९. विश्वकर्मा भौवन (१७.१७-३२) — विश्वकर्मा भौवनका ऋषित्व ऋक्, यजु, साम तीनों वेदोंमें मिलता है, यजुर्वेदमें कहीं-कहीं 'भौवन' नाम अनुल्लिखित है। इन्हें सम्पूर्ण सृष्टिकर्त्ता, विश्वकर्त्ता, विधाताके रूपमें भी उल्लिखित किया गया है — विश्वकर्मा विमना आद्विहाया धाता विधाता परमोत संदृक् (ऋ० १०.८२.२)। आचार्य महीधरने इन्हें भुवनपुत्रके रूपमें निरूपित किया है — भुवनपुत्र विश्वकर्मदृष्टा विश्वकर्मदेवत्याः षोडश त्रिष्टुभः (यजु० १७.१७ मही०भा०)। इन्द्राग्नी विश्वकर्मा च तन्मंत्राणामृषिः (यजु० १४.११ मही०भा०)।

१३०. विश्वमना (११.४१) — विश्वमनाका ऋषित्व चारों वेदोंमें दृष्टिगोचर होता है। ऋग्वेदमें चार सूक्तों (८.२३-२६)-के द्रष्टा यही हैं। ऋग्वेद और सामवेदमें इस नामके साथ अपत्यार्थक नाम वैयश्व भी संयुक्त है। इनका सम्बन्ध वृत्रहन्ता इन्द्रके साथ भी माना जाता है — विश्वानि विश्वमनसो धिया नो वृत्रहन्तम (ऋ० ८.२४.७)। यजुर्वेद भाष्य

एवं सर्वानुक्रमणी सूत्रमें भी इनके ऋषित्वका विवेचन किया गया है —

अग्निर्देवत्या पथ्या बृहती विश्वमनोदृष्टा (यजु० ११.४१ महीं०भा०)। उदु तिष्ठ विश्वमनाः (सर्वा० २.४)।

१३१. विश्वामित्र (३.३५; ७.३१; ११.६२) – विश्वामित्र ऋषिका ऋषित्व चारों वेदोंमें दृष्टिगोचर होता है, परन्तु यजुर्वेद एवं अथर्ववेदमें इनका अपत्यार्थक नाम 'गाथिन' अनुल्लिखित है, जो ऋग्वेद एवं सामवेदमें मिलता है। इन्हें ऋग्वेदके तृतीय मण्डलके द्रष्टाके रूपमें माना जाता है। विश्वामित्रके वंशको कुशिकोंके रूपमें बताया गया है। निरुक्तमें उनके पिता कुशिकको राजा कहा गया है – प्रज्ञया वाऽवनाय कुशिकस्य सूनुः। कुशिको राजा बभूव (निरु० २.२५)। विश्वामित्रने शुनः शेपको अपना दत्तक पुत्र बनाया और देवरात नाम रखा। ऐ०ब्रा० में इस सम्बन्धमें विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। गायत्री मंत्रके द्रष्टाके रूपमें ये प्रसिद्ध हैं – विश्वामित्र दृष्टा सावित्री गायत्री जपे विनियुक्ता (यजु० ३.३५ महीं०भा०)। तत्सवितुर्विश्वामित्रः सावित्रीं गायत्रीं (सर्वा० १.१३)। आचार्य सायणने इनके ऋषि-विषयक उल्लेखमें इन्हें गाथिनः (गाथिनके पुत्र) कहा है – 'अग्ने सहस्व' इति........ ऋषिर्गाथिनो विश्वामित्रः (ऋ० ३.२४ सा०भा०)।

१३२. विश्वावसु देवगन्धर्व (१२.६६) – ऋग्वेद १०.१३९ और यजु० १२.६६ में विश्वावसु देवगन्धर्वका ऋषित्व विवेचित है। उनका उल्लेख एक गन्धर्वके रूपमें वैदिक एवं परवर्ती साहित्य में मिलता है – विश्वावसु सोम गन्धर्वमापो (ऋ० १०.१३९.४)। गन्धर्वस्त्वा गन्धर्व ऋषिः। (ऋ० १०.१३९ सा०भा०)। यजुर्वेद १७.५९ के ऋषि-नाममें केवल विश्वावसु नाम उल्लिखित है – विश्वावसुदृष्टा आदित्य देवत्या त्रिष्टुप् (यजु० १७.५९ महीं०भा०)। गन्धर्वके रूपमें भी स्पष्ट विवेचन उल्लिखित है – विश्वावसु गन्धर्वदृष्टेन्द्र देवत्या त्रिष्टुप् (यजु० १२.६६ महीं०भा०)।

१३३. विश्वेदेवा (१४.७) – विश्वेदेवा, देवा आदि देवगणोंका समुदित ऋषित्व वेदोंमें दृष्टिगोचर हाता है। विश्वेदेवाका ऋषित्व केवल यजुर्वेद १४.७में ही मिलता है। इनके ऋषित्वका विवेचन प्रसिद्ध भाष्यकार उवट एवं महीधर दोनोंने किया है – विश्वेषा देवानामार्षम् (यजु० १४.७) में ही मिलता है। सम्भवतः अनाम ऋषियोंने जिन देवगणोंको लक्ष्य करके मंत्रोंका दिग्दर्शन किया, वे उन्हींके नामसे द्रष्टा कहलाए।

१३४. विहव्य (३४.४६) – विहव्य द्रष्टा का विवेचन सामवेदके अतिरिक्त तीनों वेदोंमें मिलता है। ऋ० १०.१२८वें सूक्तमें ऋषि-विषयक उल्लेखमें इनके नामके साथ 'आंगिरस' पद निर्दिष्ट है, जो यजुर्वेद ३४.४६ एवं अथर्ववेद १०.५.४२-५० में अनुल्लिखित है। इसी सूक्तका नवम मंत्र यजुर्वेद ३४-४६ में संकलित है। सर्वानुक्रम-सूत्रमें इनके ऋषित्वका विवेचन मिलता है – ये नो लिंगोक्त देवतां त्रिष्टुभं विहव्यं (सर्वा० ४.३)।

१३५. वेन (७.१६; ३३.२१) – वेन ऋषिका ऋषित्व चारों वेदोंमें दृष्टिगोचर होता है। ऋग्वेद एवं सामवेदमें इनके नामके साथ अपत्यार्थक नाम भार्गव (भृगु-गोत्रीय) संयुक्त है। ये एक मेधा-सम्पन्न ऋषि माने गए हैं। इनका पैतृक नाम पृथुवाण भी समझा जाता है – प्र तदुः शीमे पृथवाने वेने (ऋ० १०.९३.९४)। परन्तु आचार्य सायणने इन्हें स्पष्टतः भृगु-गोत्रीय कहा है – 'इन्द्राय' इति द्वादशर्चमष्टादशं सूक्तं भृगुगोत्रस्य वेनस्यार्षं। (ऋ० ९.६६ सा०भा०)। सर्वानुक्रम-सूत्रकारने भी इनके ऋषित्वको प्रमाणित किया है – अयं वेनो वेनस्य त्रिष्टुप् सोमस्तुतिरधि दैवतमधियज्ञं च (सर्वा० १.२७)।

१३६. वैखानस (८.३८; १९.३८; ३४.१७) – वैखानस ऋषिका ऋषित्व केवल यजुर्वेदमें मिलता है। ऋग्वेद ९.६६ और सामवेदमें अनेक स्थानोंपर 'शतं वैखानसाः'-का ऋषित्व मिलता है, जो सम्भवतः सौ संख्यक वैखानस-गोत्रीय ऋषियोंका समूह है। इनके ऋषित्वका स्पष्ट विवेचन आचार्य सायणने अपने ऋग्वेद भाष्यमें किया है – अत्रानुक्रम्यते-पवस्व शतं वैखानसा अष्टादश्यनुष्टुप् परास्तिस्र परास्तिस्र आग्नेय्यः इति (ऋ० ९.६६ सा०भा०)। यजुर्वेद भाष्यमें आचार्य महीधरने इनके ऋषित्वको उपन्यस्त किया है – अग्निदेवत्या गायत्री वैखानसदृष्टा (यजु० ८.३८ मही०भा०)। सर्वानुक्रम-सूत्रमें भी इनके द्रष्टा होनेका प्रमाण मिलता है – अग्ने पवस्व वैखानस आग्नेयीं गायत्रीम् (सर्वा० १.३२)।

१३७. व्यश्व आंगिरस (२७.३४) – व्यश्व आंगिरसका ऋषित्व ऋग्वेद ८.२६ एवं यजुर्वेद २७.३४ में ही मिलता है। ऋग्वेद ८.२६ सूक्तका इक्कीसवाँ मंत्र ही यजुर्वेद २७.३४में मिलता है। ऋषि-विषयक उल्लेखमें

आचार्य सायणने विकल्प-रूपसे इनके पुत्र विश्वमना वैयश्वको भी इसी सूक्तमें ऋषित्व प्रदान किया है। विश्वमना वैयश्वका स्वतंत्र ऋषित्व भी ऋ० ८.२३-२५ में मिलता है– व्यश्वपुत्रो विश्वमना ऋषिः (ऋ० ८.२३ सा०भा०)। आचार्य महीधरने यजुर्वेद भाष्यमें केवल निरूपित किया है – गायत्री व्यश्व दृष्टा (यजु० २७.३४ मही०भा०)। सर्वानुक्रमसूत्रमें इनका ऋषित्व उल्लिखित है – तव वायो व्यश्व आंगिरसो (सर्वा० ३.९)।

१३८. शंख (१९.४९-७१) – ऋग्वेदमें एक सूक्त १०.१५के ऋषि शंख यामायन है। इसी सूक्तके कुछ मंत्र यजुर्वेद १९.४९-७१ में संगृहीत हैं। यहाँ ऋषि नाम शंख और देवता पितर ही उल्लिखित है। आचार्य सायणके अनुसार यमका पुत्र होनेके कारण ये यामायन कहलाए। सर्वानुक्रम-सूत्रमें भी इनके ऋषित्वका स्पष्ट विवेचन किया गया है – उदीरतां त्रयोदशर्चं पित्र्यं त्रैष्टुभं शङ्खः (सर्वा० २.३५)। आचार्य महीधरने भी इन्हें ऋषिके रूपमें प्रतिष्ठित किया है – त्रयोदश शङ्खदृष्टाः पितृदेवत्याः (यजु० १९.४९ मही०भा०)।

१३९. शंयु बार्हस्पत्य (३.४१-४३; २७.३७-३८) – शंयु बार्हस्पत्यका ऋषित्व चारों वेदोंमें दृष्टिगोचर होता है, परन्तु यजुर्वेद एवं अथर्ववेदमें अनेक स्थानोंपर बार्हस्पत्य नाम अनुल्लिखित है। ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें इनका उल्लेख किया है – शंयुर्ह वै बार्हस्पत्यः सर्वान् (कौषी० ब्रा० ३.९)।

बृहस्पति-पुत्र होनेके कारण इन्हें बार्हस्पत्य कहा गया है। यजुर्वेद भाष्यमें आचार्य महीधरने इनके ऋषित्वका विवेचन किया है – तिस्रोऽपि वास्तुदेवत्याः शंयुदृष्टाः (यजुः ३.४१ मही०भा०)। सर्वानुक्रम-सूत्रकारने इनके ऋषि-विषयक उल्लेखमें इन्हें बार्हस्पत्य भी कहा है – तिस्रोऽपि वास्तवीः शंयुर्बार्हस्पत्यः (सर्वा० १.१४)।

१४०. शास भारद्वाज (८.४४-४६; ८.७०) – शास भारद्वाजका ऋषित्व ऋक्, यजु, साम, तीनों वेदोंमें दृष्टिगोचर होता है। ऋग्वेदके एक सूक्त १०.१५२ के द्रष्टा यही हैं, इसी सूक्तका चौथा मंत्र यजुर्वेदके ८.४४ एवं १८.७० में संकलित है। आचार्य सायणने अपने ऋग्वेद-भाष्यमें इन्हें भरद्वाज-पुत्रके रूपमें विवेचित किया है – भरद्वाजपुत्रस्य

शासनाम्न आर्षामानुष्टुभमैन्द्रम्। (ऋ० १०.१५२ सा०भा०)। आचार्य महीधरने पद-नाम उल्लिखित नहीं किया है – इन्द्रदेवत्यानुष्टुप् शासदृष्टा (यजु० ८.४४ मही०भा०)। सर्वानुक्रम-सूत्रमे इनका पूरा नाम उल्लिखित किया गया है – वि नः शासोभारद्वाज ऐन्द्रीमनुष्टुभं (सर्वा० १.३२)।

१.४१ शिरिम्बिठ भारद्वाज (३५.१८) – शिरिम्बिठ भारद्वाजका ऋषित्व सामवेदके अतिरिक्त तीनों वेदोंमें मिलता है। ऋग्वेदके एक सूक्त १०.१५५ के द्रष्टा यही माने गए हैं। इसी सूक्तका पाँचवाँ मंत्र यजुर्वेद ३५.१८ में संकलित है। आचार्य सायणने इन्हें भारद्वाज-पुत्रके रूपमें निरूपित किया है। आचार्य महीधरने इन्हें द्रष्टा-रूपमें विवेचित किया है – इन्द्रदेवत्यानुष्टुप् भरद्वाजात्मजशिरिम्बिठ दृष्टा (यजु० ३५ .१८ मही०भा०)। सर्वा० में इनका विवेचन मिलता है – परीमेऽनुष्टुभमैन्द्रीं भारद्वाजः शिरिम्बिठः (सर्वा० ४.४)।

१.४२ शिव-संकल्प (३४.१-६) – शिव-संकल्पका ऋषित्व केवल यजुर्वेद ३४.१-६ में मिलता है। यहाँ प्रत्येक कण्डिकाके अन्तमें 'तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु' पद संयुक्त है, ऋषिकी यह प्रार्थना 'मेरा मन शिव-संकल्प वाला हो' प्रत्येक कण्डिकामें दी गई है। सम्भवतः ऋषि इन दृष्ट कण्डिकाओंके अनन्तर स्वयं ही शिव-संकल्प कहलाए। इनके देवता मनस् हैं। यजुर्वेद भाष्यमें आचार्य महीधरने इनके ऋषित्वका स्पष्ट विवेचन किया है – षड्चस्त्रिष्टुभो मनोदेवत्याः शिवसंकल्पदृष्टाः (यजु० ३४.१ मही०भा०)।

१४३. शुनः शेप (८.२३-२६; १०.२७-३०) – शुनः शेपका ऋषित्व चारों वेदोंमें मिलता है। ऋग्वेद एवं सामवेदमें इनका अपत्यार्थक नाम आजीगर्ति संयुक्त है। ऐतरेय ब्राह्मणमें इनका उल्लेख विश्वामित्रके दत्तक पुत्रके रूपमें, जो अनन्तर देवरात कहलाए, विवेचित है। इनके पिता अजीगर्तके तीन पुत्रों, जिनमेंसे मध्यम शुनः शेप थे, का उल्लेख भी इसी में मिलता है – तस्य ह त्रयः पुत्रा आसुः, शुनः पुच्छः शुनः शेपः शुनोलाङ्गूल इति (ऐ०ब्रा० ७.१५)। इनके ऋषि-विषयक उल्लेखमें आचार्य सायणने इन्हें अजीगर्तका पुत्र कहकर निरूपित किया है। आचार्य महीधरने इनके ऋषित्वका विवेचन किया है – वरुण देवत्या

त्रिष्टुप् शुनः शेप द्रष्टा (यजु० ८.२३ मही०भा०)। इनके द्वारा दृष्ट मंत्र वरुण देवतासे सम्बन्धित हैं — उरुꣳ हि शुनः शेपो वारुणीं त्रिष्टुभं (सर्वा० १.३१)।

१४४. शूर्प, यवमान, कृषि, उद्घालवान् धानान्तर्वान् (२.१९) — 'वैदिक ऋषि : एक परिशीलन' नामक ग्रन्थमें डॉ० कपिलदेव शास्त्रीने पृष्ठ ११६ पर लिखा है — यजुर्वेद २.१९ की अनुक्रमणीमें ऋषिके वैयक्तिक नामके रूपमें शूर्प, यवमान्, कृषि, उद्घालवान्, धानान्तर्वान्‌का नाम लिया गया है। ये नाम भी विचारणीय है; क्योंकि ये व्यक्तिगत नाम प्रतीत नहीं होते, अपितु यज्ञ-सम्बन्धी विविध उपकरणोंके नाम जाने पड़ते हैं। इससे अधिक इनके सम्बन्धमें कुछ भी उल्लेख उपलब्ध नहीं होता।

१४५. श्यावाश्व (५.१४; १२.३-५) — श्यावाश्व द्वारा दृष्ट मंत्र ऋग्०, यजु०, साम तीनों वेदोंमें मिलते हैं। ऋग्वेद, सामवेदमें इनके नामके अपत्यार्थक पद आत्रेय (अत्रि-गोत्रीय) संयुक्त हैं। श्यावाश्वने ऋग्वेद ५.६९ सूक्तमें अपने आश्रयदाता तरन्त, पुरमीळ्ह और रथवीतिके नाम दिए हैं। बृहद्देवतामें श्यावाश्वको अर्चनानस्‌का पुत्र और अर्चनानस्‌को अत्रिका पुत्र निरूपित किया गया है — स सपुत्रोभ्यगच्छत्तं राजानं यज्ञसिद्धये। श्यावश्वचात्रिपुत्रस्य पुत्रः खल्वर्चनानसः (बृह० ५.५२)। आचार्य महीधरने यजुर्वेद-भाष्यमें इनके ऋषित्वका विवेचन किया है — विश्वा श्यावाश्वः सावित्रीं जगतीं (सर्वा० २.७)।

१४६. श्रुतकक्ष-सुकक्ष (३३.३५) — यजुर्वेद ३३.३५ के ऋषि श्रुतकक्ष-सुकक्ष सम्मिलित रूपसे माने गए हैं। ऋग्वेदमें ८.९२ सूक्तके ऋषि भी यही दोनों समुदित रूपसे माने गए हैं। आचार्य सायणने ऋग्वेद-भाष्यमें इन्हें आंगिरस (अंगिरस्-गोत्रीय) पद प्रदान किया है — 'पान्तमा वः' इति त्रयस्त्रिंशदृचं द्वादशं सूक्तमाङ्गिरस्य श्रुतकक्षस्य सुकक्षस्य वार्षमैन्द्रम् (ऋ० ८.१२ सा०भा०)। आचार्य महीधरने यजुर्वेद भाष्यमें इनके ऋषित्वको प्रमाणित किया है — श्रुतकक्षसुकक्षदृष्टा ऐन्द्राग्रपुरोक् (यजु० ३३.३५ मही०भा०)। सर्वानुक्रम-सूत्रमें भी यही तथ्य उल्लिखित है — यदद्य श्रुकक्ष-सुकक्षौ (सर्वा० ३.१९)।

१४७. श्रुतबन्धु (३.२६ पूर्वांश, २५.४७) — द्रष्टव्य बन्धु, विप्रबन्धु ऋ० १०, १२४.

१४८. श्रीकाम (३२.१६) – यजुर्वेदके ३२वें अध्यायका १६वाँ मंत्रश्री (सम्पत्ति)-की कामनासे सम्बन्धित है, अपने इसी दृष्ट मंत्रके कारण ही ऋषिका औपाधिक नाम सम्भवतः श्रीकाम हुआ है। सर्वानुक्रम-सूत्रकारने इनके ऋषित्वको प्रमाणित किया है – इंद्र मे मान्त्रवर्णिक्यनुष्टुबेतया देवेभ्यः श्रीकामो याचते श्रियम् (सर्वा० ३.१६)। यजुर्वेद-भाष्यमें आचार्य महीधरने इसी तथ्यकी पुष्टि की है – श्रीकामोऽनया श्रियं याचते (यजु० ३२.१६ मही०भा०)।

१४९. संकसुक (३५.७; ३५.१५) – संकसुकका ऋषित्व ऋग्वेद १०.१८ सूक्त में मिलता है। इसी सूक्तके दो मंत्र (१, ४) यजुर्वेद ३५.७ और ३५.१५में संगृहीत हैं। ऋग्वेदमें इस नामके साथ 'यामायन' पद-नाम भी संयुक्त है। बृहद्देवतामें इन्हें यमका सबसे छोटा पुत्र (नाम संकुसुक) कहा गया है – नाम्ना संकुसुको नाम यमपुत्रो जघन्यजः (बृह० २.६१)। सर्वानुक्रम-सूत्रकारने इनके ऋषित्व-विवेचनमें पद-नामका उल्लेख नहीं किया है – परं मृत्योः संकसुकः त्रिष्टुभं मृत्यु देवत्यां (सर्वा० ४.४)।

१५०. संवत्सर यज्ञपुरुष (२२.२-८) – संवत्सर यज्ञपुरुषका ऋषित्व केवल यजुर्वेद (२२.२-८)-में मिलता है। संवत्सर शब्द सामान्यतया वर्ष आदिका वाचक है। ऋग्वेदके सातवें मण्डलमें 'संवत्सरं'-से आरम्भ होनेवाले सूक्त १०३ में यही आशय व्यक्त हुआ है। सर्वानुक्रम-सूत्रकारने इनके ऋषित्वको स्पष्ट प्रमाणित किया है – इमामगृणन्त्संवत्सरो यज्ञपुरुषस्त्रिष्टुभं (सर्वा० ३.१)। आचार्य महीधरने इसी स्थानपर केवल यज्ञपुरुषको द्रष्टा-रूपमें निरूपित किया है। ये ऋचाएँ अश्वमेध यज्ञ-प्रकरणसे सम्बन्धित हैं। सम्भवतः इसीलिये ऋषि नाम यज्ञपुरुष (पद-नाम) ही प्रचलित हुआ है – यज्ञपुरुषदृष्टा रशनादेवत्या त्रिष्टुप् (यजु० २२.२ मही०भा०)।

१५१. संवनन (१५.३०) – संवननका ऋषित्व ऋग्वेद १०.१९१ सूक्तमें मिलता है। इसी सूक्तका प्रथम मंत्र यजु० १५.३० में संकलित है। ऋग्वेदमें ऋषि-विषयक उल्लेखमें आचार्य सायणने इन्हें एक आंगिरस (अंगिरस्-गोत्रीय) कहकर निरूपित किया है – 'संसम्' इति चतुर्ऋचं

चत्वारिंशं सूक्तं संवननस्यार्षम् .... (ऋ० १०.१९१ सा०भा०)। संवनन शब्दके आशय 'परस्पर स्नेहपूर्वक रहना'-के अनुरूप इन मंत्रोंमें सद्भाव और मैत्रीपरक भावना भरी हुई है। सम्भवतः दृष्ट मंत्रोंमें सन्निहित भावोंके वाचक-रूप दृष्टाका संवनन नाम प्रचलित हुआ। सर्वानुक्रम-सूत्रकारने इनके ऋषित्वको प्रमाणित किया है— सꣳसमित् संवननः (सर्वा०सू०२.२०)।

१५२. संवरण प्राजापत्य (१०.११-२३) — इनका ऋषित्व ऋग्वेद ५.३३-३४ सूक्तोंमें दृष्टिगोचर होता है। इनके द्वारा दृष्ट मंत्र इन्द्र देवतासे सम्बन्धित हैं। यजुर्वेद १०.२२-२३में भी इनका ऋषित्व मिलता है। आचार्य सायणने इन्हें ऋषि-विषयक उल्लेखमें प्रजापति-पुत्रके रूपमें विवेचित किया है— प्रजापतिपुत्रः संवरणाख्यः ऋषिः (ऋ० ५.३३ सा०भा०)। सर्वानुक्रम-सूत्रकारने इनके ऋषित्वको प्रमाणित किया है — मा ते संवरणः प्रजापत्य ऐन्द्रीं त्रिष्टुभं (सर्वा० १.३९)। आचार्य महीधरने भी इनके ऋषित्वको विवेचित किया है — इन्द्रदेवत्या त्रिष्टुप् संवरणदृष्टा (यजु० १०.२२ मही०भा०)।

१५३. सत्यधृति वारुणि (३.३१-३३) — सत्यधृति वारुणिका ऋषित्व ऋग्वेद, यजुर्वेद एवं सामवेद तीनों वेदोंमें दृष्टिगोचर होता है। ऋग्वेद १०.१८५ सूक्तके प्रथम तीन मंत्र ही यजुर्वेद ३.३१-३३ में संगृहीत हैं। इसी सूक्तका प्रथम मंत्र ही सामवेद १९२ में संकलित है। इन स्थानोंके द्रष्टा सत्यधृति वारुणि हैं। आचार्य सायणने ऋग्वेद-भाष्यमें इन्हें वरुण-पुत्रके रूपमें निरूपित किया है। यजुर्वेद भाष्यकार आचार्य महीधरने इनके ऋषित्वको उपन्यस्त किया है — सत्यधृतिदृष्ट आदित्यदेवत्यस्तृचो......(यजु० ३.३१ मही०भा०)। सर्वानुक्रम-सूत्रकारने इनके ऋषित्व-विवेचनमें वारुणि-पद भी उल्लिखित किया है—महि त्रीणा ꣳ सत्यधृतिर्वारुणिरादित्यदैवतं ...... (सर्वा० १.१३)।

१५४. सप्तऋषिगण (१७.७९-८७) — सप्तऋषिगणका सम्मिलित ऋषित्व ऋक्, यजु, साम तीनों वेदोंमें मिलता है। ऋग्वेदका ९.१०७ सूक्त १७.७९-८७ एवं सामवेदमें अनेक मंत्र इनके द्वारा दृष्ट माने गए हैं। वैदिक साहित्यमें भरद्वाज, बार्हस्पत्य, कश्यप, मारीच, गोतम राहूगण,

अत्रि भौम, विश्वामित्र गाथिन, जमदग्नि भार्गव तथा वसिष्ठ मैत्रावारुणिके समुदायको सप्तर्षि कहा गया है। ऋग्वेदके इन ऋषियोंका समुदित ऋषित्व भी प्राप्त होता है और स्वतंत्र भी। आचार्य महीधरने इनके ऋषित्वको उल्लिखित किया है – सप्तर्षिदृष्टा आग्नेयी द्व्यधिका त्रिष्टुप् (यजु० १७.१९ मही०भा०)। सर्वानुक्रमसूत्रकारने भी इनके ऋषित्वको प्रमाणित किया है – सप्त त आग्नेयी त्रिष्टुप्सप्त ऋषीणाम् (सर्वा० २.२७)।

१५५. सरस्वती (१९.१; २८.१) – यजुर्वेदमें प्रजापति, अश्विनी-कुमारोंके साथ सरस्वतीका ऋषित्व दृष्टिगोचर होता है। अन्य वेदोंमें इनका ऋषित्व नहीं मिलता। सर्वानुक्रमसूत्रकारने सौत्रामणी-अध्यायमें इनके ऋषित्वको प्रमाणित किया है – अथ सौत्रामणी-प्रजापतेरार्षमश्विनोः सरस्वत्याश्च स्वाद्वीं त्वानुष्टुप् ....(सर्वा० २.३३)। आचार्य महीधरने भी इनके ऋषित्वको विवेचित किया है – सौत्रामणीमन्त्राणां प्रजापत्यश्विसरस्वत्य ऋषयः (यजु० १९.१ मही०भा०)।

१५६. सविता (११.१-११; १३.२६) – यजुर्वेदमें सरस्वती, सविता आदि देवगणोंका ऋषित्व भी दृष्टिगोचर होता है, अनेक स्थानोंपर ऋषि द्वारा दृष्ट मंत्रोंके देवताके आधारपर ऋषि-नाम प्रचलित हुआ है। 'सविता'-को देवोंका उत्पत्तिकारक और प्रजापति-रूप भी माना गया है – सविता वै देवानां प्रसविता (शतपथ ब्राह्मण १.१.१.१७)। ऋषिके रूपमें इनका विवेचन सर्वानुक्रम-सूत्रकारने किया है – युञ्जानोऽष्टौ सावित्राणि सवितापश्यद् (सर्वा० २.१)। महीधरने यजुर्वेद-भाष्यमें इनके ऋषित्वको उपन्यस्त किया है – अष्टानां सविता ऋषिः देवोऽपि सविता (यजु० ११.१ मही०भा०)।

१५७. सार्पराज्ञी (३.६-८) – सार्पराज्ञी ऋषिका ऋषित्व प्रायः चारों वेदोंमें दृष्टिगोचर होता है। ऋग्वेद १०.१८९ सूक्तकी ऋषिका सार्पराज्ञी ही है। इस सूक्तमें तीन मंत्र ही हैं और यही तीनों मंत्र यजु० ३.६-८, साम० ६३०-६३२, १३७६-१३७८ तथा अथर्व० ६.३१.१-३; २०.४८.४-६ में बार-बार संकलित हुए हैं, परन्तु अथर्ववेद ६.३१.१-३ में ऋषि नाम उपरिबभ्रव उल्लिखित है। बृहद्देवता २.८४में स्त्री द्रष्टियोंके

नाममें सार्पराज्ञी नाम उल्लिखित है – श्रीर्लाक्षा सार्पराज्ञी वाक् श्रद्धा मेधा च दक्षिणा (बृह० २.८४)। यजुर्वेद-भाष्य एवं सर्वानुक्रम-सूत्रमें भी इनके ऋषित्वको विवेचित किया गया है – आयं गौरित्यादीनां तिसृणामृचां सार्पराज्ञीति नामधेयम्। (यजु० ३.६ मही०भा०। आयं गौः सार्पराज्ञ्यस्तृचो गायत्रोऽग्निः परावररूपेण देवता (सर्वा० १.१०)। इनके द्वारा दृष्ट मंत्र अग्न्याधान-प्रक्रियामें प्रयुक्त होते हैं।

१५८. साध्या (अ० ११ से १८ तक) – सर्वानुक्रम-सूत्रकारने अग्निचयन मंत्रोंके ऋषि-रूपमें यजुर्वेद अध्याय ११ से १८ तक प्रजापति और साध्याका वैकल्पिक ऋषित्व स्वीकार किया है। इन्हीं अध्यायोंमें मंत्र-दृष्टा वैयक्तिक ऋषियोंके अन्यान्य नाम भी निर्दिष्ट हैं। बृहद्देवतामें अनेक स्थानोंपर साध्या शब्द देवगण-रूपमें उल्लिखित है। सर्वानुक्रम-सूत्रमें इनके ऋषित्वका स्पष्ट विवेचन मिलता है – अथाग्निं प्रजापतिरपश्यत् साध्या वापश्यन्त्सोऽग्निः (सर्वा० २.१)। यजुर्वेद-भाष्यमें आचार्य उवटएवं महीधरने इनके ऋषित्वको प्रमाणित किया है – अष्टावध्याया अग्निसंबद्धास्तान् प्रजापतिर्ददर्श। साध्या वा ऋषयः प्रजापतेः प्राणभूताः (यजु० ११.१ उ०भा०)।

१५९. सिन्धुद्वीप (११.३८-४०; ११.५०-६१) – सिन्धुद्वीप द्रष्टाका ऋषित्व चारों वेदोंमें मिलता है, परन्तु यजुर्वेद एवं अथर्ववेदमें इनका अपत्यार्थक नाम 'आम्बरीष' अनुल्लिखित है, जो सामवेद एवं ऋग्वेदमें मिलता है। ऋग्वेदमें १०.९ सूक्तके द्रष्टा सिन्धुद्वीप आम्बरीषके साथ त्रिशिरा त्वाष्ट्रका विकल्प मिलता है – अम्बरीषस्य राज्ञः पुत्रः सिन्धुद्वीप ऋषिस्त्वष्टृपुत्रस्त्रिशिरा वा (ऋ० १०.९ सा०भा०)। यजुर्वेद-भाष्य एवं सर्वानुक्रम-सूत्रमें इनके ऋषित्वका स्पष्ट विवेचन मिलता है – अब्देवत्या न्यङ्कुसारिणी सिन्धुद्वीप दृष्टा (यजु० ११.३८ मही०भा०)। अपो देवीः सिन्धुद्वीप आर्पीं न्यङ्कुसारिणीं (सर्वा० २.४)।

१६०. सुचीक (३३.२३; ३५.१०) – यजुर्वेद ३३.२३ एवं ३५.१०के ऋषि सुचीक हैं। अन्यत्र कहीं इनका ऋषित्व नहीं मिलता। आचार्य महीधरने इनके ऋषित्वको उल्लिखित किया है – सुचीकदृष्टा त्रिष्टुप् ध्रुवग्रहपुरोरुक्...... (यजु० ३३.२३ मही०भा०)। सर्वानुक्रम-सूत्रकारने

इनके ऋषित्वको प्रमाणित किया है – प्र वः सूचीको .... (सर्वा० ३.१८)।

१६१. सुतम्भर (१५.२७-२८; २२.१५) – सुतम्भर ऋषिका ऋषित्व ऋक्, यजु, साम तीनों वेदोंमें मिलता है। ऋग्वेदमें चार सूक्त ५.११-१४ इन्हींके द्वारा दृष्ट हैं, परन्तु यहाँ और सामवेदमें इनके नामके साथ अपत्यार्थक नाम आत्रेय (अत्रि-गोत्रीय) संयुक्त हैं। इनके ऋषित्वका विवेचन यजुर्वेद-भाष्य एवं सर्वानुक्रमसूत्रमें किया गया है – यथाक्रमं सुतम्भर विश्वामित्रविश्वरूपदृष्टाः (यजु० २२.१५ महीं०भा०)। अग्नि ॐ स्तोमे नाग्नेयं तृचं गायत्रॐ सुतंभरो .... (सर्वा० ३.१)। सुतम्भर ऋषिको ऋग्वेदमें याग-निर्वाहक भी कहा गया है – यजमानस्य अवत्सारस्य मम सुतम्भरः यागनिर्वाहक एतन्नामा ऋषिः (ऋ० ५.४४.१३ सा०भा०)।

१६२. सुनीति (३३.२१) – सुनीति-द्वारा दृष्ट मंत्र केवल यजुर्वेद ३३.२१ में दृष्टिगोचर होता है। ऋक्, साम और अथर्वमें सुदीति ऋषिका ऋषित्व मिलता है, जो यजुर्वेदमें नहीं मिलता। सम्भवतः सुनीति, ऋग्वेदके सुदीति पाठसे अशुद्ध हो अथवा इनके भ्राता आदिमेंसे एक हो अथवा समकक्ष हो। परन्तु ऐसा कोई विवरण उल्लिखित नहीं है। यजुर्वेद भाष्यकार आचार्य महीधरने ऋषि-विषयक उल्लेखमें इनका नाम दिया है – सुनीतिदृष्टाश्विनपुरोरुक् या वामित्यस्याः स्थाने (यजु० ३.२१ महीं०भा०)। सर्वानुक्रम-सूत्रकारने भी इन्हें द्रष्टाके रूपमें निरूपित किया है – आ सुते सुनीतिः (सर्वा० ३.१८)।

१६३. सुबन्धु (३.२५; २५.४७) – द्रष्टव्य-बन्धु, विप्रबन्धु – क्र० ९०, १२४।

१६४. सुहोत्र (३३.७७; ३३.९३) – सुहोत्र द्रष्टाका ऋषित्व ऋक्, यजु, साम तीनों वेदोंमें मिलता है। ऋग्वेद ६.३१-३२ सूक्त इन्हींके द्वारा दृष्ट है, परन्तु यहाँ इन्हें भारद्वाज (भरद्वाज-गोत्रीय) कहा गया है – 'अभूरेकः' इति पञ्चर्चमष्टमं सूक्तं भरद्वाजस्य सुहोत्रस्यार्षम् (ऋ० ६.३१ सा०भा०)। यजुर्वेदमें इनके द्वारा दृष्ट चार मंत्र (३३.५३, ७७, ९३, ३४.४१) मिलते हैं। इनके ऋषि-विषयक उल्लेख यजुर्वेद-भाष्य एवं

सर्वानुक्रमसूत्रमें द्रष्टव्य हैं—सुहोत्रदृष्टा वैश्वदेवी गायत्री (यजु० ३३.७७ महीoभाo)। उप नः सुहोत्रो वैश्वदेवीं (सर्वा० ३.२२)। इन्द्राग्नी अपात्सुहोत्रो (सर्वा० ३.२३)। पुरुमीळ्ह और अजमीळ्हको सुहोत्र-पुत्र भी कहा गया है—सुहोत्रपुत्रौ पुरुमीळ्हाजमीळ्हावृषी (ऋ० ४.४३ सा०भा०)।

१६५. सोमक (११.२५) – सोमक ऋषिका ऋषित्व केवल यजुर्वेद ११.२५ में मिलता है। इन्हें ऋग्वेदमें साहदेव्य (सहदेव-पुत्र) भी कहा गया है और सृञ्जयोंके राजाके रूपमें भी उल्लिखित किया गया है। यजुर्वेद-भाष्यमें इनका ऋषित्व-विवेचन मिलता है— आग्नेयी गायत्री सोमकदृष्टा (यजु० ११.२५ मही०भा०)। सर्वानुक्रम-सूत्रमें भी इन्हें द्रष्टा-रूपमें विवेचित किया गया है—परि सोमको गायत्रीं (सर्वा० २.२)।

१६६. सोमशुष्म (२.१८) – सोमशुष्म द्रष्टाका ऋषित्व केवल यजुर्वेद २.१८ में मिलता है। जैमि० उप०ब्रा० ३.४०.२ में इन्हें सत्ययज्ञके शिष्यके रूपमें उपन्यस्त किया गा है। ऐ०ब्रा० ८.२१.५ में सोमशुष्म एक पुरोहितके रूपमें उल्लिखित हैं, परन्तु यहाँ पद-नाम वाजरत्नायन (वाजरत्नका वंशज) निर्दिष्ट है। आचार्य महीधर एवं सर्वानुक्रम-सूत्रकारने सोमशुष्मको द्रष्टा-रूपमें विवेचित किया है—सोमशुष्म ऋषिः (यजु० २.१८ मही०भा०)। स ᳪ स्रवभागाः वैश्वदेवीं त्रिष्टुभं ..... (सर्वा० सू० १.७)।

१६७. सोमाहुति (११.७०; १२.४३-४६) – ऋक्, यजु एवं साम तीनों वेदोंमें सोमाहुति द्रष्टाके रूपमें निरूपित हैं। ऋग्वेद एवं सामवेदमें इनके नामके साथ 'भार्गव' (भृगु-वंशीय) पद निर्दिष्ट है। सम्भवतः सोम-आहुति (सोम-याग) आदिसे विशेष सम्बद्ध होनेके कारण इन्हें सोमाहुति कहा गया। यजुर्वेद-भाष्यमें आचार्य महीधरने इनका ऋषित्व विवेचित किया है – अग्निदेवत्या गायत्री सोमाहुतिदृष्टा (यजु० ११.७० मही०भा०)। सर्वानुक्रम-सूत्रमें भी ऋषि-विषयक उल्लेखमें इनका विवेचन किया गया है—द्रवं नः सोमाहुतिराग्नेयीं गायत्रीं (सर्वा० २.६)।

१६८. सौभरि (१५.३८-४०) – सौभरि ऋषिका ऋषित्व यजुर्वेदमें १५.३८-४०में मिलता है। ऋग्वेद १०.१२७ के ऋषि-विषयक उल्लेखमें

सौभर कुशिकका नाम निर्दिष्ट है, जो सोभरिके पुत्र कहे गये हैं – 'रात्री' इत्यष्टर्चं पञ्चदशं सूक्तं सोभरिपुत्रस्य कुशिकस्यार्षम् (ऋ० १०.१२७ सा०भा०)। सामवेदकी अनुक्रमणीमें इन्हें काण्व (कण्व-गोत्रीय) कहा गया है। सर्वानुक्रम-सूत्रमें सौभरिका ऋषित्व-विवेचन किया गया है – भद्रो नः सौभरिः (सर्वा० २.२०)।

१६९. स्वस्त्य आत्रेय (४.८) – बृहदारण्यक उपनिषद् (२.६.३)-में वर्णित 'माण्टि'के एक शिष्यकी यह पैतृक उपाधि है। ऐतरेय ब्राह्मणमें आत्रेय, अङ्गके पुरोहित कहे गए हैं। शतपथ ब्राह्मणमें एक 'आत्रेय'-को कुछ यज्ञोंका नियमतः पुरोहित कहा गया है। अत्रिकी प्रतिष्ठा निर्विवाद है। यजुर्वेदके मंत्रद्रष्टा होनेका गौरव इन्हें प्राप्त है – सवितृ देवत्यानुष्टुप् स्वस्त्यात्रेय दृष्टा (यजुर्वेद ४.८ महीं०भा०)। सर्वानुक्रमसूत्रकारने लिखा है – विश्वोदेवस्य स्वस्त्यात्रेयः सावित्रीमनुष्टुभमृक्सामयोः .... (सर्वा० १.१७)।

१७०. हिरण्यगर्भ प्राजापत्य (२५.१२-१३; २७.२५-२६) – हिरण्यगर्भ प्राजापत्य ऋग्वेद एवं यजुर्वेदके मंत्रद्रष्टा ऋषिके रूपमें स्वीकृत किए गए हैं। हिरण्यर्भको प्रजापतिकापुत्र कहा गया है। इनके द्वारा दृष्ट कुछ मंत्रों (यजु० १२.१०२; १३.४; ३.१-४; ६५; २५.१०-११)-में 'प्राजापत्य' नाम नहीं है, जबकि ये सभी मंत्र ऋग्वेद १०.१२१ सूक्तमें ही पठित हैं – हिरण्यगर्भदृष्टा प्रजापति देवत्या त्रिष्टुप् (यजु० १३.४ महीं०भा०)। कुछ स्थानों (२५.१२-१३; २७.२५-२६)-में प्राजापत्य नाम भी उल्लिखित है – प्रजापति सुत हिरण्यगर्भदृष्टाः (यजु० २५.११ महीं०भा०)। हिरण्यगर्भकी अर्चना प्रजापति (क)-के लिये की गई है, इस तथ्यकी पुष्टि बृहद्देवताने की है – हिरण्यगर्भस्तेनैनम् ऋषिरर्चन्नुवाच कम् (बृह० २.४७)।

१७१. हिरण्यस्तूप आंगिरस (३३.४३; ३४.२४-२७) – हिरण्यस्तूप आंगिरसका ऋषित्व ऋक्, यजु, साम तीनों वेदोंमें दृष्टिगोचर होता है। ऐतरेय ब्राह्मणमें हिरण्यस्तूप आंगिरस-द्वारा इन्द्रधामको प्राप्त होनेका उल्लेख किया गया है। निरुक्तमें भी इनका उल्लेख ऋषि-रूपमें किया गया है। बृहद्देवतामें हिरण्यस्तूप आंगिरस-द्वारा इन्द्रकी मित्रताका गान करनेका उल्लेख किया गया है – हिरण्यस्तूपतां प्राप्य सख्यं चेन्द्रेण

शाश्वतम् (बृह० ३.१०६)। आचार्य सायणने इन्हें आंगिरसपुत्र कहकर निरूपित किया है — आंगिरसः अंगिरसः पुत्रः हिरण्यस्तूपः (ऋ० १०.१४९.५ सा०भा०)। यजुर्वेद-भाष्य एवं सर्वानुक्रम-सूत्रमें हिरण्यस्तूप आंगिरस-द्रष्टा रूपमें स्पष्ट विवेचित किए गए हैं — चतस्रः सावित्र्य द्वितीया जगती त्रिष्टुभोऽन्याः हिरण्यस्तूपदृष्टाः (यजु० ३४.२४ मही०भा०)। चतुर्ऋचं त्रैष्टुभ थ्ं सावित्रमांगिरसो हिरण्यस्तूपो (सर्वा० ४.२)।

१७२. हैमवर्चि (१९.१०-३६) — हैमवर्चिका ऋषित्व केवल यजुर्वेद १९.१०-३६ में निर्दिष्ट है, अन्यत्र कहीं भी इनका ऋषित्व अथवा नामोल्लेख नहीं मिलता। इनके ऋषित्वको आचार्य महीधरने अपने भाष्यमें प्रमाणित किया है — हैमर्चिदृष्टा विषूचिका देवत्यानुष्टुप् (यजु० १९.१० मही०भा०)। सर्वानुक्रम-सूत्रमें भी इन्हें द्रष्टा-रूपमें निरूपित किया गया है — या व्याघ्रहैमवर्चेरनुष्टुब् विषूचिकास्तुतिः (सर्वा० २.३३)।

यजुर्वेदीय देवताओंका संक्षिप्त परिचय

१. अग्नि (१.५; २.४)[1] — सर्वप्रथम उत्पन्न होनेके कारण इन्हें 'अग्नि' कहा गया है — स यदस्य सर्वस्याग्रमसृज्यत तस्मादग्रिहनिर्ह वै तमग्निरित्याचक्षते परोऽक्षम् (शत०ब्रा० ६.१.१.११)। शक्ति-तत्त्व होनेके कारण सर्वप्रथम प्रजापतिने अग्निकी ही सृष्टि की है — तद्वाऽएनमेतदग्रे देवानां (प्रजापतिः) अजनयत। तस्मादग्निरग्रिर्ह वै नामैतद्यदग्निरिति (शत०ब्राह्० २.२.४.२)। अग्निका प्रकाशकत्व प्रसिद्ध ही है, तत्सम्बन्धी सभी विशेषण अग्निके साथ सम्बद्ध हैं — भास्वर, हिरण्यरूप आदि — हिरण्यदन्तं शुचिवर्णमारात् (ऋ० ५.२.३)। अग्निके प्रभासित होते ही अन्धकारका अपनयन हो जाता है — ज्योतीरथं शुक्रवर्णं तमोहनम् (ऋ० १.१४०.१)। इनके पिता द्यौस् हैं। कुछ प्रसंगोंमें इन्हें आपः, त्वष्टा, सूर्य, यज्ञ, अरणि आदिसे भी उद्भूत कहा गया है — यदेनं द्यौर्जनयत सुरेताः (ऋ० १०.४५.८)। स रोचयज्जनुषा रोदसी उभे (ऋ०

---

१. यजुर्वेद अध्याय एवं मंत्र (कण्डिका) का सूचक

३.२.२)। योऽश्मनोरन्तरग्निं जजान (ऋ० २.१२.३)। अग्निदेव यज्ञोत्पत्तिके मूल हैं। यही देव-दूत हैं। अग्निदेव सभी देवोंके अधिष्ठाता देव हैं — अग्निर्वै सर्वेषां देवानामात्मा (शत०ब्रा० १४.३.२.५)। अग्निर्वै देवयोनिः (ऐत०ब्रा० १.२२)। अग्निदेव सम्पूर्ण पापोंके विनाशक हैं — अग्निरु सर्वेषां पाप्नामपहन्ता (शत०ब्रा० ७.३.२.१६)। अग्निदेवका मूल परम आकाशमें अवस्थित हैं — स जायमानः परमे व्योमनि व्रतान्यग्निर्व्रतपा अरक्षत (ऋ० ६.८.२)। यजुर्वेदके प्रमुख देवता अग्निदेव ही हैं।

२. अग्नीन्द्र (७.३२) — अग्नीन्द्रको यमल भ्राता कहा गया है, जो एक ही पिताकी सन्तान हैं — बळित्था महिमा वामिन्द्राग्नी पनिष्ठ आ। समानो वां जनिता भ्रातरा युवं यमाविहेहमातरा (ऋ० ६.५९.२)। याज्ञिक पौरोहित्य इस युग्मकी विशेषता है — यज्ञस्य हि स्थ ऋत्विजा सस्नी वाजेषु कर्मसु। इन्द्राग्नी तस्य बोधतम् (ऋ० ८.३८.१)। ऐश्वर्य प्रदान करनेमें ये पर्वतों, नदियों आदिसे भी बढ़कर हैं — प्र सिन्धुभ्यः प्र गिरिभ्यो महित्वा प्रेन्द्राग्नी विश्वा भुवनात्यन्या (ऋ० १.१०९.७)। कष्टदायक एवं मायावियोंका निराकरण करके श्रेष्ठ पुरुषोंकी सहायता करनेमें ये सर्वदा तत्पर रहते हैं — ता महन्ता सदस्पती इन्द्राग्नी रक्ष उब्जतम्। अप्रजाः सन्त्वत्रिणः (ऋ० १.२१.५)। आ भरतं शिक्षतं वज्रबाहू अस्माँ इन्द्राग्नी अवतं शचीभिः (ऋ० १.१०९.७)। इनके वीरतापूर्ण कृत्य प्रख्यात हैं — यानीन्द्राग्नी चक्रथुर्वीर्याणी यानि रूपाण्युत वृष्ण्यानि (ऋ० १.१०८.५)।

३. अदिति (११.५७; २१.५) — अदिति, अष्ट आदित्यगणोंकी माता कही गई हैं — अष्टयोनिदितिरष्टपुत्रा (अथर्व० ८.९.२१)। अदितिर्वै प्रजाकामौदनमपचत्तत उच्छिष्टमाश्नात् सा गर्भमधत्त तदादि..... (गो०ब्रा० १.२.१५)। अदितिको प्रतिष्ठा-प्रदात्री देवी कहा गया है — अदित्या अहं देवयज्यया प्रतिष्ठां गमेयम् (काठ सं० ५.१)। सम्पूर्ण पृथिवीकी देवी अदितिको विश्वदेवीकी संज्ञा भी प्राप्त है — इयं (पृथिवी) वा अदितिर्देवी विश्वदेव्यवती (मैत्रा० सं० ३.१.८)। इन्हें अनेक तत्त्वों एवं देवोंकी सृष्टि-कर्त्रीके रूपमें जाना जाता है — अदितिः सोमस्य योनिः (मैत्रा० सं० ३.७.८)। सम्पूर्ण विश्वका भरण-पोषण एवं प्रतिष्ठा अदितिके

द्वारा ही सम्पन्न होता है – एवा न देव्यदितिरनर्वा। विश्वस्य भर्त्री जगतः प्रतिष्ठा (तैत्ति०सं० ३.१.१.४)। अदितिको सौख्य प्रदात्री, पाप-विमोचिनी और दुष्कर्मनाशिनीके रूपमें जाना गया है – यं भद्रेण शवसा चोदयासि प्रजावता राधसाते स्याम (ऋ० १.९४.१५)।

४. अप्सरा (१८.३८) — अप्सराओंको गन्धर्वों और मृगोंके साथ विशेष रूपसे सम्बद्ध किया गया है – अप्सरसां गन्धर्वाणां मृगाणां चरणे चरन् (ऋ० १०.१३६.६)। अप्सराओंको 'समुद्रिय' विशेषणसे भी सम्बद्ध किया गया है – समुद्रिया अप्सरसो मनीषिणमासीना अन्तरभि सोममक्षरन् (ऋ० ९.७८.३)। गन्धर्वोंको पतिके रूपमे और अप्सराओंको उनकी पत्नीके रूपमें भी उल्लिखित किया गया है – ताभ्यो गन्धर्वपत्नीभ्यो-ऽप्सराभ्योऽकरं नमः (अथर्व० २.२.५)। अप्सराओं को गन्ध और जलकी प्रेमी कहा गया है – गन्ध इत्यप्सरसः ....उपासते (शत०ब्रा० १०.५.२.२०)। तस्य (वातस्य) आपोऽप्सरसः (शत०ब्रा० ९.४.१.१०)। अप्सराएँ मेधा-सम्पन्न होती हैं – अप्सरासु च या मेधा गन्धर्वेषु च यन्मनः। दैवी मेधा मनुष्यजा सा मा मेधा सुरभिर्जुषताम् (तैत्ति०आ० १०.४१)। शब्दकल्पद्रुमका मत है कि जलसे उत्पन्न होनेके कारण ही इन्हें अप्सरा कहा जाता है – अद्भ्यः सुमद्रजलेभ्यः सरन्ति उद्यान्ति....अप्सु निर्मथनादेव रसात् तस्मात् वरस्त्रियः। उत्पेतुर्मनुजश्रेष्ठ तस्मादप्सरसोऽभवन् (श०क०पृ० ७१)।

५. अर्यमा (९.२७; ९.२९) — 'अर्यमा' देवकी गणना आदित्यगणके अन्तर्गत की गई है। अर्यमा एवं सूर्यका पूर्ण तादात्म्य प्राप्त होता है। अर्यमासे स्वर्ग, धन तथा कल्याणकी कामना करनेवालेको चरु अर्पित करना चाहिए – अर्यम्णे चरुं निर्वपेत् ....यः कामयेत दानकामा मे प्रजाः स्युरिति असौ वा, आदित्यो अर्यमा यः खलु वै ददाति सोऽर्यमा (तैत्ति०सं० २.३.४)। ऊपरकी दिशा बृहस्पतिसे सम्बन्धित मानी गई है। उससे भी ऊपर अर्यमाका मार्ग है – 'एषावा ऊर्ध्वा बृहस्पतेर्दिक्। तदेष उपरिष्टाद् अर्यम्णः पन्थाः (शत०ब्रा० ५.३.१.२)।

६. अश्विनीकुमार (७.११; १४.१) — ये यमल भ्राता माने गए हैं, अतएव इनकी उपमा युग्म तत्त्वोंसे दी गई है – हंसाविव पततमा सुताँ उप (ऋ० ५.७८.१)। इन्हें द्यौस, उषा और रात्रिकी सन्तान कहा जाता

है—वासात्यो अन्य उच्यते। उषः पुत्रस्तवान्यः (नि० १२.२)। एकाधिक प्रकरण में इन्हें शुभस्पती कहा गया है। ये कल्याण और शुभ प्रदान करनेवालेके रूपमें ख्यातिप्राप्त हैं — ताविद् दोषा ता उषसि शुभस्पती (ऋ० ८.२२.१४)। उत नो देवावश्विना शुभस्पती (ऋ० १०.९६.६)। देवताओंमें ये निम्नकोटिक देव हैं — अश्विनौ वै देवानामनुजावरौ (तैत्ति०सं० २.३.४.२)। ये देवभिषक् हैं — अश्विनौ वै देवाना भिषजौ (तैत्ति०सं० २.३.११.२)। रासभ इनके रथको वहन करते हैं, जिसपर अधिष्ठित होकर ये विजय प्राप्त करते हैं — गर्दभ रथेनाश्विना उदजयताम् (ऐ०ब्रा० ४.९)।

७. असुर (१.२६; २.२९) —— सृष्टि सदसत् द्वंद्व मिश्रित है। मानवीय चेतना, मांगलिक एवं अमांगलिक दोनों शक्तियोंपर विश्वास करती है। ये दोनों शक्तियाँ एक-दूसरेकी पूरक हैं। देव-विरोधी शक्तियोंको असुर कहा जाता है — अनायुधासो असुरा अदेवाश्चक्रेण ताँ अपवप ऋजीषिन् (ऋ० ८.९६.९)। ये बलिष्ठ आसुरी वृत्तियाँ समस्त विश्वके क्रियाकलापोंको प्रभावित करनेमें सक्षम हैं। वृष्टि-अवरोध, सूर्याच्छादन तथा जल-प्रवाह निरोध आदि इनके विशिष्ट कृत्य हैं। अतएव इन्द्र, विष्णु, अग्नि आदि देवोंने मंत्र एवं शक्तिके माध्यमसे इनको पराभूत किया है — तदद्य वाचः प्रथमं मसीय येनासुराँ अभि देवा असाम। ऊर्जाद उत यज्ञियासः पञ्च जना मम होत्रं जुषध्वम्॥ (ऋ० १०.५३.४)। इन्द्राविष्णूने शम्बर, पिप्रु आदिके दुर्गको भूमिसात् करके असुर-सेनाका संहार कर दिया — इन्द्राविष्णू दृंहिताः शम्बरस्य नव पुरो नवतिं च श्नथिष्टम्। शतं वर्चिनः सहस्रं च साकं हथो अप्रत्यसुरस्य वीरान् (ऋ० ७.९९.५)।

वस्तुतः ये आसुरी शक्तियाँ भी परमात्म शक्तिके लीलासंदोहकी अंगभूत हैं। इसीलिए देवोंकी श्रेणीमें इनकी भी परिगणना यजुर्वेदमे की गई है। इसी आधारपर 'वैदिक देवता : उद्भव और विकास'-के सुधी लेखकने परं चैतन्यको नम करते हुए लिखा है — देवयक्षासुराणां यो धृत्वा रूपाणि लीलया। क्रीडत्यखिलविश्वात्मा तस्मै चिद्रूपिणे नमः॥

८. आदित्य-गण (२३.५; ३४.५४) —— आकाशस्थ दिव्यशक्तियोंमें आदित्यकी अद्वितीय प्रतिष्ठा है। अदितिका पुत्र होनेके कारण इन्हें आदित्य कहा जाता है, जो अपत्यार्थक अण् प्रत्यय लगाकर सिद्ध होता

है – दित्यदित्यादित्यपत्त्युत्तरपदाण्ण्यः (अ० ४.१.८५)। देवमाता अदितिके पुत्रोंकी संख्या ऋग्वेद २.२७.१ में छह, ९.११४.३ में सात तथा १०.७२.८ में आठ बताई गई है – 'शृणोतु मित्रो अर्यमा भगो नस्तु विजातो वरुणो दक्षो अंशः (ऋ० २.२७.१)।' देवा आदित्या ये सप्त.....(ऋ० ९.११४.३)। अष्टौ पुत्रासो अदितेर्ये जातास्तन्वस्परि (ऋ० १०.७२.८)। अष्टौ ह वै पुत्रा अदितेः (शत०ब्रा० ३.१.३.३)। इनके नाम सयाणने इस प्रका बताए हैं – मित्र, वरुण, धाता, अर्यमा, अंशु, भग, इन्द्र और विवस्वान् – 'ते च तैत्तिरीये' अष्टौ पुत्रासो अदितेरित्युपक्रम्य स्पष्टमनुक्रान्ताः – 'मित्रश्च वरुणश्च धाता च अर्यमा च अ ꣳ शुश्च भगश्च इन्द्रश्च, विवस्वाँश्च इत्येते (ऋ० २.२७.१ सा०भा०)। शतपथ ब्राह्मणमें यह संख्या बढ़कर १२ हो गई – स द्वादश द्रप्सान् गर्भ्यभवत् ते द्वादशादित्याः असृज्यन्त तान् दिव्युपादधात् (शत०ब्रा० ६.१.२.८) १२ आदित्योंके नाम हैं – धाता, मित्र, अर्यमा, पूषा, शक्र, वरुण, भग, त्वष्टा, विवस्वान्, सविता, अंशुमान् तथा विष्णु।

९. आपः (२.३४; ४.१२) —— 'आपः' अन्तरिक्षस्थ देवता हैं। आपः को सूर्यका समीपवर्ती कहा गया है – अमूर्या उपसूर्ये याभिर्वा सूर्यः सह (ऋ० १.२३.१७) इन्हें अग्निका जनक भी कहा गया है – या अग्निं गर्भंदधिरे सुवर्णास्तान आपः शं स्योनाभवन्तु। (अथर्व० १.३३.१)। इन्हें चराचर सृष्टिकर्त्ता कहा गया है, अतएव इनकी गणना श्रेष्ठ माताओंमें की जाती है – यूयं हिष्ठा भिषजो मातृतमा विश्वस्य स्थातुर्जगतो जनित्रीः (ऋ० ६.५०.७)। 'आपः'-का प्रमुख कार्य शुद्ध और संस्कृत बनाना है। दीर्घायुष्य उपचार, ओषधि-रक्षण इनकी विशेषता है। अतएव कल्याणतम 'आपः' रसकी प्राप्तिकी कामना की गई है – 'यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः' (ऋ० १०.९.२)। जलोंके देवताको 'आपः' कहा जाता है, जो स्वर्गीय धारासे प्रवाहित होता है – अश्मनो ह्यापः प्रभवन्ति (शत०ब्रा० ९.१.२.४)।

१०. इळ (२०.३८; २१.१४) —— 'इळ' या 'इळा'-को गौका समानार्थक माना गया है। 'इळा'-को घृतवती माना गया है। उनके घृत-सिक्त अंगोंका वर्णन प्राप्त होता है – 'येषामिळा घृतहस्ता दुरोण आँ अपिं प्राता निषीदति (ऋ० ७.१६.८)। मनुष्यघज्ञं सुधिता हवींषीळा देवीं घृतपदी जुषन्त

(ऋ० १०.७०.८)। इळाको सरस्वती, भारती आदि देवियोंके साथ निकट सम्बन्धवाली माना गया है और यह मित्रावरुणकी पुत्रीके रूपमें भी उल्लिखित है — इळासि मैत्रावरुणी वीरे वीरमजीजनथाः (शत०ब्रा० १४.९.४.२७)।

११. इन्द्र (महेन्द्र, मघवा) (३.३४; ७.३९; ७.५) — वेदोंमें इन्द्रकी गणना प्रमुख देवोंमें की गई है। इन्द्रने अनेक राक्षसोंका संहार किया था, उनमें वृत्रका प्रमुख स्थान था — अयं स्वादुरिह मदिष्ठ आस यस्येन्द्रो वृत्रहत्ये ममाद (ऋ० ६.४७.२) इन्द्रने वृत्र-वधके लिये तीन सोमह्रदोंका पान कर लिया था — त्री साकमिन्द्रो मनुषः सरांसि सुतं पिबद् वृत्रहत्याय सोमम। (ऋ० ५.२९.७)। वृत्र-विजयके उपलक्ष्यमें ही इन्द्रको महेन्द्र-उपाधिसे विभूषित किय गया था — इन्द्रो वा एव पुरा वृत्रस्य वधादथ वृत्रं हत्वा यथा महाराजो विजिग्यान एवं महेन्द्रोऽभवत् (शत०ब्रा० १.६.४.२१)। धनवान् दानी इन्द्रके विशेषणोंमें 'मधवा' शब्द प्रयुक्त होता है — स उ एव मखः स विष्णुः। तत् इन्द्रो मखवान भवन्मखवान्ह वै तं मघवानित्याचक्षते परोक्षम् (शत०ब्रा० १४.१.१.१३)। नमुचि, शम्बर आदि राक्षसोंका विनाश इन्द्रदेवने किया। पणि-द्वारा निरुद्ध गायोंको उन्होंने स्वतंत्र किया।

१२. इन्द्रवायू (७.८; ३३.५६) — युग्मदेव-स्तुति वैदिक वैशिष्ट्य है। सर्वप्रथम यह प्रचलन द्यावा-पृथिवीके रूपमें द्रष्टव्य होता है। कालान्तरमें अनेक देवताओंका इसी आधारपर विकास हुआ है। इन्द्र-वायू युग्म देवताके रूपमें ख्याति-प्राप्त हैं — इन्द्रवायू हि सयुजौ (तैत्ति०सं० ६.६.८.३) युद्धकालमें देवनिष्ठ योद्धाओंपर विशेष कृपा इनका प्रधान गुण है — घ्नन्तो वृत्राणि सूरिभिः ष्याम सासह्वांसो युधा नृभिरमित्रान् (ऋ० ७.९२.४)। स्तोताओंको प्रभूत धन-धान्य प्रदान करके उन्हें आयुष्मान् बनाते हैं — इन्द्रवायू सूरयो विश्वमायुरर्वद्भिर्वीरैः पृतनासु सह्युः। (ऋ० ७.९०.६)। यज्ञ-स्थलपर स्वर्णिम रथसे आकर कुशा-आसनपर अवस्थित होकर आनन्दित होते हैं — रथं हिरण्यबन्धुरमिन्द्रवायू स्वध्वरम्। आहि स्थाथो दिविस्पृशम् (ऋ० ४.४६.४)। इन्द्रवायू सदतं बर्हिरिदम् (ऋ० ७.९१.४)। यजुर्वेदमें इनके

देवत्वका उल्लेख करते हुए सर्वानुक्रम-सूत्रकारने लिखा है — इन्द्रवायू मधुच्छन्दा ऐन्द्रवायवीं गायत्रीं.... (सर्वा० १.२६)।

१३. इन्द्राग्नी (३.१३; ७.३१)— इन्द्राग्नी सोम-पायी देवताओंमें श्रेष्ठ हैं। सोमपानके निमित्त वे रथाधिष्ठित होकर आते हैं — य इन्द्राग्नी चित्रतमोरथो वामभि विश्वानि भुवनानि चष्टे। (ऋ० १.१०८.१)। ये दोनों साथ-साथ आकर सोमपान करते हैं — इन्द्राग्नी सोमपीतये (ऋ० ८.३८.७)। शत्रु एवं उनके आवास-स्थानोंका भेदन इन्द्राग्नीका प्रमुख कार्य है। वज्र, विद्युत् और तिग्म् इनके आयुध हैं, जिससे सज्जनोंकी रक्षा सम्भव होती है — आ भरतं शिक्षतं वज्रबाहू अस्माँ इन्द्राग्नी अवतं शचीभिः (ऋ० १.१०९.७)। याज्ञिक कार्य सम्पन्न करानेके कारण इन्हें पुरोहित भी कहा गया है। इनकी गणना बलिष्ठ देवोंके अन्तर्गत की गई है — इन्द्राग्नी वै देवानामोजिष्ठौ (ऐ०ब्रा० २.३६)।

१४. इन्द्रापर्वत (८.५३) — इन्द्रापर्वत देवताको अधिक माहात्म्य प्राप्त नहीं है। शत्रुओंका विनाश करनेवालोंमें इन्हें अग्रगण्य माना गया है। शत्रुओंके विनाश और आत्म-कल्याणकी कामना इनसे की गई है— युवं तमिन्द्रापर्वता पुरोयुधा यो नः पृतन्यादपतंतमिद्धतं तंतमिद्धतं। दूरे चत्ताय च्छंत्सद्गहनं यदिनक्षत्। अस्माकं शत्रून्परि शूर विश्वतो दर्मादर्षीष्ट विश्वतः। (ऋ० १.१३२.६)। इन्द्रका तो सर्वप्रचलित अर्थ ही मान्य है। पर्वतका आशय घुमड़ते हुए बादलसे है — इन्द्रः प्रसिद्धः। पर्वतः पर्ववान्मेघः। तदभिमानी देवः (ऋ० १.१३२.६ सा०भा०)। इन्द्रापर्वतसे विशालाकार रथपर आसीन होकर आनेकी कामना की गई है। ये शोभन पुत्रोंको यज्ञ-कृत्यके निमित्त वहन करते हैं तथा हव्य एवं स्तुतियोंसे अत्यधिक प्रमुदित होते हैं — इन्द्रापर्वता बृहता रथेन वामीरिष आ वहतं सुवीराः। वीतं हव्यान्ध्वरेषु देवा वर्धेथां गीर्भिरिळया मदन्ता (ऋ० ३.५३.१)।

१५. इन्द्रामरुत् (३.४६; ७.३५) — इन्द्रके सहयोगीके रूपमें मरुत्की गणना की गई है। इसीका प्रतिफल है कि इनका युग्म प्रचलित हो गया। देवलोकसे अपहृत गायोंको पणिने अन्धकारमें छिपा दिया था। इन्द्रदेवने मरुतोंकी सहायतासे उन गायोंका अन्वेषण किया था —

पाणिभिर्देवलोकात् गावोऽपहृता अन्धकारे प्रक्षिप्ताः। ताश्चेन्द्रो मरुद्भिः सहाजयदिति (ऋ० १.६.५ सा०भा०)। इन्द्रने वृत्रके वधार्थ देवावाहन किया था, परन्तु सभी देवता वृत्रके मात्र श्वाससे ही पलायित हो गए थे। उस समय मरुत्ने ही इन्द्रदेवकी सहायता की थी। आचार्य सायणने इस वृत्तान्तका उल्लेख सुस्पष्ट रूपसे किया है – पुरा कदाचित् वृत्रवधदशायामिन्द्रस्य सखायः सर्वे देवा वृत्रश्वासेन अपसारिताः। तदानीमिन्द्रस्य वृत्रसंबन्धि सकल सेनाजनार्थं मरुद्भिः संगमोऽभूत (ऋ० १.६.७)।

१६. उषा (१३.३४; ३४.३३) — उषाको भगकी भगिनी और द्युलोकसे समुद्भूत कहा गया है – भगस्य स्वसा वरुणस्य जामिरुषः सूनृते प्रथमाजरस्व (ऋ० १.१२३.५)। ते (उषाः) ऽमुतः (द्युलोकात्) आगता अस्यां पृथिव्यां प्रतिष्ठितास्तमनयोर्द्यावापृथिव्यौ रसं मन्यन्ते (शत०ब्रा० २.१.१.६)। उषाको सौन्दर्ययुक्त, भास्वरित एवं अमर द्यौ-पुत्रीके रूपमें ख्याति प्राप्त है – अपद्वेषो बाधमाना तामंस्युषा दिवोदुहिता ज्योतिषागात् (ऋ० ५.८०.५)। सतत गतिशील उषा देवी सभी जङ्गम प्राणियोंको उद्बुद्ध करती है तथा उनमें नवजीवनका संचार करती हैं – विश्वं जीवं चरसे बोधयन्ती (ऋ० १.९२.९)। प्रबोधयन्ती रुषसः ससन्तं द्विपाच्चतुष्पाच्चरथाय जीवम् (ऋ० ४.५१.५)। ऋतका पालन करनेमें उषा अग्रगण्य हैं – ऋतस्य पन्थानमन्वेति साधु प्रजानतीव न दिशो मिनाति (ऋ० ५.८०.४)। नियमित यज्ञाग्निका प्रज्वलन उषःकालमें ही होता है तथा याज्ञिक और अग्निके विविध सम्बन्ध उषाके साथ निरूपित किए गए हैं – उषो यदग्निं समिधे चकर्थ वि यदावश्चक्षसा सूर्यस्य (ऋ० १.११३.९)।

१७. उषासानक्ता (२०.४१; २१.१७) — उषा और रात्रिका आवाहन युग्म-रूपमें किया गया है। इन्हें धन-धान्य-युक्त दिव्य युवतीके रूपमें चित्रित किया गया है – उत त्ये देवी सुभगे मिथूदृशोषासानक्ता जगतामपीजुवा (ऋ० २.३१.५)। ये दोनों देवियाँ द्युलोक-सुताके रूपमें ख्याति-प्राप्त हैं – उत योषणे दिव्ये मही न उषासानक्ता सुदुघेव धेनुः (ऋ० ७.२.६)। इन्हें ऋतकी माता कहा गया है – यह्वी मातरा सीदतां

बर्हिरा सुमत् (ऋ० १.१४२.७)।

१८. कः (१२.१०२ : १३.४) — अथर्ववेदमें प्रजापतिके निमित्त हिरण्यगर्भसूक्तका दर्शन किया गया है। इस सूक्तका अन्तिम चरण है— कस्मै देवाय हविषा विधेम (अथर्व० ४.२.८)। सायण आदि विद्वानोंने 'क'-का अर्थ सुख लिया है तथा सुखमय होनेसे प्रजापति ही 'क' वर्णसे वाच्य हैं। अतएव 'कस्मै'-से प्रजापति अर्थ लिया जाता है — कं वै प्रजापतिः ....क मे वैष .... प्रजाभ्यः कुरुते .....(शत० ब्रा० २.५.२.११) भागवत आदि पुराणोंमें 'क' शब्द प्रजापतिके अर्थमें रूढ़ हो गया है। 'क' नामकरण पड़नेके विषयमें ब्रा० ग्रन्थमें एक आख्यायिका दी गई है—स प्रजापतिरब्रवीदथ कोऽहमिति यदेवैतदवोच इत्यब्रवीत्ततो वै को नाम प्रजापतिरभवत्को वै नाम प्रजापतिः (ऐ०ब्रा० ३.२१)।

१९. गन्धर्व (१८.३८) — अप्सरा एवं गन्धर्व एक साथ विवेचित किए गए हैं। कालान्तरमें गन्धर्व-वर्ग नामसे एक पृथक् वर्गका विधान कर दिया गया है। गन्ध, मोद, प्रमोद इनका विशेष गुण है — गन्धो मे मोदो मे प्रमोदो मे तन्मे युष्मासु .... (जैमि० उ० ३.५.६.४)। इन्हें रूप-प्रेमी एवं स्त्री-अभिलाषुक कहा गया हैं। अथो गन्धेन च वै रूपेण च गन्धर्वाप्सरपश्चरन्ति (शत०ब्रा० ९.४.१.४)। योषित्कामा वै गन्धर्वाः (शत०ब्रा० ३.२.४.३)। गन्धर्वोंको सोम-रक्षाका उत्तरदायित्व सौंपा गया है — गन्धर्वः रश्मीनां धारकः सोमः (ऋ० ९.८५.१२ सा०भा०)। तमेते गन्धर्वा सोमरक्षा जुगुपुरिमे (शत०ब्रा० ३.६.२.९)।

२०. चन्द्रमा (१.२८) — चन्द्रमा नक्षत्रोंमें प्रमुख है। रात्रिके स्वामी चन्द्रमा ही हैं। चन्द्रमा और सोममें अभिन्नता प्रदर्शित की गई है — सोमो वै चन्द्रमाः (कौषी०ब्रा० १६.५)। एतद्वै देवसोमं यच्चन्द्रमाः (ऐ०ब्रा० ७.११)। चन्द्रमाका अस्तित्व सूर्य-आधृत है। यही नक्षत्रोंकी प्रतिष्ठा है — चन्द्रमा अस्यादित्ये श्रितः नक्षत्राणां प्रतिष्ठा (तैत्ति०ब्रा० ३.११.१.१२)। परमात्माके मनसे 'चन्द्रमा'-की उत्पत्ति हुई है — चन्द्रमा मनसो जातः ..... (यजु० ३१.१२)। चन्द्रमा में मनसिश्रितः (तैत्ति० ब्रा० ३.१०.८.५)। अमावस्याके दिन चन्द्रमा आदित्यमें प्रवेश कर जाता हैं — चन्द्रमा वा अमावास्यायामादित्यमनुप्रविशति (ऐ०ब्रा० ८.२८)।

२१. तिस्रो देव्यः (इळा, भारती, सरस्वती) (२०.४३; २१.१९) — वाजसनेयि संहितामें अनेक स्थानोंपर 'तिस्रो देव्यः' उल्लिखित होती हैं। सर्वा०सूत्रमें देवता स्थानमें भी 'तिस्रो देव्यः' सम्मानित हुई हैं। यजुर्वेदकी कण्डिकाओंमें स्पष्टतः इनके नामोल्लेख भी हुए हैं। ये देवियाँ हविसे वर्धित होनेवाली और इन्द्रदेवको हर्षित करनेवाली हैं — तिस्रो देवीर्हविषा वर्धमाना इन्द्रं जुषाणा जनयो न पत्नीः। आच्छिन्नं तंतुं पयसा सरस्वतीडा देवी भारती विश्वतूर्तिः (यजु० २०.४३)। ये देवियाँ मरुतोंके अधीन रहनेवाली हैं — तिस्र इडा सरस्वती भारती मरुतो विशः (यजु० २१ १९)। ये देवियाँ सम्मानपूर्वक कुशपर विराजती हैं — तिस्रो देवीर्बर्हिरेदꣳ सदन्त्विडा सरस्वती भारती (यजु० २७.१९)।

२२. त्वष्टा (२.२४; २०.४४) — 'त्वष्टा' देव शिल्पीके रूपमें प्रख्यात हैं। विविध निर्माण-कलामें ये सक्षम हैं — त्वष्टा हि रूपाणि विकरोति (तैत्ति०ब्रा० २.७.२.१)। त्वष्टा वै रूपाणामीशे (तैत्ति०ब्रा० १.४.७.१)। देवताओंके निमित्त, वज्र, आयस परशु तथा भोज्य एवं पानक वस्तुओंके रखनेके लिये एक चमस बनाया है — उत त्यं चमसं नवं त्वष्टुर्देवस्य निष्कृतम्। अकर्त चतुरः पुनः (ऋ० १.२०.६)। निर्माणमें हाथकी महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है, अतएव त्वष्टाको सुपाणि कहा गया है — सुकृत् सुपाणिः स्ववाँ ऋतावा देवस्त्वष्टावसे तानि नो धात् (ऋ० ३.५४.१२)। त्वष्टा भास्वरित (देदीप्यमान) रूपोंके निर्माता हैं — प्रथमं भाजं यशसं वयोधां सुपाणिं देवं सुगभस्तिमृभ्वम् (ऋ० ६.४९.९)। रथ-नियुक्त उनके अश्व भी भास्वरित हैं — युजानो हरिता रथे भूरि त्वष्टेह राजति (ऋ० ६.४७.१९)।

२३. पितर (९.३१; ३५.१) — उच्च स्वर्गमें रहनेवाले पुण्यात्मा मृतकोंको पितृ कहा जाता है। ये मृतकोंके गमनके निमित्त पथ-निर्माण करते हैं — यमो नो गातुं प्रथमो विवेदनैषा गव्यूतिरपभर्तवा उ। यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुरेना जज्ञानाः पथ्या३अनुस्वाः (ऋ० १०.१४.२)। पितरोंकी विविध कोटियाँ हैं, जिन्हें अवर, पर, मध्यम, पूर्व और अपर

अर्थात् परवर्त्ती कहा गया है — चे चेह पितरो ये च नेह याँश्च विद्म याँ उ च न प्रविद्म (ऋ० १०.१५.१३)।

२४. पूषा (९.३२; ३४.४१) — पूषा पुष्टिके देवता हैं। उनसे दीर्घायुष्य एवं वर्चस्‌की अभिवृद्धिकी कामना की गई है — पूष्णः पोषेण मह्यं दीर्घायुत्वाय शतरशारदाय शतꣳ शरद्भ्यः आयुषे वर्चसे (तैत्ति०ब्रा० १.२.१.१९)। पुष्टिर्वै पूषा (शत०ब्रा० ३.१.४.९)। पूषा-देव पथिकोंका विशेष संरक्षण करते हैं — पूषा वे पथीनामधिपतिः (शत०ब्रा० १३.४.१.१४)। उनके रथमें अज नियोजित होते हैं — ररिवाँ अजाश्व श्रवस्यतामजाश्व (ऋ० १.१३८.४)। इनका प्रिय खाद्य करम्भ है और इनका दन्तहीन होना भी सिद्ध होता है — तस्य दन्तान्परोबाप तस्मादाहुरदन्तकः पूषा करम्भ भाग इति। (कौषी०ब्रा० ६.१३)। इसी कारण इन्हें पिष्टभाजन (गुँथा भोज्य) और चरुभक्षकके रूपमें भी प्रदर्शित किया गया है — तस्माद्यं पूष्णे चरुं कुर्वन्ति प्रपिष्टानामेव कुर्वन्ति .... (शत०ब्रा० १.७.४.७)। तस्मादाहुरदन्तकः पूषा पिष्टभाजन इति (गो०ब्रा० २.१.२)।

२५. प्रजापति (७.२९; ९.२०) — प्रजापति हिरण्यगर्भके प्रतिरूप हैं — हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्। स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम (ऋ० १०.१२१.१)। प्रारम्भिक कालसे ही इनका अस्तित्व माना जाता है — प्रजापतिर्ह वा इदमग्र एक एवाऽऽस (शत०ब्रा० २.२.४.१)। प्रजा-प्राप्तिके लिये प्रजापतिका आवाहन किया गया है — आ नः प्रजा जनयतु प्रजापतिः (ऋ० १०.८५.४३)। प्रजापति देवको यज्ञजनकके रूपमें प्रशंसित किया गया है — यज्ञः प्रजापतिः (तैत्ति०सं० ३.२.३.३)। प्रजापति देवको लोकोंका अधीश्वर कहा गया है — प्रजापतिर्वै भुवनस्य पतिः (तैत्ति० सं० ३.४.८.६)। असुरोंकी सृष्टि करनेवाले भी प्रजापति ही हैं — सोऽसुरानसृजत (तैत्ति०ब्रा० २.२.४.४)।

२६. बृहस्पति (३६.२) — स्तुति-अधिपतिके रूपमें बृहस्पति प्रख्यात हैं। इसी कारण इन्हें श्रेष्ठतम कविकी उपाधिसे विभूषित किया गया है — कविं कवीनामुपमश्रवस्तमम् (ऋ० २.२३.१)। मंत्रोच्चारण एवं पुरोहित-

निर्देशन करनेके कारण इन्हें वाचस्पति भी कहा जाता है — बृहस्पतये वाचस्पतये नैवारं चरुम् (मैत्रा० सं० २.६.६)। बृहस्पतिको वाणी और प्रज्ञाका देवता माना जाता है। ऋषि नेतृत्व करनेके कारण इनको पुरोधा, ब्रह्मन् आदि नामोंसे भी सम्बोधित किया जाता है — ब्रह्म वै देवानां बृहस्पतिः (तैत्ति०सं० २.२.९.१)। बृहस्पतिकी अनुकम्पाके बिना यज्ञ पूर्ण नहीं हो सकता — यस्मादृते न सिध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन (ऋ० १.१.८.७)। आयु-वृद्धि एवं रोग-शमन आदि अनुग्रहवान् होनेकेकारण इन्हें प्राणिवर्गका पिता कहा गया है — एवा पित्रे विश्वेदेवाय वृष्णे यज्ञैर्विधेम नमसा हविर्भिः (ऋ० ४.५०.६)। द्युलोक-गो-मोचन, बल-हनन, अन्धकार-निराकरण आदि उनके प्रमुख शौर्य-कृत्य हैं। मरुत्, वरुण, पूषाके साथ बृहस्पतिका विशेष सम्बन्ध माना जाता है।

२७. ब्रह्मणस्पति (३.२८ : ३४.५६) —— ब्रह्म और ब्रह्मण दोनों पद मंत्र या स्तुति या देव-प्रशस्तिको व्याख्यायित करते हैं — ब्रह्म वै मन्त्रः (शत०ब्रा० ७.१.१.५)। ब्रह्म वै ब्रह्मणस्पतिः (कौषी०ब्रा० ८.५)। स्तुतिके अधिष्ठाता देवताको ब्रह्मणस्पति कहा गया है — ज्येष्ठराजं ब्रह्माणां ब्रह्मणस्पत आ नः शृण्वन्नूतिभिः सीद सादनम् (ऋ० २.२३.१)। वाग्वै ब्रह्म तस्या एष पतिस्तस्मादु ह ब्रह्मणस्पतिः (शत०ब्रा० १४.४.१.२३)। बृहस्पति और ब्रह्मणस्पतिको एकीकृत भी किया गया है — बृहस्पते ब्रह्मणस्पते (तैत्ति०ब्रा० ३.११.४.२)। इनको अग्नि और मित्रके समान सौन्दर्यशाली माना जाता है — अच्छा वदा तना गिरा ज़रायै ब्रह्मणस्पतिम्। अग्निं मित्रं न दर्शतम्। (ऋ० १.३८.१३)।

२८. भग (३४.३५) —— 'भग'-की गणना द्वादश आदित्योंमें की गई है। कहीं-कहीं भगको यज्ञ-स्वरूप कहा गया है — यज्ञोभगः (शत०ब्रा० ६.३.१.१९)। भगकी कल्पना नेत्रहीनके रूपमें की गई है। ब्राह्मणोंमें इस तथ्यका विवरण उद्घाटित है — तस्य (भगस्य) चक्षुः परापतत् तस्मादाहुरन्धो वै भग इति (गो०ब्रा० २.१.२)। तस्य (भगस्य) अक्षिणी निर्जघान् तस्मादाहुरन्धो भग इति (कौषी० ब्रा० ६.१३)।

२९. मरुत् (३.४४; ८.३१) —— मरुतोंको गण-देवताके रूपमें वैदिक देवशास्त्र अङ्गीकृत करता है — गणोशो हि मरुतः (ता०म०ब्रा० १९.१४.२)। इनकी संख्या अधिकांशतः ७, १४, २१, २८, आदि ७

के गुणक-रूपमें पाई जाती है – सप्त हि मरुतः (मैत्रा० सं० १.१०.६)। त्रिर्वैसप्त मरुतः (काठ० सं० ३७.४)। देवसेनामें मरुद्गण सबसे आगे रहते हैं – देवसेनानामभिञ्जतीनां जयन्तीनां मरुतो यन्त्वग्रे (तैत्ति०सं० ४.६.४.३)। मरुत् पराक्रम-सम्पन्न देवता हैं। इन्होंने वृत्रका वध किया – माध्यन्दिनेन वै सवनेनेन्द्रो वृत्रमहन् मरुद्भिर्वीर्येण (काठ०सं० २८.३)। मरुतोंकी उत्पत्ति पृश्निसे हुई है – पृश्न्या वै मरुतो जाता वाचो वाऽस्या वा पृथिव्याः (काठ सं० १०.११)। मरुतोंको विशेष रूपसे वर्षण-कार्यसे सम्बद्ध माना जाता है – मरुतो वै वर्षस्येयशते (मैत्रा० सं० ४.१.१४)। मरुतो वर्षयन्तु (तैत्ति०सं० ३.५.५.२)।

३०. मित्र (९.३३; ११.५३) —— मित्र देवताको शान्तिके देवताके रूपमें स्वीकारा गया है – मित्रो वै यज्ञस्य शान्तिः (काठ०सं० ३५.१९)। सभी जीवोंको अपनी वाणीसे प्रेरित करनेवाले देवता मित्रको सविता देवसे समीकृत किया गया हैं – य इमा विश्वा जातान्याश्रावयति श्लोकेन। प्र स सुवाति सविता (ऋ० ५.८२९)। नवोत्पन्न अग्निको वरुण और समिद्ध अग्निको मित्र कहा गया है – त्वमग्ने वरुणो जायसे यत् त्वं मित्रो भवसि यत्समिद्ध (ऋ० ५.३.१)। विष्णु देव मित्र देवताके नियमोंसे ही परिक्रमण करते हैं – यस्मै विष्णुस्त्रीणि पदा विचकम उप मित्रस्य धर्मभिः (बालखिल्य ४.३) । रात्रिसे सम्बद्ध देवको वरुण एवं प्रातः से सम्बद्ध प्रकाश-देवको मित्र कहा गया है – वरुणेन समुब्जितां मित्रः प्रातर्व्युब्जतु (अथर्व० ९.३.१८)। मित्र द्युलोक एवं पृथिवी लोकके धारणकर्ता हैं – मित्रो दाधार पृथिवीमुत द्याम् (काठ०सं० २३.१२)।

३१. मित्रावरुण (७.९; २१.८) —— अनेकानेक देवतोंकी स्तुति युग्म-रूपमें की गई है। इस युग्ममें वरुणका प्राधान्य है। इन देवताओंको नित्य युवा कहा गया है – मित्रः सम्राजो वरुणो युवानः (ऋ० ३.५४.१०)। इनमें मित्रको पहले और वरुणको बादमें रखा गया है, जिससे प्रतीत होता है कि मित्रका विशेष महत्त्व था। इस महिमाशाली देवताको सहायताके निमित्त आहूत किया गया है – आ नो जने श्रवयतं युवाना श्रुतं मे मित्रावरुणा हवेमा (ऋ० ७.६२.५)।

३२. राक्षस (रक्ष) (२.२३; ६.१६) – राक्षस विघ्नकारी शक्तियोंके

प्रतीक हैं। भूमण्डल इन शक्तियोंसे आक्रान्त रहता है। ये सर्वत्रगामी हैं तथा विविध रूप धारण करनेमें सक्षम हैं — उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोक यातुम। सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्र मृण रक्ष इन्द्र (ऋ० ७.१०४.२२)। रोग-राक्षसकी भी कल्पना की गई है, जो पक्षियोंके समान उड़ते हुए मानव-शरीरमें प्रविष्ट हो जाते हैं — पक्षी जायान्यः पतति स आ विशति पूरुषम् (अथर्व० ७.७६.४)। राक्षसोंका विघ्न-स्थल मुख्य रूपसे यज्ञ-स्थान हुआ करता है। यज्ञ-दूषण हविष-मंथन करते हुए विविध कृत्योंमें अवरोध उत्पन्न करते हैं। ये ब्रह्मद्वेषी होते हैं— तपुर्मूर्धा तपतु रक्षसो ये ब्रह्मद्विषः शरवे हन्तवा उ (ऋ० १०.१८२.३)। राक्षसोंको दूर करनेके लिये यज्ञभूमिमें दक्षिण दिशामें दक्षिणाग्नि जलती रहती है।

३३. राक्षसघाती (रघोघ्न) (५.२२; ९.३८) — देव-विरोधी शक्तियाँ सत्कार्यमें विघ्न डालती हैं। सत्-असत्का द्वन्द्व निरन्तर चल रहा है। राक्षसगण यज्ञोंको विनष्ट करते हैं, अतएव देवताओंसे प्रार्थना की जाती है कि यज्ञीय कृत्योंको निर्विघ्न पूर्ण करें — रक्षाᳬसि यज्ञं न हिᳬस्युरिति (शत०ब्रा० १.८.१.१६)। इन्हीं राक्षसोंके निवारणके लिये रक्षोघ्न देवताकी कल्पना की गई है। अनेक प्रकारकी याज्ञिक वनस्पतियोंको राक्षसनाशिनी कहा गया है — देवा ह्ऽवा एतं वनस्पतिषु राक्षोघ्नं .... (शत०ब्रा० ३.४.१.१६)। यज्ञके द्वारा ब्राह्मण भी राक्षसोंका नाश करनेमें सक्षम हैं — ब्राह्मणो हि रक्षसामपहन्ता (शत०ब्रा० १.१.४.६)। यज्ञीय जल भी अभिसिंचित होकर असत् प्रवृत्तिवाले असुरोंका विनाश करता है — आपो वै रक्षोघ्नीः (तैत्ति०ब्रा० ३.२.३.१२)।

३४. रुद्रगण (एक रुद्र, बहुरुद्रगण) (११.५४; १६.१; १६.१७) — वैदिक देवताओंमें 'रुद्र'-का विशिष्ट स्थान है। शतपथ ब्राह्मणमें अनेक स्थानोंपर 'रुद्र' और अग्निको अत्यन्त निकटका माना गया है — यो वै रुद्रः सो अग्निः (तैत्ति० ब्रा० ५.२.४.१३)। पशूनां पती रुद्रः अग्निरिति (शत०ब्रा० १.७.३.८)। रुद्रको मरुत् पिता कहा गया है— आ ते पितर्मरुतां सुम्नमेतु।..... प्रजायेमहि रुद्र प्रजाभिः (ऋ० २.३३.१)। कण्डिकाओंमें अनेक स्थलोंपर रुद्राः शब्द प्रयुक्त हुआ है,

जो प्रायः ग्यारह (रुद्रों)-की संख्याका संकेत करता है – एकादश रुद्रा एकादशाक्षरा त्रिष्टुप् (तैत्ति०सं० ३.४.९.७)। इसी ग्रन्थमें अन्यत्र रुद्रोंकी तैंतीस संख्याका भी उल्लेख हुआ है – त्रिंशत्त्रयश्च गणिनो रुजन्तो दिवं रुद्राः पृथिवीं च सचन्ते (तैत्ति०सं० १.४.११.१)। इन्हें सर्वव्यापी कहा गया है। ये विविध वेशधारी तथा अनेक कार्योंको सम्पन्न करनेवाले माने गए हैं, अतएव रुद्र एवं उनके गणोंकी स्तुति की जाती है– नमो गणेभ्यो गणपतिभ्यश्च वो नमो.......(यजु० १६.२५)।

३५. लिंगोक्त (२.२२; १०.२) —— लिंगोक्त पद-द्वारा दो प्रकारकी अवधारणा बनती है – (१) प्रथमतः विभिन्न सूक्तों अथवा मंत्रोंमें प्रतीक-लक्षणोंके आधारपर उनमें निहित देवताको मुख्य देवता माना गया है। इनमें सामूहिक देव भी सम्मिलित हैं। (२) अनेक सूक्तों अथवा मंत्रोंमें एक देवताको ही विविध रूपोंमें प्रदर्शित किया गया है। इन प्रतीकात्मक देवताओंका उल्लेख वेदोंमें अनेक स्थानोंपर 'लिंगोक्त देवता'-के रूपमें हुआ है – यहाँ लिंगका अर्थ प्रतीक है – येन लिंगेन यो देशः युक्तः समुपलक्ष्यते। तेनैव नाम्ना तं देशं वाच्यमाहुः मनीषिणः॥ (श०क०पृ० २१७)। सर्वानुक्रम-सूत्रकारने अनेक स्थानोंपर लिंगोक्त देवताको इस रूपमें प्रतिपादित किया है – वायुः पुनातु चत्वारि लिंगोक्तानि.......अपाघं लिंगोक्त.......देवतां अनुष्टुभं ....(सर्वा० ४.४)। निवर्तयामि लिंगोक्तदेवतमाशीः प्रायम्। (सर्वा० १.१५)।

३६. वरुण (४.३१; १०.७) —— वरुणको सम्राट्के रूपमें विवेचित किया गया है – वरुणः सम्राट् सम्राट्पतिः (तैत्ति०सं० २.५.७.३)। सूर्यके निमित्त मार्ग-अन्वेषण इन्हींके द्वारा किया जाता है – उरुꣳ हि राजा वरुणश्चकार सूर्याय पन्थामन्वेतवा उ (कपि०क०सं० ३.११)। वरुणको देवाधिराज कहा जाता है – क्षत्रस्य राजा वरुणोऽधिराजः (तैत्ति०सं० ३.१.२.७)। वरुण अपने द्वारा सम्पादित कार्योंको पूर्णता देनेके पक्षपाती हैं। इसीलिये इनको धृतव्रत भी कहा जाता है – निषसाद धृतव्रतो वरुणः पस्त्यास्वासाम्राज्याय सुक्रतुः (मैत्रा०सं० २.६.१२)। वरुणस्त्वाधृतव्रतो धूपयतु (मैत्रा०सं० ४.९.१)। जलको समावृत करनेके कारण इनको वरुण कहा गया है। कालान्तर में इनको जल-देवता के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त हुई – यच्च (आपः)

वृत्वाऽतिष्ठस्तद्वरणोऽभवत्तं वा एतं वरणं सन्तं वरुण इत्याचक्षते परोक्षेण (गो०ब्रा० १.१.७)।

३७. वसुगण (९.३४) — वसुगण के देवताओं की संख्या के विषय में मतान्तर है। यह संख्या ८ से ३३३ तक मानी गई है – तेन त्रीणि च शतान्सृजन्त त्रयस्त्रिंशतं च (तैत्ति०सं० ५.५.२.६)। वसुओं का इन्द्र, पृथ्वी तथा अग्नि से सम्बन्ध विशेष है – एते वै त्रया देवा यद्वसवो रुद्रा आदित्याः (शत०ब्रा० १.३.४.१२)। त्रया वै देवाः। वसवो रुद्रा आदित्याः (शत०ब्रा० ४.३.५.१)। वसुगणों को घृतप्रिय माना जाता है– घृतेनक्तं वसवः सीदतेदं विश्वेदेवा आदित्या यज्ञियासः (ऋ० २.३.४)।

३८. वाक् (३८.५; १.१६) — वाक्की गणना अन्तरिक्ष स्थानीय देवताओं में की गई है – तस्मान्माध्यमिकां वाचं मन्यन्ते (नि० ११.२७)। ऋग्वेदके वाक्सूक्तकी ऋषिका वागम्भृणी है। अम्भृण ऋषिकी पुत्रिकाके रूप इनकी ख्याति है। 'वाक्' सूक्तमें आत्मकथन किया गया है। वाणीका सम्बन्ध बृहस्पतिसे माना गया है – बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत्प्रैरत नामधेयं दधानाः (ऋ० १०.७१.१)। वाक्को राष्ट्री और दिव्यां कहा गया है – यद्वाग्वदन्त्यविचेतनानि राष्ट्री देवानां निषसाद मन्द्रा (ऋ० ८.१००.१०)। अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम् (ऋ० १०.१२५.३)।

३९. वायु (७.७; १४.१२)— वायु अन्तरिक्ष स्थानीय देवता हैं – वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थानः (नि० ७.५)। अयं वायुरन्तरिक्षस्यपृष्ठम् (जैमि० ब्रा० ३.२५२)। वायु प्रवाह तिर्यग्गति युक्त होता है– अयं वायुरस्मिन्नन्तरिक्षे तिर्यङ् पवते (जैमि०ब्रा० ३.३१०)। वायु ही सभी प्राणियों की पूर्णता है – एष हि सर्वेषां भूतानामाशिष्ठः (शत०ब्रा० ८.४.१.९)। प्रजापतिके प्राणसे वायु-तत्त्वकी सृष्टि हुई है – प्राणाद्वायुरजायत (ऋ० १०.९०.१३)। दीर्घायुष्य प्रदान करना इनकी विशेषता है। अमृतत्त्वकी अक्षय-शक्ति वायुमें विद्यमान है – यददो वात ते गृहे३ऽमृतस्य निधिर्हितः ततो नो देहि जीवसे (ऋ० १०.१८६.३)। वायुको देवताओंमें ओजिष्ठ कहा गया है – वायुर्वै देवानामोजिष्ठः क्षेपिष्ठः

(मैत्रा०सं० २.५.१)। वायुदेव देवों में शीघ्रगामी हैं – वायुर्वै देवानामाशुः सारसारितमः (तैत्ति०सं० ३.८.७.१)। वायु समस्त देवताओं की आत्मा हैं – सर्वेषामु ह्येष देवानामात्मा यद्वायुः (शत०ब्रा० ९.१.३८)।

४०. वास्तु (३.४१)—— वास्तुदेवका आशय गृह-देवतासे है – ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः (ऋ० १.१५४.६)। यह पशुओं और प्रजाओं का कल्याणकारी देवता है – पेसुकं वै वास्तु पिस्यति ह प्रजया पशुभिर्यस्यैवं विदुषोऽनुष्टुभौ भवतः (शत०ब्रा० १.७.३.१८)। वास्तुदेवको अभिवर्द्धनशील भी कहा गया है – एष वास्तु पेसुकम् अभिवर्द्धनशीलं अतएव तज्ज्ञानवान् यः (शत०ब्रा० १.७.३.१८ हरि०भा०)। मैत्रायणी संहितामें वास्तुके अधिष्ठाता रुद्रदेवको माना गया है – वास्तोर्वै वास्तवं जातं, वास्तवमयं खलु वै रुद्रस्य (मैत्रा०सं० २.२.४)।

४१. विश्वकर्मा (८.४५; १७.१७) —— जगत्-स्रष्टाको विश्वकर्माके रूपमें जाना जाता है – अथो विश्वकर्मणे विश्वं वै तेषां कर्मकृतं सर्वं जितं भवति (शत०ब्रा० ४.६.४.५)। विश्वा मे कर्म कृतानीति विश्वकर्मा ह्यभवत् (काठ०सं० ३६.१०)। वे सम्पूर्ण लोकोंके ज्ञाता हैं। नाम-धारण एवं सृष्टि-प्रलयके उपरान्त संसार उन्हींमें विलीन हो जाता है – यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा। यो देवानां नामधा एक एव तं संप्रश्नं भुवना यन्त्यन्या (ऋ० १०.८२.३)। सभी देवों में विश्वकर्मा महान् देवता माने जाते हैं – विश्वकर्मा विश्वेदेवा महाँअसि (ऋ० ८.९८.२)। परवर्ती साहित्यमें प्रजापति और विश्वकर्माका तादात्म्य स्थापित किया गया है – प्रजापतिर्वै विश्वकर्मा (शत०ब्रा० ८.२.१.१०)। सम्पूर्ण संसारका इन्हें धाता एवं विधाता कहा जाता है – विश्वकर्मा विमना आद्विहाया धाता विधाता परमोत संदृक् (ऋ० १०.८२.२)।

४२. विश्वेदेवा (२.१८; ७.१२) —— देवताओंका समष्टिगत विवरण प्राप्त होता है, इन्हें विश्वेदेवाः कहा जाता है। ये सम्पूर्ण देवोंके प्रतिनिधिके रूपमें यज्ञ-स्थलपर आहूत किये जाते हैं। यज्ञमें इनका सायुज्य अवश्यमेव प्राप्त किया जाता है – विश्वेषामहं देवानां देवयज्यया प्राणाना

ॐ सायुज्यं गमेयम् (काठ० सं० ५.१)। इनकी संख्या तीनसे लेकर ३३ करोड़तक मानी गई है। इस गणमें सभी देवोंका समाहार हो जाता है, कोई भी देवता अवशिष्ट नहीं रहता — एते वै सर्वे देवा यद्विश्वेदेवाः (कौषी०ब्रा० ४.१४)। एक होते हुए भी ये अनेक रूपमें विचरण करते हैं — एकं सन्तं बहुधा विहरन्ति तदस्य वैश्वदेवं रूपम् (ऐ०ब्रा० ३.४)। देव-मण्डलमें सर्वाधिक प्रख्यातगण यही हैं — विश्वे वै देवादेवानां यशस्वितमाः (शत० ब्रा० १३.१.२.८)। इनकी परिकल्पना इसलिये की गई है कि यज्ञमें कोई भी देवता भागीदारीसे वञ्चित न रह जाएँ, अतएव इन्हें अनन्त भी माना गया है — अनन्ता विश्वेदेवाः (शत०ब्रा० १४.६.१.११)।

४३. विष्णु (५.१५; ६.४) — वैदिक देवताओंमें 'विष्णु'-का स्थान श्रेष्ठ है। इनकी गणना द्युस्थानीय देवताओंके अन्तर्गत की जाती है। विष्णुदेवको 'उरुगाय' और 'उरुक्रम' विशेषणसे विभूषित किया गया है — उरुक्रमस्य स हि बन्धुरित्था विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः (ऋ० १.१५४.५)। विष्णुदेवके पद मधुपूर्ण हैं — यस्य त्री पूर्णा मधुना पदानि..... (ऋ० १.१५४.४)। विष्णुदेवके गमन-मार्गपर विचरण करनेके लिये सभी प्राणी उत्सुक रहते हैं — तदस्य प्रियमभि पाथो अश्याम्....(ऋ० १.१५४.५)। यज्ञ-वेदिकाकी परिकल्पना विष्णुदेवने ही की है — यन्न्वेवात्र विष्णुमन्वविन्दंस्तस्माद्वेदिर्नाम (शत० १.२.५.१०)। विष्णुको यज्ञका प्रतीक माना जाता है — यज्ञो वै विष्णुः (मैत्रा० सं० ४.१.१२)।

४४. वेन (७.१६; ३३.२१) — वेनको विशेषतया प्राणसे सम्बद्ध माना गया है — अयं वै वेनोस्माद्वा ऊर्ध्वा अन्ये प्राणा वेनन्त्यवाश्चोऽन्ये तस्माद्वेनः (ऐ०ब्रा० १.२०)। आदित्य, इन्द्र और आत्माको वेनके साथ समीकृत किया गया है — असौ आदित्यौ वेनो यद्वै प्रजिजनिषमाणोऽवेनत्तस्माद्वेनः (शत०ब्रा० ७.४.१.१४)। इन्द्र उ वै वेनः (कौषी०ब्रा० ८.५)। आत्मा वै वेनः (कौषी०ब्रा० ८.५)।

४५. वैश्वानर (७.२४; १८.७२) — विश्वके सभी मनुष्योंसे सम्बन्धित अग्निको वैश्वानर कहा जाता है। यह सर्वव्यापक है, जिससे सम्पूर्ण प्राणी प्राणवान् रहते हैं — असौ वै वैश्वानरो योऽसौ तपति (कौषी०ब्रा०

४.३)। इसी अग्निसे अन्नादिके पाचनकी प्रक्रिया होती है तथा पुरुष के शरीर में इसी अग्निका संचार होता रहता है – अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तः पुरुषेयेनेदमन्नं पच्यते यदिदमद्यते। (शत०ब्रा० १४.८.१०.१)।

४६. सदसस्पति (३२.१३) — यज्ञ-गृहको सदस् या सदः कहा जाता है। यज्ञाधार होनेके कारण इसे उदर भी माना जाता है – उदरं वा एतद् यज्ञस्य यत् सदः (काठ० सं० २८.१)। यदस्मिन् विश्वेदेवा असीदंस्तस्मात्सदो नाम......... (शत०ब्रा० ३.५.३.५)। प्रजापतिकी कुक्षि ही सदस् है – प्रजापतेर्वा एतदुदरं यत्सदः (तां०म०ब्रा० ६.४.११)। यज्ञगृहके देवताको सदस्पतिके रूपमें प्रतिष्ठित किया गया है – सदसस्पतिमद्भूतं प्रियमिन्द्रस्य काम्यम्। सनिं मेधामयासिष - स्वाहा। (यजु० ३२.१३)। आचार्य सायणने सदसस्पतिके साथ देवता रूपमें विकल्पतः नराशंसको उल्लिखित किया है – इत्येतस्या नवम्याः सदसंस्पतिर्नराशंसो वा विकल्प्यते (ऋ० १.१८ सा०भा०)।

४७. सरस्वती (२०.८४; ३४.११) — सरस्वतीको वाणीकी देवीके रूपमें प्रतिष्ठा प्राप्त है – वाग्वै सरस्वती पावीरवी (ऐ०ब्रा० ३.३७)। ये वाणीकी उत्प्रेरिका देवीके रूपमें उल्लिखित हैं – अथ यत्स्फूर्जयन् वाचमिव वदन्दहति तदस्य सारस्वतं रूपम् (ऐ०ब्रा० ३.४)। सरस्वतीसे सम्पूर्ण वेदोंकी उत्पत्ति हुई है – सरस्वत्याः सर्वे वेदाः अभवन् (गा० र०उ० ४.५.९)। ऋक्सामे वै सारस्वतावतुत्सौ (तैत्ति०ब्रा० १.४.४.९) सरस्वती का अधिष्ठान जिह्वाको माना गया है – जिह्वा सरस्वती (शत०ब्रा० १२.९.१.१४)। बौद्धिक पुष्टि-प्रदात्री होनेके कारण इसे पुष्टि पत्नी और उसके पति के रूपमें प्रस्तुत किया गया है – सरस्वती पुष्टिः पुष्टिपत्नी (तैत्ति०ब्रा० २.५.७.४)। सरस्वती पुष्टिं पुष्टिपतिः (शत०ब्रा ११.४३.१६)।

४८. सविता (३.३५; ४.८) – अंधकार-निवृत्तिके अनन्तर सविताका काल प्रारम्भ होता है। सायणका अभिमत है कि उदय-पूर्व सूर्यको सविता कहा जाता है – उदयात् सविता उदयास्तमयवर्ती सूर्य इति (ऋ० ५.८१.४ सा०भा०) जो द्युलोक एवं पृथिवी-लोकके मध्य विचारण करते हैं – हिरण्यपाणिः सविता विचर्षणिरुभे द्यावापृथिवी अन्तरीयते (ऋ०

१.३५.९)। सविताको देवताओंका जनक कहा गया है – सविता वै देवानां प्रसविता – (शत०ब्रा० १.१.२.१७)। ये उद्भूत सभी प्राणियोंके अधिपति हैं – प्रजापतिः सविता भूत्वा प्रजा असृजत (तैत्ति०ब्रा० १.६.४.१)। वरुण एव सविता (जैमि० उप०ब्रा० ४.२७.३)। सविता राष्ट्राध्यक्षकेरूपमें प्रख्यापित हैं, क्योंकि भुवनको आश्रय देनेवाले सविता देवता ही हैं – सविता राष्ट्रꣳ राष्ट्रपतिः (शत०ब्रा० ११.४.३.१४)। ये सभीके प्राणतत्त्व हैं – प्राणो ह वाऽअस्य सविता (शत०ब्रा० ४.४.१.५)। गायत्री या सावित्री मंत्र इन्हींको सम्बोधित करके पढ़ा जाता है – भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गोदिवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात् (यजु० ३६.३)।

४९. सिनीवाली (११.५५; ३४.१०) – सिनीवाली देवी धन और सम्पत्तिकी देवी है, उनसे मंगलकी कामना की जाती है – या गुङ्गूर्या सिनीवाली या राका या सरस्वती। इन्द्राणीमह्व ऊतये वरुणानीं स्वस्तये (ऋ० २.३२.८)। इनके शारीरिक सौन्दर्यका अनुपम वर्णन प्राप्त होता है। सिनीवाली प्रकाशकी देवी हैं – दृष्टचन्द्रा अमावस्या सिनीवाली (ऋ० २.३२.६)।

५०. सूर्य (२.२६; ४.३५) – देवताओंमें सूर्यको स्थूलाकार एवं श्रेष्ठ माना गया है। सूर्यको अग्नि और मित्रावरुणसे विशेषतया सम्बद्ध माना गया है – चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः (ऋ० १.११५.१)। सूर्यको सर्वेक्षकके रूपमें विवेचित किया गया है। समस्त प्राणियोंके कर्म-द्रष्टा सूर्य ही हैं – सूराय विश्वचक्षसे (ऋ० १.५०.२)। इनके जनकके रूपमें इन्द्र, विष्णु, वरुण तथा सोम आदिका नाम आता है – यः सूर्यं य उषसं जजान यो अपां नेता स जनास इन्द्रः (ऋ० २.१७.२)। प्रकाशके रूपमें सूर्यका विशेष स्थान है। विश्वके कल्याणार्थ अन्धकारका विनाश करना इनका मुख्य कार्य है – येन सूर्यज्योतिषा बाधसेतमः (ऋ० १०.३७.४)। सूर्य सभी देवताओंका आत्मा है – सूर्यो वै सर्वेषां देवानात्मा (शत०ब्रा० १४.३.२.९) सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च (यजु० ७.४२)। सूर्यसे सामवेदकी उत्पत्ति हुई है – सूर्यात् सामवेदः (अजायत) (शत०ब्रा० ११.५.८.३)

अन्य देव-समुदाय

वेदका अभिमत है कि मंत्रद्रष्टाको ऋषि तथा मंत्रोक्तको देवता कहा जाता है—यस्य वाक्यं स ऋषिर्या तेनोच्यते सा देवता। (ऋ० १०.१० सा०भा०)। इसी आधारपर यजुर्वेदमें उन सभीको देवताकी संज्ञा प्रदान की गई है,जो प्रचलित इन्द्र, अग्नि, सूर्यसे भिन्न अचेतन, अमूर्त, स्थानविशेष, द्रव्यविशेष, गुण-विशेष आदिके रूपमें प्रायः जाने जाते हैं। इंन सभीको एक गुण-धर्मके आधारपर पृथक्-पृथक् वर्गोंमें प्रविभक्त कर विवेचित किया गया है।

क. मानव-वर्ग—देव-मानवका तादात्म्य सर्वविद् है—उभये ह वा ऽ इदमग्रे महासुर्देवाश्च मनुष्याश्च। (शत०ब्रा २.३.४.४)। कतिपय तत्त्व, देवताओंके लिये प्रत्यक्ष हैं तथा मानवके निमित्त कुछ तत्त्व परोक्ष हैं। प्रत्यक्षत्व एवं परोक्षत्व ही देव-मानव अन्तरको अभिव्यक्त करता है—यद्वै मनुष्याणां प्रत्यक्षं तद् देवानां परोक्षमथ यन्मनुष्याणां परोक्षं तद् देवानां प्रत्यक्षम् (ता०म०ब्रा० २२.१०.३)। देवगण दीर्घायुष्य प्राप्त हैं तथा मानव-आयु तुलनात्मक दृष्टिसे स्वल्प है, परन्तु स्वल्पायु होनेपर भी देव-कार्य-सम्बद्ध होनेके कारण मानव भी देवत्व प्राप्त कर लेता है—द्राघीयो हि देवायुषं ह्सीयो मनुष्यायुषम। (शत०ब्रा० ७.३.१.१०)। बहूनां यजमानानां यो वै देवताः........(तैत्ति०सं० १.६.६.१)। यजुर्वेदमें मनुष्योंको भी देव-श्रेणीमें परिगणित किया गया है, जो इस प्रकार हैं—अध्वर्यु, उद्गाता, ऋत्विज, कुमारी, क्षत्ता, क्षत्रिय, त्रित-द्वित-एकत, पत्नी, परिवृक्ता, पालागली, ब्रह्मा, ब्राह्मण आदि, महिषी, यजमान, योद्धागण, रक्ष-रक्षक, वावाता, सारथी, होता इत्यादि।

ख. पशु या प्राणी-वर्ग—वैदिक साहित्य पशु-माहात्म्यसे परिपूर्ण है। मानव उपयोगी तत्त्वोंसे स्व-तादात्म्य संस्थापन कर लेता है। मानवीय आकारधारी देवताओंने भी सहायक होने के कारण पशुओंसे सम्बन्ध जोड़कर उन्हें दिव्य शक्ति-सम्पन्न बना दिया। अनेकानेक अवसरोंपर देव उपयोगी होकर पशु-जगत्ने जनमानसको प्रभावित किया है। देव-अवधारणामें पशु-जगत्के सद्गुणोंको ही निरूपित किया गया है, असद् वृत्तियोंको नहीं। असद् वृत्ति-प्रतीकके रूपमें अर्द्ध-पशुका विवेचन किया गया है, जो अर्द्धदेव या दानवका प्रतिनिधित्व करता है। सामान्यतः यज्ञीय-

सहायक पशुओंको ही देवताके रूपमें स्थान प्राप्त है। इन्हींसे यज्ञकी प्रतिष्ठा होती है – पशून् यज्ञः (अनु प्रतितिष्ठति) (तैत्ति० सं० ५.१.३.१)। यज्ञो वै पशूनामायतनम् ....(मैत्रा० सं० ४.२.)। यजुर्वेदमें अधोलिखित पशुओंको देवत्व प्रदान किया गया है – अजा, अनडुत्, अश्व, गर्दभ, रासभ, वत्स, सर्प इत्यादि।

ग. पात्र अथवा उपकरण-वर्ग – वैदिक अवधारणा अचेतन पदार्थोंकी मूर्तवत् उपासनाकी पक्षपाती रही है। अचेतन पदार्थोंके अन्तर्गत विविध यज्ञीय-उपकरण भी परिगणित हुए हैं। चैतन्य-युक्त एवं अचेतन पदार्थोंको विग्रहवत्ता प्रदान करनेके कारण ही याज्ञिक सर्वदेववादको मान्यता प्राप्त हुई। यज्ञोपयोगी समस्त पदार्थ दिव्य-गुण-सम्पन्न हैं एवं दैवशक्ति सञ्चालित हैं। मंत्र-पूत होनेके अनन्तर अचेतन भी चैतन्य-युक्त एवं अलौकिक हो जाता है। यज्ञीय पात्र यज्ञोपयोगी होनेके कारण इसी विशेषतासे समन्वित हैं। इनको देवक्षेत्र कहा जाता है – पात्राणि वा व देवक्षेत्रम् (मैत्रा०सं० ४.५.६)। यज्ञीय पात्र आयुर्दा होते हैं – आयुषो ध्रुवं प्रतिष्ठाया ऋतुपात्रे। (तैत्ति०सं० १.५.४.२)।

यज्ञ-प्रधान यजुर्वेदमें 'यज्ञीय-पात्रों' एवं उपकरणों को भी देव-श्रेणीमें परिगणित किया गया है, जो इस प्रकार हैं – अक्षन्धुरी, अदाभ्य, अभ्रि, अवट, असि; आर्त्नी (रज्जू), आसन्दी, इध्म, इषु (बाण), उखा, उपभृत्, उपल, उपवेश, उपांशु (ग्रह), उलूखल, कशा, कार्मुक, कृष्णविषाण दण्ड, कृष्णाजिन, ग्रह, घर्मासन्दी, चर्म, जुहू, तूण, दर्वि, दृषत्, धनुष्, ध्रुव, निग्राभ्या, पयोग्रह, परीशास, पात्र, बर्हि, मन्थी, मन्थिग्रह, महावीर, मुसल, मेखला, यूप, योक्त्र (जुआ बाँधनेकी रस्सी), रज्जू, रथ, रास्ना, रुक्म, शकल, शतमान, शम्या, शास, शुक्र, सुराग्रह, सोमग्रह, सोमांशु, स्रुव, स्रुक्, स्रुची, स्फ्य, स्वयमातृण्णा (अग्नि रखनेका पात्र), स्वरु, हविर्धान, हिरण्यशकल इत्यादि।

घ. स्थान-वर्ग – मानवकी आराध्य शक्ति देवी, देव या देवताके रूपमें सर्व-स्वीकृत है। प्राकृतिक दृश्य, शक्ति, स्थान, भौगोलिक-परिवेश तथा कृत्रिम पदार्थोंको भी देवताके रूपमें मान्यता प्राप्त है। अन्तरिक्ष, द्युस्थानीय, पृथिवी तथा पृथिवी-तलके विविध प्राकृतिक एवं यज्ञोपयोगी कृत्रिम पदार्थ देवता ही है। लोक, वेदिका एवं भूभाग तथा उस पर आश्रित यज्ञीय-निर्मिति भी

दिव्य-तत्त्वसे समन्वित निरूपित किए गए हैं — द्यौर्वै सर्वेषां देवानामायतनम् (शत०ब्रा० १४.३.२.८)। देवक्षेत्रं वा एतद् यत् षष्ठमहः (ऐ०ब्रा० ५.९)। वेदिर्वै देवलोकः (शत०ब्रा० ८.६.३.६)। यागोचित स्थानमें श्रौत देवयजन सम्पन्न किया जा सकता है, जो दिव्य-गुण-युक्त ही होता है। यजुर्वेदमें अधोलिखित स्थानोंको देवत्व प्रदान किया गया है — अयं लोक, असौ लोक, उत्तरवेदिका, उपरव, खर, दक्षिणोत्तर वेदिका, पन्था, बहिष्पवमान देश, भाग, भूमि, वेदि, सद, समुद्रादि, सिन्धु इत्यादि।

ङ. **हव्य-वर्ग** — देवताओंको समर्पित यज्ञीय-पदार्थको हव्य कहा जाता है। यज्ञको देवताओंकी आत्मा कहा गया है — यज्ञ उ देवानात्मा (शत०ब्रा० ८.६.१.१०)। याज्ञिक कृत्योंमें दिव्य-शक्ति युक्त अन्न हवि-रूपमें देवताओंके प्रीणनार्थ आहूत किया जाता है। देव-कार्य प्रयुक्त होनेके कारण अन्नादि पदार्थ भी देवत्व प्राप्त कर लेते हैं — यज्ञ उ देवानामन्नम् (शत०ब्रा० ८.१.२.१०)। तान् देवान् अब्रवीत् यज्ञे वोऽन्नममृतत्वं व ऊर्ग्वः (शत०ब्रा० २.४.२.१)। एतद्धै देवानां परममन्नं यन्नीवाराः (तैत्ति०ब्रा० १.३.६.८)। यज्ञ-प्रयुक्त अन्नको देवत्व प्रदान किया गया है। आहुतिभिरेव देवान् हुतादः प्रीणाति (मैत्र०उ० १.४.६)। यजुर्वेदमें अधोलिखित हव्यान्नको देवता स्थान दिया गया है — अन्न, आज्य (प्रतप्त घृप्त), ओषधि, तण्डुल (चावल), धाना (भुना हुआ जौ), नवनीत, पय, पुरीष, पुरोडाश, यव, वल्मीकवपा, वसा, सन्नाह (सान्नाय्य — दूध + दही), हवि इत्यादि।

च. **वस्तु या द्रव्य वर्ग** — वैदिक निधि अनेक रहस्योंको समाहित किए हुए है — एवमिमे सर्वे वेदा निर्मिताः सरहस्याः सब्राह्मणाः (गो०ब्रा० २.१)। इन रहस्यों को भली-भाँति आत्मसात् करके लोकमंगलकी भावनासे अनुप्राणित ऋषियोंने श्रौत-कर्मानुष्ठानको प्रमुखता दी है। इनमें इष्ट-लाभ और अनिष्ट-निरसनके उपाय निरूपित हैं। यज्ञ-विधान अनेकानेक साधनोंकी अपेक्षा रखते हैं। अश्वमेधादयो यज्ञ बहुसंभारविस्तराः। (भ०पु० १५१.११)। याज्ञिक कृत्योंमें प्रयुक्त प्रत्येक वस्तु या द्रव्य यज्ञ-मय होती हुई दिव्यता प्राप्त कर लेती है। यजुर्वेदमें अनेक वस्तु अथवा द्रव्यको देवता-रूपमें निर्देशित किया गया है, जो इस प्रकार है — अञ्जन, इष्टका (ईंटें), उपांशु-सवन (बट्टा), उष्णीष (पगड़ी), औदुम्बर, कुशतरुण, कूर्म, क्षुर, गुलगुल्व आदि संभारा, ग्रावा (बट्टा), चात्वाल,

तार्प्य (घृताक्त वस्त्र), दर्भतरुण, दूर्वेष्टका (दूर्वा + इष्टका), द्वार, धात्र आदि। धू (धुरा), नीवि (वस्त्र या नाड़ा), पवमान, परिधि, परिश्रित, पाण्ड्व (वस्त्र), पुष्करपर्ण, प्रस्तर, प्राजहित, बर्हि, ब्रह्मासन, मूत्र, मृत्पिण्ड, मेखला, लोकंपृणा, लोष्ट, वपाश्रपणी, वराहविहित (महावीरपात्रके निर्माणकी मिट्टी), वास, विधृती, शामित्र, समित्, सिकता (बालू), सोम सम्पत्, स्वर्ग्या - नौ (स्वर्ग नौका), स्वर्ण-निष्क, हिरण्य इत्यादि।

छ. **अमूर्त्त या भावात्मक देव वर्ग** — वैदिक ऋषियों ने यज्ञके माध्यमसे अनेक देवोंके प्रति भक्ति-युक्त अभिव्यक्ति की है। वैविध्य होनेपर भी ऐक्य-भाव सर्वत्र द्रष्टव्य है। कालान्तरमें ऋषि-दृष्टि अमूर्त और भावात्मक देवताओंकी ओर जाती हुई प्रतीत होती है। कतिपय देवता मनोभावोंके मानवीकरण रूप हैं। देव-सम्बद्ध भावनाएँ अमूर्त रूप में साकार होती हैं। ये देवता प्रत्यक्षतः भावोंके प्रतिरूप हैं। ये भाव देवता-विशेष या देवता-सामान्यके विशेषण हैं। कालान्तरमें इन भावोंने स्वतंत्र देवत्व प्राप्त कर लिया। यजुर्वेदमें जिन्हें अमूर्त्त या भावात्मक देवताके रूपमें निरूपित किया गया है, वे इस प्रकार हैं — अनुमति, अश्वस्तुति, अहोरात्र, आग्रयण, आभिचारिक, ऋक्-साम, ऋषि-सृष्टि, काम, गर्भ, गुण, घर्म (याग-कर्म), चक्षु, छन्द-समूह, दधिघर्म, देवयान-पितृयान, द्वेष, धी, निर्ऋति (पापादि), पुरुष जगद्बीज, पत्नी-आशीर्वाद, प्रतिप्रश्न, प्रश्न, प्राणोदान देवता, प्रायश्चित्त, प्रैष, बाहू, भाववृत्त, भूति (वैभव), मन, मान्त्रवर्णिक्य, मृत्यु, मृत्युनाशन, यजमान आशीर्वाद, यजमानानामात्म स्तुति, यज्ञ, विद्युत्-गर्जन, विप्रुष (होम), विश्वज्योति, विषूचिका, शरीर-अवयव, श्रोत्र, षोडशी (याग-कर्म), सीर, सीता, सुखं, सुन्वन, स्वाहाकृति, हस्तघ्न, हृदय, हृदय-शूल इत्यादि।

यजुर्वेदीय छन्दोंका संक्षिप्त विवरण

क्र०	छन्द-नाम	पाद-विवरण	कुल वर्ण
१.	अतिजगती	१२+१२+१२+८+८	५२
	निचृत् अतिजगती		५१
	भुरिक् अतिजगती		५३

	विराट् अतिजगती		५०
	स्वराट् अतिजगती		५४
क.	निचृत् आर्षी अतिजगती		५१
२.	अतिधृति	१२+१२+८+८+८+१२+८+८	७६
	निचृत् अतिधृति		७५
	भुरिक् अतिधृति		७७
	विराट् अतिधृति		७४
	स्वराट् अतिधृति		७८
३.	अतिशक्वरी	१६+१६+१२+८+८	६०
	निचृत् अतिशक्वरी		५९
	भुरिक् अतिशक्वरी		६१
	स्वराट् अतिशक्वरी		६२
४.	अत्यष्टि	१२+१२+८+८+८+१२+८	६८
	निचृत् अत्यष्टि		६७
	भुरिक् अत्यष्टि		६९
	विराट् अत्यष्टि		६६
५.	अनुष्टुप्	८+८+८+८	३२
	निचृत् अनुष्टुप्		३१
	भुरिक् अनुष्टुप्		३३
	विराट् अनुष्टुप्		३०
	स्वराट् अनुष्टुप्		३४
क.	आर्षी अनुष्टुप्	३+१३+१६	३२
	निचृत आर्षी अनुष्टुप्		३१
	भुरिक् आर्षी अनुष्टुप्		३३
	विराट् आर्षी अनुष्टुप्		३०
	स्वराट् आर्षी अनुष्टुप्		३४
ख.	प्राजापत्या अनुष्टुप् + (निचृत् आर्षी जगती)	३+१३	१६
	भुरिक् प्राजापत्या अनुष्टुप्+ (साम्नी उष्णिक्)	१७	

ग.	पिपीलिका मध्या विराद् अनुष्टुप्	११+८+११	३०
घ.	ब्राह्मी अनुष्टुप्	८+१६+२४	४८
	निचृत् ब्राह्मी अनुष्टुप्		४७
	विराद् ब्राह्मी अनुष्टुप्		४६
	स्वराद् ब्राह्मी अनुष्टुप् + (आर्षी उष्णिक्)		५०
६.	अभिकृति		१००
	निचृत् अभिकृति		९९
	भुरिक् अभिकृति		१०१
	विराद् अभिकृति		९८
	स्वराद् अभिकृति		१०२
७.	अष्टि	१६+१६+१६+८+८	६४
	निचृत् अष्टि		६३
	भुरिक्अष्टि		६५
८.	आकृति	८x८+१२x२	८८
	निचृत् आकृति		८७
	भुरिक् आकृति		८९
	विराद् आकृति		८६
९.	उत्कृति		१०४
	निचृत् उत्कृति		१०३
	भुरिक् उत्कृति		१०५
	विराद् उत्कृति		१०२
	स्वराद् उत्कृति		१०६
१०.	उष्णिक्	८+८+१२	२८
	निचृत् उष्णिक्		२७
	भुरिक् उष्णिक्		२९
	विराद् उष्णिक्		२६
	स्वराद् उष्णिक्		३०
क.	आर्ची उष्णिक्	७+७+७	२१

ख.	आर्षी उष्णिक्	२+१४+१२	२८
	भुरिक् आर्षी उष्णिक्		२९
	स्वराद् आर्षी उष्णिक्		३०
ग.	पर उष्णिक्	८+८+१२	२८
	निचृत पर उष्णिक्		२७
घ.	भुरिक् प्राजापत्या उष्णिक् +		
	(भुरिक् अभिकृति)	२+११	१३
ङ.	ब्राह्मी उष्णिक्	७+१४+२१	४२
	स्वराद् ब्राह्मी उष्णिक्		४४
च.	याजुषी उष्णिक् +	७	७
	(भुरिक् आर्षी त्रिष्टुप + आसुरी गायत्री)		
११.	कृति		८०
	निचृत् कृति		७९
	भुरिक् कृति		८१
	विराद् कृति		७८
१२.	गायत्री	८+८+८	२४
	निचृत् गायत्री		२३
	भुरिक् गायत्री		२५
	विराद् गायत्री		२२
	स्वराद्		२६
क.	अतिपाद निचृत् गायत्री		२१
ख.	आर्षी गायत्री	१+१५+८	२४
	निचृत् आर्षी गायत्री		२३
	भुरिक् आर्षी गायत्री		२५
	स्वराद् आर्षी गायत्री		२६
ग.	भुरिक् आसुरी गायत्री	१+१५	१६
	(गायत्री)		
घ.	द्विपदा विराद् गायत्री	१२+१०	२२
ङ.	द्विपाद् विराद् गायत्री	१०+१०	२०
च.	पाद निचृत् गायत्री (त्रिपाद)	७+७+७	२१
	भुरिक् त्रिपाद गायत्री+	७+७+८	२२

	(स्वराट् आर्ची अनुष्टुप+		
	भुरिक् आर्षी अनुष्टुप्)		
छ.	पिपीलिका मध्या निचृत गायत्री	८+७+८	२३
	पिपीलिका मध्या विराट् गायत्री		२२
ज.	प्राजापत्या गायत्री +	१+७	८
	(निचृत् आर्षी बृहती)		
झ.	ब्राह्मी गायत्री	६+१२+१८	३६
	विराट् ब्राह्मी गायत्री		३४
ञ.	यवमध्या विराट् गायत्री	७+१०+७	२४
ट.	वर्धमाना गायत्री	६+७+८	२१
ठ.	शंकुमती गायत्री	८+८+५	२१
१३.	जगती	१२+१२+१२+१२	४८
	निचृत् जगती		४७
	भुरिक् जगती		४९
	विराट् जगती		४६
	स्वराट् जगती		५०
क.	आर्षी जगती	७+९+३२	४८
	निचृत् आर्षी जगती		४७
	भुरिक् आर्षी जगती		४९
	विराट् आर्षी जगती		४६
	स्वराट् आर्षी जगती		५०
ख.	पंचपात ज्योतिष्मती जगती	८+१२+८+८+८	४४
ग.	प्राजापत्या जगती	७+२५	३२
	विराट् प्राजापत्या जगती +		३०
	(भुरिक् आर्षी उष्णिक्)		
घ.	ब्राह्मी जगती	१२+२४+३६	७२
	विराट् ब्राह्मी जगती		७०
	स्वराट् ब्राह्मी जगती		७४
ङ.	साम्नी जगती	१२+१२	२४
	+ (साम्नी उष्णिक्)		

१४.	त्रिष्टुप्	११+११+११+११	४४
	निचृत् त्रिष्टुप्		४३
	भुरिक् त्रिष्टुप्		४५
	विराट् त्रिष्टुप्		४२
	स्वराट् त्रिष्टुप्		४६
क.	आर्षी त्रिष्टुप्	११+११+११	३३
	भुरिक् आर्षी त्रिष्टुप्		३४
ख.	आर्षी त्रिष्टुप्	६+१०+२८	४४
	निचृत् आर्षी त्रिष्टुप्		४३
	भुरिक् आर्षी त्रिष्टुप्		४५
	विराट् आर्षी त्रिष्टुप्		४२
	स्वराट् आर्षी त्रिष्टुप्		४६
ग.	आर्षी यवमध्या निचृत् त्रिष्टुप	८+८+११+८+८	४३
घ.	ब्राह्मी त्रिष्टुप	११+१२+३३	६६
	निचृत् ब्राह्मी त्रिष्टुप्		६५
	भुरिक् ब्राह्मी त्रिष्टुप्		६७
	विराट् ब्राह्मी त्रिष्टुप्		६४
	स्वराट् ब्राह्मी त्रिष्टुप्		६८
ङ.	याजुषी त्रिष्टुप्		
	(स्वराट् उत्कृति)	११	११
	स्वराट् याजुषी त्रिष्टुप् +		
	(आर्षी त्रिष्टुप्)		१३
च.	साम्नी त्रिष्टुप् +		
	(विराट् आर्ची त्रिष्टुप)	११+११	२२
१५.	धृति	१२+१२+८+८+८+१६+८	७२
	निचृत् धृति		७१
	भुरिक् धृति		७३
	विराट् धृति		७०
	स्वराट् धृति		७४
१६.	पंक्ति	८+८+८+८+८	४०

	निचृत् पंक्ति		३९
	भुरिक् पंक्ति		४१
	विराट् पंक्ति		३८
	स्वराट् पंक्ति		४२
क.	आर्ची पंक्ति	१०+१०+१०	३०
	निचृत् आर्ची पंक्ति		२९
	भुरिक् आर्ची पंक्ति		३१
ख.	आर्षी पंक्ति	५+११+२४	४०
	निचृत् आर्षी पंक्ति		३९
	भुरिक् आर्षी पंक्ति		४१
	विराट् आर्षी पंक्ति		३८
	स्वराट् आर्षी पंक्ति		४२
ग.	आस्तार पंक्ति	८+८+१२+१२	४०
घ.	प्रस्तार पंक्ति	१२+१२+८+८	४०
ङ.	ब्राह्मी पंक्ति	१०+२०+३०	६०
	निचृत् ब्राह्मी पंक्ति		५९
	भुरिक् ब्राह्मी पंक्ति		६१
	विराट् ब्राह्मी पंक्ति		५८
	स्वराट् ब्राह्मी पंक्ति		६२
च.	याजुषी पंक्ति + (उत्कृति)	१०	१०
छ.	साम्नी पंक्ति	१०+१०	२०
१७.	प्रकृति		८४
	निचृत् प्रकृति		८३
	विराट् प्रकृति		८२
	स्वराट् प्रकृति		८६
१८.	बृहती	८+८+१२+८	३६
	निचृत् बृहती		३५
	भुरिक् बृहती		३७
	विराट् बृहती		३४
	स्वराट् बृहती		३८

क.	आर्षी बृहती	४+१२+२०	३६
	निचृत् आर्षी बृहती		३५
	भुरिक् आर्षी बृहती		३७
	विराट् आर्षी बृहती		३४
	स्वराट् आर्षी बृहती		३८
ख.	आर्षी पथ्या स्वराट् बृहती	८+८+१२+१०	३८
ग.	उपरिष्टाद् बृहती	८+८+८+१२	३६
	निचृत् उपरिष्टाद् बृहती		३५
	भुरिक् उपरिष्टाद् बृहती		३७
घ.	दैवी बृहती + (निचृत् गयत्री) ४		४
ङ.	न्यङ्कुसारिणी बृहती	८+१२+८+८	३६
च.	पथ्या बृहती	८+८+१२+८	३६
	विराट् पथ्या बृहती		३४
छ.	पिपीलिका मध्या बृहती	१३+८+१३	३४
ज.	ब्राह्मी बृहती	९+१८+२७	५४
	निचृत् ब्राह्मी बृहती		५३
	भुरिक् ब्राह्मी बृहती		५५
	विराट् ब्राह्मी बृहती		५२
	स्वराट् ब्राह्मी बृहती		५६
झ.	याजुषी बृहती + (स्वराट् ब्राह्मी अनुष्टुप् + स्वराट् ब्राह्मी उष्णिक)	९	९
ञ.	सतोबृहती	१२+१२+१२	३६
	स्वराट् सतोबृहती		३८
ट.	साम्नी बृहती + (साम्नी उष्णिक्) ९+९		१८
	भुरिक् साम्नी बृहती		१९
१९.	विकृति	८x१०+१२	९२
	निचृति विकृति		९१
	भुरिक् विकृति		९३
	स्वराट् विकृति		९४
२०.	शक्वरी	८+८+८+८+८+८+८	५६

	निचृत शक्वरी	५५
	भुरिक् शक्वरी	५७
	स्वराट् शक्वरी	५८
२१.	संकृति + (विराट् संकृति)	९६
	निचृत संकृति	९५
	भुरिक् संकृति	९७
	विराट् संकृति	९४
	स्वराट् संकृति	९८

यजुर्वेदके सम्बद्ध ग्रन्थोंका विवरण

शुक्ल यजुर्वेद के –

ब्राह्मण – माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण और काण्व शतपथ ब्राह्मण।

आरण्यक – काण्वशाखीय बृहदारण्यक।

श्रौतसूत्र – कात्यायन श्रौत सूत्र।

गृह्यसूत्र – पारस्कर गृह्यसूत्र

धर्मसूत्र – गौतम धर्मसूत्र।

व्याकरण – शुक्ल यजुः प्रातिशाख्य।

परिशिष्ट – शुक्ल यजुर्वेदके १८ परिशिष्ट प्रसिद्ध हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं – यूप लक्षण, छागलक्षण, प्रतिज्ञासूत्र, अनुवाक् सूत्र, क्रतुसंख्या परिशिष्ट, निगम परिशिष्ट, चरणव्यूह परिशिष्ट, श्राद्धसूत्र, शुल्वसूत्र, पार्षद्सूत्र, इष्टकासूत्र, इष्टकापूरण सूत्र, प्रवराध्याय, उक्थ्यशास्त्र, यज्ञपार्श्व परिशिष्ट, हौत्र परिशिष्ट, प्रसवोत्थान, गृह्य परिशिष्ट और कूर्मलक्षण।

शुक्ल यजुर्वेदकी शिक्षा – इसकी पच्चीस शिक्षाएँ प्रसिद्ध हैं – याज्ञवल्क्य शिक्षा, वाशिष्ठी शिक्षा, कात्यायनी शिक्षा, पाराशरी शिक्षा, माडव्य शिक्षा, अमोघानन्दिनी शिक्षा, लघ्वमोघानन्दिनी शिक्षा, अमरेशी शिक्षा, केशवी गद्यात्मिका, केशवी पद्यात्मिका, मल्लशर्म शिक्षा, स्वरांकुश शिक्षा, अवसाननिर्णय शिक्षा, स्वरभक्तिनिर्णय शिक्षा, क्रमसन्धान शिक्षा, गलदृक शिक्षा, मनःस्वार शिक्षा, प्रातिशाख्य-प्रदीप शिक्षा, वेदपरिभाषासूत्र शिक्षा, वेदपरिभाषाकारिका शिक्षा, यजुर्विधान शिक्षा, स्वराष्टक शिक्षा, क्रमकारिका शिक्षा, माध्यन्दिनीय शिक्षा और लघुमाध्यन्दिनीय शिक्षा।

कृष्णयजुर्वेदके –

ब्राह्मण – तैत्तिरीय ब्राह्मण।

आरण्यक – तैत्तिरीयारण्यक।

श्रौतसूत्र – सत्याषाढ श्रौतसूत्र, मानवश्रौतसूत्र, भारद्वाज श्रौतसूत्र, बौधायन श्रौतसूत्र, आपस्तम्ब, श्रौतसूत्र और हिरण्यकेशी श्रौतसूत्र।

गृह्यसूत्र – आपस्तम्ब गृह्यसूत्र, मानव गृह्यसूत्र, हिरण्यकेशी गृह्यसूत्र, भारद्वाज गृह्यसूत्र, काटक गृह्यसूत्र, बौधायन गृह्यसूत्र और लौगाक्षि गृह्यसूत्र।

धर्मसूत्र – बौधायन धर्मसूत्र और आपस्तम्ब धर्मसूत्र

व्याकरण – तैत्तिरीय प्रातिशाख्य।

परिशिष्ट – कृष्ण यजुर्वेद का केवल एक हिरण्यकेशि गृह्यशेषसूत्र है।

कृष्णयजुर्वेदकी शिक्षा – एकमात्र व्यास-शिक्षा ही कृष्णयजुर्वेदकी शिक्षा है।

धनुर्वेद

मधुसूदन सरस्वतीने अपने ग्रन्थ प्रस्थान-भेदमें लिखा है कि यजुर्वेदका उपवेद धनुर्वेद है। यह विश्वामित्र-द्वारा रचित है। इसमें चार पाद हैं। पहला दीक्षा-पाद, दूसरा संग्रह-पाद, तीसरा सिद्धपाद और चौथा प्रयोग-पाद है। पहले पादमें धनुष्के लक्षण और अधिकारीका निरूपण है। यहाँ धनुष् शब्द रूढ़िसे मुक्त, अमुक्त, मुक्तामुक्त और यन्त्रमुक्त इन चारों प्रकारके आयुधोंके लिये प्रयुक्त हुआ है। मुक्त आयुध चक्रादि हैं, अमुक्त खड्गादि हैं, मुक्तामुक्त शल्य और उसी प्रकारके अन्य आयुध हैं, यन्त्र-मुक्त शरादि हैं। मुक्त आयुधको अस्त्र और अमुक्त आयुधको शस्त्र कहते हैं। ब्राह्म, वैष्णव, पाशुपत, प्राजापत्य और आग्नेयादि भेदसे नाना प्रकारके आयुध हैं। साधिदैवत और समन्त्रक चतुर्विध आयुधोंपर क्षत्रियकुमारोंका अधिकार होता है। उनके पदाति, रथी, गजारोही और अश्वारोही ये चार प्रकारके अनुवर्ती होते हैं। इनके अतिरिक्त दीक्षा, अभिषेक, शाकुन और मंगलकरणादि विषय पहले पादमें वर्णित हैं।

दूसरे पादमें आचार्यका लक्षण और सभी प्रकारके अस्त्र-शस्त्रादिका वर्णन किया गया है। तीसरे पादमें गुरु और विशेष प्रकारके साम्प्रदायिक शस्त्र, उनका अभ्यास, मन्त्र, देवता और सिद्धिकरणादि वर्णित हैं। चौथे पादमें देवार्चना, अभ्यासादि और सिद्ध अस्त्र-शस्त्रादिके प्रयोगका निरूपण है।

वैशम्पायन रचित धनुर्वेदसे ज्ञात होता है कि प्रारम्भमें तलवारका प्रचलन था, फिर आगे चलकर पृथुके समय धनुष्का प्रचार हुआ। पुराणोंमें राजा पृथुके प्रथम देवासुर-संग्राममें धनुष्का वर्णन किया गया है। इस सम्बन्धमें दो ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं – एक तो वैशम्पायनका धनुर्वेद और दूसरा वृद्ध शार्ङ्गधर।

आजकल तो धनुर्वेदका विवरण विशेष रूपसे शुक्रनीति, वीर चिन्तामणि आदि ग्रन्थोंमें पाया जाता है। प्रयोगके अभावमें धनुर्वेद सम्बन्धी अनक ग्रन्थोंका लोप हो गया है। सृष्टिके आरम्भमें शिवजीने धनुर्वेदकी रचना की थी। इसमें चारों तत्त्वोंके परमाणु बननेकी प्रक्रिया निरूपित हुई है। जिस प्रकार परमाणुका सम्मिश्रण और उनका वियोजन कार्य दिखाया गया है, उसी प्रकार उनके सम्मिश्रणकी विधि और मंत्र भी बताए गए हैं। परमाणुसे शस्त्र और अस्त्रनिर्माणकी विधि बताई गई है। शब्द-शक्ति अथवा मन्त्र-शक्तिसे चालित आयुध अस्त्र हैं और हाथमें पकड़े हुए चलाए जानेवाले आयुध शस्त्र हैं। इसमें अनेक प्रकारके धनुष्, बाण, शक्ति, पट्टिश, पटा, भुशुण्डि, शतघ्नि, भिण्डिपाल, कुलिश, खड्ग, पशुपति अस्त्र, ब्रह्मास्त्र, शिवास्त्र, शक्तिका अस्त्र आदि अस्त्र-शस्त्रोंकी व्याख्या है। इनकी आवश्यकता प्रकृति-निरोध, प्रकृति-रक्षण, राज्य-सम्भार, शत्रु-संहार, दण्ड-नीति, राजकीय युद्ध आदि में पड़ती है। इसमें १०८ प्रकरण हैं, जिनमें प्रत्येक विषयकी क्रमशः व्याख्या की गई है। ये प्रकरण इस प्रकार हैं –

१. चारों तत्त्वोंकी सम्पत्ति (पृथ्वी, जल, तेज, वायु)
२. आकाशकी प्रधानता
३. परमाणु-निर्माणकी आवश्यकता
४. उत्पत्तिका प्रकार
५. सम्मिश्रणकी आवश्यकता
६. मिश्रण प्रकार
७. उसका विकास
८. अस्त्र-शस्त्रादिकी आवश्यकता
९. उसका प्रचार
१०. परमाणुकी एकत्रता
११. उसके वियोजनकी आवश्यकता
१२. वियोजन प्रकार

१३. संयोजन विधि
१४. एक एककी, दो की, तीनकी, चारकी
१५. सूक्ष्म व्यवहार
१६. स्थूल प्रकार
१७. शस्त्र बनानेकी विधि
१८. शस्त्र-मन्त्र
१९. अस्त्र बनानेकी विधि
२०. अस्त्र-यन्त्र
२१. अस्त्र-रक्षण
२२. राज्य-सम्भार
२३. राज्यकी आवश्यकता
२४. शत्रु-उत्पत्तिके हेतु
२५. संहरण-प्रकार
२६. युद्ध-विधि
२७. युद्ध-प्रकार
२८. सैनिक व्यवस्था
२९. सन्धान-नियम
३०. अस्त्र-शस्त्रादिकी उपचार-विधि
३१. उनका भेद और प्रकार
३२. उनका चलाना, काटना, लौटाना
३३. मन्त्र-प्रकार
३४. शाब्दिक यन्त्र
३५. शाब्दिक तन्त्र
३६. ओषधि-प्रयोग
३७. प्रत्येक शस्त्रकी पृथक् पृथक शिक्षा
३८. सैनिक समानयन
३९. शस्त्र-धर्म
४०. अस्त्र-धर्म
४१. शत्रुजित यज्ञ
४२. छिपनेके प्रकार

४३. शस्त्र-क्रिया निर्माण
४४. अस्त्र-क्रिया निर्माण
४५. शस्त्रका पृथक् पृथक् काल
४६. अस्त्रका पृथक् पृथक् काल
४७. शक्ति-सम्पादन
४८. शस्त्र-विसर्जन
४९. अस्त्र-विसर्जन
५०. विसर्जन
५१. युद्ध-त्यागका प्रकार
५२. उचित-अनुचित विचार
५३. क्रोध स्तम्भन-प्रकार
५४. दण्ड-आवश्यकता
५५. दण्ड प्रकार
५६. अर्थ-अनर्थ परिज्ञान
५७. देश-ग्रहण-प्रकार
५८. देश-विसर्जन-प्रकार
५९. राज्य-संवरण-प्रकार
६०. प्रजा-पालन-नियम
६१. शस्त्रास्त्र-प्रयोजन (अस्त्र और शस्त्र कब प्रयोगमें लाने चाहिए)
६२. क्रिया-निवृत्ति
६३. शस्त्रके रखनेका प्रकार
६४. अस्त्रके रखनेका प्रकार
६५. उनकी सफाई
६६. वेष्टन-प्रकार
६७. साधन-व्यवहार
६८. गोपन-मन्त्र
६९. चित्रसे शस्त्र सीखना
७०. चित्रसे अस्त्र सीखना
७१. चित्र-वेधन

७२. भूबल
७३. जय-पद (सिरपर बाँधा जानेवाला यन्त्र)
७४. विजय-पद
७५. कवच-निर्माण
७६. कवच-प्रकार
७७. राज्य-भेदन
७८. शब्द-वेध
७९. अग्नि-वेध
८०. जल-वेध
८१. भूमि-खण्डन
८२. पाश-निर्माण
८३. पाश प्रकार
८४. कितनी दूरका मनुष्य किस प्रकारके पाशसे बाँधा जा सकता है।
८५. शक्ति-प्रहार
८६. शक्ति-उद्धार
८७. कुलिश-प्रहार
८८. कुलिश उद्धार
८९. स्तम्भन
९०. विचार-भञ्जन
९१. विस्मृति-अस्त्र
९२. चकित-सन्ताप
९३. माया-निदर्शन
९४. परमाणु-मण्डल
९५. मार्गावरोध
९६. स्थलमें जलकी और जलमें स्थलकी प्रतीति, विभ्रान्ति
९७. स्वप्न-विजय
९८. ज्वर-बाण
९९. विषम बाण
१००. भू-बन्धन

१०१. अग्नि-बन्धन
१०२. उड्डान
१०३. चित्रच्छल
१०४. व्यामोह
१०५. शब्दच्छल
१०६. अन्तर्धान
१०७. अपस्मृति
१०८. ज्ञान-विपर्यय।

यजुर्वेदका सम्बद्ध साहित्य

वैदिक साहित्यमें यजुर्वेदकी ८६ शाखाएँ बताई जाती हैं। वैशम्पायन-द्वारा प्रवर्त्तित तैत्तिरीय संहिताकी २७ शाखाएँ हैं। महीधरने अपने भाष्यमें लिखा है कि वैशम्पायनने याज्ञवल्क्य आदि शिष्योंको वेदाध्ययन कराया। बादमें किसी कारणवश कुपित होकर उन्होंने याज्ञवल्क्यसे कहा कि "जो कुछ वेदाध्ययन तुमने किया है, वह वापस करो।" योगी याज्ञवल्क्यने विद्याको मूर्तिमती करके वमन कर दिया। उस समय वैशम्पायन और उनके दूसरे शिष्य वहाँ उपस्थित थे। वैशम्पायनने उन दूसरे शिष्योंको आदेश दिया कि इन वान्त यजुओंको ग्रहण कर लो। शिष्योंने तीतर बनकर उन्हें चुन लिया। इसीलिये उनका तैत्तिरीय संहिता नाम पड़ा। बुद्धिकी मलिनताके कारण यजुओंका वर्ण काला हो गया, इसीसे उनका कृष्णयजुर्वेद नाम पड़ा। फिर याज्ञवल्क्यने सूर्यकी घोर तपस्या आरम्भ की। भगवान् भास्करने उन्हें शुक्ल यजुः प्रदान किये। याज्ञवल्क्यके पिताका नाम वाजसनी था। इसलिये शुक्लयजुर्वेदका नाम वाजसेनय संहिता पड़ा। उनसे जाबाल आदि पन्द्रह शिष्योंने अध्ययन किया। उनमें माध्यन्दिन मुख्य थे। वाजसनेय संहिताकी माध्यन्दिन शाखा ही आजकल प्रचलित है।

तैत्तिरीय और वाजसनेयी दोनों संहिताएँ एक ही विषयपर हैं। दोनोंमें मन्त्र भी कुछ भेदके साथ प्रायः समान ही हैं। शुक्ल यजुर्वेदमें मन्त्रोंके साथ साथ क्रिया-प्रणाली भी विस्तारपूर्वक बताई गई है। जिन उद्देश्योंसे मन्त्रोंका व्यवहार होता था, वे भी बताए गए हैं। उसके ब्राह्मण ग्रन्थ परिशिष्टकी भाँति हैं। पूरी संहिता ब्राह्मण भागके अनुसार चलती है। वाजसनेयी संहितामें मन्त्र-

भाग स्वतंत्र है। वही संहिता है। इसमें क्रिया-प्रणाली नहीं दी गई है। ऋग्वेद-संहिताकी भाँति वाजसनेयी संहितामें भी मन्त्र-भाग और ब्राह्मण-भाग अलग अलग हैं। कृष्ण यजुर्वेदमें होता और उसके कर्त्तव्योंके सम्बन्धमें विचार किया गया है। शुक्ल यजुर्वेदमें ऐसा कहीं कहीं पर ही है। शुक्ल यजुर्वेदकी चरक शाखावालोंको शुक्ल यजुर्वेदवालों ने अध्वर्यु नहीं माना, प्रत्युत् उनकी निन्दा की है।

कृष्णयजुर्वेदके प्रातिशाख्य और सामसूत्रमें भी तैत्तिरीय शब्द मिलता है। पाणिनिके अनुसार तित्तिर भी एक ऋषिका नाम था, जिससे तैत्तिरीय शब्द बना है। आत्रेय शाखाकी संहितानुक्रमणिकामें भी यही व्युत्पत्ति मिलती है। कृष्ण यजुर्वेदकी शाखाओंमें अकेले चरक-सम्प्रदायकी ही बारह शाखाएँ थीं —चरक, आह्वरक, कठ, प्राच्यकठ, कपिष्ठलकठ, आष्टलकठ, चारायणीय, वारायणीय, वार्तातरेय, श्वेताश्वतर, औपमन्यु और मैत्रायण। मैत्रायणसे भी सात शाखाएँ हुईं — मानव, दुन्दुभ, आत्रेय, वाराह, हारिद्रवेय, श्याम और शामानर्याय। कृष्ण यजुर्वेदका एक सम्प्राय खाण्डकीय नामका भी है।

कृष्ण यजुर्वेदमें सात काण्ड हैं और हर काण्डमें कई प्रपाठक हैं। सभी काण्डोंमें बराबर विभाग नहीं हैं। किसीमें सात प्रपाठक हैं तो किसी में आठ। ऋग्वेदके दशकर्मकि मंत्र और विधिपर इसमें विचार हुआ है। इन अष्टकोंमें चवालीस प्रश्न हैं। इन चवालीस प्रश्नोंमें ६५१ अनुवाक् हैं। इन अनुवाकोंमें दो हज़ार एक सौ अट्ठानवे कण्डिकाएँ हैं। साधारणतः एक एक कण्डिकामें पचास पचास शब्द हैं। आत्रेय शाखाके यजुर्वेदमें काण्ड, प्रश्न और अनुवाक् ये तीन परिच्छेद हैं। काठकादि संहिताका विभाग इनसे भिन्न है। उनमें पाँच भाग हैं। उनमें पहले तीन भागोंमें चालीस स्थानक हैं। पाँचवें भागमें अश्वमेध यज्ञका विवरण है। चरक-शाखाके पहले तीन भागोंका नाम ईथिमिका, मध्यमिका और अरिमिका है। आत्रेय ऋषि पादकर्त्ता थे। कुण्डिन वृत्तिका प्रसिद्ध है और ऊख आत्रेयके गुरु बताए गए हैं।

यजुर्वेदकी मैत्रायणी शाखा भी मिलती है। इसमें पाँच काण्ड हैं। यह भी सम्भव है कि यजुर्वेदके और भी भिन्न-भिन्न शाखाओंके संहिता-ग्रन्थ हों। सायणाचार्यने भी तैत्तिरीयसंहिताका भाष्य किया है। इसके अतिरिक्त बालकृष्ण दीक्षित और भास्कर मिश्रके छोटे छोटे भाष्य भी प्राप्त होते हैं।

अनुक्रमणिकामें संहिता और ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें कोई भेद नहीं किया गया

है। किसी न किसी शाखामें जिन बातोंका उल्लेख संहितामें नहीं मिलता, उनका ब्राह्मण ग्रन्थों में उल्लेख हुआ है। जैसे नरमेध यज्ञका उल्लेख संहितामें नहीं है, किन्तु ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें है।

तैत्तिरीय ब्राह्मण आपस्तम्ब और आत्रेय शाखाके ब्राह्मण हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मणका भी भाष्य हैं। इस भाष्यकी भूमिकामें संहिता और ब्राह्मणकी पृथकतापर विचार किया गया है। ब्राह्मणग्रन्थमें स्पष्ट रूपसे मन्त्रका उद्देश्य और व्याख्या हैं। सायणाचार्य और भास्कर मिश्र तैत्तिरीय ब्राह्मणके भाष्यकार हैं। इस ब्राह्मणका शेषांश तैत्तिरीय आरण्यक है। इस आरण्यकमें दस काण्ड हैं। काठकमें वर्णित आरणीय विधिका भी इस ग्रन्थमें विचार हुआ है। इसके पहले और तीसरे प्रपाठकमें यज्ञाग्नि प्रस्थापनके नियम हैं। चौथे, पाँचवें और छठे प्रपाठकमें दर्श-पूर्णमासादि और पितृमेधादि विषयोंपर विचार हुआ है। सायण, भास्करमिश्र और बरदराजने तैत्तिरीय आरण्यकके भाष्यकी रचना की है।

तैत्तिरीय आरण्यकका सातवाँ, आठवाँ और नौवाँ प्रपाठक ब्रह्मविद्या-सम्बन्धी होनेसे उपनिषद् कहलाता है। दसवाँ प्रपाठक याज्ञिकी अथवा नारायणीयोपनिषद्के नामसे विख्यात है। तैत्तिरीयोपनिषद्के अनेक भाष्य और वृत्तियाँ हैं। इनमें शङ्कराचार्यका भाष्य ही प्रमुख है। आनन्दतीर्थ और रङ्गरामानुजने उस भाष्यपर टीका की है। सायणाचार्य और आनन्दतीर्थने भी इस उपनिषद्के भाष्य लिखे हैं। अप्पणाचार्य, ज्ञानामृत, व्यासतीर्थ और श्रीनिवासाचार्यने इस आनन्दभाष्यकी टीका की है। इसके अतिरिक्त कृष्णानन्द, गोविन्दराज, दामोदराचार्य, नारायण, बालकृष्ण भट्ट भास्कर, राघवेन्द्र, यति, विज्ञान भिक्षु और शङ्करानन्द ने वृत्ति लिखी है। सायणाचार्यने याज्ञिकी उपनिषद्पर भाष्य लिखा है। विज्ञानात्माने इसपर एक स्वतंत्र वृत्ति लिखी है और वेद शिरोभूषण नामकी एक व्याख्या लिखी है।

तैत्तिरीयोपनिषद्के तीन भाग हैं। पहला सहितोपनिषद् या शीक्षावल्ली है। इसमें व्याकरण-सम्बन्धी कुछ आलोचनाके बाद अद्वैतवादकी श्रुति आदिपर विचार है। दूसरे भागको आनन्दवल्ली कहते हैं और तीसरेको भृगुवल्ली। इन दोनों वल्लियोंका सम्मिलित नाम वारुणी उपनिषद् है। इसमें औपनिषद् ब्रह्मविद्याकी पराकाष्ठा दिखाई गई है।

याज्ञिक या नारायणीयोपनिषद्में मूर्तिमान् ब्रह्मतत्त्वका विवरण है।

शङ्कराचार्यने इसका भाष्य किया है।

इस प्रकार अकेले तैत्तिर्राय आरण्यकमें ही अनेक विषयोंका समावेश हुआ है। श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण और ब्रह्म-विद्याका बहुत सा तत्त्व इस ग्रन्थमें आ गया है। नारायर्णाय उपनिषद्के भिन्न भिन्न देशोंमें भिन्न भिन्न पाठ प्रचलित हैं। द्रविड़, आन्ध्रप्रदेश, कर्नाटक आदि अनेक स्थानोंमें इसे अथर्वोपनिषद् भी कहते हैं।

ऐसी मान्यता है कि वल्लभी और सत्यायनी नामके दो ग्रन्थ और भी हैं। पाणिर्नाय सूत्रोंमें और वृहद्देवता ग्रन्थमें वल्लभी श्रुतिका उल्लेख है। सुरेश्वराचार्य और सायणाचार्यने भी इसका वर्णन किया है। श्वेताश्वतर और मैत्रायर्णायोपनिषद् यजुर्वेदकी ही उपनिषदें कही जाती हैं। शङ्कराचार्यने दोनोंके भाष्य लिखे हैं। विज्ञानभिक्षुने उपनिषदालोक नामकी विस्तृत टीका की है। नारायण, प्रकाशात्मा और रामर्तार्थने वृत्तियाँ लिखी हैं। इसके अतिरिक्त केवल श्वेताश्वतरोपनिषद्पर रामानुज, वरदाचार्य, सायणाचार्य और शङ्करानन्दके भाष्य हैं। नृसिंहाचार्य, बालकृष्णदास और रङ्गरामानुजकी शङ्करभाष्यपर टीका है। श्वेताश्वतर, छागली और मैत्रायणी आदि भिन्न भिन्न यजुर्वेदी शाखाओंके नाम कभी वैदिक साहित्यके इतिहासमें मुख्य नाम थे।

सूत्र-ग्रन्थोंकी भी यथेष्ट संख्या है। कठसूत्र, मानवसूत्र, लौगाक्षसूत्र और कात्यसूत्र यजुर्वेदके सूत्र कहे जाते हैं। किन्तु कल्पसूत्रके भाष्यकार महादेव ने अपने भाष्यमें इनमेंसे कई सूत्रोंके नामका उल्लेख नहीं किया है। उनके भाष्यमें यजुर्वेदीय, बौधायन, भारद्वाज, आपस्तम्ब, हिरण्यकेशी, बाधुल और वैखानस सूत्रोंके नाम लिखे हैं। आपस्तम्ब सूत्रके अनेक भाष्यकारोंके नाम मिलते हैं- धूर्त्तस्वामी, कपर्दिस्वामी, रुद्रदत्त, गुरुदेवस्वामी, करविन्दस्वामी, अहोबलसूर्य, गोपाल, रामांघ्रिज, कौशिकराम और ब्रह्मानन्द। तालवृन्तवासी नामके एक अन्य भाष्यकारका नाम भी मिलता है।

आपस्तम्ब श्रौत सूत्रमें तीसरे अध्यायतक दर्शपूर्णमासका वर्णन है। चौथेमें यजमान, पाँचवेंमें अग्न्याधान-कर्म, छठेमें अग्निहोत्रकर्म, सातवेंमें पशुवध याग, आठवेंमें चातुर्मास्य, नौवेंमें विध्यपराध निमित्त प्रायश्चित्त, दसवेंसे लेकर सत्रहवेंतक सोमयाग, अठारहवेंमें वाजपेय और राजसूय, उन्नीसवेंमें सौत्रामणी, काठकचिति और काम्येष्टि, बीसवेंमें अश्वमेध और पुरुषमेध, इक्कीसवेंमें द्वादशाह और महाव्रत, बाईसवेंमें उत्सर्गियोंका अयन,

तेईसवेंमें सत्रायण, चौबीसवेंमें परिभाषा-सूत्र, प्रवर-खण्ड और होत्रक, पच्चीसवें और छब्बीसवेंमें गृह्यमन्त्र, सत्ताईसवेंमें गृह्यतन्त्र, अट्ठाईसवें और उन्तीसवेंमें सामयाचाटिक धर्मसूत्र और तीसवेंमें शुल्वसूत्र।

मनुरचित मानव श्रौतसूत्र भी प्रसिद्ध है। इसके पहले अध्यायमें प्राक्सोम, दूसरेमें अग्निष्टोम, तीसरेमें प्रायश्चित्त, चौथेमें प्रवर्ग्य, पाँचवेंमें इष्टि, छठेमें चयन, सातवेंमें वाजपेय, आठवेंमें अनुग्रह, नौवेंमें राजसूय, दसवेंमें शुल्वसूत्र और ग्यारहवें अध्यायमें परिशिष्ट है। अग्निस्वामी, बालकृष्ण मिश्र और कुमारिलभट्टने इसपर भाष्य लिखे हैं।

बौधायन श्रौतसूत्र सम्पूर्ण रूपमें तो अनुपलब्ध है। उपलब्ध भागकी विषय सूची इस प्रकार है – पहले अध्यायमें दर्श-पूर्णमास, दूसरेमें आधान, तीसरेमें पुनराधान, चौथेमें पशु, पाँचवेंमें चातुर्मास्य, छठेमें सोम-प्रवर्ग, सातवेंमें एकादशिनी पशु, आठवेंमें चयन, नौवेंमें वाजपेय, दसवेंमें शुल्वसूत्र, ग्यारहवेंमें कर्मान्तसूत्र, बारहवेंमें द्वैधसूत्र, तेरहवेंमें प्रायश्चित्त सूत्र, चौदहवेंमें काठक सूत्र, पन्द्रहवेंमें सौत्रामणि-सूत्र, सोलहवेंमें अग्निष्टोम और सत्रहवें अध्यायमें धर्मसूत्र है। केशव कपर्दिस्वामी, केशवस्वामी गोपाल, देवस्वामी, धूर्त्तस्वामी, भवस्वामी, महादेव वाजपेयी और सायण-द्वारा रचित बौधायन श्रौतसूत्रपर भाष्य है।

जिन विद्वानोंने कृष्णयजुर्वेदके श्रौतसूत्र लिखे हैं, उन्हींके द्वारा लिखित गृह्यसूत्र भी है। उन गृह्यसूत्रोंपर भी अनेक भाष्य और वृत्तियाँ हैं। आपस्तम्ब गृह्यसूत्रपर कर्काचार्य, सुदर्शनाचार्य, तालवृन्तवासी, हरिदत्त, कृष्णभट्ट, रुद्रदेव धूर्त्तस्वामीके भाष्य हैं। कपर्दिस्वामी और रङ्गभट्टने भारद्वाज गृह्यसूत्रपर और मातृदत्तने हिरण्यकेशी गृह्यसूत्रपर भाष्य लिखा है। इनके अतिरिक्त मानव गृह्यसूत्र और उसपर अष्टावक्रकी वृत्ति, लौगाक्षिका काठक गृह्यसूत्र और उसपर देवपालकी वृत्ति और मैत्रायणीय गृह्यसूत्र प्राप्त होते हैं। कृष्णयजुर्वेदीय शुल्वसूत्र और धर्मसूत्र भी पर्याप्त हैं। बौधायनादि श्रौतसूत्रकारोंने ही इनकी रचना की है। ज्यामितिशास्त्रका मूल शुल्वसूत्रोंमें और स्मृतियोंका मूल धर्मसूत्रोंमें मिलता है।

शुल्वसूत्रोंमें शङ्कर और शिवदासने मानव शुल्वसूत्रपर, कपर्दिस्वामी, करविन्दस्वामी और सुन्दरराजने आपस्तम्ब शुल्वसूत्रपर और द्वारकानाथ तथा वेङ्कटेश्वर दीक्षितने बौधायन रचित शुल्वसूत्रपर भाष्य लिखे हैं।

आपस्तम्ब धर्मसूत्रोंको साम्याचारिक सूत्र भी कहा जाता है। हरदत्त, अड़बील, धूर्त्तस्वामी और नृसिंहने इन धर्मसूत्रोंकी वृत्तियाँ लिखी हैं। गोविन्दस्वामी-रचित बौधायनसूत्रपर और महादेव-रचित हिरण्यकेशी सूत्रपर वृत्तियाँ लिखी गई हैं।

मैत्रायर्णाय यजुर्वेद पद्धति नामका भी एक ग्रन्थ मिला है। इसके अतिरिक्त कृष्ण यजुर्वेद प्रातिशाख्य सूत्र और अनुक्रमणिका ग्रन्थका नाम भी उल्लेख्य है। अनुक्रमणियोंमें आत्रेय और काठक शाखाके चारायणीय सम्प्रदायके कृष्ण-यजुर्वेदकी अनुक्रमणीका बहुत प्रचार है। इसके छठे अध्यायमें शुक्ल यजुर्वेदका विषयक्रम भी विस्तारपूर्वक दिया गया है। इसमें चालीस अध्याय, तीन सौ अनुवाक् और १९७५ कण्डिकाएँ हैं। अध्याय अनुवाकोंमें और अनुवाक् कण्डिकाओंमें विभक्त हैं। पहले पच्चीस अध्यायोंमें मन्त्र हैं, आगेके पन्द्रह अध्याय खिल नामसे प्रसिद्ध हैं। सोलहवें अध्यायमें शतरुद्री, इकतीसवें अध्यायमें पुरुषसूक्त और चालीसवें अध्यायमें आत्मविषयक और ईशोपनिषद् हैं।

वाजसनेयसंहिताके भाष्यकार उव्वट, माधव, आनन्दभट्ट, अनन्तदेव और महीधर हैं। आजकल केवल महीधरका भाष्य ही सम्पूर्ण रूपमें उपलब्ध है। इस संहिताके ब्राह्मणोंमें शतपथ ब्राह्मण प्रसिद्ध है। माध्यन्दिन और काण्व दोनों ही शाखाओंका शतपथ ही ब्राह्मण है।

माध्यन्दिन शाखाके शतपथ ब्राह्मणमें चौदह काण्ड हैं। फिर यह भी सौ अध्यायों या अड़सठ प्रपाठकोंमें विभक्त है। इसमें कुल मिलाकर चार सौ अड़तीस ब्राह्मणोंपर विचार हुआ है। यह ब्राह्मण फिर ७६२४ कण्डिकाओंमें विभक्त है, किन्तु काण्वशाखाके शतपथ ब्राह्मणमें सत्रह काण्ड हैं। उसके पहले, पाँचवें और चौदहवें काण्डके दो दो भाग हैं। अभीतक उसके साढ़े तेरह काण्ड मिले हैं। इसमें पचासी अध्याय हैं। तीन सौ साठ ब्राह्मण और ४९६५ कण्डिकाएँ हैं। एक अन्य मतके अनुसार इस ग्रन्थके सर्वसाकल्यमें १०४ अध्याय, ४४६ ब्राह्मण और ५८६६ कण्डिकाएँ विद्यमान हैं।

शतपथ ब्राह्मणके पहले नौ काण्डोंमें संहिताके अट्ठारह काण्डोंके यजुः उद्धृत किए गए हैं और जिन जिन क्रियाओंमें उनका विनियोग होता है उनकी पूरी व्याख्या की गई है। दसवें काण्डमें अग्निरहस्य समझाया गया है। इसमें अनेक लघुकथाओं-द्वारा अग्नि-स्थापन-कर्मप्रणालीपर विचार हुआ है। ग्यारहें

काण्डमें आठ अध्याय हैं। इनमें याग-यज्ञकी छोटी छोटी कथाओंके माध्यमसे विभिन्न कर्म समझाए गए हैं। बारहवें काण्डमें सौत्रामणी और प्रायश्चित्तकी क्रियाएँ हैं। तेरहवें काण्डमें अश्वमेध, सर्वमेध, पुरुषमेध और पितृमेधका विवरण है। चौदहवाँ काण्ड आरण्यकके नामसे प्रसिद्ध है। इसके पहले तीन अध्यायोंमें प्रवर्ग्यकी क्रियाका उल्लेख है। इसके अतिरिक्त संहिताके इकतीसवेंसे लेकर उनतालीसवें अध्यायतककी सभी कथाएँ उद्धृत की गई हैं। इसमें एक स्थलपर विष्णुको ही सर्वश्रेष्ठ देवता बताया गया है। इसके शेष छह अध्याय वृहदारण्यक उपनिषद्के नामसे प्रसिद्ध हैं। इस ब्राह्मणमें बारह हज़ार ऋचाएँ, आठ हज़ार यजुः और चार हज़ार सामोंका संग्रह है। महाभारतकी अनेक कथाओंका सार, उसमेंके बहुतसे नाम और सीतारामकेनाम भी शतपथ ब्राह्मणमें मिलते हैं। कद्रू और सुपर्णाका युद्ध, पुरुरवा और उर्वशीका प्रेम और विरह, अश्विनीकुमारोंसे च्यवन ऋषिकी यौवन-प्राप्ति आदि कथाएँ भी शतपथ ब्राह्मणमें संक्षिप्त रूपमें दी गई हैं। उग्रसेन, श्रुतसेन और कुरुपाञ्चाल आदि ऐतिहासिक नाम भी आए हैं।

शतपथ ब्राह्मणके हरिस्वामी, सायण और कवीन्द्राचार्य सरस्वती सहित तीन भाष्य मिलते हैं। वृहदारण्यक उपनिषद्के भाष्यकार द्विवेदगङ्ग गुजराती हैं। शङ्कराचार्यने काण्वशाखाके वृहदारण्यकोपनिषद्का भाष्य किया है। उनके शिष्योंने उसपर कई टीकाएँ लिखी हैं, जिनमें आनन्दतीर्थ, रघूत्तम और व्यासतीर्थकी टीका मुख्य है। इनके अतिरिक्त गङ्गाधरकी दीपिका, नित्यानन्दाश्रमकी मिताक्षरा, मथुरानाथकी लघु और राघवेन्द्रकी खण्डाग्र वृत्तियाँ हैं। रङ्ग, रामानुज और सायणके भाष्य भी हैं।

शुक्ल यजुर्वेदीय श्रौतसूत्रोंमें कात्यायन श्रौतसूत्र सबसे अधिक प्रसिद्ध है। इसके छब्बीस अध्याय हैं। शतपथ ब्राह्मणके पहले नौ काण्डोंमें जिन क्रियाओंपर विचार है, इसके पहले अठारह अध्यायोंमें उन्हीं क्रियाओंपर विचार है। उन्नीसवें अध्यायमें सौत्रामणी, बीसवेंमें अश्वमेध, इक्कीसवेंमें पुरुषमेध, पितृमेध और सर्वमेध, बाईसवें अध्यायसे लेकर चौबीसवें अध्यायतक एकाह, अहीन और सत्र आदि याज्ञिक क्रियाएँ हैं। पच्चीसवें अध्यायमें प्रायश्चित्तपर और छब्बीसवें अध्यायमें प्रवर्ग्यपर विचार है।

कात्यायन-सूत्रके अनेक भाष्यकार और वृत्तिकार है। उनमें से यशोगोपी, पितृभूति, कर्क, भर्तृयज्ञ, श्रीअनन्त, गङ्गाधर, गदाधर, गर्ग, पद्मनाभ, मिश्र

अग्निहोत्री, याज्ञिकदेव, श्रीधर, हरिहर और महादेवका नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। यजुर्वेदीय श्रौतसूत्रके अनेक पद्धति और परिशिष्ट ग्रन्थ है। ये सब अधिकांशतः कात्यायनके नामसे हैं। यहाँ निगम परिशिष्ट और चरणव्यूह ग्रन्थोंके नाम भी उल्लेख्य हैं।

वैजवापका श्रौतसूत्र नामका भी एक सूत्र-ग्रन्थ है। वैजवापका गृह्यसूत्र भी प्राप्य है।

पारस्कररचित कातीय गृह्यग्रन्थमें तीन काण्ड हैं। वासुदेवने इसकी पद्धति लिखी है। उसपर जयरामकी एक टीका है। परन्तु शङ्करगणपतिकी (जिनका प्रसिद्ध नाम रामकृष्ण था) टीका बहुत पाण्डित्यपूर्ण है। इसकी भूमिका बहुत शोधसे लिखी गई है। इन्होंने काण्वशाखाको ही श्रेष्ठ माना है। इनके अतिरिक्त कर्क, गदाधर, जयराम, मुरारिमिश्र, रेणुकाचार्य, वागीश्वरदत्त और वेदमिश्रके भाष्यका भी प्रचार है। पारस्कर गृह्यसूत्रके अनुयायी अद्य है। याज्ञवल्क्य-स्मृति आदि अनेक स्मृति-ग्रन्थ यजुर्वेदके गृह्यसूत्रोंके आधारपर बने हैं।

शुक्ल यजुर्वेदके प्रातिशाख्य सूत्र और उसकी अनुक्रमणी भी कात्यायनके नामसे प्रसिद्ध है। इस प्रातिशाख्य-सूत्रमें शाकटायन, शाकल्य, गार्ग्य, काश्यप, दाल्भ्य, जातुकर्ण, शौनक और औपशिवीके नाम भी पाए जाते हैं। इसमें आठ अध्याय हैं।

पहले अध्यायमें संज्ञा और परिभाषा, दूसरेमें स्वर और उच्चारण, तीसरे, चौथे और पाँचवेंमें संस्कार, छठेमें क्रियापद का क्रम-निर्धारण और शेषमें स्वाध्यायकके क्रम और नियम दिए गए हैं। उपसंहारमें कुछ श्लोकोंमें वर्ण और शब्दके देवताओंका उल्लेख है। उव्वटने इस ग्रन्थपर एक सुन्दर टीका लिखी है। कात्यायनकी अनुक्रमणीमें पाँच अध्याय हैं। श्रीहलने इस अनुक्रमणीकी एक उपाय-पद्धति लिखी है। ऐसा ज्ञात होता है कि यही प्रातिशाख्य व्याकरण नामके वेदाङ्ग-का प्राचीनतम प्राप्य ग्रन्थ है।



सामवेद

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे छन्दांसि जज्ञिरे
तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥

ऋग्वेदके पुरुष-सूक्तके इस मंत्रके अनुसार ऋचाओंके बाद सामोंकी उत्पत्तिका ही नाम लिया जाता है। यद्यपि साधारणतया वेदत्रयीमें सामवेदका नाम तीसरा ही आता है। पुरुषसूक्तमें जहाँ ऋचाओं, सामों, छन्दों और पशुओंकी उत्पत्तिका वर्णन है, वहाँ संहिता नामक सङ्ग्रहकी चर्चा नहीं है। सङ्ग्रह तो अवश्य ही बहुत पीछेकी बात है। इस संहितामें सभी मंत्र गाये जानेवाले हैं। इनका नाम साम है। जिन यज्ञोंमें सोमरस काममें लाया जाता था, वहीं सामोंका उपयोग होता था, अर्थात् सोम-यागोंमें उद्गाताओंका यह कर्त्तव्य था कि वे सामगान करें। इस संहिताके तीन संस्करण पाये जाते हैं, कौथुमी शाखाका प्रचार गुजरातमें है, जैमिनीयका कर्नाटकमें और राणायणीका महाराष्ट्रमें है।

कलकत्तेके प्रसिद्ध पण्डित सत्यव्रत सामश्रमीने राणायणनीय शाखाके अनुसार बङ्गालकी ऐशियाटिक-सोसायटी-द्वारा बहुत उत्तम संस्करण प्रकाशित किया था।

इस राणायणनीय शाखाके भी किसी के मतसे नौ प्रकार बताए जाते हैं, राणायणनीय, शाक्षयणीय, सत्य-मुद्गल, मुद्गल, भरास्वन्व, याज्ञन, काथुम, गौतम और जैमिनीय।

सामवेदकी शाखा-परम्पराके सम्बन्धमें कहा गया है –

"जैमिनिने अपने पुत्र सुमन्तुको, सुमन्तुने अपने पुत्र सूत्वाको और सूत्वाने अपने पुत्र सुकर्माको, संहिताका अध्ययन कराया था। सुकर्माने सहस्र

संहिता शीघ्र अध्ययन करके, सूर्य-वर्चासहस्रको अध्ययन कराया, क्योंकि अनध्यायके[१] दिन अध्ययन कराया था इसीलिये देवराज इन्द्रने उनको नष्ट कर दिया। उस समय सुदर्शनने शिष्योंके निमित्त प्रायोपवेशन व्रतका अवलम्बन किया। इन्द्रने देखा कि सुकर्मा ऋषि हमसे क्रुद्ध हो गए हैं इसलिये उनको सान्त्वना दी और वर दिया कि आपके ये दोनों महाभाग, महावीर्य शिष्य, सहस्रसंहिताका अध्ययंन करके ही महाप्राज्ञ और अग्निके तुल्य तेजस्वी होंगे। अतएव हे द्विजसत्तम, आप क्रोध न करें ! यशस्वी सुकर्मासे यह कहंकर और उनका क्रोध शान्त कराकर देवराज अन्तर्निहित हो गए। सुकर्माके शिष्य धीमान् पौष्यजी हुए, पौष्यञ्जीके एक हिरण्यनाभ और दूसरे राजपुत्र कौशिक्य नामके दो शिष्य हुए। पौष्यञ्जीने उन दोनोंको पाँच पाँच सौ संहिता पढ़ाई। हिरण्यनाभके शिष्य प्राच्यसामगके नामसे विख्यात हुए। लोकाक्षि, कुथुमी, कुशीती और लांगली, पोष्यञ्जीके ये ही चार शिष्य संहिताकर्त्ता हुए। तण्ड्य पुत्र राणायनीयं, सुविद्वान्, मूलचारी, सकेति-पुत्र और सहसात्यं-पुत्र, ये लोकाक्षिके शिष्य हुए। कुथुमीके तीन पुत्र हुए, जिनको कौथुम कहते हैं, शौरिंद्रिय और शृङ्ग्य-पुत्र, इन दोनोंने भी व्रतका आचरण किया था। राणायनीय और सौमित्री ये दोनों विशेष रूपसे सामवेदमें पारङ्गत हुए।

इसके आगे शिष्य-परम्पराकी एक लम्बी तालिका है जिनसे संहिताकी अनेक शाखाएँ प्रशाखाएँ बन गई हैं। इस प्रकार पाठमें, उच्चारणमें, गायनमें शाखाओंके अनुसार अनेक भेद-प्रभेद हो गए हैं।

राणायनीय संहितामें पूर्वार्चिक और उत्तरार्चिक दो विभाग हैं। पूर्वार्चिकमें ग्रामगेयगान और अरण्य-गान दो विभाग हैं। उत्तरार्चिकमें ऊहगान और ऊह्यगान, ये दो गान हैं। इस संहितामें जितने मंत्र हैं, वे पाठभेदके साथ ऋग्वेदमें आ चुके हैं। किन्तु ऋग्वेदका क्रम और है, सामवेदका और। केवल ७५ मंत्र ऐसे हैं जो ऋग्वेदमें नहीं पाए जाते। यह नहीं कहा जा सकता कि जो मन्त्र ऋग्वेदमें भी पाए जाते हैं, वह ऋग्वेदसे सामवेदमें आए हैं अथवा सामवेदसे

१. यह बात प्रसिद्ध है — "अष्टमी गुरुहन्ता च शिष्यहन्ता चतुर्दशी" अर्थात् अष्टमीको अध्यापन करनेसे गुरुका और चतुर्दशीको अध्ययन करनेसे शिष्यका नाश होता है, इसलिये अष्टमी और चतुर्दशीको अवकाश रहना चाहिए, किन्तु आजकल चतुर्दशीके बदले प्रतिपदाको अवकाश रहता है, जो अनुचित है।

ऋग्वेदमें गए हैं। यह तो प्रसिद्ध है कि एक ही संहिताके चार विभाग हुए हैं। तब यह कैसे कहा जा सकता है कि अमुक मन्त्र अमुक वेद से लिए गए हैं?

उच्चारणकी दृष्टिसे जैसे उदात्त अनुदात्त स्वरितके लिये अन्य वेदोंमें चिह्न लगाए गए हैं उसी प्रकार सामगायकोंके निर्देशके लिये उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित चिह्नोंके बदले समय-मात्रा निदेशक, १,२,३, ये अङ्क दिए गए हैं।[1] इनका विषय स्तुति और प्रार्थनामात्र है। इनके देवता, अग्नि, इन्द्र, मरुत, विश्वेदेवाः, ब्रह्मणस्पति, सविता, सोम, पूषण, उषा, वात, वरुण, मित्र, अर्यमा, सरस्वती, विष्णु, त्वष्टा, अदिति, आदित्य, अश्विनीकुमार, तार्क्ष्य पर्वत, सोम, पवमान, सूर्य, सरस्वान्, विश्वकर्मा, द्यौः, पृथ्वी, आपः, बृहस्पति आदि सभी देवता हैं।

उदाहरण रूपसे उत्तरार्चिकके १८वें अध्यायसे ५वाँ साम यहाँ प्रस्तुत है—

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्।
समूढमस्य पाꣳसुले॥
त्रीणि पदा वि चक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः।
अतो धर्माणि धारयन्॥
विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे।
इन्द्रस्य युज्यः सखा॥
तद्विष्णोः परमं पदꣳ सदा पश्यन्ति सूरयः।
दिवीव चक्षुराततम्॥
तद्विप्रासो विपन्युवो जागृवाꣳसः समिन्धते।
विष्णोर्यत्परमं पदम्॥
अतो देवा अवन्तु नो यतो विष्णु र्विचक्रमे।
पृथिव्या अधि सानधि।

---

१. जैसे — २ ३ १ २ ३ १२ ३ २ ३ १ २
अग्न आ याहि वीतये गृणानो हव्यदातये।
१ २ ३ १ २
नि होता सत्सि बर्हिषि॥
(सामवेद १।१)

२. कोष्ठांकित संख्या सामवेद मंत्र क्रमांककी बोधक है।

सामवेदीय ऋषियोंका संक्षिप्त परिचय

१. अंहोमुग्वामदेव्यं (४२६)[१] – वामदेवके पिताका नाम उशिज था। इनके द्वारा दृष्ट सूक्तोंका संकलन ऋग्वेदके चतुर्थ मण्डलमें किया गया है। इनके पास वाम्य नामके दो अतिवेगशाली अश्व थे। कालान्तरमें वामदेवकी परम्परामें अनेक ऋषिगण परिगणित हुए। 'अंहोमुक्' इसी परम्पराके ऋषियोंमें प्रमुख थे। यह पद ऋग्वेदमें अनेक अर्थोंमें प्रयुक्त हैं – अंहोमुचं सुकृतं दैव्यं जनम् ....(ऋ० १०.६३.९)

इनका ऋषित्व ऋग्वेदके दशम मण्डलके १२६वें सूक्तमें उल्लिखित है..... आर्षं वामदेव पुत्रस्य अंहोमुङ् नाम्नो वा। (ऋ० १०.१२६ सा०भाष्य)

२. अग्नि-धिष्णु-ईश्वर (१३६७-१३६९) – ऋग्वेद ९.१०९ सूक्तके ऋषि 'अग्नयः' हैं। इनके विशेषणके रूपमें 'ऐश्वराः' विशेषणका प्रयोग किया गया है – परिप्रद् व्यधिकाग्नयोऽधिष्णया ऐश्वराद्वैपदम। (ऋ० ९.१०९ सा०भाष्य)

सायणने 'ऐश्वराः'-की व्याख्या करते हुए इसका अर्थ 'ईश्वर पुत्राः' किया है ....यज्ञे सदस्यवस्थित होत्री यादिधिष्ण्योपेता अग्नयो नाम ईश्वर पुत्राः ऋषयः.......। (ऋ० ९.१०९ सा०भाष्य)

३. अग्नि-चाक्षुष (५६६, ५७२, ५७६) – अग्नि चाक्षुषकी गणना ऋषियोंके अन्तर्गत की गई है। चाक्षुषका अर्थ सायणने चक्षुका पुत्र किया है – प्रथमस्य तृचस्य चक्षुराख्यपुत्रोऽग्निर्ऋषिः। शिष्टानामपि पंचानां चाक्षुषोऽग्निः॥ (ऋ०९.१०६ सा०भाष्य)

४. अग्नि तापस (९१) – तापसः पदका आशय तापस गुण विशिष्ट है। ऋग्वेदके दशम मण्डलके १४१वें सूक्तके ऋषिके रूपमें अग्नि तापसका वर्णन किया गया है– तापस गुण विशिष्टस्याग्नेरार्षम्।..........(ऋ० १०.१४१ सा०भाष्य)

५. अग्नि पावक (१८१६) – दशम मण्डलके देवताके रूपमें अग्निका विवेचन किया गया है। इस मण्डलके १४०वें सूक्तके ऋषि अग्निपाक

---

१. कोष्ठांकित संख्या सामवेद मंत्र क्रमांककी बोधक है।

हैं— पावक गुणविशिष्टोऽग्निः ऋषिः। शुद्धाग्निर्देवता।......(ऋ० १०.१४० सा०भाष्य)।

यजुर्वेद तथा सामवेदमें भी अग्निपावक नामक ऋषिको मंत्रद्रष्टाके रूपमें स्वीकार किया गया है।

६. अत्रि भौम (३६६) — ऋग्वेदका पंचम मण्डल अत्रिकुल-द्वारा संगृहीत है। कदाचित् अत्रि-परिवारका प्रियमेध, कण्व, गौतम एवं काक्षीवत् कुलोंसे निकटका सम्बन्ध था। ऋग्वेदके पंचम मण्डलके एक मंत्रमें परुष्णी एवं यमुनाके उल्लेखसे ज्ञात होता है कि यह परिवार विस्तृत क्षेत्रमें फैला हुआ था। अत्रि गोत्र प्रवर्त्तक ऋषि थे। मुख्य स्मृतिकारों की तालिका में भी अत्रिका नाम आता है। अनेक सन्दर्भोंमें ऋषिके रूपमें इनका उल्लेख हुआ है......नवमं सूक्तं भौमस्यात्रेरार्षं।....(ऋ० ५.४१ सा०भाष्य) अथ पंचानां भौमोऽत्रिर्ऋषिः।......(ऋ० ९.८६ सा०भाष्य)

७. अथर्वा (१८६०, १८७१) — ये अथर्ववेदके द्रष्टा ऋषि हैं। इन्हींके नामपर अथर्ववेदका नामकरण हुआ। जनकको देखनेके लिये जब भृगु उत्सुक हुए, तब एक देववाणी हुई, जो गोपथ ब्राह्मण १.४में दी है। उन्हींसे अथर्वाङ्गिरसोंकी उत्पत्ति हुई। अन्य कुलोंकी तरह यह एक पुरोहित-कुल था। 'आथर्वाणः' शब्दसे सम्पूर्ण परिवारका बोध होता है।

८. अनानत पारुच्छेपि (४६३) — अनानतको परुच्छेपके पुत्रके रूपमें उल्लिखित किया गया है। इनका नाम पिताके नामके साथ भी प्राप्त होता है— अयारुचेति तृचमष्टमं सूक्तं परुच्छेपपुत्रस्यानानताख्यार्षमत्यष्टिच्छन्दस्कं। ......(ऋ० ९.१११ सू०सा० भाष्य)

पारुच्छेप छन्दोंके जनक होनेके कारण पारुच्छेपि नामकरण किया गया प्रतीत होता है— रोहितं वै नामैतच्छन्दो यत्पारुछेपम्। (गोपथ उपनिषद् ६.१०)

इन्हींके द्वारा रचित छन्दोंसे इन्द्रदेवको स्वर्गलोककी प्राप्ति हुई थी— एतेन ह वा इन्द्रः सप्तस्वर्गान् लोकानारोहत् ...(गोपथ उपनिषद् ६.१०)

अनानत पद विशेषण प्रतीत होता है, जिसका आशय स्वाभिमानसे पूर्ण अर्थात् कभी सिर न झुकानेवाला होता है। यह सम्पूर्ण ऋषि नाम उनके ज्ञान और स्वाभिमानको सूचित करता है।

९. अन्धीगु श्यावाश्वि (५४५) — अन्धीगु श्यावाश्वि, श्यावाश्व कुलोत्पन्न ऋषि हैं। श्यावाश्वने मरुतोंकी कृपासे प्रचुर धन-धान्य एवं राजा रथवीतिकी पुत्रीको पत्नी-रूपमें प्राप्त किया था।

१०. अप्रतिरथ ऐन्द्र (१८४९-१८५९) — 'ऐन्द्र' विशेषण-पद है, जो अप्रतिरथ, विमद वृषाकपि आदि ऋषियोंके लिये प्रयुक्त हुआ है। सायणने ऐन्द्रका अर्थ 'इन्द्रपुत्र' किया है किन्तु इसका अर्थ 'इन्द्रका स्तोता' करना अधिक समीचीन है। अप्रतिरथ ऐन्द्रका ऋषित्व सभी वेदों में है। यहाँ एक उदाहरण प्रस्तुत है — 'आशुः शिशान इति त्रयोदशर्चं चतुर्थं सूक्त - मिन्द्रपुत्रस्याप्रतिरथ नाम्न आर्षम्।' (ऋ० १०.१०.३ सा०भाष्य)

११. अभीपाद् उदल (२३१) — सामवेद २३१ के ऋषि अभीपाद् उदल माने गए हैं। लाट्यायनने इसे साम-विशेषकी संज्ञा मानी है। सामवेदीय मंत्र-द्रष्टाके रूपमें अभीपाद् उदल मात्र इसी स्थलपर विवेचित हैं।

१२. अमहीयुआंगिरस (४६७, ४७०, ४७९, ४८४ आदि)— ऋग्वेद तथा सामवेदके मंत्रोंके द्रष्टाके रूपमें अमहीयु आंगिरसका विवरण प्राप्त होता है ....अमहीयुर्नामांगिरस ऋषिः............। (ऋ० ९.६१ सा०भाष्य)

१३. अम्बरीष वार्षागिर (५४९, १२३८) — ऋग्वेदमें ऋज्राश्व, सहदेव, सूराधसू और भयमानके साथ वर्षागिरके रूपमें अम्बरीषका उल्लेख हुआ है। राजा वृषागिरके चार पुत्रोंका उल्लेख है, जिनमें अम्बरीष भी एक थे ......तथा चानुक्रम्यते अभिनो द्वादशाम्बरीष.......। (ऋ० ९.९८ सा०भाष्य) वृषा गिरो राज्ञः पुत्रोऽम्बरीषो भरद्वाज पुत्र ऋजिश्वोभौ सहिता वस्यर्षी। (ऋ० ९.९८ सा०भाष्य)

१४. अयास्य आङ्गिरस (५०९) — इन ऋषिका नाम ऋग्वेदके दो परिच्छेदोंमें वर्णित है तथा इन्हें अनुक्रमणीमें अनेक मंत्रों (९.४४.६; १०.६७-६८)-का द्रष्टा कहा गया है। ब्राह्मण-परम्परामें ये सब राजसूय-यज्ञके उद्गाता थे। कई ग्रन्थोंमें इन्हें यज्ञ-क्रिया-विधानका मान्य अधिकारी माना गया है। वृहदारण्यक उपनिषद्की वंशावलीमें अयास्य आंगिरसको आभूति त्वाष्ट्रका शिष्य बतलाया गया है। सायणने पवमान

सोमदेवताके निमित्त मंत्रद्रष्टाके रूपमें इनका उल्लेख किया है — ....सूक्तमांगिरसस्यायास्यस्यार्षं गायत्रं पवमान सोमदेवताकम्। (ऋ० ९.४४ सा०भा०)

१५. अरिष्टनेमि तार्क्ष्य (३३२) — अरिष्टनेमि पद तार्क्ष्यका विशेषण है, जिसका अर्थ है — हानि-रहित चक्रवाला। तार्क्ष्य पद तृक्षिका पैतृक नाम है। तार्क्ष्यको त्रसदस्युका वंशज माना गया है — त्रासदस्यं त्रसदस्योः पुत्रं तृक्षिमेतन्नामकं......(ऋ० ८.२२.७ सा०भा०)

इनकी गणना ऋषिके साथ साथ पौंरुषवान् व्यक्तियोंमें की जाती है — तार्क्ष्यचारिष्टनेमिश्च सेनानी ग्रामण्याविति। (शत०ब्रा० ८.६.१.१९)

१६. अरुण वैतहव्य (९८२, ९८३, ९८४) — वीतहव्यके वंशजको वैतहव्य कहा जाता है। ब्राह्मणकी गायका भक्षण करनेके कारण ये सभी विनष्ट हो गए थे। अरुण इस वंशके प्रमुख ऋषि हैं। तैत्तिरीय आरण्यकमें अरुण ऋषिका उल्लेख अनेक स्थलोंपर किया गया है।

१७. अवत्सार काश्यप (५००) — ऋग्वेद (५.५४.१०)-में अवत्सारको एक ऋषि कहा गया है। ऐ०ब्रा० (२.२४)-में उन्हें एक पुरोहित कहा गया है। कौ०ब्रा० (१३.३)-में उन्हें प्रस्रवण पुत्र प्राश्रवण या प्रास्रवण कहा गया है। अनुक्रमर्णीमें ऋग्वेदके एक सूक्त (९.५८)-के मंत्रद्रष्टाके रूपमें इनका उल्लेख किया है। इन्हें कश्यपगोत्रीय कहा गया है — अवत्सारो नाम ऋषिः स च कश्यपगोत्रः। ....तं प्रत्नथा पंचोना काश्यपोऽवत्सारोऽन्ये च ऋषयोऽत्र .....(ऋ० ५.४४। सा०भाष्य)

१८. अवस्यु आत्रेय (४१८) — ऋग्वेद तथा सामवेदके ऋषिके रूपमें अवस्यु ऋषिका नाम प्रख्यात है। अत्रिकुलसे सम्बद्ध होनेके कारण इनका नाम आत्रेय है — अवस्युर्नामात्रेय ऋषिः ......(ऋ० ५.३१ सा०भाष्य)

१९. अश्विनीकुमार (३०५) — यजुर्वेद तथा सामवेदमें अश्विनीकुमारको ऋषि माना गया है। इनकी भुजाओंका विशेष विवरण प्राप्त होता है तथा इनकी गणना चिकित्सकके रूपमें भी की गई है — अश्विनोर्बाहुभ्याम्......अश्विनोर्भैषज्येन। यजुर्वेद २०.३ कुष्ठः को

वामश्विना तपानो देवा मर्त्यः (साम० ३०५वाँ साम)

२०. असित देवल (४७५, ४७६, ४८५, ४८६ आदि) — असित देवल और असित काश्यप दो ऋषि विशेष प्रसिद्ध हैं। प्रथम युग्म में विकल्प प्राप्त है, परन्तु द्वितीय नाम तो गोत्र नाम है — वामदेवः कश्यपः असितो देवलो वा (साम० ९२ तथा ९३)

२१. आङ्गिरस (४६७, ४७८, ४८४) — यह आङ्गिरस परिवारकी उपाधि है, जिसे बहुतसे आचार्योंने ग्रहण किया था। इस उपाधिके धारण करनेवाले कुछ आचार्योंके नाम हैं, कृष्ण, आर्जीगर्ति, च्यवन, अयास्य, सुधन्वन् इत्यादि।

अंगिरा ऋषिके पुत्र — बृहस्पति और उतथ्य थे — विरूपवत्। आंगिरस्वन्महिव्रत ......। (ऋग्वेद १.४५.३)

२२. आकृष्टामाषा (८८६-८८, ९५५) — इन दोनोंको संयुक्त ऋषित्व-पद प्राप्त हुआ है। नवम मण्डलके प्रथम दस सूक्तोंका साक्षात्कार इन्होंने किया है। आकृष्टा और माषा इनका सामूहिक नाम है। कहीं कहीं यह नाम 'अकृष्टा माषा' उल्लिखित है — प्रथम दशर्चस्य आकृष्टा इति च द्विनामानः ऋषिगणा द्रष्टारः। (ऋ० ९.८६ सा०भाष्य)।

२३. आत्मा (५९४) — सामवेद ५९४ में आत्माको ऋषि माना गया है। इस मंत्रमें अन्नका आत्मकथन व्यक्त हुआ है, जो सर्वशक्तिमान्को सूचित करता है — अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य पूर्वं देवेभ्यो अमृतस्य नाम। यो मा ददाति स इदेवमावदहमन्नमन्नमदन्तमद्मि॥ (साम० ५९४)

२४. आत्रेय (४५५) — बृहदारण्यक उपनिषद् (२.६.३)-में वर्णित माण्टिके एक शिष्यकी यह पैतृक उपाधि है। ऐतरेय ब्राह्मणमें आत्रेय अङ्गके पुरोहित कहे गए हैं। शतपथ ब्राह्मणमें एक आत्रेयको कुछ यज्ञोंका नियमतः पुरोहित कहा गया है। अत्रिकी प्रतिष्ठा निर्विवाद है। जहाँ किसी प्रकारकी शंका उत्पन्न होती है, वहाँ अत्रिगोत्रीय आत्रेय ऋषियोंको ही प्रधानता प्राप्त होती है। ऋ० ५.२७ सायण भाष्यमें लिखा है — नात्मात्मने दद्यात् इति सर्वास्वत्रिं केचित्।

२५. आप्त्य (३३, १०१, ३६८) — तत आप्त्याः सम्बभूवुस्त्रितो द्वित एकतः (शत०ब्रा० १.२.३.२)। इस सन्दर्भके अनुसार शतपथ ब्राह्मणमें

एक कथा इस प्रकार है – अग्निदेवके पहले चार स्वरूप थे, जिसे देवताओंने यज्ञके निमित्त होता वरण किया; किन्तु उनमेंसे तीन अन्यत्र चले गए और चौथे जलमें प्रविष्ट होकर छिप गए जिसे देवताओं ने बड़े प्रयाससे खोज निकाला और वहाँसे निकालकर ले आए। यही (आप्त्यता प्राप्तिका भाव ही) आप्त्य देवताके नामसे प्रसिद्ध हुए।

जलसे उत्पन्न होने कारण इनको आप्य कहा गया। इसीमें तकार आगम होकर आप्त्य पद सिद्ध हुआ – यद् अद्भ्योऽजायन्त तद् आप्यानाम् आप्यत्वम्। (तैत्ति०ब्रा० ३.२.८.१०-११)

२६. आयुङ्क्ष्वाहि (११)– आयुङ्क्ष्वाहिका वर्णन मात्र सामवेदमें ही उपलब्ध होता है। इस मंत्रके वही ऋषि माने गए हैं। इसके अतिरिक्त इनका वर्णन उपलब्ध नहीं होता।

२७. इध्म वाहो दार्ढच्युत् (१२८५) – इध्मवाह दृळ्हयच्युतके पुत्र थे। इन्होंने ऋग्वेदके ९.२६ का दर्शन किया था। सायणने इनका व्याख्यान करते हुए लिखा है – दृळ्हच्युत पुत्रस्येध्मवाहनाम्न आर्षं गायत्रम्........। (ऋ० ९.२६ सा०भाष्य)

२८. इन्द्रप्रमतिर्वासिष्ठ (५३५) – वैदिक परम्पराओंमें पौरोहित्य की विशेषताओंसे सम्पन्न व्यक्तिका नाम वसिष्ठ है। ऋग्वेदका सप्तम मण्डल वसिष्ठ-प्रणीत बताया गया है। शतपथ ब्राह्मण १२.६.१.४१ का कथन है कि वसिष्ठ लोग हल ऐसे पुरोहित थे, जो यज्ञके ब्रह्माका कार्य कर सकते थे। ऋग्वेद ९.९७ के सूक्तमें बहुतसे ऋषियोंका एक साथ उल्लेख है, जो सभी ऋषिगण वसिष्ठ गोत्रीय है – द्वितीयस्येन्द्रप्रमतिर्नाम ....। एते सर्वे वसिष्ठगोत्राः........। इन्द्रप्रमतिर्वृषगणः ....। (ऋ० ९.९७ सा०भाष्य)।

२९. इरिम्बिठि काण्व (१०२, १४४, १५९, १९१) – इरिम्बिठि काण्व गोत्रीय ऋषि हैं। इनके द्वारा दृष्ट सूक्त ऋग्वेदके अष्टम मण्डलमें संकलित हैं, जिनमें इन्द्रकी स्तुति की गई है – ...... सूक्तमिरिंबिठिनाम्नः काण्वस्यार्षं गायत्रमैन्द्रम् (ऋ० ८.१६ सा०भाष्य)

३०. उचथ्य आंगिरस (४९६, ४९९ आदि) – उचथ्य आंगिरसको ऋग्वेदके नवम मण्डलान्तर्गत ४९, ५०, ५१ तथा ५२ सूक्तोंके मंत्रद्रष्टा

होनेका गौरव प्राप्त हुआ है। आचार्य सायणने ९.५० सूक्तके भाष्यकी टिप्पणीमें लिखा है –

उत्त इति पंचर्चं षड्विंशं सूक्तम् आंगिरसस्योध्यस्यार्षं गायत्रं पवमान सोम देवताकम्। तथा चानुक्रान्तम् उत्तेशुष्मास उचथ्य इति। आगे पुनः ५१वें सूक्तके प्रारम्भमें आचार्य सायणने लिखा – अध्वर्यो इति पंचर्चं सप्तविंशं सूक्तं आंगिरसस्य उचथ्यस्यार्षं.........। (ऋ० ९.५१ सा०भाष्य)।

३१. उत्कील कात्य (६०) – कल्पसूत्रोंमें कातीय शाखाका विवेचन किया गया है, इसके अनुयायियोंको कात्य या कात्यायन कहा जाता है। उत्कीलकात्यका प्रस्तुत नामकरण पड़नेका कारण है, उनका कातीय शाखानुयायी होना। सायणने कत गोत्रोत्पन्न होनेके कारण प्रस्तुत नामकरण स्वीकार किया है – कतगोत्रोत्पन्नोत्कीलस्यार्षं.......... (ऋ० ३.१५ सा०भाष्य)

३२. उपमन्युर्वासिष्ठ (८०६-८) – उपमन्यु वासिष्ठका ऋषित्व केवल तीन ऋचाओंमें प्राप्त होता है। अन्यत्र इनके सन्दर्भमें कुछ उल्लेख नहीं पाया जाता।

उपमन्युने ऋग्वेदके नवम मण्डलके सूक्तोंका दर्शन किया था – ...... पश्चमस्योपन्युः ......एते सर्वे वसिष्ठगोत्राः। (ऋ० ९.९७ सा०भाष्य)

३३. उपस्तुत वार्ष्टिहव्य (६४) – उपस्तुतका पुराण ऋषिके रूपमें कई बार उल्लेख मिलता है। विशेषतः कण्वके साथ इनका नाम आया है, जिनकी अग्नि, अश्विनी कुमारों एवं अन्य देवोंने सहायता की थी। ऋग्वेद (१०.११५.१)-में वृष्टिहव्यके पुत्रों उपस्तुतोंको गायक बताया गया है – इति त्वाग्ने वृष्टिहव्यस्य पुत्रा उपस्तुतास ऋषयोऽवोचन्। ऋग्वेद १०.११५.१ में इन्हें वृष्टिहव्यका पुत्र कहा गया है – उपस्तुतो नाम वृष्टिहव्यपुत्रऋषिः।

३४. उरुचक्रि आत्रेय (९८५-८७) – उरुचक्रि अत्रि-गोत्रीय होनेके कारण आत्रेय उपाधिसे विभूषित हैं। ऋग्वेद और सामवेदमें इनका उल्लेख 'मित्रावरुणौ'-के निमित्त मंत्र-दर्शनके सन्दभमें किया गया है– उरुचक्रिर्नामात्रेय ऋषिः........। (ऋ० ५.६९ सा०भाष्य)।

३५. उलो वातायन (१८४) — वात या वातवन्त ऋषिका उल्लेख सत्र करनेवालेके रूपमें किया है। इस सत्रको समयके पूर्व ही समाप्त कर देनेसे इन्हें कष्ट का सामना करना पड़ा। वातवन्तके पुत्र वातायन थे। उलो इन्हींकी अनुवांशिक परम्पराके ऋषि थे।.........वातो वातायन उलो वायव्यमिति ....। (ऋ० १०.१८६ सा०भाष्य)।

३६. उशना काव्य (५२३, ५३१) — ये एक प्राचीन ऋषि हैं; ऋग्वेदमें ही ये अर्ध पौराणिक रूप ग्रहण कर चुके हैं, जहाँ इनका उल्लेख इन्द्र और कुत्सके साथ हुआ। बादमें देवासुर-संग्रामके प्रसंगमें ये असुरोंके पुरोहित कहे गए हैं। इस नामका एक दूसरा रूप है 'कवि उषनस्'। वे ब्राह्मणोंके आचार्यके रूपमें पाए जाते हैं। इनकी ख्याति कविके पुत्रके रूपमें है। इन्होंने आग्नेय मंत्रोंका दर्शन किया था — .....कवेः पुत्रस्योशनस आर्षम् गायत्रमाग्नेयम्।........प्रेष्ठमुशना काव्य आग्नेयमिति। (ऋ० ८.८४ सा०भाष्य)

३७. ऊर्ध्व सद्मा आंगिरस (५७९) — आंगिरस जातिका प्रवर्त्तक होनेके कारण यह नामकरण किया गया है। इन्होंने अयन, द्विरात्र आदि यज्ञीय प्रयोगका संचालन किया था। ऊर्ध्व सद्मा इन्हींके वंशज थे — ऊर्ध्वसद्मा नामांगिरसः (ऋग्वेद ९.१०८ सा०भाष्य)

३८. ऊरुराङ्गिरस (५८४) — ऋग्वेद और सामवेदमें इनके द्वारा दृष्ट मंत्र संकलित हैं, जिनमें ऋग्वेदीय सोम सूक्तके मंत्र प्रसिद्ध हैं — ततः पश्चानां द्वृचानामूरुर्नामाङ्गिरस ऋजिश्वा............. (ऋ० ९.१०८ सा०भाष्य)

३९. ऋजिश्वा भारद्वाज (१०५, ५८०, ५८५) — ऋग्वेदमें अनेक स्थलोंपर ऋजिश्वा (ऋजिश्वन्)-का उल्लेख मिलता है जिससे ये अति पुरातन ऋषि सिद्ध होते हैं। लुडविगने इन्हें 'औशिज'-का पुत्र माना है, जबकि ऋग्वेद (४.१६.१३, ५.२९-११)-में इन्हें विदथिन्का पुत्र 'वैदथिन' कहा गया है। ऋग्वेद ९.९८ का सम्मिलित ऋषित्व है। ये उनमेंसे एक हैं — वृषा गिरो राज्ञः पुत्रोऽम्बरीषो भरद्वाजपुत्र ऋजिश्वोभौ सहितावस्यर्षी ....। (ऋ० ९.९८ सा०भाष्य)

४०. ऋणञ्चय राजर्षि (५८२, १०९६) — ऋणञ्चय राजर्षिको ऋषित्व पद तो प्राप्त है, परन्तु मंत्र साक्षात्कारकताके रूपमें अत्यल्प गौरव ही

प्राप्त हो सका है। ऋग्वेदके नवम मण्डलके अन्तर्गत १०८वें सूक्तके १२वें-१३वें मंत्रका ऋषित्व इन्हें प्राप्त है। आचार्य सायणनें १०८वें सूक्तपर, अपने भाष्यमें लिखा है – 'पवस्वेति षोडशर्चं पंचमं सूक्तम् । ....सोऽप्यांगिरस ऋणंचयो नाम राजर्षिः इत्येते क्रमेणर्षयः। (ऋ० ९.१०८ सा०भाष्य)

४१. ऋणत्रसदस्यु (४३७, ४४२, ४४४, ४४६ आदि) – ऋणत्रसदस्युका ऋषित्व सामवेदके मंत्रोंके लिये ही सामवेद संहिता (स्वाध्यायमण्डल, पारडी बलसाड़, गुजरात)-में उल्लिखित है। अन्यत्र तो केवल त्रसदस्युका ही उल्लेख मिलता है। ऋग्वेदके नवम मण्डलके ११०वें सूक्तके प्रारम्भमें आचार्य सायणने त्र्यरुण और त्रसदस्यु दोनोंका उल्लेख किया है, इसीलिये 'त्रसदस्यु'-में द्विवचनान्त प्रयोग 'त्र्यरुणत्रसदस्यू' हुआ है – पर्यूष्विति द्वादर्शमर्चं सप्तमं सूक्तम्। त्र्यरुणत्रसदस्यू राजर्षी अस्य सूक्तस्य द्रष्टारौ ....। (ऋ० ९.११० सा०भाष्य)।

४२. एवया मरुत् आत्रेय (४६२) – ऋग्वेदके पाँचवें मण्डलके ८७वें सूक्तमें 'एवया मरुत्' शब्दका प्रयोग प्रत्येक मन्त्रमें हुआ है, जिससे यह वैयक्तिक नाम न होकर, मात्र एक विशेषणके रूपमें सिद्ध होता है।

ऋग्वेदमें 'एवया मरुद्' आत्रेय ऋषिका वर्णन कई सूक्तोंमें प्राप्त होता है। मरुतोंके स्तुत्यर्थ इनके मन्त्रोंका प्रयोग किया जाता है– मरुत्वते गिरिजा एवया मरुत्। ऋग्वेद ५.८७.१ सायणने अपने भाष्यमें सुस्पष्ट रूपसे सूक्तांशको व्याख्यायित किया है – ....पंचदशं सूक्तमेवयामरुदाख्यस्यात्रेयस्य मुनेरार्षम् ...। (ऋ० ५.८७ सा०भाष्य)।

४३. कण्व घौर (५४, ५६, १३५ आदि) – ऋग्वेदके प्रथम सात मण्डलों के सात प्रमुख ऋषियोंमें कण्वका नाम आता है। आठवें मण्डलकी ऋचाओंकी रचना भी कण्व-परिवारकी ही है जो पहले मण्डलके रचयिता हैं। ऋग्वेद, अथर्ववेद, वाजसनेयि संहिता, पञ्चविंश ब्राह्मण आदिमें भी कण्वका नाम बार बार आता है। कण्वको घोरका पुत्र कहा गया है – घोरपुत्रः कण्व ऋषिः। अयुजो बृहत्यः....। प्र वो विंशतिः कण्वो घौर आग्नेयम् ....(ऋ० १.३६ सा०भाष्य)।

४४. कर्णश्रुत वासिष्ठ (५३७) — कर्णश्रुत वासिष्ठकी ऋषियोंके बीच अधिक ख्याति नहीं है। ऋग्वेदके नवम मण्डलके ९७वें सूक्तके २२-२४ मन्त्रका ऋषित्व इन्हें प्राप्त है। आचार्य सायणने इनके सम्बन्धमें अपने भाष्यमें लिखा है — अष्टमस्य कर्णश्रुत।..........कर्णश्रुन्मृळीको वसुक्र इति.......। (ऋ० ९.९७ सा०भाष्य)

४५. कलि प्रगाथ (२३७, २७२) — ऋग्वेदमें अनेक स्थानोंपर अश्विनीकुमारोंके कृपापात्र एक व्यक्तिके लिये बहुवचनमें इस शब्दका प्रयोग होता है। अथर्ववेदमें इनका नामोल्लेख गंधर्वोंके साथ हुआ है।

कलिको प्रगाथका पुत्र कहा गया है — ....सप्तमम् सूक्तं प्रगाथ पुत्रस्य कलेरार्षम्। तरोभिः पंचोना कलिः प्रागाथः प्रागाथमंत्यानुष्टुबिति। (ऋ० ८.६६ सा०भाष्य)

४६. कवल ऐलूष (४५३) — इनको इलूषका पुत्र कहा गया है — इलूष पुत्रस्य कवषस्यार्षम्......। प्र देवत्रा पंचोना कवष ऐलूष आपमपोनप्त्नीयं वेति। (ऋ० १०.३० सा०भाष्य)

ऋग्वेदके ब्राह्मणोंमें कवष ऐलूषका उल्लेख है, इन्हें दासी-पुत्र बतलाया गया है और अन्य ऋषियोंने इन्हें ताना मारा था। इनके बनाये मंत्र ऋग्वेदके दसवें मण्डलमें मिलते हैं। ऐतरेय ब्राह्मण २.२९ में वर्णन है कि यज्ञके समय ऋषियोंने इनका अपमान किया, जिससे क्षुब्ध होकर इन्होंने मंत्रोंकी रचना की। देवता प्रसन्न हुए, तब भेदभाव दूर कर इन्हें ऋषित्व-पद प्रदान किया।

४७. कवि भार्गव (५०७, ५५४, ५५६, ५७८) — ऋग्वेद १.११६.१४ में कवि एक ऋषिका नाम है, जिन्हें अश्विनीकुमारोंने दृष्टि प्रदान की थी। वेंकट माधवने इन्हें काव्य उशनस्‌का वैल्य नामक पिता माना है; स्कन्द स्वामीने इन्हें मेधावी कण्ठ माना है; किन्तु सायणने केवल एक 'अन्धा ऋषि' लिखा है। भृगुका पुत्र होनेके कारण इन्हें भार्गव कहा जाता है — भृगुपुत्रस्य कवेरार्षं गायत्रम्.........। अया सोमः पंच कविर्भार्गव इति। (ऋ० ९.४७ सा०भाष्य)

४८. कश्यप मारीच (४७२, ४८१, ४८२) — प्राचीन वैदिक ऋषियोंमें कश्यप एक प्रमुख ऋषि हैं, जिनका उल्लेख ऋग्वेदमें हुआ है। इन्हें सदा

धार्मिक एवं रहस्यात्मक चरित्रवाला बताया गया है। सामवेद ९० में अन्य ऋषि-समूहके साथ कश्यपका भी विवेचन उपलब्ध होता है। मरीचिपुत्रः कश्यपो वैवस्वतो मनुर्वा ऋषिः। (ऋ० ८.२१ सा०भाष्य)

४९. काण्वायन (१२१, २२, २११, ३८२) — कण्वका वंशज या काण्व्यका वंशज — ये दोनों पैतृक नाम ऋग्वेद ८.५५.४ और षड्विंश ब्राह्मणमें निर्दिष्ट हैं, इन्हींको काण्वायन या काण्व्यायन कहते हैं। गोषूक्तिन् तथा अश्वसूक्तिन् ऋषियोंका सामूहिक नाम काण्वायन है, क्योंकि ये ऋषि कण्वगोत्रीय कहे जाते हैं — तथा चानुक्रान्तम्। यदिन्द्रं पञ्चोना गोषूक्त्यश्वसूक्तिनाविति काण्वायनो.....। (ऋ० ८.१४ सा०भाष्य)

५०. कुत्स आंगिरस (६६, ३८०, ५४१, ६२९) — ये ऋग्वेदीय मंत्रोंके द्रष्टा ऋषियोंमेंसे एक ऋषि हैं। अष्टाध्यायी (पाणिनि)-के सूत्रोंमें जिन पूर्वाचार्योंके नाम आये हैं, उनमें कुत्स भी हैं। त्रित आप्त्यके वैकल्पिक ऋषिके रूपमें कुत्सका नाम-स्मरण किया गया है। कुछ स्थलोंपर स्वतंत्र ऋषिके रूपमें भी इन्हें वर्णित किया गया है — अनुवर्तमानत्वात्कुत्सः ऋषिः (ऋ० १.१०६ सा०भाष्य)। अपां पुत्रस्य त्रितस्यं कूपे पतितस्य कुत्सस्य वार्षम्। (ऋ० १.१०५ सा०भाष्य)।

५१. कुरुसुति काण्व (९८८, ९८९, ९९०) — कण्वके वंशज काण्व कहे जाते हैं। कण्वका सम्बन्ध अनेक ऋषियोंसे रहा है। विशेष समादृत होनेके करण इनकी शिष्य-परम्परामें अनेक ऋषियोंका उल्लेख प्राप्त होता है जिनमें श्रायस, नार्षद आदि प्रमुख हैं। कुरुसुति कण्व के वंशज थे, अतएव इनके नामके उपरान्त काण्व शब्द का प्रयोग किया गया है। .... कुरुसुतिर्नाम काण्व ऋषिः......। इमं नु द्वादशकुरुसुतिः काण्व......। (ऋ० ८.७६ सा०भाष्य)।

५२. कुसीदी काण्व (१३८, १६२, १६७) — कुसीदिन् ऋषि काण्वके पुत्र थे। इन्होंने इन्द्र-विषयक ऋचाओंका दर्शन किया है। कण्वके पुत्र होनेसे इनका सम्बन्ध कण्व ऋषिसे विशेष रूपसे था — कण्वपुत्रस्य कुसीदिन आर्षगायत्रमैंद्रम्। ....आ तू नो नव कुसीदी काण्व इति। (ऋग्वेद ८।८१, सा०भाष्य)।

५३. **कृतयशा आंगिरस (५८१)** — अंगिरस ऋषिके वंशजको आंगिरस कहा जाता है। कृतयशा इसी परम्पराके ऋषि हैं। साधनाके क्षेत्रमें विशेष यशस्वी होनेके कारण सम्भवतया यह नामकरण हुआ है। इनका विशेष विवरण उपलब्ध नहीं है। ऋ० ९.१०८वें सूक्तके १०-११ मंत्रका ऋषित्व इन्हें प्राप्त है। सायण भी किसी सुनिश्चित परिणामपर नहीं पहुँच सके हैं — ....कृतयशा नाम कश्चित् सोऽपि आंगिरस...। (ऋ० ९.१०८ सा०भाष्य)।

५४. **कृष्ण आंगिरस (३७५)** — ऋग्वेदके ८.८५.३, ४ में ऋषिके रूपमें इनका नाम आया है। परम्पराके अनुसार वे या उनके पुत्र विश्वक (कार्ष्णि) अगले सूक्त ऋग्वेद ८.८६के ऋषि माने गए हैं। पैतृक नाम 'कृष्णिय' भी ऋग्वेदके अन्य दो सूक्तोंमें आया है — (ऋ० १.११६.२३, १.११७.७)।

ऋग्वेदका सायण भाष्य इनके विषयमें उपर्युक्त विवरणकी पुष्टि करता है — विश्वको नाम कृष्णस्य पुत्रः कृष्ण एव वर्षिः। उभा हि पश्च विश्वको वा कार्ष्णिर्जागतमिति (ऋ० ८.८६, सा०भाष्य) .... तदा प्रकृत आंगिरसः कृष्ण एव ऋषिः.......... (ऋ० ८.८७ सा०भा०)।

५५. **केतुराग्नेय (१५२७-३१)** — केतु ऋषि-द्वारा दृष्ट मंत्रोंके देवता अग्नि हैं। सामवेदमें भी इनके कुछ मंत्र संगृहीत हैं। अग्निपुत्र होनेके कारण भी इन्हें आग्नेय कहा जाता है — "......पंचमं सूक्तमग्निपुत्रस्य केतुनाम्न आर्षं गायत्रमाग्नेयं। तथा चानुक्रांतं अग्निं केतुराग्नेय आग्नेयं गायत्रमिति।। (ऋ० १०.१५६ सा०भाष्य)।

५६. **कौत्स (२२८)** — कौत्स एक ऋषि हुए हैं, जो कुत्सके पुत्र थे। यह वरतंतुके शिष्य और जैमिनिके आचार्य थे, जो अपनी विद्वत्ताके लिये प्रसिद्ध थे। निरुक्तमें १.१५ में वेदका विरोध करनेवाले एक कौत्सके मतका खण्डन किया गया है। कौत्सोंके विरुद्ध कल्पसूत्रोंकी परम्परामें अनेकशः उल्लेख है।

दुर्मित्रकी गणना कुत्सगोत्रीय कौत्सके रूपमें है — ऐन्द्रकुत्सपुत्रो नाम्ना दुर्मित्रो....। तथा चानुक्रान्तम्। कदा कौत्सो दुर्मित्रो नाम्ना सुमित्रो गुणतः सुमित्रो वा नाम्नादुर्मित्रो गुणतः.....(ऋ० १०.११५ सा०भाष्य)।

५७. गय आत्रेय (८१) — गय आत्रेय ऋग्वेदके मंत्रोंके द्रष्टा हैं। अत्रि-परम्परासे सम्बन्धित होनेके कारण ये आत्रेय उपाधिसे विभूषित हुए हैं — त्वामग्ने हविष्मन्त इति सप्तर्चं नवमं सूक्तमात्रेयस्य गयस्यार्षं .....। (ऋ० सा०भाष्य)।

५८. गविष्ठिर आत्रेय (१७४६-४८) — गविष्ठिरकी गणना आत्रेय-परम्परामें की गई है; क्योंकि ये अनुक्त गोत्र ऋषि हैं — पञ्चमे मण्डलेऽनुक्त गोत्रम् आत्रेयं विद्यात् इति परिभाषितत्वाद् आत्रेयौ बुधगविष्ठिरावृषी। (ऋ० ५.१ सा०भाष्य)।

गविष्ठिरका उल्लेख नमनपूर्वक स्तुतियोंको अग्निके निमित्त समर्पित करनेके रूपमें हुआ है — गविष्ठिरो नमसा स्तोममग्नौ दिवीव रुक्ममुरुव्यंचमश्रेत्॥ (ऋ० ५.१.१२)।

५९. गातुरात्रेय (३१५) — गातुरात्रेय ऋग्वेद और सामवेदके ऋषि हैं। ये अत्रि गोत्रसें सम्बन्धित हैं — अदर्दरुत्समिति द्वादशर्चमष्टादशं सूक्तम्। गातुर्नामात्रेय ऋषिः। (ऋ०५.३२ सा०भाष्य)।

६०. गाथिन् (२१०) — ऐ०ब्रा० (७.१८) में विश्वामित्रके पुत्रोंको 'गाथिन्' वंशज बतलाया गया है। परम्पराके अनुसार गाथिन् उनके बाबा थे। सर्वानुक्रमणीके अनुसार गाथिन् कुशिकके पुत्र और विश्वामित्रके पिताका नाम है। गाथियोंके दैव-वेद (दिव्य-विद्या)-का उल्लेख आता है, जिसमें विश्वामित्रके द्वारा स्वीकृत किए जानेपर शुनःशेपने भी भाग लिया है। ऋग्वेद और यजुर्वेदमें गाथिन्का उल्लेख अनेकशः या गया है।

६१. गृत्समद शौनक (२००, ४५७, ४६६, ५९०, ६००, ६०७)— गृत्समद एक ऋषिका नाम है। ये ऋग्वेदके द्वितीय मण्डलके ऋषि हैं। ऐतरेय ब्राह्मण ५.२.४, कौ० ब्रा० २२.४ में इस परम्परा का समर्थन किया गया है। ऋग्वेदके आख्यानके अनुसार इन्हें अनेक कुलोंसे सम्बद्ध माना गया है — अथ गार्त्समदं द्वितीयं मण्डलं व्याख्यायते। ......मंडलद्रष्टा गृत्समद ऋषिः स च पूर्वमांगिरसकुले शुनहोत्रस्य पुत्रः सन् यज्ञकाले ऽसुरैर्गृहीत इन्द्रेण मोचितः। पश्चात्तद्वचनेनैव भृगुकुले शुनकपुत्रो गृत्समदनामाभूत्.......। य आंगिरसः शौनहोत्रो भूत्वा भार्गवः शौनकोऽभवत्स गृत्समदो द्वितीयं मण्डलमपश्यदिति (ऋ० २.१ सा०भाष्य)।

६२. गोतम राहूगण (९९, १४७, १७९, २१८, २४७ आदि)— ऋग्वेदके अनेक मंत्रोंमें गोतम ऋषिका नाम आया है। ऋग्वेद १.७८.५ से संकेत मिलता है कि 'राहूगण' उनकी उपाधि है, जो पैतृक परम्परासे आई है। शतपथ ब्राह्मणमें उन्हें वैदिक-संस्कृतिको बढ़ानेवाला बताया गया है। शतपथ ब्राह्मणके ११.४.३.२० में उन्हें विदेह जनक एवं याज्ञवल्क्यका समकालीन कहा गया है— ता हैतां गोतमो राहूगणः। विदां चकार सा ह जनकं वैदेहं प्रत्युत्ससाद.....। (शत०ब्रा० ११.४.३.२०)।

इन्हें ऋग्वेद और सामवेदीय सूक्तोंका द्रष्टा माना जाता है— उपप्रयन्तो नव गोतमो राहूगणो गायत्रं त्विति।.....रहूगणनामा कश्चिदृषिः। तस्य पुत्रो गोतमोऽस्य सूक्तस्य ऋषिः। (ऋ० १.७४ सा०भाष्य)।

६३. गोधा ऋषिका (१७६) — गोधा ब्रह्मवादिनी ऋषिका हैं। सामवेद १७६ उत्तरार्द्धकी ऋषिका इन्हींको माना गया है। ऋग्वेदमें इनके द्वारा दृष्ट सूक्तोंको दशम मण्डलमें संगृहीत किया गया है— पूर्वेणेत्यर्धर्चसहितायाः सप्तम्यास्तु गोधा नाम ब्रह्मवादिन्यृषिः। .... तामध्यर्धां गोधापश्यदिति। (ऋ० १०.१३४ सा०भाष्य)

६४. गोपवन आत्रेय (२९, ८७, ८९) — काण्व शाखीय बृ०उ० २.६.१.४ की प्रथम दो वंश-सूचियोंमें पौतिमाष्यके शिष्य गौपवनका उल्लेख है जो गोपवनके वंशज हैं। इनके द्वारा दृष्ट सूक्तोंके विकल्प ऋषिके रूपमें सप्तविधका नाम लिया जाता है— उदरीथां गोपवन आत्रेयः सप्तवधिर्वाश्विनम्......। (ऋ० ८.७३ सा०भाष्य)।

६५. गोषूक्तिन् अश्वसूक्तिन् (१२१, १२२, २११, ३८२ आदि) — इन ऋषियोंको कण्वगोत्रीय कहा गया है। अतएव इनका नाम काण्वायन भी है। इनको संयुक्त ऋषित्व प्राप्त होता है— तथा चानुक्रान्तम् - यदिन्द्र पंचानो गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ काण्वायनाविति.....। (ऋ० ८.१४ सा०भाष्य) पंचविंशब्राह्मण (१९.६.९) में सम्भवतः 'गौ-षूक्त'-के नामसे एक साम द्रष्टा ऋषिके रूपमें उन्हींका उल्लेख है।

६६. गौपायन[1] (४४८) – ये गौप या गोपके वंशज हैं। अस्मातिं, किरात और आकुलिकी लोककथाओंमें गौपायनोंका नाम आया है, जिनका उल्लेख ब्राह्मणोंमें हुआ है। ऋग्वेदमें भी इन्हें ऋषिके रूपमें प्रतिष्ठा प्राप्त है – अग्नेत्वं गौपायना लौपायना वा.......(ऋ० ५.२५ सा०भाष्य)।

६७. गौरांगिरस (४५८) – आंगिरस परम्परावाले अनेक ऋषि हैं। इनके साम्यका मात्र आत्रेय वंश ही है। गौरांगिरस सामवेद ४५८ के द्रष्टा हैं। अन्यत्र इनका वर्णन दुर्लभ है।

६८. गौरिवीति शाक्त्य (३१९, ३३१, ५७८) – गौरिवीतिको शक्ति गोत्रज होनेके कारण शाक्त्य कहा जाता है। गौरिवीतिका उल्लेख ब्राह्मण ग्रन्थोंमें भी यत्र-तत्र प्राप्त होता है। ऋग्वेद और सामवेदमें ये मंत्रोंके द्रष्टाके रूपमें निरूपित हैं– ....पंचोना गौरिवीतिः शाक्त्य ऐन्द्रमुशना .... शक्ति गोत्रोत्पन्नो गौरिवीतिर्नाम ऋषिः। (ऋ० ५.२९ सा०भाष्य)।

६९. चक्षुर्मानव (५६७) – चक्षुः एक ऋषिका नाम है। मनु-पुत्र होनेके कारण इन्हें मानव कहा जाता है। ऋग्वेद एवं सामवेदके सूक्तोंका इन्होंने दर्शन किया था – प्रथमस्यतृचस्य चक्षुराख्य ......द्वितीयस्य मनुपुत्रश्चर्क्षुर्नामा। (ऋ० ९.१०६ सा०भाष्य)

७०. जमदग्नि भार्गव (२५५, २७६, ४७३, ४८९) – ऋग्वेदके एक देवशास्त्रीय ऋषि जमदग्नि हैं, जहाँ उनका अनेक बार नामोल्लेख हुआ है। ऋग्वेद ३.६२.२४; ९.६५.२५के अनुसार ऐसा लगता है, मानो वे सूक्तके रचयिता हों। अथर्ववेद, यजुर्वेद एवं ब्राह्मणोंमें प्रायः इनका उल्लेख है। इनके परिवारकी सफलता और इनकी उन्नतिका कारण 'चतूरात्र यज्ञ' बताया गया है। वे शुनःशेपके यज्ञमें पुरोहित थे तथा सप्त ऋषियोंमेंसे एक थे।

कुछ मंत्रोंका स्वतंत्र ऋषित्व जमदग्निको प्राप्त है – गृणाना जमदग्निना योनावृतस्य सीदतम् पातं सोममृतावृधा – ऋग्वेद-३.६२.१८

---

१. सामवेद क्रमांक ४४८-५० में 'गोपायन' ऋषिका उल्लेख है, जो 'गौपायन'-का भ्रष्ट पाठ प्रतीत होता है।

ऋ० ९.६५ के आधारपर वरुणके पुत्र भृगु तथा भृगुके पुत्र जमदग्नि सिद्ध होते हैं। (वरुणपुत्रस्य भृगोरार्षं भार्गवस्य जमदग्नेर्वा-सायण भाष्य)।

७१. जय ऐन्द्र (१८७३) — ऋग्वेद एवं सामवेदमें जय ऐन्द्र ऋषिके रूपमें विवेचित हैं। ऐन्द्र विशेषणका प्रयोग अप्रतिरथ, जय, बरु, वसुक्र, वृषाकपि तथा सर्वहरि ऋषियोंके साथ हुआ है। आचार्य सायणने ऐन्द्रका अर्थ इन्द्रपुत्र किया है। चतुर्थसूक्तमिन्द्रपुत्रस्याप्रतिरथनाम्न आर्षं (ऋ० १०.१०३ सा०भाष्य)।

७२. जेता मधुच्छन्दस (३४३, ३५१) — मधुच्छन्दसका पुत्र होनेके कारण इन्हें माधुच्छन्दस कहा गया है। ऋग्वेदके प्रथम मण्डलमें इन्हें ११वें सूक्तका ऋषि कहा गया है, वहाँ इन्हें जेतृ कहा गया है। जेता विभक्तिगत रूप (प्रथमा विभक्ति एकवचन) हैं। इन्द्रं विश्वा इत्यष्टर्चस्य सूक्तस्य मधुच्छन्दसः पुत्रो जेतृनामक ऋषिः। तथा चानुक्रान्तम्। इन्द्रमष्टौ जेता माधुच्छंदस इति। (ऋ० १.११ सा०भाष्य)।

७३. तिरश्ची आंगिरस (३४६, ३४९, ३५०) — अनुक्रमणीके अनुसार ऋग्वेदके एक सूक्त ८.९५.४ के द्रष्टा एक ऋषिकानाम तिरश्ची है। इन्होंने उस सूक्तमें इन्द्रसे यह प्रार्थना की है कि वे उनकी प्रार्थना सुनें। पं०विं० ब्रा० १२.६.१२ में भी तिरश्ची आंगिरस नामक ऋषिका उल्लेख है। ऋग्वेदकी ऋचाओंमेंइनका सुस्पष्ट उल्लेख किया गया है — श्रुधी हवं तिरश्च्या इन्द्रयस्त्वा सपर्यति। सुवीर्यस्य गोमता रायस्पूर्धि महाँ असि॥ (ऋ० ८.९५.४) तिरश्चीर्नामाङ्गिरस ऋषिः। (ऋ० ८.९५ सा०भाष्य)

७४. त्रसदस्यु पौरुकुत्स (४२८, ४३२) — पुरुकुत्सके पुत्र त्रसदस्युको ऋग्वेद ५.३३.८, ७.१९.३, ४.४२.८ में पुरुओंका राजा कहा गया है। कुछ ब्राह्मणोंमें त्रसदस्यु पौरुकुत्सको, पर आट्णार, वीतहव्य, श्रायस और कक्षीवन्त् औशिजके साथ प्राचीन कालका प्रसिद्ध यज्ञकर्त्ता बताया गया है। (पञ्चविंश ब्राह्मण २५.१६ काठक सं० २२.३ तै०सं० ५.६.५.३)

त्रसदस्यु एवं इनके साथ उल्लिखित ऋषियोंको राजा भी कहा गया है — त्र्यरुणत्रसदस्यू राजानौ........। एते त्रयोऽपि राजानः

सम्भूयास्य सूक्तस्य ऋषयः। (ऋ० ५.२७ सा०भाष्य) जहाँ अनेक द्रष्टा होते हैं, वहाँ प्रथमको प्रमुखता दी जाती है, अन्यको गौण माना जाता है– एवं विधेषु सूक्तेषु तस्मादेक ऋषिर्मतः प्रधानोऽन्ये त्वप्रधाना इति मन्यामहे वयम्॥ (आषानुक्रमणी ४.११)

७५. त्र्यरुणस्त्रैवृष्ण (१३६४, १३६५) – त्र्यरुण त्रिवृष्णके पुत्र थे। ऋग्वेद ५वें मण्डलके २७वें सूक्तके ये द्रष्टा हैं। इस सूक्तके प्रथम एवं द्वितीय मंत्रमें इनकी दान-स्तुति प्राप्त होती है– त्रैवृष्णस्त्रिवृष्णपुत्रस्त्र्यरुणस्त्र्यरुण इत्येतन्नामा राजर्षिः ....। (ऋ० ५.२७ सा०भाष्य)

७६. त्रित आप्त्य (१०१, ३६८, ४१७, ४७१ आदि) – एकत, द्वित तथा त्रित ऋषियोंको जलसे उत्पन्न माना गया है। इस कारण इन्हें आप्य कहा गया। कालान्तरमें तकार आगमसे आप्त्य पद सिद्ध हुआ – तत् एकतोऽजायत........द्वितोऽजायत.......त्रितोऽजायत। यद् अद्भ्योऽजायंत तद्आप्यानाम् आप्त्यत्वम्। (तै०ब्रा० ३.२.८.१०-११)। तमेतमाप्यं ....तकारोपजनेन वयमधीमहे। (ऋ० १.१०५। सा०भाष्य)

ऋग्वेदमें इनके कूप पतनका उल्लेख किया गया है – अपां पुत्रस्य त्रितस्य कूपे पतितस्य कुत्सस्य वार्षं ....त्रितः कूपेऽवहितः काटे निबाळ्ह ऋषिरह्वदूतय इति च। (ऋ० १.१०५ सा०भाष्य)

७७. त्रिशिरा त्वाष्ट्र (७१) – इन्हें त्वष्टाका पुत्र कहा गया है। ऋग्वेद दसवें मण्डलके नवम सूक्तका ऋषित्व त्रिशिराको प्राप्त है – अम्बरीषस्य राज्ञः पुत्रः सिन्धुद्वीप ऋषिस्त्वष्टृपुत्रस्त्रिशिरा वा.......। (ऋ० १०.९.१)

७८. त्रिशोक काण्व (१३१, १३३, १३४) – ये एक प्राचीन देवशास्त्रीय व्यक्ति हैं, जिनका उल्लेख ऋग्वेद एवं अथर्ववेदमें मिलता है। गोत्र सुस्पष्ट न होनेके कारण यह प्रतीत होता है कि ये कण्वके शिष्य थे। मंत्रद्रष्टाके रूपमें इनका वर्णन ऋग्वेदके साथ साथ सामवेदमें भी है– आ घ द्विचत्वारिंशत् त्रिशोक आघाग्रेंद्री। अनुक्तगोत्रत्वात्काण्वस्त्रिशोक ऋषिः॥ (ऋ० ८.८५ सा०भाष्य)

७९. दध्यङ्ङाथर्वण (१७७)– अथर्वन् गोत्रीय होनेके कारण इन्हें यह

नाम दिया गया है। इनका नाम अत्रि, कण्व, प्रियमेधादि ऋषियोंके साथ विशेष रूपसे लिया जाता है। दध्यङ्को अथर्वन्‌कापुत्र कहा जाता है, इनका वैदिक कर्मकाण्डके विकासमें महत्त्वपूर्ण योगदान है। दध्यङ् ह्वा अभ्यामाथर्वणः। (शत०ब्राह्मण ४.१.५.१८) तमुत्वा दध्यङ् ऋषिः। पुत्र ईधे अथर्वण इति वाग्वै दध्यङ्ङाथर्वणः। (शत०ब्राह्मण ६.४.१.३) अश्विनीकुमारों द्वारा इनकी सहायताका उल्लेख प्राप्त होता है।

८०. **दीर्घतमा औचथ्य (९७, १७५८-१७६०)** — इन्हें ममता और उचथका पुत्र माना गया है। ऋग्वेद १.१५८.१-६ में इनका एक गायक ऋषिके रूपमें उल्लेख है, अन्यत्र भी मामतेयकेरूपमें इनका नाम आया है। ऐ०ब्रा० ८.२३ में इन्हें भरतका पुरोहित बताया गया है। ऋग्वेद तो इन्हें सुनिश्चित रूपसे मन्त्र-द्रष्टा मानता है — उचथ्यपुत्रस्य दीर्घतमस आर्षम्।.......सप्तोना दीर्घतमा औचथ्य आग्नेयं तु.......। (ऋ० १.१४० सा०भाष्य)

८१. **दुर्मित्र सुमित्र अथवा कौत्स** — दुर्मित्रको कुत्सगोत्रीय माना गया है, ये अपने गुणोंके कारण सुमित्र बन गए थे। ऋग्वेद इस तथ्यके प्रति सचेष्ट है तथा इसका वर्णन भी प्रस्तुत किया है — शतं वा यदसुर्यं प्रति त्वा सुमित्र इत्थास्तौद् दुर्मित्र इत्थास्तौत् (ऋ० १०-१०५-११)

सायणने इस तथ्यका पूर्ण उद्‌घाटन कर दिया है कि दुर्मित्र सद्‌गुणोंके कारण सुमित्र बन गए थे — ....तदानीं सुमित्रो नाम्नेत्थम् 'अस्तौत्' तथा दुर्मित्रो गुणत इत्थम् अस्तौत्। तद्विपरीतं वा द्रष्टव्यम्। सुमित्रो नाम्ना दुर्मित्रो गुणत इति कात्यायनेनतथोक्तेः॥ (ऋ० १०.१०५.११ सा०भाष्य)।

ऋक्सर्वानुक्रमणीमें ऋषिके सद्‌गुण एवं दुर्गुणके आधारपर नाम-परिवर्तनकी बात स्वीकार की गयी है — कौत्सो दुर्मित्रो नाम्ना सुमित्रो गुणतः सुमित्रो वा नाम्ना दुर्मित्रो गुणतः। (ऋक् सर्वानुक्रमणी)।

८२. **दृढच्युत आगस्त्य (४७४)** — ये अगस्त्यके वंशज हैं। जै०ब्रा० ३.२३३ में विभिन्दुकीयोंके सत्रमें दृढच्युत आगस्तिके उद्गातृ पुरोहित होनेका उल्लेख है। अनुक्रमणीमें, जहाँ पैतृक नाम आगस्त्य है, उन्हें ऋग्वेदके सूक्त ९.२५ का ऋषि माना है।......प्रथमं सूक्तं दृळहच्युत

नाम्नोऽगस्त्यपुत्रस्यार्षं गायत्रं ......। (ऋ० ९.२५ सा०भाष्य)

८३. देवजामय इन्द्र मातरः ऋषिकाः (१२०, १७५) — देवजामयः पदके साथ इन्द्रमातरः शब्द प्रयुक्त होता है, जिसको देव भगिनी कहा गया है। देवजामयको प्रातः सवनमें प्रयुक्त होनेवाले मंत्रोंका द्रष्टा कहा गया है। इस मंत्रमें कुछ ऋषिकाओंका वर्णन प्राप्त होता है, जो देवोंकी बहनें तथा इन्द्रकी माताएँ हैं — देवानां स्वसृभूता इन्द्रमातरो नामर्षिका। तथा चानुक्रान्तं। ईंखयन्तीर्देवजामय इन्द्रमातरो गायत्रमिति। (ऋ० १०.१५३ सा०भाष्य)।

बृहद्देवतामें भी इन ऋषिकाओंका विवेचन प्राप्त होता है — इन्द्राणी चेन्द्रमाता च सरमा रोमशोर्वशी........। (बृहद्देवता २.३८)।

८४. देवातिथि काण्व (२७७, २७९, ३०८) — ये काण्वके वंशज हैं। पंविं. ब्रा० ९.२.१९ में साममंत्रोंके द्रष्टा एक ऋषिका नाम देवातिथि काण्व हैं। ये ऋग्वेदके एक सूक्त ८.४ के सम्मानित द्रष्टा हैं।

इन मंत्रोंके बलपर इन्होंने कूष्माण्डोंको गौओंके रूपमें बदल दिया था, जिससे वे अपने पुत्रके साथ मरुस्थलमें भोजन पा सके थे, जहाँ कि शत्रुओंने उन्हें डाल दिया था। ये ऋग्वेद एवं सामवेदके प्रतिष्ठित ऋषि हैं — .... चतुर्थं सूक्तं काण्वगोत्रस्य देवातिथेरार्षम् (ऋ० ८.४ सा०भाष्य)

८५. दैवोदासि (५२७, ५३२-५३३) — ये दिवोदासके वंशज हैं। कौ०ब्रा० २६.५ और कौ० उ० ३.१ में प्रतर्दनका पैतृक नाम दैवोदासि है। यजुर्वेद तथा ऋग्वेदमें अनेक स्थलोंपर इन्हें सूक्त-द्रष्टाके रूपमें निरूपित किया गया है, जहाँ इन्हें परुच्छेपसे भी सम्बद्ध माना गया है— .....दिवोदासपुत्रस्य परुच्छेपस्यार्षमाग्नेयमात्यष्टम्। (ऋ० १.१२७ सा०भाष्यं)।

८६. द्वित आप्त्य (५७३, ५७७) — द्वित आप्त्य ऋषिकी चर्चा अनुक्रमणी ग्रन्थोंमें तो है, किन्तु इन्हें दो ही मंत्रोंके द्रष्टा होनेका गौरव प्राप्त है। साम क्रमांक ५७३ तथा ५७७ पर अंकित मंत्र ऋग्वेदके नवम मण्डलके १०३वें सूक्तके प्रथम तथा तृतीय मंत्र हैं, जिनके द्रष्टाके रूपमें द्वित आप्त्यका नामोल्लेख है — प्रपुनानायेति षड्‌चं सप्तमं सूक्तं आप्त्यस्य

द्वितस्यार्षम्।.....द्वितो नामर्षि स्वात्मानं प्रत्याह। (ऋ० ९.१०३ सा०भाष्य)।

८७.द्वितमृक्तवाहा आत्रेय (८५) — एकतः द्वितः तथा त्रितः तीन भाइयोंका उल्लेख वेदोंमें यत्र-तत्र प्राप्त होता है। ऋग्वेदके पंचम मण्डलके ये द्रष्टा हैं। मृक्तवाहा पद विशेषण है — अत्रेयमनुक्रमणिका। प्रातर्मृक्तवाहा द्वित इति। मृक्तवाहा इति विशेषण विशिष्ट आत्रेयो द्वित इति ऋषिः। (ऋ० ५.१८ सा०भाष्य)।

८८.द्युतान मारुत (३२३, ३२४, ३२६) — तैत्तिरीय संहिता ५.५.९.४ और काण्व संहिता ५.७ के अनुसार एक दैवी पुरुषका नाम द्युतान मारुत है। शतपथ ब्राह्मण - ३.६.१.१६ में इन्हें वायु कहा गया है। जबकि पञ्चविंश ब्राह्मण १७.१.७ में उन्हें एक साममन्त्रका रचयिता बताया गया है। अनुक्रमणीके अनुसार ऋग्वेदके एक सूक्त ८.९६के द्रष्टा ऋषि हैं — अस्मै सैका द्युतानो वा मारुतस्त्रैष्टुभं चतुर्थो.....द्युतानाख्यो मरुतां पुत्र ऋषिः.....। (ऋ० ८.९६ सा०भाष्य) ऋक्सर्वानुक्रमणीमें द्युतानो वा मारुतः कहकर इनका ऋषित्व स्वीकार किया गया है।

८९.नकुल (३२१, ४६४) — अथर्ववेद (४.११), सामवेद (३२१-४६४) तथा यजुर्वेद (१३.३) में नकुलका उल्लेख किया गया है, इनके विकल्पके रूपमें बृहस्पति ऋषिका उल्लेख किया गया है। इनके सम्बन्धमें अधिक विवरण प्राप्त नहीं होता।

९०.नहुष मानव (८४६) — मनुका पुत्र होनेके कारण इन्हें मानव कहा जाता है। नहुषकी गणना एक राजर्षिके रूपमें की गयी है। इनको ९.१०१ सूक्तका ऋषि कहा गया है — तृतीयस्य मनोः पुत्रो नहुषो नाम राजर्षिः चतुर्थस्य संवरणाख्यस्य राज्ञः पुत्रो मनुः। (ऋ० ९.१०१ सा०भाष्य)।

९१. नारद काण्व (३८१) — अथर्ववेदमें अनेक बार एक देवशास्त्रीय ऋषिके रूपमें 'नारद काण्व' का नाम आया है। मैत्रायणी संहिताके १.५.८वें मंत्रमें उन्हें एक आचार्यके रूपमें तथा सामविधान ब्रा० ३.९ की वंश-सूचीमें उन्हें बृहस्पतिका शिष्य कहा गया है। छान्दोग्य उपनिषद् (७.११) में उनका उल्लेख सनत्कुमारके साथ हुआ है।

ऐतरेय ब्राह्मणके अनुसार इन्हें पर्वतके साथ हरिश्चन्द्रका पुरोहित माना जाता है। नारदका स्वतंत्र ऋषित्व भी प्राप्त होता है। 'काण्वस्य नारदस्यार्षमौष्णिहमैन्द्रम्। (ऋ० ८.१३.१ सा०भाष्य)

९२. नारायण (६१७, ६२१) — ऋग्वेदीय पुरुष सूक्तके ऋषि नारायण हैं। इसमें परम पुरुषके विराट् रूपकी स्तुति है। पुरुष सूक्त प्रायः सभी वेदोंमें प्राप्त होता है। नारायणको ही सर्वत्र ऋषिके रूपमें स्वीकार किया गया है—......त्र्यायुषं नारायणः (ऋक्सर्वानुक्रमणी पृ० १२) नारायणो नामर्षिरंत्या त्रिष्टुप्.......। (ऋ० १०.९० सा०भाष्य)

९३. निध्रुवि काश्यप (४८३, ४९२, ४९३, ५०१) — निध्रुवि काश्यपको ऋग्वेद नवम मण्डलके ६३वें सूक्तका ऋषित्व-पद प्राप्त है। आचार्य सायणने इस सूक्तके प्रारम्भमें लिखा है — 'आ पवस्य इति त्रिंशत् ऋचं तृतीयं सूक्तं काश्यपस्य निध्रुवेः आर्षं ....। (ऋ० ९.६३ सा०भाष्य) ।

इसके अतिरिक्त सामवेदके मंत्र ४८३, ४९२, ४९३, ५०१ आदि के द्रष्टा ऋषिके रूपमें भी निध्रुवि काश्यपका नाम उल्लिखित है।

९४. नीपातिथि काण्व (३४८, १८०७, १८०९) — नीपातिथिद्वारा दृष्ट साम-मंत्रोंका उल्लेख पञ्चविंश ब्राह्मणमें किया गया है तथा ऋग्वेदमें भी इनका उल्लेख मिलता है — यथाप्रावो मघवन्मेध्यातिथिं यथा नीपातिथिं धने। (ऋ० ८, ४९, ९)

नीपातिथि विशिष्ट याज्ञिकके रूपमें भी ख्यातिप्राप्त थे—नीपातिथौ मघवन्मेध्यातिथौ पुष्टिगौ श्रुष्टिगौ सचा। (ऋ० ८, ५१, १)

९५. नृमेध आंगिरस (२६७, २८३, ३११, ३८८ आदि) — ऋग्वेदके १०वें मण्डलके १३२वें सूक्तमें सुमेधके साथ नृमेधका भी उल्लेख पाया जाता है। पञ्चविंश ब्राह्मण ८.८.२१ के अनुसार वे एक साम द्रष्टा (२६७, २८३, ३११ आदि) आंगिरस ऋषि थे। ऋग्वेदके १०.८०.३ में अग्निके एक कृपा-पात्रके रूपमें नृमेध आंगिरसका नाम उल्लिखित हुआ है .... अयमग्निर्नृमितन्नामकऋषिं प्रजया पुत्रादिलक्षणया समसृजत्। (ऋ० १०.८०.३ सा० भाष्य)।

९६. नोधा गौतम (२३६, २९६, ३१२, ५३८) — गोतम गोत्रीयके

रूपमें नोधस् ऋषिका नाम वर्णित है। ऋग्वेदके अनेक सूक्तोंके द्रष्टाके रूपमें इनका उल्लेख है— नोधस आर्षमिन्द्रं त्रैष्टुभम्......। अस्य सूक्तस्य नोधा द्रष्टेत्येतद् ब्राह्मणे समाम्नायते। (ऋ० १.६१ सा०भाष्य)।

९७. परुच्छेप दैवोदासि (२८७, ४५९, ४६१, ४६५) — दिवोदासका वंशज होनेके कारण इन्हें दैवोदासि कहा जाता है। पुराणोंमें भीमरथके पुत्र तथा द्युमान्के पिताका नाम दिवोदास है। परुच्छेपको मंत्रद्रष्टा कहा है— तत्परुच्छेपस्य शीलम्.....(निरुक्त १०.४२ दुर्गवृत्ति)।

ऋग्वेद १.१२७ वें सूक्तके ऋषिके रूपमें इन्हींका वर्णन प्राप्त होता हैं— .....सूक्तमेकादशर्चं दिवोदास पुत्रस्य परुच्छेपस्यार्षमाग्नेयमात्यष्टं। (ऋ० १.१२७ सा०भाष्य)।

९८. पराशर शाक्त्य (५२५, ५२९, ५३४, ४५२) — ऋग्वेद ७.१८.२१में शतयातु तथा वसिष्ठके साथ पराशरका भी उल्लेख है। सात ऋग्वेदीय मंत्रोंके सम्पादनमें पराशरका भी नाम हैं। पराशर स्मृतिकी इन्होंने रचना की, जो वर्तमान युगके लिये बहुत उपयोगी है। पराशर, शक्तिके पुत्र तथा वसिष्ठके पौत्रके रूपमें वर्णित हैं — पश्वा दश पराशरः शाक्त्यो द्वैपदं तदिति। शक्ति पुत्रः पराशर ऋषिः। तत्पुत्रत्वं च स्मर्यति वसिठस्य सुतः शक्तिः शक्तेः पुत्रः पराशर इति। (ऋ० १.६५ सा०भा०)।

९९. पर्वत काण्व (३८४, ३९४) — यद्यपि लुडविगने इन्हें केवल एक यज्ञकर्त्ता ही माना है एवं इनकी उदारताकी प्रशंसा की है; परन्तु अनुक्रमणीमें इन्हें ऋग्वेद ८.१२.९, १०४-१०५ का ऋषि कहा गया है। पर्वतको भी कण्व गोत्रीय उल्लिखित किया गया है — य इन्द्रेति त्रयस्त्रिंशत् पर्वत औष्णिहं त्विति। (ऋ० ८.१२ सा०भा०)।

१००. पर्वत और नारद काण्व (५६८, ५६९, ५७४, ५७५) — पर्वत काश्यपके पुत्र माने गए हैं तथा नारदके अत्यन्त घनिष्ठ मित्र हैं। इसीलिये इन दोनों ऋषियोंका नाम एक साथ आता है। इन दोनों ऋषियोंको कण्वगोत्रीय भी माना जाता है — सखायः पर्वतनारदौ........ (ऋ० ९.१०४ सा०भाष्य)। तं व इति षडृचं द्वितीयं सूक्तं। पर्वतनारदयोरार्षम्। (ऋ० ९.१०५ सा०भाष्य)।

१०१. पवित्र आंगिरस (५६५, ५९६) — पवित्र आंगिरसका ऋषिके

रूपमें उल्लेख बहुत कम प्राप्त होता है। ऋग्वेदके मण्डल ९, सूक्त ८३के पहले तथा तीसरे मंत्रमें एक ऋषिके रूपमें पवित्र आंगिरसका उल्लेख प्राप्त होता है। पवित्रं त इति पंचर्चं षोडशं सूक्तं आंगिरस्य पवित्रस्य आर्षं जागतं पवमानसोमदेवताकम्। ......(ऋ० ९.८३ सा०भाष्य)

ऋग्वेद के ९वें मण्डलके ६७वें सूक्तके २२से ३२ मंत्रोंके द्रष्टा ऋषिके रूपमें भी पवित्र आंगिरसका उल्लेख है — सूक्तशेषस्यांगिरसः पवित्रो वसिष्ठो वोभौ वा समुदितावृषी। (ऋ० ९.६७ सा०भाष्य)।

१०२. पार्युर्भारद्वाज (८०, ९५) — भरद्वाज ऋषिके एक पुत्रका नाम पायु भारद्वाज है— ......चतुर्दशं सूक्तं भारद्वाजस्य पायोरार्षम्।......जीमूतस्येवैकोना पायुर्भारद्वाजः........। (ऋ० ६.७५ सा०भा०) ऋषि पायु भारद्वाज-द्वारा चौदह सूक्त दृष्ट हैं।

१०३. पावक (अग्नि) बार्हस्पत्य अथवा सहस्‌के पुत्र गृहपति और यविष्ठ अथवा अन्य (९५२, ९५३, ९५४) — तीन विकल्पोंवाले सामवेदके मंत्र ९५२-५४ के ऋषियोंके रूपमें पावक अग्नि अथवा बार्हस्पत्य सहस पुत्र गृहपति और यविष्ठ अथवा इन दोनोंसे भिन्नका उल्लेख है। ऋग्वेद ८.१०२ सूक्तमें भी कुछ इसी प्रकारका विकल्प है, किन्तु वहाँ विकल्पके रूपमें प्रयोग भार्गवका भी नाम जुड़ा है, परन्तु सामके ये मन्त्र उनसे भिन्न हैं। अथर्व. २.५.१-३ में सामके ये मंत्र (९५२-५४) सामान्य पाठ-भेदके साथ उद्‌धृत हैं, परन्तु वहाँ उन मंत्रोंका ऋषित्व केवल आथर्वण भृगुको प्राप्त है — बार्हस्पत्यः पावकविशेषेण विशिष्टोऽग्न्याख्यो वा। यद्वा सहो नाम्नः पुत्रौ गृहपतियविष्ठसंज्ञको द्वावग्नी..... ।(ऋ० ८.१०२ सा०भाष्य)।

१०४. पुरुमीढ (६, ४९, १५५४-५५) — पुरुमीळहका वर्णन प्राचीन ऋषियोंके अन्तर्गत किया गया है — यद्ध त्यद्वां पुरुमीळहस्य सोमिनः.....। (ऋ० १.१५१.२) युवां गोतमः पुरुमीळहो .....(ऋ० १.१८३.५) तरन्त ओर श्यावाश्वके आश्रयदाताके रूपमें भी इनका वर्णन प्राप्त होता है।

१०५. पुरुमेध (२४८, २५७-५८, ६०१) — पुरुमेध ऋषिका गोत्र कथित नहीं है। अनुक्त गोत्रीय होनेके कारण इन्हें आंगिरस माना गया

है — तौ चानुक्तत्वाद् आंगिरसौ....। तथा चानुक्रम्यते। बृहदिन्द्राय सप्त नृमेध पुरुमेधौ। नृमेधपुरुमेधावृर्षी। (ऋ० ८.८९ सा०भाष्य)। नृमेध सुमेध इन दो ऋषियोंको भी पुरुमेधके साथ ही साथ वर्णित किया गया है। मात्र पुरुमेध दृष्ट मंत्रोंका वेदोंमें अभाव है।

१०६. पुरुहन्मा आंगिरस (२४३, २६८, २७३, २७८) — ऋग्वेदके ८.७०.२ में किसी ऐसे ऋषिका नाम है, जो ऋग्वेद अनुक्रमणीके अनुसार आंगिरस कहे जाते थे; किन्तु 'पञ्चविंश ब्राह्मण' (१४.९.२९)-के अनुसार वे एक वैखानस थे — यो राजा पञ्चोना पुरुहन्मा बार्हतं....। पुरुहन्मा ऋषिः.......। इति परिभाषयांगिरसः। (ऋ० ८.७० सा०भाष्य)।

१०७. पूत दक्ष आंगिरस (१४९, १७४, १७८५)— पूतदक्ष शब्द सामान्यतया बहुवचनान्त मिलता है। सायणने एक स्थानपर इसे मरुतोंका विशेषण माना है — गौर्धयति द्वादश विन्दुः पूतदक्षो वा मारुतम् इति....। (ऋ० ८.९४ सा०भाष्य) त्यान्नु पूतदक्षसो दिवो वो मरुतो हुवे। अस्य सोमस्य पीतये। (ऋ० ८.९४.१०) पूत दक्षसः परिशुद्धबलान् दिवः स्वतेजसः दीप्यमानान्। (ऋ० ८.९४.१० सा०भाष्य)।

१०८. पृथुर्वैन्य (३१६) — इनका एक विरुद 'वैन्य' अर्थात् वेनका पुत्र है। इन्हें प्रथम अभिषिक्त राजा कहा गया है। पुराणोंमें पृथुकी कथाका विस्तारसे वर्णन है। संसारने पृथुकी नर देवताओंके रूपमें गणना की और देवताओंके समान उनकी पूजा की। पृथु आदर्श राजाके रूपमें माने जाते हैं। ऋग्वेदमें पृथुका दशम मण्डलमें उल्लेख किया गया है — सुष्णवाणासः इति पंचर्चं विंशं सूक्तं वेनपुत्रस्य त्रैष्टुभमैन्द्रम्। अनुक्रान्तं च। सुष्वाणासः पृथुर्वैन्य इति। (ऋ० १०.१४८ सा०भाष्य)।

१०९. पृश्नि अजा (८२३) — ऋग्वेदके दशम मण्डलके ८६वें सूक्तके २९-३० मंत्रके ऋषिके रूपमें इन्हींका उल्लेख है। सायणने अपने भाष्यमें पृश्नि ओर अजा — इन दो नामवाले ऋषिका उल्लेख किया है तथा ऋषि-समूहके दो नामोंका प्रयोजन अदृष्ट बतालाया है — तृतीयस्य दशर्चस्य पृश्नय इत्यजा इति च नामद्वयोपेता ऋषिगणाः। अदृष्टार्थम् एषां द्विनामत्वम् अवगन्तव्यम्। (ऋ० ९.८६ सा०भाष्य)।

११०. पृषध्र काण्व (४४७) — ऋग्वेदके वालखिल्य सूक्तमें 'पृषध्र'-का

नाम बड़े सम्मानके साथ उल्लिखित हुआ है — पृषध्रे मेध्ये मातरिश्वनीन्द्र सुवाने अमन्दथाः। (ऋ० ८.५२.२) पृषध्र काण्वका ऋषित्व अत्यल्प है। मात्र एक सूक्तके द्रष्टा होनेका गौरव इन्हें प्राप्त है, वह सूक्त है — ऋ० ८.५६। इसी सूक्तका पंचम मंत्र सामवेदके ४४७वें क्रममें उद्धृत हुआ है।

१११. प्रगाथ घौर काण्व (१४२, २४२, ३५५, ३९१) — ऋग्वेदके अष्टम मण्डलके द्रष्टा ऋषियोंको 'प्रगाथ'-की संज्ञा प्राप्त है। इनमें मेधातिथि, मेध्याथि, घौर, काण्व आदि नाम हैं। इसमें प्रथम सूक्तके प्रथम मन्त्रके द्रष्टा प्रगाथ और काण्वका ही उल्लेख है — 'आद्यस्य द्वृचस्य तु घोरस्य पुत्रः स्वकीयभ्रातुः, कण्वस्य पुत्रतां प्राप्तत्वात्काण्वः प्रगाथाख्य ऋषिः। (ऋ० ८.१ सा०भाष्य)

११२. प्रजापति (५५३) — ऋग्वेदके नासदीय सूक्त (१०.१२९)-के ऋषि परमेष्ठी प्रजापति हैं। (तत्र नासदासीदिति सप्तर्चं......परमेष्ठी नाम प्रजापति ऋषिः) प्रजापति तथा परमेष्ठी प्रजापति दोनों एक हैं। प्रजापतिको ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्डका अधिष्ठाता एवं परम व्योमका निवासी बताया गया है — यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्। (ऋ० १०.१२९.७) इस नासदीय सूक्तके देवता भी स्वयं प्रजापति हैं, क्योंकि यही सृष्टि, स्थिति तथा प्रलय आदिके कर्त्ता हैं - परम आत्मा हैं। वियदादिभावानां सृष्टिस्थितिप्रलयादीनाम् अत्र प्रतिपाद्यत्वात् तेषां कर्त्ता परमात्मा देवता। (ऋ० १०.१२९ सा०भाष्य)

प्रजापतिका ऋषित्व चारों वेदोंमें प्राप्त है, परन्तु उनके आगे-पीछे कोई न कोई विशेषण जुड़ा हुआ होनेसे कुछ भिन्नता प्रतीत होती है, जबकि 'प्रजापति' एक ही है।

११३. प्रजापति वैश्वामित्र अथवा प्रजापति वाच्य (५५३) — ऋग्वेद नवम मण्डल एक सौ एक सूक्तके तेरहवें-सोलहवें मन्त्रके द्रष्टा ऋषिके रूपमें प्रजापति वैश्वामित्र या प्रजापति वाच्यका उल्लेख प्राप्त होता है — .....शिष्टस्य चतुर्ऋचस्य वाचः पुत्रो वैश्वामित्रो वा प्रजापतिर्ऋषिः। (ऋ० ९.१०१ सा०भाष्य)

यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेदके अनेक मंत्रोंके ऋषि प्रजापति हैं, किन्तु उनके साथ अनुक्रमणीमें इन विशेषणोंका प्रयोग नहीं है।

११४. प्रतर्दन दैवोदासि (५२७, ५३२, ५३३) — प्रतर्दन दैवोदासि ऋषिका उल्लेख कम स्थानोंपर ही प्राप्त होता है। इनका विशेष रूपसे उल्लेख ऋग्वेदके नवम मण्डलके ९६वें सूक्तमें हुआ है। इन्हें इसी मण्डल और सूक्तके कतिपय मन्त्रोंके द्रष्टा होनेक गौरव प्राप्त है ,जो साम क्रमांक ५२७, ५३२, ५३३, ९४३, ९४५ आदिमें भी संगृहीत हैं। ऋग्वेदके उक्त सूक्तकी भूमिकामें सायणाचार्यने लिखा है — ....चतुर्विं शत्यृचमेकादशं दिवोदास पुत्रस्य प्रतर्दनाख्यस्य राजर्षेरिदम्।.....प्र सेनानीश्चतुर्विंशतिर्दैवोदासिः प्रतर्दन इति। (ऋ० ९.९६ सा०भाष्य)

११५. प्रथ वासिष्ठ (५९९) — मन्त्रद्रष्टा ऋषिके रूपमें प्रथ वासिष्ठ अधिक प्रथित नहीं हैं। ऋग्वेदके दशम मण्डलके १८१वें सूक्तके प्रथम मन्त्रका ऋषित्व-पद इन्हें प्राप्त है — प्रथ इति तृचं त्रिंशं सूक्तं वैश्वदेवं त्रैष्टुभम् वासिष्ठः प्रथसंज्ञ ऋषिः प्रथमायाः। ....तथा चानुक्रान्तम्। प्रथश्चैकर्चा प्रथो वासिष्ठः......। (ऋ० १०.१८१ सा०भाष्य)।

११६. प्रभूवसु आंगिरस (४९०) — प्रभूवसु आंगिरसका ऋग्वेदके पंचम मण्डल तथा नवम मण्डलके अन्तर्गत ऋषित्व उल्लिखित है। ऋग्वेदके नवम मण्डलके ३५-३६ सूक्तके द्रष्टा होनेके सम्बन्धमें आचार्य सायणने लिखा है कि 'आ न' इत्यादि षड् ऋचाओंके मन्त्रद्रष्टा ऋषि आंगिरस प्रभूवसु हैं — 'आ न इतिषड्ढचं एकादशं सूक्तं आंगिरसस्य प्रभूवसोः आर्षं गायत्रं पवमानसोमदेवताकम्। (ऋ० ९.३५ सा०भाष्य)।

११७. प्रयोग भार्गव (१३, १८, १९, २१, १०७) — प्रयोग भार्गव ऋषिका नाम ऋग्वेदके एक सूक्त (८.१०२)-के प्रथम ऋषिके रूपमें उल्लिखित है, जबकि उस मंत्रके द्रष्टा ऋषिके रूपमें अन्य चार विकल्प और भी बताए गए हैं — .....भृगु गोत्रः प्रयोगो नामर्षिः। ....त्वमग्ने द्व्यधिका भार्गवः प्रयोगो बार्हस्पत्यो वाग्निः ...। (ऋ० ८.१०२ सा०भाष्य)।

११८. प्रस्कण्व काण्व (३१, ४०, ५०, ९६, १७८, २२१ आदि) — अनुक्रमणीके अनुसार प्रस्कण्व काण्व ऋग्वेदके प्रथम मण्डलके ४४ से ५० सूक्तोंके द्रष्टा सिद्ध होते हैं — अत्रानुक्रमणिका। अग्ने षळूना प्रस्कण्वः काण्व आग्नेयं तु प्रगाथमाद्यो.....। कण्व पुत्रः प्रस्कण्व ऋषिः। (ऋ० १.४४ सा०भाष्य)

११९. बन्धु (४४८) — अनुक्रमणीकारने ऋ० ५.२४ के दो मंत्रोंके लिये चार ऋषियोंका ऋषित्व स्वीकार किया है। साथ ही यह भी कहा है कि यहाँ चार द्विपदा ऋचाएँ हैं तथा एक-एक ऋचाके ऋषि क्रमशः बन्धु, सुबन्धु आदि होंगे। इसी कारण इन ऋषियोंको 'एकर्चाः' कहा गया है। ऋग्वेदमें वह प्रसंग इस प्रकार विवेचित है — ....बंधुः सुबन्धुः श्रुतबन्धुर्विप्रबन्धुश्चैकर्चा द्वैपदमिति......। (ऋ० ५.२४ सा०भाष्य)।

१२०. बालखिल्य (वालखिल्य) (२३५, २८२, ३००) — पुराणोंमें बालखिल्य ऋषियोंकी संख्या ६० हज़ार मानी गयी है तथा इन्हें ब्रह्माके रोमसे उत्पन्न माना गया है। इन ऋषियोंका आकार बहुत ही छोटा है। प्रत्येक ऋषिकी ऊँचाई मात्र अँगूठेके बराबर मानी गई। इन्हें बालखिल्य (ऋग्वेद) सूक्तोंका द्रष्टा कहा गया है।

१२१. बार्हस्पत्य गृहपति (९५२) — गृहपति शब्द व्यक्तिवाची होनेके साथ साथ अधिकारका भी बोध कराता है। गृहपतिको बृहस्पतिका वंशज होनेके कारण बार्हस्पत्य भी कहा जाता है। सामवेद ९५२ में इनका ऋषिके रूपमें उल्लेख किया गया है।

१२२. बिन्दु अथवा पूतदक्ष आंगिरस (१४९, १७४) — बिन्दु आंगिरस अथवा पूतदक्ष आंगिरसको ऋ० ८.९४ का ऋषित्व प्राप्त है। इस पूरे सूक्तमें बिन्दुका नाम तो कहीं नहीं मिलता है, ऋ० ९.३० में बिन्दुका ऋषित्व अवश्य मिलता है — प्रधाराः इति षड्ऋचं षष्ठं सूक्तं बिन्दुनाम्न आंगिरस्यार्षं........प्रधारा बिन्दु' इत्यनुक्रमणिका। (ऋ० ९.३० सा०भाष्य)।

पूतदक्षके सम्बन्धमें इतना जानना ही पर्याप्त है कि वहाँ (८.९४.१०) 'पूतदक्षसः' शब्द प्रयुक्त हुआ है, परन्तु यह शब्द 'पूतदक्ष' न होकर 'पूतदक्षस्' का द्वितीया बहुवचनान्त रूप है, जिसे सायणने ऋषिवाचक नहीं माना है। आचार्य सायणने लिखा है — 'पूतदक्षसः परिशुद्धबलान्......।'

१२३. बुध गविष्ठिर आत्रेय (७३) — आत्रेय बुध और गविष्ठिरका ऋषित्व ऋग्वेदके पंचम मण्डलके प्रथम सूक्तका है। उन दोनों ऋषियोंको, इस मण्डलमें गोत्र नाम अनुल्लिखित होनेके कारण 'आत्रेय' मान लिया

गया है – अत्रेयमनुक्रमणिका अबोधि द्वादश बुधगविष्ठिरो' इति। पंचमे मण्डलेऽनुक्तगोत्रम् आत्रेयं विद्याद् इति परिभाषितत्वाद् आत्रेयौ। (ऋ० ५.१ सा०भाष्य) ऋग्वेद ५.१.१२ में केवल गविष्ठिरका ही नाम मिलता है।

१२४. बृहद्दिव आथर्वण (१४८३-८४-८५) – अथर्वन् गोत्रोत्पन्न बृहद्दिवको दशम मण्डलके मंत्रोंका द्रष्टा कहा गया है – एवा महान्बृहद्दिवो अथर्वावोचत्स्वां......। (ऋ० १०.१२०.९ सा०भाष्य) इसका भाष्य करते हुए आचार्य सायणने लिखा है – अथर्वणः पुत्रो बृहद्दिवाख्य ऋषिर्देवेषु.....। (ऋ० ९ १०.१२०.९ सा०भाष्य) शांखायन आरण्यक (१५.१)-के अनुसार बृहद्दिवको सुमन्युका शिष्य बताया गया है।

१२५. बृहदुक्थ वामदेव्य (६५, ३२५) – वामदेवका पुत्र होनेके कारण इन्हें वामदेव्य कहा जाता है। वामदेव स्वयं वाम्निके वंशज थे। इन्हें याज्ञिक पुरोहितके रूपमें भी वेदोंमें निरूपित किया गया है – बृहदुक्थो बृहत्स्तोत्रा (ऋ० ५.१९.३ सा०भाष्य)।

बृहदुक्थ वामदेव्यको मंत्रद्रष्टाके रूपमें वेदोंमें सुस्पष्ट रूपेण उल्लिखित किया गया है – ब्रह्मकृतो बृहदुक्थादवाचि (ऋ० १०.५४.६)। इसका भाष्य इस प्रकार है – ब्रह्मकृतो मंत्रकृतो बृहदुक्थात् प्रभूतशस्त्रयुक्ता-देतन्नामकादृषेत्तोऽवाचि। (ऋ० १०.५६.६)।

१२६. बृहन्मति आंगिरस (४८८) – ऋग्वेदके नवम मण्डलान्तर्गत ३९-४०वें सूक्तके मन्त्रद्रष्टाके रूपमें बृहस्पति आंगिरसका उल्लेख प्राप्त होता है। आचार्य सायणने ३९वें सूक्तके प्रारम्भमें लिखा है – आशुरर्षेति षड्‌ऋचं पंचदशं सूक्तम् आंगिरससस्य बृहन्मतेरार्षं गायत्रं पवमानसोमदेवताकम्। आशुरर्ष बृहन्मतिरित्यनुक्रान्तम्। (ऋ० ९.३९ सा० भाष्य)।

इसके अतिरिक्त आपको साममन्त्र ४८८, ८९८, ९२४-२६ का ऋषित्व भी प्राप्त है।

१२७. बृहस्पति (३२१) – बृहस्पतिको मंत्रोंका द्रष्टा कहा गया है। ऋग्वेदके दशम मण्डलके ७१ तथा ७२वें सूक्तका ऋषित्व इन्हें प्राप्त है, जैसा कि आचार्य सायणने लिखा है – बृहस्पत इत्येकादशर्चं तृतीयं

सूक्तं। आंगिरसस्य बृहस्पतेरार्षम्। (ऋ० १०.७१ सा०भाष्य)।

१२८. ब्रह्मातिथि काण्व (२१९) — ब्रह्मातिथि कण्वगोत्रीय ऋषि हैं। अतएव इनके नामके आगे काण्व भी लगाया जता है। ऋग्वेद ८.५ सूक्तके ऋषिके रूपमें इनका वर्णन प्राप्त होता है। सामवेदमें मात्र एक स्थलपर ही इनका ऋषित्व संप्राप्य है — .... पञ्चमं सूक्तं कण्वगोत्रस्य बृहस्पतेरार्षं....दूरादेकान्न चत्वारिंशद् ब्रह्मातिथिराश्विनम्......। (ऋ० ८.५ सा०भाष्य)

१२९. भरद्वाज बार्हस्पत्य (१,२,४,७,९,२२,२५ आदि) —ऋग्वेदके षष्ठ मण्डल तथा सामवेदके कई मन्त्रोंके द्रष्टाके रूपमें इनका नाम प्रख्यात है। इन्हें बृहस्पतिका पुत्र तथा आंगिरसका पौत्र कहा गया है। इन ऋषियोंका एक समूह है, जिसमें अनेक ऋषियोंकी समष्टि समाहित है। धन-धान्य सम्पन्न होनेके कारण इन्हें भारद्वाज कहा जाता है — भरद्वाजस्य वाजभृद्वाजकर्मीयं वा। (आर्षेय ब्राह्मण १.२.१.२.२)। भरद्वाज दिवोदासके पुरोहित थे। इन्होंने प्रतर्दनको अपना राज्य दे दिया था।

१३०. भर्ग प्रागाथ (३६, ४६, २४०, २५३, २७४, २९०) — बृहती ककुभ तथा सतोबृहती छन्दोंका सामूहिक नाम प्रगाथ है। सामवेदमें इसकी बहुलता है। इन छन्दोंकी रचना करनेवाले ऋग्वेदीय अष्टम मण्डलके ऋषि भी प्रगाथ कहे जाते हैं। भर्ग प्रागाथ प्रागाथ-परम्पराके ऋषि हैं। प्रथमं सूक्तम् प्रगाथ पुत्रस्य भर्गस्यार्षमाग्नेयं....अग्न आ विंशतिर्भर्गः प्रागाथ आग्नेयं प्रागाथं त्विति। (ऋ० ८.६० सा०भाष्य)।

१३१. भार्गव (५०७, ५५४-५६) — भृगुवंशीय ऋषियोंको भार्गव कहा जाता है। च्यवन और गृत्समद आदि आचार्योंको भी इसी वंश-परम्पराका माना जाता है। यह नाम भी सामूहिक है। मंत्रद्रष्टाके रूपमें इनका नामोल्लेख करते हुए आचार्य सायणने लिखा है — भार्गवस्य कवेरार्षम्.....। (ऋ० ९.७५ सा०भाष्य)।

१३२. भुवन आप्त्य साधन (४५२) — भृगुके पुत्रोंका वर्णन प्राप्त होता है। भुवन इन्हीं १२ पुत्रोंमेंसे एक है। भृगु देवोंमें भुवनने विशेष ख्याति अर्जित की। तीन ऋषियोंके समूहको आप्त्य कहा जाता है — ततः आप्त्याः

संबभूवुस्त्रितो द्वितः एकतः। (शत०ब्रा० १.२.३.१) भृगु-पुत्रोंमें भुवन प्रमुख हैं। 'भुवन आप्त्यसाधन' ऋषियोंका एक समूह है। मंत्रद्रष्टाके रूपमें इनका प्रायः उल्लेख मिलता है – पंचर्चं षष्ठं सूक्तमप्त्यपुत्रस्य भुवनस्यार्षं भुवनपुत्रस्य साधनसंज्ञस्य......। (ऋ० १०.१५७ सा०भाष्य)।

१३३. भृगु वारुणि (४६९, ४८०, ४९८, ५०३) – ये वरुणके पुत्र कहे गए हैं – भृगुर्ह वै वारुणिः। वरुणं पितरं विद्यायातिमेने.....। (शत०ब्रा० ११.६.१.१) अतएव वारुणि इनका पैतृक नाम है। इनके मंत्रद्रष्टा होनेके सन्दर्भमें आचार्य सायण लिखते हैं – वरुणपुत्रस्य भृगोरार्षम्.......। (ऋ० ९.६५ सा०भाष्य)।

१३४. भौवन (विश्वकर्मा) (१५८१) – भुवनके वंशजको भौवन कहते हैं। विश्वकर्मन्का पैतृक नाम भी भौवन है। विश्वकर्मा ह भौवनः। भौवनः भुवनस्य पुत्रः विश्वकर्मा एतन्नामकर्षिः। (निरुक्त १०.२६ दुर्गवृत्ति) विश्वकर्मन्भौवनमन्द आसिथ.....। (शत०ब्राह्मण १३.७.१.१५) सायणने भी इनके सम्बन्धमें लिखा है – त्रयोदशं सूक्तं भुवनपुत्रस्य विश्वकर्मण आर्षम्। (ऋ० १०.८१ सा०भाष्य)।

१३५. मधुच्छन्दा वैश्वामित्र (१४, १२९, १३०, १६०, १६४ आदि) – मधुच्छन्दाकी गणना प्रमुख ऋषियोंमें की गई है। ऋग्वेदके प्रथम मण्डलके दस सूक्त इन्हींके द्वारा दृष्ट बताए गए हैं – अग्निं नव मधुच्छन्दा वैश्वामित्र इत्यनुक्रमणिकायामुक्तत्वात्। विश्वामित्रपुत्रो मधुच्छन्दो नामकस्तस्य.....। (ऋ० १.१ सा०भाष्य) शतपथ ब्राह्मणमें इनके 'प्र उ ग' (प्रातः सवन सूक्त)-का उल्लेख किया गया है – प्रउगं माधुच्छन्दसं (शत०ब्रा० १३.५.१.८) प्रउगे कामो य उ च माधुच्छन्दसे तयो रुभयोः कामयोराप्त्यै क्लृप्तं प्रातः सवनम्। (शत०ब्रा० १३.५.१.८) मधुच्छन्दाको विश्वामित्रका पुत्र माना जाता है। विश्वामित्रकी १०१ सन्तानोंमें वह बीचकी सन्तान अर्थात् ५१वीं सन्तान थे।

१३६. मनु (९०, ५४८, ११०१-३) – मनुको प्रथम जन्मदाताके रूपमें स्थान प्राप्त है। वैदिक कथामें उन्हींके द्वारा सर्वप्रथम सृष्टि-प्रक्रियाका उल्लेख है। इनके पिताका नाम विवस्वत् है – यथा मनौ विवस्वति सोमं

शक्रा पिबः सुतं......। (ऋग्वेद ८।५२१) मनुर्वैवस्वतो राजेत्याह। तस्य मनुष्या विशः....(शत०ब्रा० १३.४.३.३). विवस्वतः पुत्रो मनुर्ऋषिः। (ऋ० ८.२७ सा०भाष्य)।

१३७. मनुराप्सव (५७१) – मनुराप्सव ऋग्वेद और सामवेदके ऋषि हैं। अप्सु-पुत्रके रूपमें ये प्रसिद्ध हैं – अप्सुनाम्नः पुत्रो मनुस्तृतीयस्य। ...मानवो मनुराप्सव इति। (ऋ० ९.१०६ सा०भाष्य)।

१३८. मनु वैवस्वत (४८) – विवस्वान् नाम आदित्यका है। विवस्वान्से ही मनुकी उत्पत्ति हुई थी। इस तथ्यका उल्लेख अनेक स्थलोंपर किया गया है – एवं देव्यावरं लब्ध्वा सुरथः क्षत्रियर्षभः। सूर्याज्जन्म समासाद्य सावर्णिर्भवितामनुः। (दुर्गासप्तशती, देवीमाहात्म्य अंतिम अंश) विवस्वान् मनवे प्राह....(गीता ४-१) कुछ लोगोंने मनुको विवस्वान्का शिष्य कहा है। ऋग्वेदमें इनकी संस्कृतिके रूपमें यम-यमीका उल्लेख है – वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा दुवस्य (ऋ० १०.१४.१) मनु वैवस्वतका ऋषित्व स्वीकार करते हुए आचार्य सायण लिखते हैं – मरीचि पुत्रः कश्यपो वैवस्वतो मनुर्वाऋषिः। (ऋ० ८.२९ सा०भाष्य)

१३९. मनु सांवरण (५४८) – संवरण नामक राजाके पुत्र होनेके कारण इनका उपर्युक्त नामकरण किया गया है। आचार्य सायणने इस तथ्यका उद्घाटन किया है। सामवेद तथा ऋग्वेदमें मनुसांवरणका ऋषित्व निरूपित किया गया है – चतुर्थस्य संवरणाख्यस्य राज्ञः पुत्रो मनुः.....नहुषो मानवो मनुः सांवरण इति.......। (ऋ० ९.१०१ सा०भाष्य)।

१४०. मन्यु वासिष्ठ (५४०) – इनका ऋषित्व अत्यल्प ही प्राप्त होता है। ऋग्वेदके केवल तीन मंत्रोंमें से एक मंत्र सामवेदमें संगृहीत हुआ है। मन्यु ऋषिका वर्णन ऋग्वेद नवम मण्डलके ९७वें सूक्तमें किया गया है, जहाँ वह मंत्रद्रष्टाके रूपमें वर्णित है – चतुर्थस्य मन्युः....एते सर्वे वसिष्ठगोत्राः। (ऋ० ९.९७ सा०भाष्य)।

१४१. मान्धाता यौवनाश्व (१०९०-९२) – सूर्यवंशी राजाओंमें युवनाश्वका नाम प्रख्यात है। महाराजा मान्धाता इन्हींके पुत्र थे। पुत्रेष्टि-यज्ञके फलस्वरूप इनकी उत्पत्ति हुई थी। इनकी गणना योगी राजाओंमें

होती थी। इनको ऋग्वेद, सामवेद और अथर्ववेदका मंत्रद्रष्टा ऋषि कहा गया है – युवनाश्वपुत्रस्य मान्धातुरार्षम्। ....उभे यन्मान्धाता यौवनाश्वौ......। (ऋ० १०.१३४ सा०भाष्य)

१४२. मेधातिथि काण्व (३, १६, ३२, १३९ आदि) – मेधातिथि काण्वको ऋग्वेदके प्रथम मण्डलके १२वें सूक्त तथा इसी मंडलके २३वें सूक्तका ऋषित्व-पद प्राप्त है। आचार्य सायणने इस तथ्यका उल्लेख करते हुए लिखा है – तत्र अग्निं दूतं इत्यादिकस्य द्वादशर्चस्य प्रथमसूक्तस्य कण्वपुत्रो मेधातिथिर्ऋषिः। (ऋ० १.१२ सा०भाष्य)। 'ऋषिश्चान्यस्मात्। (अनु० १२.२) इति परिभाषयानुवर्तनान्मेधातिथिः काण्वऋषिः। (ऋ० १.२३ सा०भाष्य) मेधातिथि काण्वको वैदिक साहित्यके अन्तर्गत विशेष ख्याति प्राप्त है। शताधिक सूक्तोंव मंत्रोंके आप मान्य ऋषि हैं।

१४३. मेधातिथि काण्व और प्रियमेध आंगिरस (१२३, १२४, १५६ आदि) – ऋग्वेदके अष्टम मण्डलके दूसरे सूक्तके १ से ४० मंत्रोंका साक्षात्कार मेधातिथि काण्व तथा प्रियमेध आंगिरस दोनोंने संयुक्त रूपसे किया हैं – 'तथा चानुक्रान्तम्-इदं वसो द्विचत्वारिशन्मेधातिथि-रांगिरसश्च प्रियमेधः ....मेधातिथिर्विभिंदोर्दानम्.......(ऋ० ८.२ सा०भा०)। अथर्ववेद २०.१८१में इस सूक्तके तीन मंत्र संगृहीत हैं, जिनके ऋषि मेधातिथि काण्व और प्रियमेध आंगिरस ही हैं।

१४४. मेध्यातिथि काण्व (२४९, २५०, २५१ आदि) – इनका नाम काण्ववंशीय ऋषि-परम्पराके अन्तर्गत निरूपित है – ....परमज्या मघस्य मेध्यातिथे। (ऋ० ८.१.३०) याज्ञिक कार्योंमे इन्हें सम्भवतः अतिथि-सत्कारका कार्य सौंपा जाता था। यही इनके नामकरणका कारण हैं। इनके समक्ष एक बार इन्द्र मेघ-रूपमें प्रकट हुए थे। सोम सवनके समय यह कथा प्रचलित है – ...काण्व मेध्यातिथं मेषो भूतोऽभियन्नयः। (ऋ० ८.२.४०) इसी मंत्रका भाष्य करते हुए आचार्य सायणने लिखा है – धीवन्तं स्तुतिमन्तं काण्वं कण्वपुत्रं मेध्यातिथिं....वज्रिवन्निद्र मेषोभूतो मेषरूपतां प्राप्तोऽभियन्नभिगच्छन्।

१४५. यजत आत्रेय (११४३-४५) — यजत आत्रेय ऋषिको ऋग्वेदके पञ्चम मण्डलके अन्तर्गत ६७-६८वें सूक्तका ऋषित्व-पद प्राप्त है। इसका उल्लेख वेदोंके प्रमुख भाष्यकार आचार्य सायणने अपने भाष्यमें किया है। — ......अत्रेयमनुक्रमणिका। बळित्था पंच यजत इति। यजतोनामात्रेय ऋषि। (ऋ० ५.६७ सा०भाष्य) इसके अतिरिक्त यजत आत्रेयको साममंत्र (११४३-४५, १४७१-७३ का ऋषित्व-पद भी प्राप्त है।

१४६. ययाति-नहुष (५४७) — 'नाहुष' नाम व्यक्तिवाचक माना जाता है। इस पदका अर्थ नहुष जनसे सम्बद्ध या नहुषोंका राजा है। ययाति नहुषके वंशज हैं। ययाति-नहुषको यज्ञकर्त्ता भी कहा गया है। मनुके पुत्रका नाम नहुष था तथा नहुषके पुत्रका नाम ययाति था, जैसा कि भाष्यकार आचार्य सायणने लिखा है — द्वितीयस्य नहुषस्य राज्ञः पुत्रो ययातिर्नाम। तृतीयस्य मनोः पुत्रो नहुषो नाम राजर्षिः....ययातिर्नाहुषो नहुषो मानवो.......। (ऋ० ९.१०१ सा०भाष्य)।

१४७. रेणु वैश्वामित्र (३३९, ५६०) — विश्वामित्रकी सन्ततिके कारण रेणुको वैश्वामित्र कहा गया है। विश्वामित्रकी अनेक सन्तानोंमें रेणुका प्रमुख स्थान था। अथ ह विश्वामित्रः पुत्रानामन्त्रयामास-मधुच्छन्दाः शृणोतन ऋषभो रेणुष्टकः। (ऐ०ब्रा० ३३.५)।

१४८. रेभ काश्यप (२५४, २६०, २६४, ३७०, ४६० आदि) — रेभको अश्विनोंका विशेष कृपापात्र कहा गया है। जिसकी अश्विनोंने समय समयपर अत्यधिक सहायता की थी। इनके ऋषित्वका प्रतिपादन कई प्रमाणोंसे हो जाता है — रेभमेतत्संज्ञमृषिम् (ऋ० १.११.५ सा०भाष्य) विप्रुतं रेभमुदनि प्रवृक्तम्। (ऋ० १.११६.२४) नरा वृषणा रेभमप्सु....। (ऋ० १.११७.४)।

कश्यपका वंशज होनेके कारण इन्हें काश्यप कहा जाता है।

१४९. रेभसूनू काश्यप (५५०, ५५१) — रेभके दो पुत्रोंका वर्णन है, जो कश्यपगोत्रीय हैं। सायणने रेभसूनू पदको संज्ञावाची माना है — कश्यपगोत्रौ रेभसूनू एतत्संज्ञौ द्वावृषी। (ऋ० ९-९९); ऋग्वेदके अनेक स्थलोंपर कुँएँमें फेंके गए रेभकी अश्विनीकुमारों-द्वारा रक्षाकी बात कही गई है। याभी रेभं निवृतं सितमद्भ्यः। (ऋ० १.११२.५) पुरा खलु

रेभमृषिं पाशैर्बद्ध्वासुराः कूपे.......प्रचिक्षिपुः। (ऋ० १.११६.२४ सा०भा०)।

१५०. लौपायन (४४८-५०) – लोप या लौप शब्द, वंश या कुलका वाचक माना जाता है। परन्तु कई विद्वानोंने इसका निषेध किया है। अनुक्रमर्णामें इस ऋषिका नाम स्मरण किया गया है – अग्ने त्वं गौपायना लौंपायना वा। (अनुक्रमर्णा) गोपायना लौंपायना वा। (ऋ० ५.२४ सा०भाष्य)।

१५१. वत्स काण्व (८, २०, १३७, १४३ आदि) – वत्सके वंशज या कण्वके पुत्रको वत्स काण्व कहा जाता है। ऋग्वेदमें अनका ऋषित्व सिद्ध है – स्तामैर्वत्सस्यवावृधे। (ऋ० ८।६.१) इसी सन्दभमें सायणने लिखा है – प्रथमं सूक्तं काण्वस्य वत्स्यार्षम् गायत्रम्। (ऋ० ८.६.१ सा०भा०) पुत्रः कण्वस्य वामृषिर्गीर्भिर्वत्सो अवीवृधत्। (ऋ० ८.८.८) युवं वत्सस्य गंतमवसे। (ऋ० ८.९.१) मेधातिथिसे विवाद होनेपर वत्सने अपने वंशकी पवित्रता सिद्ध की थी।

१५२. वत्सप्रि भालन्दन (७४, ७७, ५६३) – वात्सप्र नामक साम-मन्त्रोंका दर्शन करनेके कारण इन्हें वत्स-प्री कहा जाता है तथा भलन्दनका वंशज होनेके कारण इन्हें भालन्दन कहा जाता है। आचार्य सायणने इनके ऋषित्वको प्रमाणित करते हुए लिखा है – भलन्दनपुत्रस्य वत्सप्रेरार्षं....प्रदेवं दश वत्सप्रिर्भालन्दनस्त्रिष्टुबन्तं हेति।' (ऋ० ९.६८ सा०भाष्य)।

१५३. वसिष्ठ मैत्रावरुणि (२४, २६, ३८, ४५, ५५ आदि) – मैत्रावरुणको यज्ञोंका प्रणेता कहा गया है – प्रणेता ह वा एष होत्रकाणां यन्मैत्रावरुणः। (ऐत०ब्रा० ६.६)।

वसिष्ठकी गणना सप्तर्षियोंमें की गई है। वसिष्ठ मैत्रावरुणिको ब्रह्मज्ञाता और ब्रह्मलोकनिवासी कहा जाता है। वसिष्ठको मित्र और वरुणका पुत्र कहा जाता है। इन्हें अनेक सूक्तोंका द्रष्टा कहा गया है। (ऋग्वेद ७.१-३२ सूक्त, ३३, १-९.६७.१९-३२, सा० २४, २६, ३८, ४५ आदि)।

१५४. वसुकृत (३३४) – वसुकृत ऋषिका वर्णन सामवेद तथा ऋग्वेदमें

प्राप्त होता है। इन्हें वसुक्रका पुत्र कहा गया है – प्राजापत्य ऐन्द्रो वा विमद्रो वा वासुको वसुकृद्वर्षिः। (ऋ० १०.२५ सा०भाष्य) वसुक्र पुत्रो वसुक्रदाख्यो वा। (ऋ० १०.२०)।

१५५. वसुश्रुत आत्रेय (४१९, ४२५) – आत्रेय गोत्रका नाम है। आत्रेय गोत्रीय वसुश्रुत ऋषि सामवेदीय मंत्रोंके द्रष्टा कहे गए हैं – तृतीयं सूक्तमात्रेयस्य वसुश्रुतस्यार्षं त्रैष्टुभमाग्नेयं त्वमग्ने वसुश्रुत इत्यनुक्रान्तम्। (ऋ० ५.३ सा०भाष्य)।

१५६. वसूयव आत्रेय (८६) – वेदोंमें वसूयु नामवाले अनेक ऋषियोंका वर्णन प्राप्त होता है, जिन्हें इस मण्डलमें अनुक्त गोत्रीय होनेके कारण आत्रेय कहा जाता है – पंचमे मंडलेऽनुक्तगोत्रमात्रेयं विद्यात्। (ऋ० ५.१ सा०भाष्य)।

कुछ स्थलोंपर इन ऋषियोंको धनेच्छुक कहा गया है – वसूयवो-वसुकामा वयम् (ऋग्वेद ५.२५.९ सायण भाष्य) यजुर्वेदमें भी कुछ मंत्रोंके द्रष्टा इन्हें ही माना गया है।

१५७. वाच्य (५५३, ७७४, १३८६-८८) – वाणीका पुत्र होनेके कारण वाच्य कहा जाता है। इनका सम्बन्ध प्रजापतिके साथ भी जोड़ा जाता है। ऋग्वेद ३.३८ के सायण भाष्यमें वाच्यका उल्लेख हुआ है – अभितष्टेव दश प्रजापतिः स वैश्वामित्रो वाच्यो वा.....। विश्वामित्रपुत्रस्य वाक्पुत्रस्य वा प्रजापतेरार्षम्। (ऋ० ३.५४ सा०भाष्य)

१५८. वामदेव गौतम (१०, १२, २३, ३०, ६९ आदि)– ऋग्वेदके चतुर्थ मण्डलके ऋषिके रूपमें वामदेवका नाम आता है – चतुर्थं सूक्तं वामदेवस्यार्षम्......। (ऋ० ४.४ सा०भाष्य) गौतम ऋषिको वामदेवका पिता कहा गया है – मा पितुर्गोतमादन्वियाय (ऋ० ४४.११); वामदेवको जन्मके पूर्वसे ही ज्ञानी होना बताया गया है।

१५९. वासुक्र-वसुकृत् (३३४) – वसुक्रका वर्णन ऋग्वेदके साथ साथ अथर्ववेदमें भी हुआ है। वसुक्रके पुत्र होनेसे आपका नाम 'वासुक्र' अथवा वसुकृत् पड़ा – वसुक्रपुत्रो वसुकृदाख्यो वा ....वासुक्रो वसुकृद्वा.....। (ऋ० १०.२० सा०भाष्य)।

१६०. वार्षागिरा (५४९, ५५२, १२३८-४०) – वृषागिर नामक

राजाका पुत्र होनेके कारण इन्हें वार्षागिर कहा जाता है। सायणने सुस्पष्ट निर्देश दिया है – उक्थं वार्षागिरा अभि गृणंति राधः। (ऋ० १.१००.१७) वार्षागिरा वृषागिरो राज्ञः पुत्रा ऋजाश्वादयोऽभि गृणन्ति। आभिमुख्येन वदन्ति। (ऋ० १.१००.१७ सा०भाष्य)।

वार्षागिर शब्द अम्बरीष, ऋजाश्व, भयमान, सहदेव और सुराधस्का पैतृक नाम है। (ऋ० १.१००.१७)।

१६१. विभ्राट् सौर्य (६२८) – ऋग्वेदके १०.१७० सूक्तके देवता सूर्य हैं तथा इसके ऋषि विभ्राट् सौर्य हैं। सायणने इनके ऋषित्वपर प्रकाश डाला है – विभ्राट् विभ्राजमानो विशेषेण दीप्यमानः सूर्यो.....। विभ्राट् विभ्राजमानं.....ज्योतिः सौरं तेजो जज्ञे प्रादुर्भवति। (ऋ० १०.१७०.१-२); सामवेदमें इसी सूक्तके तीन मन्त्र संकलित हैं, जिनके ऋषि यही विभ्राट् सौर्य हैं।

१६२. विमद ऐन्द्र (४२०, ४२२) – विमदको ऋग्वेदीय मंत्रोंका द्रष्टा कहा गया है – नोधस्यगस्तये विमदे नभाके। (बृहद्देवता ३-१२८); विमद ऋषि-द्वारा दृष्ट ऋचाओंका पाठ बिना न्यूंखके (असुन्दर या साधारण ढंगसे) करना चाहिए – अन्यूंखया विराजो वैमदीश्च (ऐतरेय ब्राह्मण ६.४.३); विमदाख्येन महर्षिणा दृष्टा वैमद्यः। (ऐत०ब्रा० ६.४.३ सा०भाष्य)।

ऐन्द्रकी परम्परामें ही विमद ऐन्द्र नामक प्रख्यात ऋषि हुए। विमदको इन्द्र अथवा प्रजापतिका पुत्र माना गया है – एवा ते अग्ने विमदो मनीषाम् (ऋ० १०.२०.१०); यज्ञाय स्तीर्ण बर्हिषि वि वो मदे शीरम्। (ऋ० १०.२१.१)।

१६३. विरूप आंगिरस (२७) – विरूपकी गणना आंगिरसोंमें की जाती है। ऋग्वेदमें विरूपका वर्णन यत्र-तत्र प्राप्त होता है – प्रियमेधवदत्रिवज्जातवेदो विरूपवत्....। (ऋ० १.४५.३); वाचाविरूप नित्यया....। (ऋ० ८.७५.६); हे विरूप नानारूपैतन्नामक महर्षे....। (ऋ० ८.७५.६ सा०भाष्य)।

ऋग्वेदके अष्टम मण्डलके ४३ और ६४ सूक्त विरूप आंगिरस-द्वारा दृष्ट हैं।

१६४. विश्वमना वैयवश्व (१०३, १०४, १०६ आदि) – विश्वमनस्‌का पैतृक नाम वैयश्व है। इनका ऋषित्व निम्नांकित तथ्योंसे प्रकट हो जाता है – इळिष त्रिंशद्विश्वमना वैयश्व..... (ऋ० ८.२३ सा०भाष्य); ऋषे वैयश्व दम्यायाग्नये। (ऋ० ८.२३.२४) वैयश्व व्यश्वस्य पुत्र हे विश्वमनोनामकर्षे..... (ऋ०८.२४.२४ सा०भाष्य)।

१६५. विश्वामित्र गाथिन (५३, ६२,७६, ७९, ९८ आदि) – ऋग्वेद तृतीय मण्डलके द्रष्टा विश्वामित्र हैं – अस्य मण्डलद्रष्टा विश्वामित्र ऋषिः (सा०भाष्य)। इन्हें कुशिकका पुत्र कहा जाता है। मनीषावस्युरह्वे कुशिकस्य सूनुः (ऋ० ३.३३.५); इसी मंत्रके भाष्यमें आचार्य सायण कहते हैं – कुशिकस्य राजर्षेः सूनुर्विश्वामित्रोऽहम्। हे कुशिकाः कुशिकपुत्रा योऽहं विश्वामित्रः। (ऋ० ३.५३.१२ सा०भाष्य)। उनका यह नामकरण सम्भवतः उनके गुणोंके आधारपर हुआ है – विश्वस्य ह वै मित्रं विश्वामित्र आस विश्वं ह्यस्मै मित्रं भवति य एवं वेद (ऐत०ब्रा० २९.४)

शुनःशेपको विश्वामित्रने अपना दत्तक पुत्र बनाया और उसका नाम देवरात रखा। ऋग्वेदके ३.२४में विश्वामित्रको ही विश्वामित्र गाथिनके रूपमें उल्लिखित किया गया है – अग्ने सहस्व गायत्रामाद्यानुष्टुबिति। ऋषिर्गाथिनो विश्वामित्रः। (ऋ० ३.२४ सा०भाष्य)

१६६. वृषगण वासिष्ठ (५२४, १११६-१८) – वृषगण वासिष्ठका ऋषित्व ऋग्वेदके नवम मण्डलके ९७वें सूक्तके कतिपय मंत्रोंका है। आचार्य सायणने अपने भाष्यमें लिखा है – तृतीयस्य वृषगणः।....पृथग् वसिष्ठा इन्द्रप्रमतिर्वृषगणो.....। (ऋ० ९.९७ सा०भाष्य) इसके अतिरिक्त ७वें (स्तोतायमृषिर्वृषगणो नाम – सा०भा०) तथा ८वें मंत्र (हंसा इवचरन्तो वा वृषगणा एवन्नामका ऋषयो...... (सा०भाष्य)-के द्रष्टा ऋषि होनेका भी गौरव वृषगण वासिष्ठको प्राप्त है।

१६७. वेन भार्गव(३२०, ५६१, १८४६ आदि) – वेन भार्गवको ऋषित्व पद ऋग्वेदके ९.८५में प्राप्त होता है। आचार्य सायणने इस सूक्तकी टिप्पणी करते हुए लिखा है – इन्द्रायेति द्वादशर्चमष्टादशं सूक्तं

भृगुगोत्रस्यवेनस्यार्षं पवमान सोमदेवताकम्। .....इन्द्राय द्वादश वेनो भार्गवो द्विस्त्रिष्टुबंतमिति। (ऋ० ९.८५ सा०भाष्य)।

इसके अतिरिक्त वेन भार्गवका ऋषित्व ऋग्वेदके १०.१२३ सूक्तका भी प्राप्त होता है — अयं वेन इत्यष्टर्चमिकादशं सूक्तं भार्गवस्य वेनस्यार्षम् त्रैष्टुभम्। वेनो देवता। तथा चानुक्रान्तम्। अयं वेनो वैन्यमिति। (ऋ० १०.१२३ सा०भाष्य)।

१६८. शंयु बार्हस्पत्य (३५, ३७, ११५, ३५१) — ब्राह्मण ग्रन्थोंमें इनका आचार्यके रूपमें उल्लेख किया गया है — शंयुर्ह वै बार्हस्पत्यः सर्वान्। (कौशीतकि ब्राह्मण ३.९) शंयुर्हवा बार्हस्पत्योऽञ्जसा यज्ञस्य संस्था। (शत०ब्रा० १.९.१.२४)।

बृहस्पतिके पुत्रको शंयु कहा गया है। अतएव बार्हस्पत्य शब्द वंशवाचक है।

१६९. शक्ति वासिष्ठ (५८३) — वसिष्ठका उल्लेख मंत्रद्रष्टा ऋषिके रूपमें किया गया है। सप्तम मंडल वसिष्ठ-द्वारा दृष्ट है — सप्तमं मण्डलं वसिष्ठोऽपश्यदिति। (सा०भाष्य) वसिष्ठकी विश्वामित्रसे शत्रुता प्रसिद्ध है। शक्ति वसिष्ठके पुत्र थे, उनकी भी विश्वामित्रसे शत्रुता थी। विश्वामित्रने सुदासके परिचरों-द्वारा शक्तिका वध करा दिया था, षड्गुरु शिष्यने इसका विस्तृत वर्णन किया है। वसिष्ठके पुत्रहननका उल्लेख अनेक स्थानोंपर किया गया है — भवतो वसिष्ठो वा एते पुत्रहतः सामनी अपश्यत्....। (ताण्ड्य महाब्राह्मण १९.३.८) ऋग्वेद ७.३२ के भाष्यमें आचार्य सायणने लिखा है — मंडल द्रष्टा वसिष्ठ ऋषिः। इन्द्र क्रतुं नं इति प्रगाथस्यार्धर्चस्य च। वसिष्ठपुत्रः शक्तिर्वसिष्ठो वा।

१७०. शतं वैखानस (६२७) — वैखानस ऋषियोंका एक सामूहिक वर्ग है। ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें मुनिमरण नामक स्थानमें इनके मारे जानेका उल्लेख है। इनका वध रहस्यु देवमलिम्लुच्ने किया था। ये वैखानस इन्द्रके अतीव प्रिय थे — वैखानस वा ऋषय इन्द्रस्य प्रिया आसं स्तान रहस्युर्वेदमलिम्लुङ्मुनि मरणेऽमारयत्। (ता०महा०ब्रा० १४.४.७) वैखानस पुरुहन्मन्। (पं०ब्रा० १४.९.२९) 'शतं' पद संख्यावाची विशेषण है, जो उनके समूह की अधिक संख्याको सूचित करता है।

जैसा कि आचार्य सायणने लिखा है — शतसंख्याका वैखानसाख्याः संहता ऋषयः। (ऋ० ९.६६)।

१७१. शाकपूत (३५३) — सामवेद ३५३ के ऋषि शाकपूत हैं, वेदोंमें यही एक ऐसा स्थल है जहाँ इनका उल्लेख किया गया है।

१७२. शास भारद्वाज (१८६७-६८) — शास पद विशेषणके रूपमें प्रयुक्त हुआ है। इसका आशय तीक्ष्ण या कठोरसे है। शतपथ ब्राह्मणमें इसी आशय को अभिव्यक्त किया है — वज्रः शासः (शत०ब्रा० ३.८.१.५) असिं वै शास इत्याचक्षते (शत०ब्रा० ३.८.१.४) भरद्वाज-वंशीय अनेक आचार्योंको भारद्वाज कहा जाता है। भारद्वाजोंका सम्बन्ध काण्व, पाराशर्य, कौशिक, आत्रेय आदि ऋषियोंके साथ जोड़ा गया है। भारद्वाजोंने उपर्युक्त ऋषियोंसे शिष्यत्व ग्रहण किया था। पुराणोंमे भारद्वाजको अंगिरस गोत्रोत्पन्न माना गया है। इन्हें सप्तर्षियोंमें प्रमुख माना गया है। इनका ऋषित्व सायणाचार्यकि इस कथनसे सिद्ध होता है— प्रथमं सूक्तं शासनाम्न आर्षम्। (ऋ० १०.१५२)

१७३. शुनः शेप आजीगर्ति (देवरात) (१५, १७, २८, १५३ आदि)— शुनः शेपको ऐतरेय आरण्यकमें विस्तारके साथ निरूपित किया गया है। आजीगर्ति वंशवाची पद है, जो सम्भवतः ऋचीक ऋषिकी सन्तान होनेके कारण पड़ा। जलोदर रोगग्रस्त हरिश्चन्द्रके पुत्र रोहितने उन्हें बलि-रूपमें क्रय किया था, परन्तु बलिके निमित्त यूप-बद्ध शुनःशेपने वरुण मंत्रोंसे, वरुण देवकी आराधना की तथा मुक्त हो गए। कालान्तरमें शुनः शेप ही विश्वामित्रके दत्तक पुत्र देवरातके रूपमें प्रख्यात हुए।

१७४. श्यावाश्व आत्रेय (६३, १४१, ३५६, ४७७) — श्यावाश्व अनेक सूक्तोंके द्रष्टा कहे गए हैं — श्यावाश्वस्य रेभतस्तथा शृणु यथा....। (ऋ० ८.३७.७) श्यावाश्वस्य सुन्वतोऽत्रीणां शृणुतं हवम्.....। (ऋ० ८.३८.८)। इनके आश्रयदाताके रूपमें पुरुमीढ, रथवीति आदिका नाम आता है। श्यावाश्वका वैददश्विसे दान ग्रहण करनेका उल्लेख भी प्राप्त होता है। इनके पिता (पालक)-के रूपमें अर्चनानस् तथा अत्रि ऋषिका नाम आता है। इसीलिये इन्हें आर्चनानस और आत्रेय संज्ञा भी प्राप्त है।

१७५. श्रुतकक्ष (११६, ११८, ११९, १२८, १४० आदि) — वैदिक ऋषियोंमें श्रुतकक्षका महत्त्वपूर्ण स्थान है — अरमश्वाय गायति श्रुतकक्षो अरं गवे। (ऋ० ८.१२.२५) साम-मंत्रोंके द्रष्टाके रूपमें श्रुतकक्ष विशेष रूपसे प्रतिष्ठित हैं — सुतमिति श्रौतकक्षं क्षत्रसाम् प्रक्षत्रमेवैतेन भवति। (ताण्ड्य महाब्राह्मण ९.२.७)। इनके ऋषित्वको प्रमाणित करते हुए आचार्य सायणने लिखा है — द्वादशं सूक्तमाङ्गिरसस्य श्रुतकक्षस्य सुकक्षस्य वार्षमैन्द्रम्। (ऋ० ८.९२)।

१७६. श्रुतबन्धु (४४९, ११०६-७) — ऋषि चतुष्टय (बन्धु, सुबन्धु, श्रुतबन्धु तथा विप्रबन्धु)-के अन्तर्गत श्रुतबन्धुका मुख्य स्थान है — अग्ने त्वं...... बन्धुः सुबन्धुः श्रुतबन्धुर्विप्रबन्धुश्च। (ऋ० ५.२४ सा०भाष्य)

१७७. श्रुष्टिगु काण्व (३००) — श्रुष्टिगु काण्वका नाम ऋषियोंके बीच अधिक प्रसिद्धि नहीं पा सका है। ऋग्वेदका ८.५१वाँ सूक्त, जो वालखिल्य सूक्तके अन्तर्गत आता है, उसके सातवें मन्त्रके द्रष्टाके रूपमें उल्लिखित हुआ है। यही मन्त्र सामवेदके ३०० क्रमांकपर संगृहीत है जिसके ऋषिके रूपमें सातवलेकरजीने श्रुष्टिगु काण्वका नामोल्लेख किया है; जबकि अजमेर वैदिक यन्त्रालयसे मुद्रित सामवेदमें वालखिल्य नाम ही दिया गया है।

१७८. संवर्त आंगिरस (४४३, ४५१) — ये अंगिरस्के वंशज थे। संवर्त आंगिरसने मरुतोंका अभिषेक किया था। इनकी प्रतिष्ठा यज्ञकर्त्ताके रूपमें भी है। संवर्त, अंगिरसके कनिष्ठ पुत्र थे। संवर्तकी गणना त्यागी और विरक्त ऋषियोंमें की जाती है। मरुतोंके यज्ञ-सम्पादनमें संवर्त ऋषिकी महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। यथा — विशं सूक्तमाङ्गिरसस्य संवर्तस्यार्षम्। (ऋ० १०.१७२ सा०भाष्य)।

१७९. सत्यधृति वारुणि (१९२) — सत्यधृति वरुणके पुत्र हैं। इनकी ऋचाएँ अधिकांशतः गायत्री और आदित्य देवताओंकी स्तुतिके निमित्त प्रयुक्त हुई हैं — महीति तृचं चतुस्त्रिंशं वरुणपुत्रस्य सत्यधृतेरार्षं गायत्रमादित्यदेवताकम्।.....महि सत्यधृतिर्वारुणिरादित्यं स्वस्त्ययनं गायत्रं वा इति......(ऋग्वेद १०.१८५ सा०भाष्य)।

१८०. सत्यश्रवा आत्रेय (४२१) – सत्यश्रवाका विवेचन ऋग्वेद और सामवेदमें उपलब्ध होता है। उषा और अश्विन् देवोंके निमित्त स्तोत्र सत्यश्रवा-द्वारा ही दृष्ट हैं। सत्यश्रवाको आत्रेयसे सम्बद्ध माना गया है– महेनो अद्येति दशर्चं सप्तमं सूक्तमात्रेयस्य आर्षं पांक्तमुषस्यं। (ऋ० ५.७९ सा०भाष्य)। कुछ स्थलोंपर इन्हें वय्यपुत्र भी कहा गया है – हे तादृशि देवि वाय्ये वय्यपुत्रे सत्यश्रवसि मय्यनुगृहाणेत्यर्थः। (ऋग्वेद ५.७९.१ सा०भाष्य)। सत्यश्रवसि वाय्ये सुजाते अश्व सुनृते। (ऋ० ५.७९.२)।

१८१. सप्तगु आंगिरस (३१७) – सप्तगु मन्त्रद्रष्टाके रूपमें प्रसिद्ध है – प्र सप्तगुमृतधीतिं सुमेधाम्। (ऋ० १०.४७.६) इस मंत्रका व्याख्यान करते हुए सायणने सप्तगुको आंगिरस गोत्रोत्पन्न माना है – यः सप्तगुरांगिरसोंऽगिरो गोत्रोत्पन्नोऽहं नमसा नमस्कारेण देवानुपसद्यः। (ऋ० १०.४७.६ सा०भाष्य)।

१८२. सप्तर्षि (५११-५२२) – वैदिक साहित्यमें (ऋ० ९.६७ सा०भाष्य) भरद्वाज, कश्यप, मारीच, गौतमराहूगण, अत्रिभौम, विश्वामित्र गाथिन, जमदग्नि भार्गव और वसिष्ठ इन सात ऋषियों का सामूहिक नाम सप्तर्षि है – सप्तर्षीनु ह स्म वै पुरक्षि इत्याचक्षते। (शत०ब्रा० २.१.२.४) महाभारतमें ब्राह्मण ग्रन्थोंके ऋषियोंसे भिन्न सूची दी गई है, जो निम्न प्रकारसे है – मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलह, क्रतु, पुलस्त्य और वसिष्ठ। आचार्य सायणने सप्तर्षियोंके ऋषित्वका उल्लेख इस प्रकार किया है – भरद्वाजकश्यपाद्याः सप्तर्षयः (ऋ० ९.१०७)।

१८३. सव्य आंगिरस (३७३, ३७६, ३७७) – ऋग्वेदमें एक आख्यान विवेचित है जो इनकी उत्पत्तिसे सम्बन्धित है। अंगिरा ऋषिने पुत्रकी कामनासे देवताओंकी उपासना की। उनके सव्य नामक पुत्रके रूपमें इन्द्रने स्वयं जन्म लिया था, जो स्वयं अनुपम था – अंगिरा इन्द्रसदृशं पुत्रमात्मनः कामयमानो देवता उपासनां चक्रे। तस्य सव्याख्येन पुत्ररूपेणेन्द्र एव स्वयं जज्ञे जगति मत्तुल्यः कश्चिन्मा भूदिति। स सव्य आंगिरसोऽस्य सूक्तस्य ऋषिः। (ऋग्वेद १.५१ सा०भाष्य)।

१८४. साधन भौवन (४५२) — भुवनके पुत्रको भौवन कहा गया है। भौवनने समुद्र-पर्यन्त पृथ्वीपर विजय प्राप्त की थी — कश्यपो विश्वकर्माणं भौवनमभिसिषेच तस्मादु विश्वकर्मा भौवनः...। (ऐत०ब्रा० ३९.७) साधन भौवन इसी परम्पराके ऋषि थे जिसका उल्लेख आचार्य सायणने इस प्रकार किया है — इमा नु कमिति....भुवनं आप्त्य साधनो वा भौवनो वैश्वदेवम्..... (ऋ० १०.१५७)।

१८५. सार्पराज्ञी (६३०-६३२) — सार्पराज्ञी सूक्त द्रष्ट ऋषिकाके रूपमें प्रख्यात है। इनके ऋषित्वका प्रतिपादन करते हुए आचार्य सायण लिखते हैं — आयं गौरिति तृचमष्टात्रिंशं सूक्तं सार्पराज्ञा नामर्षिका। (ऋ० १०.१८९)। इनकी ऋचाओंसे स्तुति की जाती है — सार्पराज्ञा ऋग्भिः स्तुवन्ति। (ताण्ड्य महाब्राह्मण ९.८.७)।

१८६. सिकता-निवावरी (५५७, ५५९, ८२१ आदि) — सिकता तथा निवावरी — इन दोनों ऋषिगणोंका अल्प ऋषित्व अर्थात् कुछ सूक्तों और मंत्रोंका ही ऋषित्व प्राप्त है। ऋग्वेद (९.८६)-में इन दोनोंके ऋषित्वको पुष्ट करते हुए आचार्य सायणने अपने भाष्यमें लिखा है — ....द्वितीयस्य दशर्चस्य सिकता इति नीवावरी इति द्विनामान ऋषिगणाः। .....प्रथमे सिकता निवावरी द्वितीये पृश्नयोऽजाः.....। (ऋ० ९.८६ सा०भाष्य)।

१८७. सिन्धुद्वीप आम्बरीष (३३) — ऋग्वेदीय ऋषियोंमें अम्बरीषका उल्लेख किया गया है। सिन्धुद्वीपके कुलोत्पन्न होनेके कारण उन्हें आम्बरीष कहा जाता है। इनके विकल्प-रूपमें त्वष्टा पुत्र त्रिशिराका भी नाम लिया गया है — अम्बरीषस्य राज्ञः पुत्रः सिन्धुद्वीप....हि सिन्धु द्वीपो वाम्बरीष आर्षं गायत्रम्।(ऋग्वेद १०.९ सा०भाष्य)।

१८८. सुकक्ष (१२५) — ऋग्वेदमें कहीं तो सामूहिक रूपसे और कहीं स्वतंत्र रूपसे इन्हें ऋषि-वर्गमें परिगणित किया गया है।

तथानुक्रम्यते। पांतं त्रयस्त्रिंशच्छुतकक्षः सुकक्षो वा। (ऋ० ८.९२ सा०भाष्य) त्रयोदशं सूक्तं सुकक्षस्यार्षं गायत्रमैन्द्रं।.... चतुस्त्रिंशत्सुकक्षो-ऽन्त्यैन्द्राभवीति। (ऋ० ८.९३ सा०भाष्य)।

१८९. सुकक्ष आंगिरस (१२२२-२४) — अंगिरस् गोत्रमें उत्पन्न होनेसे

इन्हें सुकक्ष आंगिरसकी संज्ञा प्राप्त है। इनका उल्लेख प्रायः श्रुतकक्षके साथ भी होता रहा है। साम तथा ऋक् मन्त्रोंके द्रष्टाके रूपमें इनका नाम उल्लिखित हुआ है – पान्तमा व इति......द्वादशं सूक्तमांगिरसस्य श्रुतकक्षस्य सुकक्षस्य वार्षमैन्द्रम्। (ऋ० ९.९२ सा०भाष्य)।

१९०. सुतम्भर आत्रेय (९०७-९) – अनुक्रमणीके अनुसार सुतम्भर ऋ० ५.११-१४के द्रष्टा ऋषि हैं; किन्तु इन सूक्तोंमें यह शब्द नहीं आता। ऋ० ५.४४.१३में विशेषण (सोमभरण करनेवाला)-के रूपमें यह शब्द आया है। ऋग्वेद ९.६.६में यह व्यक्तिपरक नाम हो सकता है। (यदि सुतं भरायके स्थानपर 'सुतं भर' पाठ माना जाय, जैसा कि राथने वोर्टेरबूखमें लिया है)। सुतम्भरको ऋग्वेद ५.११ का ऋषित्व निश्चित रूपसे प्राप्त है। जनस्य गोपा इति षड्चमेकादशं सूक्तमात्रेयस्य सुतंभरस्यार्षं जागतमाग्नेयम्। (ऋग्वेद ५.११ सा०भाष्य)।

१९१. सुदास पैजवन (१८०१-३) – सुदासको पिजवनका पुत्र कहा जाता है, इसलिये वंशवाचक पैजवन पदका प्रयोग किया गया है – पैजवनः पिजवनस्य पुत्रः। (निरुक्त २.७.२४)। विश्वामित्र सुदास पैजवनके पुरोहित थे – विश्वामित्र ऋषिः सुदासः पुरोहितो बभूव। (निरुक्त २.७.२४) सुदासको तृत्सुओंका अधिपति कहा गया है। सुदासने उनके राजाओंको परास्त किया था। सुदासको शोभनदानी भी कहा गया है – सुदासे कल्याणदानाय यजमानाय लोकं कर्त्ता च भवति। (ऋग्वेद ७.२०.२ सा०भाष्य) सुदासे शोभनदानाय मह्यं सन्तु। (ऋग्वेद ७.२५.३ सा०भाष्य)। इनके ऋषित्वका प्रतिपादन ऋ० सा०भाष्यमें उपलब्ध है, जो इस प्रकार है – पञ्चमं सूक्तं पिजवनपुत्रस्य सुदास आर्षमैन्द्रम्। (ऋ० १०.१३३)।

१९२. सुदीति पुरुमीळ्ह आंगिरस (६, ४९, १५५४-५५) – प्राचीन ऋषियोंमें पुरुमीळ्हकी गणना की जाती है – यद्ध त्यद्वां पुरुमीळ्हस्य सोमिनः। (ऋ० १.१५१.२) युवां गोतमः पुरुमीळ्हो अत्रिर्दस्रा....। (ऋ० १.१८३.५) सुदीति इसी परम्पराके ऋषि थे। सुदीति पुरुमीळ्हावृषी तयोरन्यतरो वा। (ऋ० ८.७१ सा०भाष्य) सुदीतिको वैदिक ऋषिके रूपमें प्रतिष्ठा प्राप्त है – नरोऽग्निं सुदीतये छर्दिः। (ऋ० ८.७१.१४)

इनको आंगिरस गोत्रोत्पन्न माना जाता है, वैदिक सूक्तोंके साथ इन्हें विशेषरूपसे सम्बद्ध माना जाता है।

१९३. सुपर्ण (१८४३-४५) — वैदिक संहितामे सुपर्णको ऋषि माना गया है, जैसा कि आचार्य सायणने लिखा है — तार्क्ष्यपुत्रस्य सुपर्णस्यार्षम् ....(ऋ० १०.१४४ सा०भा०)। सुपर्णकी मध्यम स्थानीय देवके रूपमें भी बतलाया गया है। — .....सुपर्णोऽथ पुरूरवाः । (बृहद्देवता १.१२४)। वेदोंमें सुपर्णको सूर्यका विशेषण भी माना गया है।

१९४. सुबन्धु (४४८) — सायणने सुबन्धुको व्यक्तिवाचक पद माना है— एवमुक्ता सुबंधु बंध्वादयो ब्रुवते। (ऋ० १०.५९.८ सा०भा०) यमादहं वैवस्वतात्सुबन्धोर्मन आभरम्। (ऋ० १०.६०.१०)।

सुबन्धु और उनके भ्राता गौपायनोंको असमातिका पुरोहित माना गया है। ऋग्वेद १०.५७-५९ सूक्त-तक सुबन्धुका आख्यान विवेचित है। बृहद्देवताका सुबन्धुके विषयमें उल्लेख उपर्युक्त प्रसंगको ही पुष्ट करता है — मायाबलाच्च योगाच्च सुबन्धुमभिपेयतुः। (बृहद्देवता ७.८८)। इनके अन्य बन्धुओंके नाम हैं — बन्धु, श्रुतबन्धु और विप्रबन्धु आदि।

१९५. सुमित्र (२२८) — वध्र्यश्वमें वंशज ऋषियोंमें सुमित्रकी गणना की गई है। ऋग्वेदके दशम मण्डलके सुमित्र ऋषिका उल्लेख किया गया है— भद्रा इति द्वादशर्चं प्रथमं सूक्तं वध्र्यश्वपुत्रस्य सुमित्रस्यार्षम् (ऋ० १०.६९ सा०भा०) महाभारतमें शमीक ऋषिके पुत्रके रूपमें सुमित्रका वर्णन प्राप्त होता है। सुमित्रके पुत्रके रूपमें अनमित्रका उल्लेख भी प्राप्त होता है।

१९६. सुवेदा शैलूषि (३७१) — शैलूषि शब्द वंशवाचक है। ऋषि-परम्परामें सुवेदा शैलूषिका प्रमुख स्थान है। ऋ० १०.१४७ में 'शैलूषि'-के स्थानपर 'शैरीषि' प्रयुक्त हुआ है, जो सम्भवतः 'रलयोरभेदः'-के नियमानुसार है — शिरीषपुत्रस्य सुवेदस आर्षम्....सुवेदाः शैरीषि...... (सा०भाष्य)।

१९७. सुहोत्र भारद्वाज (३२२) — वैदिक कालमें सुहोत्र भारद्वाजका विशेष विवरण उपलब्ध नहीं होता। ऋग्वेदके केवल छठे मण्डलके ३१-३२ वें सूक्तमें इनका नामोल्लेख प्राप्त होता है, जिसका विवरण आचार्य

सायणने अपने भाष्यमें इस प्रकार प्रस्तुत किया है – अभूरेक इति पंचर्चमष्टमं सूक्तं भरद्वाजस्य सुहोत्रस्यार्षम्। (ऋ० ६.३१ सा०भाष्य)।

१९८. सोमाहुति भार्गव (९४) – भृगुवंशीय ऋषियोंको भार्गव कहा जाता है। भृगुओंको अग्निपूजक कहा जाता है। संहिताओंमें याज्ञिक पुरोहितके रूपमें इन्हें माना गया है। सम्भवतः सोमकी आहुति देनेके कारण इन्हें सोमाहुति भार्गवके नामसे भी जाना जाता है। आचार्य सायणने लिखा है – भार्गवः सोमाहुति नामक ऋषिः (ऋ० २.४)।

१९९. सौभरि काण्व (४७, ५१, ५८, १०८ आदि) – सौभरि और कण्वका वंशज होनेके कारण इन्हें सौभरि काण्व कहा जाता है। संहिता एवं उपनिषदोंमें इनका उल्लेख किया गया है। जैसा कि आचार्य सायणने लिखा है – अदर्शीति चतुर्दशर्चं दशमं सूक्तं काण्वस्य सोभरेरार्षम् (ऋ० ८.१३)। सर्ववेदविद् होनेके कारण इन्हें बह्वृचाचार्यकी पदवी प्राप्त हुई थी।

२००. हर्यत प्रागाथ (११७, १४८०-८२) – ऋग्वेदके द्वितीय एवं अष्टम मण्डलके ऋषियोंको प्रगाथ कहा जाता है। इस नामकरणका कारण यह है कि इन्हें प्रगाथ मंत्रोंका दर्शन हुआ था। बृहती या ककुभ् एवं सतोबृहती मंत्रोंके समूहको प्रागाथ कहा जाता है। ये ऋषिगण इन छन्दोंके रचयिता हैं – हर्यत प्रगाथ इसी परम्पराके ऋषि हैं। अतएव इन्हें हर्यत प्रागाथ कहा जाता है। आचार्य सायणने इनके सम्बन्धमें लिखा है – हविर्द्धयूना हर्यतः प्रागाथो हविषां स्तुतिर्वेति। प्रगाथपुत्रो हर्यत ऋषिः। (ऋ० ८.७२)।

२०१. हिरण्यस्तूप आंगिरस (६१२) – अंगिरस् कुलोत्पन्न होनेके कारण इन्हें आंगिरस कहा जाता है – ......त्वामांगिरसोऽङ्गिरसः पुत्रो हिरण्यस्तूपो.....(ऋ० १०.१४९.५ सा०भाष्य) ऋग्वेद १.३१-३५ सूक्तके द्रष्टाके रूपमें हिरण्यस्तूप ऋषिका वर्णन प्राप्त होता है – आङ्गिरसो हिरण्यस्तूप ऋषिः।......हिरण्यस्तूप आग्नेयं.....(ऋ० १.३१)।

सामवेदीय देवताओंका संक्षिप्त परिचय

१. अंगिरा (९२) — अंगिरस् स्वर्गके सूनु तथा ब्रह्मा नामके पुरोहित हैं। विशेष रूपसे उनका सम्बन्ध यमके साथ है। सामान्य रूपसे अन्य देवगणोंके साथ भी उनका उल्लेख हुआ है। ऋग्वेदमें लगभग साठ बार यह नाम आया है।

२. अग्नि (१-५१, ५३, ५४, ५५) — अग्नि (अगि गतौ अर्थात् 'जो ऊपरकी ओर जाता है') वैदिक यज्ञ-प्रक्रियाका मूल आधार तथा पृथ्वी स्थानीय देव हैं। वैदिक देवोंमें इन्द्रके बाद अग्निका ही स्थान है। ऋग्वेद १.१.१ में अग्निको पुरोहित कहा गया है। इसके लगभग २०० सूक्तोंमें अग्निकी स्तुति की गई है।

अग्निके तीन स्थान और तीन मुख्य रूप हैं — (१) आकाशमें सूर्य, (२) अन्तरिक्षमें विद्युत् तथा (३) पृथ्वीपर सामान्य अग्निके रूपमें।

३. अग्नि — पवमान (६२७) — कुछ स्थलोंपर अग्निके लिये पवमान शब्द आया है। 'यो वा अग्निः स पवमानः तदप्येतद् ऋषिणोक्तमग्निर्ऋषिः पवमान इति' (ऐत० ब्राह्मण २.३७)।

४. अदिति (१०२) — वेदोंमें अदितिका उल्लेख प्रायः उसके पुत्रों (आदित्यों)-के कारण आया है। इन्हें वरुण, मित्र, अर्यमा आदिकी माता अर्थात् देवमाताके रूपमें जानते हैं। अदितिका भौतिक आधार अनन्त अन्तरिक्ष है। जहाँ बारह आदित्य भ्रमण करते हैं। इनकी सार्वभौम संज्ञाका संकेत ऋग्वेद १.८९.१०में मिलता है। "अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षदितिर्माता स पिता स पुत्रः"।

५. अन्न (५९४) — अन्नं वै ब्रह्म — आहारका प्रतिनिधित्व करनेवाला ब्रह्म। 'अन्न' सामान्य भोजन (स्थूल आहार)-की अधिष्ठात्री शक्तिको ब्रह्मके रूपमें माना गया है।

६. अपांनपात (६०७) — 'जलोंका पुत्र' जो अग्निका विद्युत्-रूप है। वेदोंमें प्रायः अग्निके विशेषणके रूपमें प्रयुक्त हुआ है। ऋग्वेद १.१२.६ में सविताके विशेषणके रूपमें प्रयोग किया गया है।

७. अश्विनी कुमार (१७४३-४५, १७५२ आदि) — अश्वरूपिणी संज्ञा नामक सूर्य-पत्नीके युगल पुत्र जिन्हें देवताओंका वैद्य माना गया

हैं। ये वैदिक आकाशीय देवता हैं। इनका 'उषा'से निकटका सम्बन्ध है। ये विपत्तिमें सहायक, आश्चर्यजनक कार्य करनेवाले, युवा, असत्य-रहित एवं शारीरिक क्षतों (घाव)-की पूर्त्ति करनेवाले माने गए हैं।

८. अप्वा देवी (१८६१) – वैदिक देवताओंके प्रमुख प्रतिपादक ग्रन्थ बृहद्देवताके १.११में रात्री, अग्नायी, अरण्यानी, श्रद्धा, इळा-के साथ 'अप्वा'-का नामोल्लेख हुआ है। इसी प्रकार २.७४ तथा ८.१३ में भी 'अप्वा' देवीका नाम बड़े सम्मानके साथ उल्लिखित हुआ है।

ऋग्वेदके दशम मण्डलके १०३वें सूक्तके अन्तर्गत १२वें मंत्रकी देवता 'अप्वादेवी' ही हैं। इस तथ्यका प्रतिपादन आचार्य सायणने अपने भाष्यमें इस प्रकार किया है – 'अमीषां चित्तमित्यस्या अप्वाख्या देवी देवता.....।' (ऋ० १०.१०३ सा०भाष्य)।

९. आत्मा (६१३, ६३०) – कई मंत्रोंका देवता वाचक मन्त्रोल्लिखित नाम न होकर अन्य शब्द आया है। ऋग्वेद (सूक्त १०.१८९)-में 'गौः' एवं 'पतङ्ग' शब्द पठित हैं, किन्तु सर्वानुक्रमणीमें देवता 'आत्मा अथवा सूर्य' लिखा है।

'आयं गौः सर्पराज्ञी आत्म देवतं सौर्य वा'। स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने 'आत्मा सूर्यो वा' देवताके रूपमें स्वीकार किया है।

१०. आदित्य (२५५, ३९५, ३९७) – देवमाता अदितिके पुत्र ऋग्वेद २.२७.१में छह आदित्योंका ९.११४.३में सात और १०.७२.८ में ८ आदित्योंका उल्लेख है। सामान्य रूपसे (द्वादशादित्य) १२ नाम माने जाते हैं – धाता, मित्र, अर्यमा, पूषा, शक्र, वरुण, भग, त्वष्टा, विवस्वान्, सविता, अंशुमान् तथा विष्णु।

११. इन्द्र (५२, ११५-१४८ आदि) – इन्द्र वैदिक युगके सर्वप्रिय ओजपूर्ण देवता हैं। ऋग्वेदके प्रायः तीन सौ सूक्तोंमें इन्द्रका वर्णन है। इन्द्रको अग्निका जुड़वा भाई भी कहा गया है। वे अन्तरिक्ष स्थानीय देवता हैं। वृत्रहन्ता, वज्री, विश्व-चर्षणि, कौशिक सदसस्पति, नदियोंको प्रवाहित करनेवाला आदि उनके विशेषण हैं।

१२. इन्द्राग्नी (६६९-६७१) – इन्द्र और अग्नि युग्मके दोनों देवताओंमें घनिष्ठ सम्बन्ध है। इन्द्रका अग्निके योगमें अन्य देवताओंकी अपेक्षा

अधिक सूक्तोंमें आवाहन किया गया है। सोमरस पीनेवालोंमें मूर्धन्य दोनों देवता (इन्द्राग्नी) अपने रथपर बैठकर सोम पीनेके लिये यज्ञशालामें पधारते हैं। इन्द्राग्निको यज्ञका पुरोहित भी कहा गया है।

१३. इषवः (१८६३) — कृत्रिम और अचेतन पदार्थ भी मनुष्योंके लिये विशेष उपयोगी हैं। वैदिक मान्यता सर्वदेववादी है जिसके अनुसार प्रत्येक पदार्थका पृथक् देवता है। अचेतन पदार्थ भी दैवीय विग्रहवान् मानकर पूजे जाते हैं। जिसमें उपकरणों आदिको भी सम्मिलित किया जाता है। यहाँ भी 'बाण'-का दिव्यीकरण किया गया है। ऋग्वेद ६.७५.१५ में 'इषु' (बाण)-को इसी भावसे नमन किया गया है — इष्वै देव्यै बृहन्नमः ॥

१४. उषा (३०३, ३६७, ४२१, ४४३, ४५१) — वैदिक सूक्तोंके अन्तर्गत उषाका निरूपण सुन्दरतम रचनाके रूपमें प्राप्त है। उषःकालीन अरुणिमाके प्राकृतिक दृश्यके आधारपर उषाका उल्लेख सौन्दर्यकी देवीके रूपमें हुआ है। उषाका गुण, उसका स्त्री-सुलभ आकर्षण ही उसका दिव्य स्वरूप है। वेदोंकी २१ ऋचाओंमें उसका उल्लेख हुआ है।

१५. गौ (६२६) — वैदिक कालमें गौको प्रधान सम्पत्तिके रूपमें माना गया। उस समय रोहित, शुक्ल, पृश्नि, कृष्ण आदि रंगोंके नामसे उन्हें पुकारा जाता था। गौको मरुतोंकी माता पृश्नि तथा देवमाता अदितिके रूपमें भी उल्लिखित किया गया है। ऋग्वेदमें गौको लगभग १६ बार अघ्न्या (न मारने-योग्य) कहा गया है।

१६. तार्क्ष्य (३३२) — तार्क्ष्यकी निष्पत्ति 'तृक्षि'-से हुई प्रतीत होती है। निघण्टु (१.१४)ने तार्क्ष्यको अश्वका पर्यायवाची माना है। कुछ वैदिक ग्रन्थोंमें उन्हें पक्षीके रूपमें माना गया है। दधिक्राके लिये प्रयुक्त हुए शब्दोंमें कहा गया है कि तार्क्ष्यने अपनी शक्तिसे पंचजनोंको उसी प्रकार व्याप्त कर रखा है जैसे सूर्य अपने प्रकाशसे सलिलोंको व्याप्त किए रहता है।

१७. त्वष्टा (२९९) — त्वष्टा धुँधले स्वरूपवाले वैदिक देवोंकी श्रेणीमें माने गए हैं। ऋग्वेदमें लगभग ६५बार इनका नामोल्लेख हुआ है। इनके भुजा और हाथको छोड़कर किसी अन्य अवयवका वर्णन नहीं मिलता है। त्वष्टा अत्यन्त कार्य-कुशल है। अपनी तक्षण-कलाका प्रदर्शन करते हुए, वे विविध वस्तुओंको रचते हैं।

१८. त्रिलोक्यात्मा (६४१-६५०) — भारतीय मान्यताने जन, तप तथा सत्यलोकको त्रिलोक स्वीकारा है। आत्मा सभीका प्राण-तत्त्व है — 'आत्मनो वा इमानि सर्वाण्यङ्गानि प्रभवन्ति। (शत० ४.२.४.५) यह सभी घटक (अंग) आत्मासे प्रादुर्भूत हुए हैं। तीनों लोकोंके अधिष्ठाता देवताको 'त्रैलोक्यात्मा' कहा जाता है, जो सतत प्रकाशित रहनेवाले हैं— 'यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिन् लोके स्वर्हितम्।' (ऋग्वेद ९.११३.७)

१९. दधिक्रा (३५८) — ऋग्वेदमें दैवी अश्वके रूपमें दधिक्राका अनेक बार उल्लेख मिलता है। इसको वेगवान् तथा पंखोंवाला पक्षी-जैसा कहा गया है। इसकी उपमा आक्रामक श्येनसे भी दी गई है। कहीं कहीं 'दधिक्र' शब्दसे विद्युत्की ओर भी संकेत है।

२०. द्यावा-पृथिवी (३७८, ६२२) — ये दोनों पिता-माताके रूपमें प्राणियोंकी रक्षा करते हैं। निन्दा तथा निर्ऋति (पाप)-से उन्हें बचाते हैं। उनका विग्रहवत्व यज्ञ-नेताके रूपमें माना गया। लगभग एक सौ बार इस विग्रहका उल्लेख हुआ है। स्वर्ग और पृथ्वीको रोदसी कहा गया है। इन्हें कहीं कहीं पितरा, मातरा, जनित्री कहकर भी स्मरण किया गया है।

२१. पर्जन्य (२९९) — पर्जन्य एक वैदिक देवताका नाम है। ऋग्वेदीय देवताओंको तीन भागोंमें बाँटा गया है — (१) पार्थिव, (२) वायवीय, (३) स्वर्गीय। वायवीय देवोंमें पर्जन्यकी गणना होती है। पर्जन्य भी द्यौ एवं वरुणके सदृश वृष्टिदाता हैं। द्रुतगतिसे बरसनेवाली बूँदोंके नाते पर्जन्यको एक धड़कनेवाला वृषभ कहा गया है जो वीरुधोंमें वीर्यका विधान करता है। ऋग्वेदमें कहा गया है कि पृथ्वी माता और पर्जन्य पिता है। ये वनस्पतियोंके उत्पादक-पोषक हैं, अंकुरित और पल्लवित करते हैं। पर्जन्य देव की देखरेखमें वृक्षोंपर भरपूर फल लगते हैं।

२२. पवमान सोम (१०१, ४२७-४३२, ४३६, ४६३ आदि) — ऋग्वेदमें इस शब्दका प्रयोग सोमके लिये हुआ है, जो स्वतः छलनीके मध्यसे छनकर शुद्ध होता है। अन्य संहिताओंके उल्लेखोंमें इसका अर्थ वायु (बहनेवाला) है। इसका शाब्दिक अर्थ 'प्रवहमान' (शुद्ध होनेवाला या करनेवाला) है।

ज्योतिष्टोम-यज्ञके अवसरपर सामगान करनेवालोंके स्तोत्र-विशेषको पवमान कहा गया है। सवनोंके अनुसार इनके तीन भेद हैं—(१) बहिष्पवमान, (२) माध्यन्दिन पवमान, (३) आर्भव पवमान।

कुछ स्थलोंपर अग्निके लिये भी पवमान शब्द आया है। कुछ स्थलोंपर पवमान शब्द वायुके लिये आया है।

२३. पुरुष (६१७-६२१) — पुरि शेते इति पुरुषः—(पुर अर्थात् शरीरमें शयन करना) इस निर्वचनके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति पुरुष है, किन्तु ऋग्वेदके पुरुष-सूक्त (१०-८०)-में आदि-पुरुषको विराट् पुरुष अथवा विश्व-पुरुषके रूपमें व्याख्यायित किया गया है। सृष्टिके मूलमें स्थित मूल तत्त्वके अन्तर्यामी और अतिरेकी स्वरूपका प्रतीक 'पुरुष' है। इस सिद्धान्तको सर्वेश्वरवाद कहते हैं। सांख्य-दर्शनके अनुसार दो सनातन-तत्त्व हैं—(१) प्रकृति, (२) पुरुष। प्रकृति और पुरुषके सम्पर्कसे विश्वका विकास होता है। पुरुषका अपने स्वरूपको भूल जाना ही बन्धन है और ज्ञान प्राप्त करके कैवल्यको प्राप्त होना 'मुक्ति'। ज्ञानी पुरुषके लिये प्रकृति संकुचित न होकर अपनी लीलाका संवरण कर लेती है और पुरुष मुक्त हो जाता है।

२४. पूषा (७५) — ऋग्वेदके एक प्रमुख देवता पूषन् हैं। वे पोषणसे सम्बद्ध हैं। वे सभी जीवोंको देखनेवाले हैं। उनके रथको अज खींचते हैं। उनका सूर्यसे निकट सम्बन्ध है। ऋग्वेदमें पूषन्के नामका उल्लेख लगभग १२० बार हुआ है। एक सूक्तमें इन्द्रके साथ और एक अन्य सूक्तमें सोमके साथ उनकी देवता-युग्मके रूपमें भी स्तुति हुई है। सांख्यके अनुसार उनका स्थान विष्णुसे कुछ ऊँचा ही ठहरता है।

२५. प्रजापति (६०२) — वैदिक ग्रन्थोंमें वर्णित एक भावात्मक देवताका नाम प्रजापति है। जो सम्पूर्ण जीवधारियोंके स्वामी हैं। वास्तवमें एक ही शक्तिके तीन रूप (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) हैं। कुछ स्थलोंपर प्रजापति शब्द प्रजापालक सविता, अग्नि आदि देवोंके लिये भी आया है।

सृष्टिकर्त्ताके अर्थमें भी प्रजापतिका प्रयोग प्रायः हुआ है। ब्राह्मण ग्रन्थोंके अनुसार कभी वे सृष्टिके साथ उत्पन्न बतलाए गए हैं और कहींपर उन्हें ब्रह्माका सहायक देव बतलाया गया है।

२६. ब्रह्मणस्पति (५६, १४६५) – बृहस्पति और ब्रह्मणस्पतिका ऐक्य माना गया है। तैत्तिरीय ब्राह्मणका सुस्पष्ट कथन है – 'ब्रहस्पते ब्रह्मणस्पते'। तैत्तिरीय ब्राह्मण (३.११.४.२) बृहस्पति ही ब्रह्मणस्पति हैं। अन्यत्र ब्रह्मको ब्रह्मणस्पति माना गया है – ब्रह्म वै ब्रह्मणस्पतिः। (कौषीतकि ब्राह्मण ८.५.९.५) ब्रह्मणस्पतिको तीक्ष्ण शृंग, तीक्ष्ण बाण तथा ऋतकी डोरीसे संयुक्त बताया गया है – अराय्यं ब्रह्मणस्पते तीक्ष्ण शृंगो दृषन्निह। (ऋ० १०.१५५.२)।

२७. मरुत् (२४१, ३५६, ४०१, ४३३, ४६२ आदि) – ऋग्वेदमें वायु एवं आँधीके देवोंके रूपमें मरुतोंका अनेकशः वर्णन आया है। मरुतोंकी माता पृश्नि है। ऋग्वेदमें मरुत्की स्तुति-सम्बन्धी कुल ३३ ऋचाएँ हैं। मरुत् झंझावातके देवता हैं। उनके स्वभावका विद्युत्, विद्युद्गर्जन, आँधी तथा वर्षाके रूपमें वर्णन किया गया है। वृत्रके मारनेमें मरुत् ही इन्द्रके सहायक थे। इन्द्रने अपने मण्डलसे बाहर जाकर रुद्रमण्डलमें अपने मित्र एवं सहायकको ढूँढ़ा, क्योंकि रुद्रके पुत्र (गण) होनेके कारण मरुत् रुद्रिय कहलाते हैं। मरुत् देतबला विद्युत्के अट्टहाससे उत्पन्न होते हैं। आकाशके पुत्र हैं, नायक हैं, भाई हैं। बिजली-आँधी-तूफानसे पहाड़ोंको भी हिला देते हैं। बादलोंके साथ अन्धकारकी सृष्टि करते हैं।

२८. यूप (५७) – यज्ञ-पशुओंके बाँधनेके खूँटेको 'यूप' कहा जाता है। यह प्रायः खरिदवृक्षका होता है – 'खादिरो यूपो भवति।' (श०ब्रा० ३.६.२.१२)।

यज्ञीय उपकरणोंमें सबसे महत्त्वपूर्ण उपकरण है – यज्ञ-यूप जिसका ऋग्वेदके तीसरे मण्डलके आठवें सूक्तमें वनस्पति या स्वरूके रूपमें वर्णन प्राप्त होता है। यूपका यहाँ कुल्हाड़ीसे सुकृत्त एवं यतसुक् पुरोहितों-द्वारा निर्मित हुए रूपमें वर्णन करके उससे प्रार्थना की गई है कि वह हविष्को देवताओंतक पहुँचा दे। गाड़े गए यूपोंके विषयमें कहा गया है कि वे देवता हैं और मँडराते हंसोंकी श्रेणियों (पंक्तियों)-की तरह हमारे पास आते हैं – हंसा इव श्रेणिशो यतानाः......। (ऋ० ३.८.९) यह स्थूल उपकरणमें दिव्यीकरण (देव-भाव) भावनाका सुन्दर निदर्शन है।

२९. रात्रि (६०८) — ऋग्वेदमें एवं अन्यत्र रातके लिये 'रात्री' (रात्रि) शब्द आए हैं। (ऋग्वेद १.३५.१, १.९४.७) साथ ही रात्रि एवं उषाको अग्निका रूप कहा गया है। ये एक युग्म देवत्वकी रचना करते हैं। दोनों आकाश (स्वर्ग)-की बहन तथा ऋतकी माता हैं। रात्रिके लिये केवल एक ऋचा है। मैकडॉनेलके अनुसार रात्रिको अन्धकारका प्रतियोगी मानकर 'चमकीली रात' कहा गया है। इस प्रकार प्रकाशपूर्ण रात्रि घने अन्धकारके विरोधमें खड़ी होती है।

३०. लिंगोक्त (६११) — लिंगोक्त पद द्वारा दो प्रकारकी अवधारणाओंका विकास हुआ है — (क) प्रथमतः विभिन्न भागोंमें विभक्त सूक्तोंमें व्यक्त विशिष्ट लक्षणोंके आधारपर उनमें निहित देवताको ही मुख्य देवता माना जाता है। ये देवता सामूहिक भी हो सकते हैं। (ख) वेदोंमें अनेक सूक्त ऐसे भी हैं जिनमें एक देवताको ही विविध रूपोंमें प्रदर्शित किया गया है तथा उन्हींके द्वारा विविध कार्योंका सम्पादन भी किया जाता है। ऐसे देवताको लिंगोक्त देवताकी श्रेणीमें रखा गया है।

३१. वरुण (२८८, ५८१) — एक प्रमुख वैदिक देवता हैं। ये सम्पूर्ण भुवनोंके राजा हैं। (ऋ० ५.८५.३) ये देवों और मर्त्यों सभीके राजा हैं। वरुणकी सबसे बड़ी विशेषता है — उनका धृतव्रत होना। द्यावा-पृथिवी उन्हींके धर्मसे विष्कंभित है (ऋ० ६.७०.१)। वे प्रमुख आदित्य हैं। उनका उल्लेख मित्रके साथ प्रायः आया है। मित्रको दिनका और वरुणको रात्रिका देवता कहा गया है। वरुण पापोंकी चेतावनी तथा दण्ड देनेके लिये रोग भी उत्पन्न कर देते हैं। वरुणकी इच्छा ही धर्मविधि है। वेदोंमें वरुणको प्रसन्न करनेके लिये अनेक स्तुतियाँ हैं।

३२. वर्म सोमवरुण (१८७०, ७२) — वर्म कवचको कहते हैं। युद्धके मध्य कवच शरीरकी रक्षा करता है। देवताओंका भी वही कार्य है। वे किसी न किसी माध्यमसे यह कार्य सम्पन्न करते हैं। इसलिये उस 'माध्यम'-को भी देवता मान लिया जाता है। 'वर्म' इसी प्रकारका देवता है। सामवेद उत्तरार्चिक क्रमांक १८७० में यही प्रतिपादित है — मर्माणि ते वर्मणाच्छादयामि। (तुम्हारे मर्मस्थलोंको वर्म (कवच) से आच्छादित करते हैं)।

३३. वाजिन् (४३५) — वाजिन् पदको भी देवत्व प्रदान किया गया है। शत्रुओंको भयभीत करनेके कारण इसदेवको वाजिन् कहते हैं, अथवा अन्नयुक्त आशय भी लिया जा सकता है, क्योंकि अन्नप्राप्ति वृष्टि-द्वारा ही होती है। इसी तथ्यको प्रकारान्तरसे मेघ या अन्नदेवताके रूपमें भी व्याख्यायित किया जा सकता है — वाजिनम् वेजनवन्तम् भयदातारं परेभ्यः। बलवन्तं वा। वाजोऽन्नं तद्वन्तं वा, वृष्ट्या तत्प्रदायकत्वात्। (निरुक्त १०।२७।१ दुर्गवृत्ति)।

सायणने वाजिन् पदसे अश्वदेव अर्थको स्वीकार किया है — स वाजी वेजनवान् (भयवान् चलन-वान्वा) अश्वरूपो देवः। (निरुक्त २। २९।४ दुर्गवृत्ति)।

३४. वायु (६००) — वैदिक देवताओंको तीन श्रेणियोंमें विभक्त किया गया है—(१) पार्थिव, (२) वायवीय, (३) आकाशीय। वायुका पर्याय वात भी है। ये दोनों भौतिक तत्त्व एवं दैवी व्यक्तित्वके बोधक हैं। वायुसे देवता और वातसे आँधीका बोध होता है। वातके तीन प्रकारके स्वरूप (१) धूल-पत्ते उड़ाता हुआ, (२) वर्षाकार, (३) वर्षाके साथ चलनेवाला झंझावात, जबकि वायुका स्वरूप बड़ा कोमल है। प्रातःकालीन समीर (वायु) उषाके ऊपर साँस लेकर उसे जगाता है, जैसे प्रेमी अपनी प्रेयसीको जगाता है। इन्द्र और वायु युगल देवका रूप धारण करते हैं। ऋषि जानते थे कि वायु ही जीवनका साधन है, स्वास्थ्यके लिये परम आवश्यक है, जीवनी-शक्तिको बढ़ाता है।

३५. विश्वेदेवाः (९१, ३६८, ४१७, ४२६, ४४२, ४५२ आदि) — सम्पूर्ण देवोंको जहाँ एक साथ उद्दिष्ट करनेकी आवश्यकता समझी गई हैं, वहाँ उन्हें विश्वेदेवाःके नामसे अभिहित किया गया है। 'प्राणावैविश्वेदेवाः' (शत०ब्रा० १४.२.२३७)।

इनका यज्ञमें अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये सभी देवताओंके प्रतिनिधिके रूपमें आवाहित किए जाते हैं, ताकि सर्वदेवोंके उद्देश्यसे किए गए यज्ञमें कोई भी देवता अनामंत्रित न रह जायँ। किन्तु कभी कभी 'विश्वेदेवाः'-को वसु और आदित्य-जैसे गणोंके साथ आवाहित किया जाता है। इनकी संख्या तेरह मानी गई है।

३६. विष्णु (२२२, १६२५-२७) – विष्णु शब्दकी व्युत्पत्ति 'विष्लृ' धातुसे हुई है जिसका अर्थ सर्वत्र फैलना अथवा व्यापक होना है। महाभारत (५।७०; १३-२१४)-के अनुसार विष्णु सर्वत्र व्याप्त हैं, वे समस्त ब्रह्माण्डके स्वामी हैं तथा विध्वंसक शक्तियोंका दमन करते हैं। वे इसलिये विष्णु हैं कि वे सभी शक्तियोंपर प्रभुत्व प्राप्त करते हैं। विष्णु सहस्रनामके ऊपर शंकराचार्यने भाष्य लिखा है। विष्णुका प्रसिद्ध नाम 'हरि' है। इसका अर्थ (पाप-दुःख) दूर करनेवाला है। ब्रह्मयोगीने कलिसन्तरण उपनिषद् (२।१।२१५)-के अपने भाष्यमें इसकी व्याख्या की है, जो अज्ञान (अविद्या) और इसके दुष्परिणामका अपहरण करता है — वह हरि है। इनका दूसरा नाम शेषशायी है। जब विष्णु शयन करते हैं, तो सम्पूर्ण विश्व अव्यक्त अवस्थामें पहुँच जाता है। व्यक्त सृष्टिके अवशेषका ही प्रतीक 'शेष' है, जो कुण्डली मारकर अनन्त जलराशिपर तैरता रहता है। शेषशायी विष्णु नारायण कहलाते हैं जिसका अर्थ है नार (जल)-में आवास करनेवाला। नारायणका दूसरा अर्थ है, समस्त नरों (मनुष्यों)-का अयन (आवास)।

३७. वेन (३२०, १८४६-४८) – 'वेनतः कान्ति कर्मणः' यास्कने इच्छा करनेके आशयमें 'वेन्' क्रियासे व्युत्पन्न हुए (होनेके अर्थमें) वेनकी व्याख्या की है। (निरुक्त १०.३८) समस्त भूतोंका प्राण होनेके कारण वही उनमें गतिशील होते हैं। ऋग्वेद १०.१२३ सूक्तके प्रसिद्ध द्रष्टा वेन भार्गव नामक ऋषिने उन्हें वेन देवता कहा है। इन्हें भी इन्द्रके २६ नामोंके अन्तर्गत माना गया है। वेनका उल्लेख उदारदानी एवं अत्यन्त मेधा-सम्पन्नके रूपमें हुआ है।

३८. संग्रामशिष (१८६६) – युद्ध मैदान - रणाङ्गणमें भी सुरक्षित रखनेवाली देवशक्तिकी कल्पना जिस देवके रूपमें की गई है, वही 'संग्रामशिषः'-के नामसे जाना जाता है। मुण्डित केश शिशुकी तरह युद्धके मैदानमें गिरनेवाले बाणोंसे रक्षा की जो प्रार्थना ऋषि करते हैं, उनकी भी प्रतिष्ठा एक देवतासे कम कैसे हो सकती है। निरुक्तमें उपर्युक्त भावको संग्राम पदके निर्वचनमें अभिव्यक्त किया गया है — संग्रामः कस्मात् ? संगमनाद्वा संगरणाद्वा सङ्गतौग्रामाविति। (निरुक्त ३।२।१)।

३९. सदसस्पति (१७१) — प्रजापतिके आठ नामोंमें एक नाम सदसस्पति भी है। इन्हें कोई भी सम्पूर्ण सूक्त समर्पित नहीं किया गया है। ऋग्वेदकी तीन ऋचाएँ (१-१८, ६से ८) ही इनको सम्बोधित हैं।

४०. सरस्वती (१४६१) — ऋग्वेदमें सरस्वती 'देवी'के रूपमें कल्पित की गई हैं जो पवित्रता, शुद्धता, समृद्धि और शक्ति प्रदान करती हैं। उनका सम्बन्ध अन्य देवताओं — पूषा, इन्द्र, मरुत्से बतलाया गया है। कई सूक्तोंमें सरस्वतीका सम्बन्ध यज्ञीय देवता इडा और भारतीसे जोड़ा गया है। ये विद्या और कलाकी अधिष्ठात्री देवी मानी जाती हैं। पुराणानुसार यह ब्रह्माकी पुत्री मानी गई हैं।

४१. सरस्वान् (१४६०) — प्राकृतिक शक्तियाँ सर्वव्यापी हैं जिनका चेतन तथा अचेतन रूप प्राप्त होता है। प्रत्येक पदार्थका देवता पृथक् पृथक् है परन्तु प्रत्येक वस्तु देवाश्रयात्मक अवश्य है। सरस्वान्को मन कहा गया है — मनो वै सरस्वान्। (शत०ब्रा० ७। ५। १। ३१)।

मनके आनन्ददायक होनेके कारण इनकी तुलना स्वर्गलोकसे की जाती है — स्वर्गो लोकः सरस्वान्। (ताण्डय महाब्राह्मण १६.५.१५)।

४२. सविता (४६४, १४६२) — सविता एक प्रेरक शक्ति है। इन्हें द्युलोक-स्थानीय और अन्तरिक्ष स्थानीय देवता भी कहा है। सायणके अनुसार सूर्य उदयके पूर्व सविता होता है और उदयोपरान्त सूर्य होता है। ऋग्वेदके ११ सूक्तोंमें अकेले सविताकी आराधना आती है। गायत्री या सावित्री मंत्र (ऋ० ३.६२.१०) उन्हींको सम्बोधित करके पढ़ा जाता है — 'सविता वै देवानां प्रसविता' (शत०ब्रा० १.१.२१७)।

४३. सूर्य (२७६, ४५८, ६२८-६४०) — ऋग्वेद (१।११५।१)-में कहा गया है कि यह सूर्य देवताओंका प्रमुख देवता है। मध्याह्नमें इसका देवत्व सबसे अधिक विकसित होता है। वेदोंमें सूर्यका सजीव चित्रण पाया जाता है। सूर्य वास्तवमें अग्नि-तत्त्वका ही आकाशीय रूप है। वह अन्धकारमें रहनेवाले राक्षसोंका विनाश करता है। वह दिनोंकी गणना और उनका संवर्द्धन करता है। सूर्य स्वयं विश्वके विधानका संरक्षक है;उसका चक्र नियमित, अपरिवर्तनीय, सार्वभौम नियमका अनुसरण करता है। विश्वका केन्द्र-स्थानीय है। वह जंगम और स्थावर सभीका आत्मा है — सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च। (ऋ० १।११५।१)

४४. सोम (४२२) — देवताके रूपमें सोमका मानवीकरण अत्यधिक अपूर्ण है। उनके केवल ऐसे ही गुणोंका उल्लेख किया गया है जो सभी देवोंमें सामान्य हैं। सोमकी शक्तिसे ही इन्द्र शौर्यके विविध कार्य करते हैं। सोमको दिशाओंका अधिपति तथा द्यावा-पृथ्वीका उत्पादक भी कहा गया है। सूर्यको उदयकी ओर प्रेरित करनेके कारण सोमको ज्योति प्राप्त करानेवाला भी कहा गया है।

४५. हवींषि (१४८०-८२, १६०२-४) — सम्पूर्ण कार्य देव-निमित्त हैं। प्रत्येक यज्ञीय वस्तु दिव्य गुण-सम्पन्न है। हवि देवताओंका प्रिय भोज्य पदार्थ है। हविको यज्ञकी आत्मा कहा गया है — हवींषिहवा आत्मा यज्ञस्य। (शत०ब्रा० १.६.३.३९)

हविका सेवन देवगण अग्निके माध्यमसे करते हैं। अग्नि ही हविको देवताओंतक ले जाती है। देवगण-सेवित होनेसे हविको देवत्वकी प्रतिष्ठा प्राप्त होती है जिनका उपभोग देवता करते हैं — उक्तं हि हविः (शत०ब्रा० २.६.२.६) तथा हविर्य्यज्ञैर्व्वै देवा इमं लोकमभ्यजयन्। (ताण्ड्य महाब्रा० १७.१८)

सामवेदमें प्रयुक्त छन्दोंका विवरण

	छन्दनाम	पादविवरण	वर्ण योग
१.	अतिजगती	१२+१२+१२+८+८	५२
२.	अतशक्वरी	क. १६+१६+१२+८+८	६०
		ख. ८+८+८+८+८+१२+८	६०
३.	अत्यष्टि	१२+१२+८+८+८+१२+८	६८
४.	अनुष्टुप्	८+८+८+८	३२
५.	अष्टि	१६+१६+१६+८+८	६४
६.	उपरिष्टाज्ज्योति[१] (त्रिष्टुप)	११+८+८+८+८	४३

१. यह छन्द पिङ्गलाचार्यके अनुसार ११ या १२ वर्णोंका तथा ऋक् प्रातिशाख्यकार एवं ऋक् सर्वानुक्रमणीकारके अनुसार ८ वर्णोंके पादवाला होता है। यह 'अनुष्टुप'-में १२+१२+८ = ३२ वर्णोंवाला तथा 'जगती'-में ८+८+८+८+१२=४४ वर्णोंवाला भी होता है।

७.	उपरिष्टाद् बृहती	८+८+८+१२	३६
८.	उष्णिक्[1]	८+८+१२	२८
९.	ऊर्ध्वा बृहती[2]	१२+१२+१२	३६
१०.	एकपदा जगती[3]	१२	१२
११.	ककुप्	८+१२+८	२८
१२.	गायत्री	८+८+८	२४
१३.	जगती	१२+१२+१२+१२	४८
१४.	त्रिपदा अनुष्टुप्[4]	११+११+११	३३
१५.	त्रिष्टुप	११+११+११+१	४४
१६.	द्विपदाविराट्[5]	१०+१०	२०
१७.	पंक्ति[6]	१२+१२+८+८	४०
१८.	पदपंक्ति[7]	५+५+५+५+५	२५

१. उष्णिक् छन्दके एक भेद परोष्णिकका भी यही लक्षण है।

२. यह छन्द 'महा बृहती' तथा 'सतो बृहती'-के नामसे भी जाना जाता है।

३. गायत्री आदि छन्दोंके एक 'पाद'-में जितने वर्ण होते हैं, उतने ही वर्णका यदि कोई छन्द होता है, तो वह एकपाद या एकपदा छन्द कहे जाते हैं। यथा – ८ वर्ण एकपाद गायत्री, १० वर्ण एकपाद विराट्, ११ वर्ण एकपाद त्रिष्टुप् तथा १२ वर्ण एकपाद जगती छन्द।

४. यह निर्धारण शौनक और कात्यायनके अनुसार है। दूसरे आचार्योंके मतानुसार यह त्रिपदा विराट् गायत्री कहा जाता है।

५. गायत्री आदि छन्दोंके एक पादमें जितने वर्ण होते हैं, उतने ही वर्णोंके दो पादवाले छन्दको द्विपदा विराट् या द्विपाद विराट् कहते हैं। यथा ८+८ वर्णोंका द्विपदा त्रिष्टुप तथा १२+१२ वर्णोंका छन्द द्विपदा जगती कहलाता है।

६. यदा-कदा पंचपदा पंक्ति छन्द भी प्राप्त होते हैं।

७. पदपंक्ति पंच ॥ पिंगल सूत्र ३.४६, चतुष्कषट्कौ त्रयश्च ३.४७। वैसे तो पदपंक्तिमें ५-५ वर्णोंकि पाँच पाद होते हैं, किन्तु चतुष्क सूत्रानुसार पहले पादमें ४ वर्ण, दूसरेमें ६ वर्ण तथा आगेके तीन पादोंमें ५ वर्ण होते हैं। इसमें भी आचार्य शौनक, उव्वट आदि आचार्योंमें मतभेद पाया जाता है।

१९.	पादनिचृत्[1]	७+७+७	२१
२०.	पिपीलिका मध्याअनुष्टुप्[2]	१२+८+१२	३२
२१.	पुर उष्णिक्	१२+८+८	२८
२२.	प्रगाथ[3] विषमा बृहती, समासतो बृहती	९+८+११+८	३६
२३.	बृहती	१२+८+८+८	३६
२४.	महापंक्ति[4]	८+८+८+८+८+८	४८

१. किसी भी छन्दमें जब १ वर्ण न्यून होता है, तो वह निचृत् कहलाता है। पाद निचृत्का तात्पर्य प्रति चरणमें निर्धारित वर्णोंसे १ वर्ण कम होना, यथा - गायत्री छन्दमें ८-८ वर्णकि ३ पाद होते हैं, अतः पादनिचृत्में ७-७ वर्णकि तीन चरणोंमें कुल २१ वर्ण होते हैं।

२. तीन पादवाले छन्दमें जब मध्य पाद अन्य दोनों पादोंसे न्यून होता है, तब वह पिपीलिका (चींटी) मध्या कहलाता है। यथा - पिपीलिका मध्या ककुब्में ११+६+११ वर्ण, पिपीलिका, मध्या अनुष्टुप्में १२+८+१२ वर्ण होते हैं। इस पिपीलिका मध्याके विपरीत यदि मध्यपाद बड़ा तथा अन्य दोनों न्यून हों, तो वह यवमध्या छन्द कहलाता है। यथा - यवमध्या ककुप् ८+१२+८, यवमध्या गायत्री ७+१०+७ वर्ण।

३. वेद मंत्रोंको विशेषकर सामवेदके मंत्रोंको गायन आदिकी सुविधाकी दृष्टिसे एकाधिक मंत्रोंका समूह बना लिया जाता है – यही (प्रमथन) प्रगाथ कहलाता है। सामगानमें तीन समान ऋचाओंको ग्रहण किया जाता है, परन्तु जब विषम छन्दस्क एक, दो या तीन ऋचाएँ होती हैं, तो उन्हें गायन-योग्य बनानेके लिये उनके ही पूर्वोत्तर आदि भागोंको जोड़कर समछन्दस्क बना लिया जाता है। यही प्रक्रिया 'प्रगाथ' कहलाती है। सामवेदके उत्तरार्चिकमें तीन प्रकारके प्रगाथ पठित हैं – (क) काकुभ (ककुप् + सतोबृहती पंक्ति), (ख) बार्हत (बृहती + सतोबृहती पंक्ति) तथा (ग) अनुष्टुभ (अनुष्टुप् + गायत्री + गायत्री)।

४. यह निर्धारण आचार्य कात्यायनके अनुसार है (षडष्टका वा महापंक्ति) जबकि पंक्ति छन्दमें ४० वर्ण व चार चरण (२ जगती + २ गायत्री) होते हैं।

२५.	यवमध्यागायत्री[१]	७+१०+७	२४
२६.	वर्धमानगायत्री[२]	६+७+८	२१
२७.	विराद् स्थाना (त्रिष्टुंप्)	११+११+११+८	४१
२८.	विराडुष्णिक्[३]	७+७+१२	२६
२९.	विष्टार पंक्ति	८+१२+१२+८	४०
३०.	शक्वरी[४] (सोपसर्गा)	८+८+८+८+८+८+८	५६
३१.	स्कन्ध ग्रीवी बृहती[५]	८+१२+८+८	३६

सामवेदसे सम्बद्ध साहित्य

ब्राह्मण — ताण्ड्य ब्राह्मण, षड्विंश ब्राह्मण, मन्त्र ब्राह्मण, दैवत ब्राह्मण, आर्षेय ब्राह्मण, सामविधान ब्राह्मण, संहितोपनिषद् ब्राह्मण, वंश ब्राह्मण और

---

१. तीन पादवाले छन्दोंमें जब मध्य पादका वर्ण अधिक होता है और आदि तथा अन्तके न्यून, तब वह यव मध्या (जौके आकारका) छन्द कहलाता है।

२. तीन पादोंवाले छन्दमें जब क्रमशः बढ़ते हुए वर्ण होते हैं, तो उसे वर्धमान छन्द कहते हैं।

३. २६ वर्णका एक छन्द और होता है, उसे स्वराट् गायत्री कहते हैं। यह छन्द वास्तविक वर्णों (२४) से २ अधिक अर्थात् २६ वर्णोंवाला है। ऐसी स्थितिमें विराडुष्णिक् और स्वराड् गायत्रींमें अन्तर कैसे किया जा सकता है ? इसका समाधान देवता पाद आदिके आधारपर होता है।

४. उपसर्ग-युक्त शक्वरी छन्द ही शक्वरी सोपसर्गा कहा जाता है। सामवेदके महानाम्न्यार्चिक संज्ञक दस ऋचाओंमें इनका प्रयोग हुआ है। इस आर्चिकमें तीन तीन मंत्रोंके तीन त्रिक् हैं। इन्हें 'उपसर्ग' जोड़कर गेय बना लिया जाता है। इन ऋचाओंमें दसवीं ऋचा पञ्चपुरीष पदोंवाली है। इन्हें पुरीष-पद कहनेका कारण इनमें वर्णित इन्द्र ही वेदमें अग्नि-पूषन् आदि नामोंसे वर्णित हैं। इस प्रकार ये इन्द्रकी पूर्णताके परिचायक हैं।

५. इस छन्दके अपरनाम उरोवृहती तथा न्यंकुसारिणी भी है। यह बृहती छन्दका एक उपभेद है।

जैमिनीय ब्राह्मण। (इनमेंसे ताण्ड्य ब्राह्मण सबसे बड़ा है; अतः इसको ताण्ड्य महाब्राह्मण भी कहते हैं। इसके दो और भी नाम हैं — प्रौढ ब्राह्मण तथा पञ्चविंश ब्राह्मण।

आरण्यक : इसका कोई आरण्यक ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है।

श्रौत-सूत्र : द्राह्यायण श्रौत सूत्र, लाट्यायन श्रौतसूत्र, मशक सूत्र।

गृह्यसूत्र : गोभिल गृह्यसूत्र, खदिर गृह्यसूत्र और जैमिनीय गृह्यसूत्र।

धर्मसूत्र : सामवेदमें धर्मसूत्रका कोई ग्रन्थ नहीं हैं।

व्याकरण : सामप्रातिशाख्य (पुष्पकृत)।

शिक्षा : सामवेदकी तीन शिक्षाएँ हैं — गौतमी शिक्षा, लोमशी शिक्षा और नारदी शिक्षा।

सामवेदके परिशिष्ट : सामवेदके निम्नाङ्कित ५४ परिशिष्ट प्रसिद्ध हैं — स्नान सूत्र, सन्ध्या सूत्र, गोभिल गृह्यसूत्र, अपरसूत्र, पुष्पसूत्र, गृह्यासंग्रह, कर्मप्रदीप, गोभिलीय परिशिष्ट, श्राद्धकल्प, अद्भुतशान्ति, कुशकण्डिका, महानाम्नी, आचमन, अमृताहरण, गायत्र्यनुक्रमणी सामगीती, सामप्रकाश, सामदर्पण, सामसंख्या, उपवीत, स्थिति-सन्धि, रुद्रविधान, मात्रालक्षण, छल्लाविधान, वृषोत्सर्ग, क्रतुसंख्याविधि, षड्वर्णिका, गीतिसंज्ञा, गीतिकल्प, प्रवासविधि, प्रणत, चरणव्यूह, कलशोत्पत्ति, नैगेयानां, ऋक्षुदेवता, प्रौष्ठपदी, सावित्रपार्णी, गणपतिस्तोत्र, भूतपाडी, गीतपाडी, मन्त्रानुक्रमणिका, पक्षहोमविधान, विशेषभूतपाडी, स्तोभानुसंहार,, श्रावणविधि, संस्कार, हितवाक्य, उत्तरहितवाक्य, सोमोत्पत्ति, प्रताहोम, गायत्रविधान, श्रौतप्रायश्चित्त, श्रौतहोम, अमृताहरण और अवग्रहपददशक।

सामवेदका उपवेद : गान्धर्व-वेद

सामवेदका उपवेद गान्धर्ववेद है। गान्धर्ववेदकी उपलब्ध तेरह शाखाओंमें एक वार्ष्णेय शाखाका उपवेद गान्धर्व उपवेदके नामसे विख्यात है। इसकी एक लाख ऋचाएँ बताई जाती हैं। इसमें चौदह प्रकरण हैं, जो काण्ड कहलाते हैं। इसकी विषयसूची इस प्रकार है —

१. ध्वन्यात्मक शब्दोंका वर्णन, ध्वनिकी उत्पत्ति, ध्वनिश्रवणफल, प्रतिध्वनिकी उत्पत्ति, प्रतिध्वनिफल और उसका प्रकार।
२. वर्णात्मक शब्दकी उत्पत्ति, वर्णकी उत्पत्ति, स्पन्दन-प्रकार, स्पन्दन-विधि, स्वरकी उत्पत्ति, स्वरभेद, व्यञ्जनकी उत्पत्ति, व्यञ्जन-भेद।

३. स्वर-व्यञ्जनका संयोग, स्वर और कालका संयोग, स्वरकी आकृति, स्वरोंके सात भेद — षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत, निषाद। प्रत्येकमें दो दो कोमल और तीव्र ग्राम, प्रत्येकमें तीन तीन मूर्च्छना, इन्हींसे राग-निर्माण, रागिनी-निर्माण, सांकर्य, संयोग, रागात्मक, द्वेषात्मक भाव, नवरस-निरूपण, साहित्य-निरूपण, इनके संवादी, विवादी, अनुवादी, विरोधी, प्रतिरोधी, अनुरोधी, काल सङ्गीत, क्रिया सङ्गीत, देश सङ्गीत, इच्छा सङ्गीत और वास्तुमाला।

४. भावोत्पत्तिका प्रकार, भावका प्रयोग, भाव-समर्थन, ३६ प्रकारके भावभेद (इसीके अन्तर्गत कामशास्त्र भी है)। कामका प्रवेश, अपदेश, आवाहन, विसर्जन, प्रसारण, आकुञ्चन, शब्द और कालका नित्य संयोग, प्रकृति-सम्बन्ध, काल-विरोधसे विकृतिकी उत्पत्ति, विकृति-शान्ति, रोग-शान्ति, तन्त्र-निर्माण, यन्त्र-निर्माण, तत्त्व-विपर्यय, ज्ञान-विपर्यय, वस्तु-सञ्चालन।

५. शब्दके रङ्ग और रूपकी व्याख्या, उनके देवता, प्रत्येक रागकी शक्ति, उनके अधिष्ठातृ देवता, पारमात्मिक सम्बन्ध, भक्ति-उत्पत्ति-प्रकार, चेतावनी, षड् ऋतुवर्णन, ऋतु-विपर्यय, क्रिया-विपर्यय।

६. शब्द-संकेत, प्रकृति-वर्णन, नायक-वर्णन, नायिका-वर्णन, धर्म-संस्थापन।

७. आकाश सङ्घर्षण, तत्त्व-आकर्षण, तत्त्व-विकर्षण।

८. तत्त्व समावेश, क्लेश-हरण, देवता-आवाहन, विसर्जन, जगद्-व्यापार।

९. स्वर और कालका संयोग, उनका वियोग, वस्तुका संयोग-वियोग।

१०. भगवद्‌विभूति, करणज्ञान, कर्त्ताज्ञान।

११. स्वस्त्ययन, मङ्गलाचरण, यज्ञकी आवश्यकता, यज्ञ-गान।

१२. अरण्यगान, ऊहयगान, वैण्यगान।

१३. नर्तन-प्रकार, नर्तनावश्यकता, नाट्यशाला-निर्माण, नाट्य-प्रकार, ताल-उत्पत्ति-प्रकार, ताल-भेद, ताल-नृत्य-सम्बन्ध, वाद्य-निरूपण, वाद्यकी आवश्यकता, राग और वाद्य-सम्बन्ध, उनके भेद, आकाशिक गान, मन्त्र-द्वारा दिव्य गान, गन्धर्वगान, चारण-साहित्य, आप्सरस-नृत्य, उरगनृत्य, मयूरनृत्य, ताण्डवनृत्य, वंशीप्रकार, आकर्षिणी, सम्मोहिनी, स्तम्भनी, ताल-निबन्ध, कङ्कणमाला, जयमाला, पुष्पशय्या, प्रकार और आवश्यकता, सौरगान, चान्द्रगान, तारकनृत्य, वैभवताल।

१४. उपासना-काण्ड।

सङ्गीत-रत्नाकरमें २७००० श्लोक हैं। महर्षि वामदेव इसके रचयिता हैं। इसमें तीन प्रकरण हैं। पहले प्रकरणमें गानकी आवश्यकता, स्वस्ति-वाचन, अरण्यगान, प्रकृति-भिन्नताका प्रकार, दूसरे प्रकरणमें स्वरभेद, तालभेद, मयूर-नृत्य, ताण्डवनृत्य, नाग-नृत्य, सम्मिलन प्रकार, संसार-नर्तन, शरीर नाट्य और राग-रागिनियोंके भेद वर्णित हैं।

तीसरे प्रकरणमें सङ्कर राग-रागिनियोंका वर्णन, सङ्कर-प्रकार और उसकी आवश्यकता, शाब्दिक औषधि, शावर मन्त्र-निर्माण, आवश्यकता, वीणाकी आवश्यकता, वाद्यशिक्षा, तन्त्री (सितार), उसका प्रकार, फल, उपासना-विधि, नाट्य-क्रीडा, रास-विधान, सारस-नृत्य, हंस-नृत्य, शारदागान और धर्मकीर्त्तन वर्णित हैं।

सङ्गीत-दर्पणमें ३२००० श्लोक हैं। शृङ्गी ऋषि इसे निर्माता हैं। इसके छह प्रकरण हैं।

पहले प्रकरणमें सङ्गीतकी आवश्यकता, उसका प्रकार और प्रयोजन। दूसरे प्रकरणमें राग-निर्माण-विधि, आवश्यकता, काल, सम्बन्ध, राग-शक्ति, भैरव-रागका निरूपण और उसकी रागिनी, छह सङ्कर-राग और बारह रागिनी।

तीसरे प्रकरणमें मालव कौशिकका निरूपण, उसकी छह रागिनी, नौ सङ्कर राग और अठारह सङ्कर रागिनी।

चौथे प्रकरणमें श्रीराग निरूपण, श्रीकी छह रागिनी, बारह सङ्कर राग और चौबीस सङ्कर रागिनी।

पाँचवें प्रकरणमें दीपक वर्णन, उसकी छह रागिनी, चौबीस सङ्कर राग और चौबीस सङ्कर रागिनी।

छठे प्रकरणमें मेघ-राग-निरूपण, उसकी छह रागिनी, बारह सङ्कर-राग, सोलह सङ्कर रागिनी , हिण्डोल निरूपण और उसकी छह रागिनी, दस सङ्कर राग, पच्चीस सङ्कर रागिनी, ताल-निरूपण, नृत्य-कर्म, भाव-प्रकाशन और उपासना-विधि वर्णित हैं।

सङ्गीत प्रदीपमें ७००० श्लोक हैं। इसके निर्माता महर्षि शौनक हैं। इसमें दो खण्ड हैं —

पहले खण्डमें राग-रागिनियोंका शृंगार, उनका स्वरूप, काल-सम्बन्ध,

शक्ति आदि निरूपित हैं।

दूसरे खण्डमें गायकोंकी स्थिति, प्रकार, स्वरभेद, तालभेद, देव आवाहन, गन्धर्व, आवाह्न, विद्याधर आवाहन और विसर्जन, धर्मकीर्तन, भक्तिविलास आदिका वर्णन है।

सङ्गीत-प्रभामें १६००० श्लोक हैं। इसके रचयिता सनत्कुमार हैं। इसमें दो खण्ड हैं—

पहलेमें वैकुण्ठताल, लक्ष्मीताल, प्रवाहिनी-शक्ति-निरूपण, कैलासगान, पार्वती ताल, शक्ति-निरूपण, ब्रह्मगान, सरस्वती तालका निरूपण है।

दूसरे खण्डमें प्रकृति-गान, स्त्री-ताल, शक्ति-निरूपण, वचन-शृंगार, स्वर-शृंगार, स्वरकी जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय अवस्थाका वर्णन, स्वर-परिचय, ईश्वरोपासना, स्वर-विरोध-अनुरोध-प्रतिरोध, भगवत्कीर्तन, पाक्षिकगान, पक्षियोंका शब्द-शृंगार, प्रवचनकी आवश्यकता, पक्षिभाषा-परिचय, वर्षाकाल-निरूपण, दर्दुर शब्दोंका शृंगार, प्रावृद् (वर्षा) साहित्य-निरूपण किया गया है।

ऐसा प्रतीत होता है कि गन्धर्व विद्याका अनुशीलन और व्यापार प्रारम्भसे आजतक कभी सर्वथा नष्ट नहीं हुआ। उसका क्रम निरन्तर बना रहा है।

उपर्युक्त ग्रन्थोंके अतिरिक्त बङ्गला विश्वकोषकारने संस्कृतके ५६ ग्रन्थोंकी एक दीर्घ तालिका दी है। इसमें गीत, वाद्य, नृत्य, नाट्य आदि गन्धर्ववेदके समस्त विषयोंपर ग्रन्थ दिए गए हैं।

गन्धर्ववेदके चार आचार्य प्रसिद्ध हैं— सोमेश्वर, भरत, हनूमत् और कल्लिनाथ। आजकल हनूमत्‌का मत प्रचलित है। इनके सङ्गीत-शास्त्रमें सात अध्याय है— स्वाध्याय, रागाध्याय, तालाध्याय, नृत्याध्याय, भावाध्याय, कोकाध्याय और हस्ताध्याय।

गान्धर्ववेद अन्य उपवेदोंके समान सर्वथा व्यवहारात्मक है। अतः इसके जो अंश आजकल प्रचलनमें हैं , उन्हींको लोप होनेसे बचे हुए समझना चाहिए। सामवेदके आरण्यगान और ग्राम गेयगान अब प्रचलनमें नहीं रहे, इसलिये सामगानकी वास्तविक विधि लुप्त हो गई है। साथ ही गानकी प्राचीन विधियोंका स्थान बड़े वेगसे आधुनिक गान-विधियाँ लेती जा रही है। सङ्गीत-शास्त्र ऐसे लोगोंके हाथोंमें पड़ता जा रहा है, जो वैदिक संस्कार एवं आचारकी दृष्टिसे उसके अधिकारी नहीं हैं।

स्तुतिरूप या गीतरूप वाक्यों या रश्मियोंको धारण करनेवाला गन्धर्व है। उसकी विद्या गान्धर्व विद्या या गान्धर्व उपवेद है। गायन, वादन एवं नृत्यकलामें निपुण देव प्रजातिका नाम गन्धर्व है। गान, वाद्य एवं नृत्य तीनोंका आनुषङ्गिक सम्बन्ध है। गानका अनुसरण वाद्य करता है और वाद्यका नृत्य।

साधारणतः लौकिक सङ्गीत शास्त्रके प्रवर्तक भरतमुनि समझे जाते हैं और पारलौकिक संगीतके भगवान शङ्कर। परलोकमें किन्नर, गन्धर्व आदि सङ्गीत-शास्त्रका व्यवसाय करनेवाले माने जाते हैं।

भरतने दो प्रकारका संगीत बताया है, एक – मार्गी और दूसरा देशी। किन्तु मार्गी या देवी संगीत क्या था ? इसका कोई विवरण नहीं दिया, सम्भवतः साम-संगीत ही मार्गी संगीत था। मानव-जातियोंमें मागध, नान्दी वाद्य, बन्दी, गायन, सौख्य, शायिक, वैतालिक, कथक, ग्रन्थिक, गाथी, नट, कुशीलव, सूत आदि सङ्गीत व्यवसायी माने जाते हैं।

पुराणोंमें देवर्षि नारदका नाम सङ्गीताचार्यके समान आता है। इनके अतिरिक्त अन्य ऋषिगण भी सङ्गीतशास्त्रके आचार्य माने जाते थे। ऋषियोंमें प्रचलित गान्धर्ववेद ही मनुष्योंमें सङ्गीत-शास्त्र बन गया। ऋषियोंकी परिभाषामें तीनों ग्रामोंको मन्द्र, मन्द्र और तारस्वरोंको 'त्रिःसाम' कहा जाता था और सप्तस्वर, षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद आजकल 'सरिगमपधनी'-के नामसे प्रसिद्ध हैं। इन्हीं सप्तस्वरोंके नामोंसे सामगायक पुकारे जाते थे। इन्हीं स्वरोंके कोमल और तीव्र, द्रुत, अनुद्रुत और ग्रामादि भेदोंसे असंख्य राग-रागिनयोंकी कल्पना होती है। तालोंके अनेक विभागोंसे गीतोंकी और नर्त्तकोंकी गति निर्णीत होती है। वाद्य भी ताल और स्वरके आधारपर चलते हैं। केवल पुस्तकोंमें मर्यादित गान्धर्व विद्याआज सर्वजन-सुलभ नहीं रह गई है।

सामवेदका पूरक साहित्य

वेदोंमें तीन प्रकारके मन्त्र आए हैं – ऋचाएँ, यजुस् और सामगीति। ऋचाओंके दो प्रकार हैं – एक गेय और दूसरा अगेय। ऋग्वेदमें गेय और अगेय दोनों प्रकारकी ऋचाएँ हैं। यजुर्वेदमें पद्यभाग, ऋचाएँ और गद्यभाग यजुस् दोनों हैं। इनमें कोई भी गेय नहीं है। सामवेदमें गेय ऋचाएँ और गेय यजुस् दोनों हैं। इन्हींके समूहको 'साम' कहते हैं। सामवेदकी ऋचाओंको

'आर्चिक' और यजुसोंको 'स्तोम' कहा गया है। पूर्वमीमांसाके अधिकरणमाला नामके नौवें अध्यायके दूसरे पादके ग्यारहवें अधिकरणमें स्तोमकी एक परिभाषा लिखी हुई है। उसका भाव यह है कि सामवेदमें ऋचाओंके अतिरिक्त गीतिसाधक जितने भी शब्द-समूह हैं, उनका नाम स्तोम है। स्तोम तीन प्रकारके होते हैं – वर्णस्तोम, पदस्तोम और वाक्य-स्तोम। सामवेदके स्तोमोंका एक स्वतंत्र ग्रन्थ है। न्यायमाला-विस्तरके ग्रन्थकारके अनुसार यदि ऋक्का वर्ण विकृत हो जाए और रूप भी न बदले तो भी वर्णोंको वृद्धि प्राप्त हो सकती है। इन वृद्धिप्राप्त वर्णोंको स्तोम कहते हैं। यह वर्णस्तोमका लक्षण है। पदस्तोम दो प्रकारका होता है – अनिरुक्त और निरुक्त। कुल मिलाकर पदस्तोम पन्द्रह प्रकारका है। वाक्यस्तोम नौ प्रकारके हैं।

साम आर्चिक ग्रन्थ भी अध्यापक, देश, कालक्रम, पाठ्यक्रम और उच्चारण आदि भेदसे अनेक शाखाओंमें विभक्त हैं। सब शाखाओंमें मन्त्र तो एक ही है, किन्तु उनकी संख्यामें व्यतिक्रम है। प्रत्येक शाखाके श्रौत और गृह्यसूत्र और प्रातिशख्य भिन्न भिन्न है। यद्यपि सामवेदकी एक सहस्र शाखाएँ कही जाती हैं, किन्तु प्रचलित केवल तेरह ही हैं। कुछ विद्वानोंके मतानुसार वास्तवमें तेरह ही शाखाएँ हैं। 'सहस्रतमः गीत्युपायाः'-के प्रमाणसे जो सहस्र शाखाएँ बताई जाती हैं, उनका अर्थ 'हज़ारों प्रकारसे गानके उपाय' है। यह न करके सहस्र शाखाएँ समझ ली गई हैं। इसीसे यह भ्रम फैला है। उन तेरह शाखाओंमेंसे भी अब केवल दो ही प्रचलित हैं – उत्तर भारतमें कौथुमी शाखा और दक्षिण भारतमें राणायनी शाखा। आर्चिक ग्रन्थ तीन हैं – छन्द, आरण्यक और उत्तरा। उत्तरार्चिकमें एक छन्द, एक स्वर और एक तात्पर्यकी तीन तीन ऋचाओंको मिलाकर एक एक सूक्त बना दिया गया है। इन सूक्तोंको तृच नाम दिया गया है। इसी प्रकारके समान भावापन्न दो दो ऋचाओंकी समष्टिका नाम प्रगाथ रखा है। तृच् और प्रगाथ दोनोंमें पहली ऋचाका छन्द आर्चिकोंमेंसे लिया गया है। इसी छन्द आर्चिकसे एक ऋक् और सभी प्रकारसे उसीके अनुरूप दो अन्य ऋचाओंको मिलाकर तृच् बनता है और इसी प्रकार प्रगाथ भी। इनमें पहली ऋचाएँ योनिऋक् कहलाती हैं। आर्चिक ग्रन्थ योनिग्रन्थके नामसे भी प्रसिद्ध है।

योनिऋक्के पश्चात् ही उसीके समान दो या एक ऋक् जिसके उत्तर दलमें मिलें, उसीका नाम उत्तरार्चिक है। इसीलिए तीसरेका नाम उत्तरा है।

एक ही अध्यायका बना हुआ तथा अरण्यमें ही अध्ययन करने योग्य ग्रन्थ आरण्यक कहा जाता है। सब वेदोंमें एक आरण्यक है। योनि, उत्तरा और आरण्यक इन तीन ग्रन्थोंका साधारण नाम आर्चिक अर्थात् ऋक्-समूह है। छन्दोग्रन्थोंमें जितने साम हैं, उनके गायक छन्दोग कहलाते हैं। इन्हीं छन्दोगोंके कर्मकाण्ड-विषयक जो आठ ब्राह्मण ग्रन्थ व्यवहारमें आते हैं, वे छान्दोग्य कहलाते हैं। ये सब आरण्यक ग्रन्थ छान्दोग्यारण्यक नामसे प्रसिद्ध हैं।

गायनकी दृष्टिसे सामवेदके चार भाग हैं – गेय, आरण्य, ऊह और ऊह्य। गेय गीतिकाका दूसरा नाम ग्राम्यगेय गान है। गेयगान ग्रन्थमें योनिऋचाएँ व्यवहारमें आती हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थमें इसी ग्राम्यगेय गानको गेनिगान भी कहा है, किन्तु सायणनने इसे वेदसाम नाम दिया है। छन्द आर्चिकमें जिस ऋक्के बाद जो ऋक् आई है, गेयगानमें भी उसी उसी ऋक्मूल गानके बाद वही ऋक्मूल गान है।

सामवेदका आरण्यक सामसंहिताके अन्तर्गत है। आरण्यक, आर्चिक और आनुषङ्गिक अन्यान्य ऋचाओंके आधारपर जो समस्त सामगीत बना है, वह सब प्रपाठक षट्क और द्वादश प्रपाठकार्द्धमें विभक्त है। आरण्यक आरण्यगान भी कहलाता है। सामवेदी ब्राह्मण छन्दोमय मन्त्रोंका गान करते हैं। इसीलिए इस आरण्यक ग्रन्थका नाम छान्दोग आरण्यक हुआ। यह ग्रन्थ छह प्रपाठकोंमें विभक्त है।

छन्द आर्चिकके साथ गेयगानका जो सम्बन्ध है वही आरण्यगानका है। उत्तरार्चिकके साथ ऊह ओर ऊह्यगानका भी वैसा ही सम्बन्ध है। इसके अतिरिक्त अरण्यगानमें इस तरहके अनेक गान दिखाई पड़ते हैं जिनका मूल ऋक-आरण्यमें नहीं मिलता किन्तु छन्द आर्चिकमें मिलता है। इस प्रकारके भी अनेक गान हैं जो प्रारम्भमें ऋक्से तो नहीं निकले हैं किन्तु स्तोमग्रन्थमें उनकी उत्पत्तिका बीज मिलता है। ऊहगानमें और ऊह्यगानमें जो सब गान हैं उन सबकी मूल स्थिति यद्यपि आरण्यगानकी भाँति विकीर्ण नहीं है और वह एक ही उत्तरार्चिकमें सीमाबद्ध भी है तथापि उत्तरार्चिकके ऋक् सन्निवेश क्रमानुसार इन सब गानोंका साम सन्निवेश क्रम नहीं है। गेयगानकी भाँति तीन तीन साम एकत्र करके एक एक स्तोम बनता है। प्रायः समस्त ऊह्यगान इसी प्रकारके स्तोत्र हैं। ऊहगानमें तेईस प्रपाठक हैं, ऊह्यगानमें छह प्रपाठक हैं। ऊह्यका दूसरा नाम रहस्यगान है। ये दोनों गान मिलाकर गाए जाते हैं

और आरण्यगानके ग्रन्थसे परिमाणमें दोगुणा हैं। सायणाचार्य, भरतस्वामी, महास्वामी, नारायणपुत्र और माधव सामसंहिताके भाष्यकार हैं।

सामवेदीय ब्राह्मणग्रन्थोंमें ताण्ड्य महाब्राह्मण सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं। इसमें पच्चीस अध्याय हैं, इसलिये यह पञ्चविंश ब्राह्मण भी कहलाता है। इसके पहले अध्यायमें यजुरात्मक श्रुतिमन्त्रसमूह है , दूसरे और तीसरे अध्यायमें बहुतस्तोम विषय है। चौथे और पाँचवें अध्यायमें गवामयन संवत्सर-सत्र प्रकरण है। छठें अध्यायमें अग्निष्टोमकी प्रशंसा लिखी गई है। पूर्णन्याय, प्रकृति-विकृति-लक्षण, मूल-प्रकृति-विचार, भावनाका कारणादि ज्ञान, षोडशर्त्विक-परिचय, सोम-प्रकाश-परिचय, सहस्रसंवत्सरसाध्य तथा विश्व-सृष्ट-साध्य, सत्रोंके सम्पादनकी विधि ताण्ड्य महाब्राह्मणमें पाई जाती है। इनके अतिरिक्त इसमें अनेक उपाख्यान एवं ऐतिहासिक महत्त्वकी बातें भी मिलती हैं। इस ग्रन्थमें सोमयागकी कथा और तत्सम्बन्धी सामगान विशेष रूप से लिखे गए हैं। समयव्यापी सत्र-समूहकी व्यवस्थाके साथ कौन सा सत्र एकदिवसीय होगा, कौन-सा सौ दिन रहेगा, कौन-सा वर्ष-भर चलेगा, कौन-सा सौ वर्ष चलेगा और कौन-सा एक सहस्र वर्षोंतक चलेगा, इसकी व्यवस्था भी दी गई है। सामगानके सम्बद्ध उत्सवोंका विवरण ताण्ड्य ब्राह्मणमें दिया गया है। सायणाचार्य इसके भाष्यकार और हरिस्वामी इसके वृत्तिकार हैं।

दूसरे ब्राह्मण-ग्रन्थका नमा षड्विंश ब्राह्मण है। सायण इसके भाष्यकार हैं। पञ्चविंश ब्राह्मणमें जिन क्रियाओंका उल्लेख नहीं हुआ, उन सबका उल्लेख इस ब्राह्मणमें है। ताण्ड्य ब्राह्मणमें उल्लिखित कर्मोंसे इसमें उल्लिखित कर्मोंका क्या भेद है, यह भी भली-भाँति स्पष्ट किया गया है। सुब्रह्मण्य, सवनत्रय, ब्रह्मकर्त्तव्य, व्याहृति, होमादि, नैमित्तिक, प्रायश्चित्त, सौम्यचरुविधि, बहिष्पवमान कर्म, होत्रादि ऊपहव, ऋत्विगादि विधान, नैमित्तिक होम, अध्वर्यु-प्रशंसा, देवयजनमें ज्ञातव्य कर्म, अवभृथ, अभिचार सम्बन्धी निवृत्ति, द्वादशाह स्तुति, वैश्वदेव सत्र और अद्भुत समूहकी शान्ति इसमें वर्णित हैं।

तीसरे ब्राह्मणका नाम साम-विधान है। इसमें अधिकार-भुक्त और अशक्त लोगोंकी शुद्धिके लिये कृच्छ्रादि प्रायश्चित्त, अग्न्याधान, अग्निहोत्रादि साम-विधानका संग्रह है।

आर्षेय ब्राह्मण सामवेदका चौथा ब्राह्मण है। इस ग्रन्थमें ऋषि-सम्बन्धी

उपदेश दिए गए हैं अर्थात् सामोंके ऋषि, गोत्र छन्द और देवता आदिपर विचार और व्याख्या है। सायणाचार्यने इसपर भी भाष्य लिखा है।

पाँचवाँ ब्राह्मण देवताध्याय कहलाता है। इसमें देवता-सम्बन्धी अध्ययन है। पहले अध्यायमें सामवेदीय देवताओंका बहुविध प्रीति-कीर्त्तन है। दूसरे अध्यायमें वर्ण और वर्ण देवताका विवरण है। तीसरे अध्यायमें इन सबकी निरुक्तिपर विचार है। इस ब्राह्मणका भी सायणाचार्यने भाष्य लिखा है।

छठे ब्राह्मणका नाम मन्त्र-ब्राह्मण है। इसमें दस प्रपाठक हैं। गृह्य यज्ञकर्मके प्रायः सभी मन्त्र इस ग्रन्थमें संगृहीत हैं। इसे उपनिषद्, सहितोपनिषद् ब्राह्मण या छान्दोग्य ब्राह्मण भी कहते हैं। इसमें सामवेद पढ़नेवालोंकी प्रकृति उत्पादनके लिये सम्प्रदाय-प्रवर्त्तक ऋषियोंकी कथा लिखी है। इस ब्राह्मणके आठवेंसे दसवें प्रपाठकतकके अंशका नाम 'छान्दोग्योपनिषद्' है।

सामवेदके ब्राह्मण-ग्रन्थ आठ भागोंमें प्रकाशित हुए हैं, परन्तु प्रत्येक शाखाका एक ही ग्रन्थ मिलता है। शाकल-गणका ऐतरेय ब्राह्मण, वाजसनेयियोंका शतपथ ब्राह्मण, तैत्तिरीयवालोंका तैत्तिरीय ब्राह्मण और कौथुमवालोंका ताण्ड्य ब्राह्मण। महर्षि ताण्ड्यने इसका संचालन किया, अतः इसका नाम ताण्ड्य पड़ा। छन्दोग गणोंका ब्राह्मण होनेसे छान्दोग्य नाम पड़ा। पच्चीस अध्याय होनेसे ताण्ड्य ब्राह्मणको पञ्चविंश ब्राह्मण तो कहा जाता है, किन्तु इसमें वस्तुतः चालीस अध्याय देखनेमें आते हैं। षड्विंश ब्राह्मणके पाँच अध्याय और पञ्चविंश ब्राह्मणके पच्चीस अध्याय मिलकर कौथुमशाखीय ब्राह्मणके श्रौतकर्म-विषयक जो इक्कीस अध्यायवाला भाग बना, वही ताण्ड्य ब्राह्मणका पहला भाग या श्रौत भाग है। यद्यपि षड्विंश ब्राह्मणमें छठे अध्यायके नामसे एक और अध्याय है, किन्तु कहीं अन्यत्र इसका उल्लेख नहीं मिलता। यह अध्याय अद्भुत-ब्राह्मणके नामसे प्रसिद्ध है। सायणाचार्यने सभी सामवेदीय ब्राह्मणोंका भाष्य किया है। ब्राह्मण-भाष्य-भूमिकामें उन्होंने जिन अन्यान्य ब्राह्मणोंका नामोल्लेख किया है, वे सब मन्त्र और उपनिषद् मिश्रित ग्रन्थ हैं और समष्टि-भाव से ताण्ड्य ब्राह्मणके दूसरे भागमें समझे जा सकते हैं। ब्राह्मणग्रन्थ श्रौत और गृह्य दोनों ही प्रकारके विषयोंसे पूर्ण समझे जाते हैं।

ऐतरेय ब्राह्मणके पूर्वभागमें श्रौतविधि है और दूसरे भागमें अन्य विधियाँ हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मणमें भी ऐसी ही व्यवस्था है। उसके पहले भागमें श्रौत विधि है और दूसरे भागमें गृह्यमन्त्र और उपनिषद्-भाग है। इस श्रेणी-विभागकी

कल्पना करनेवाले सामविधिको अनुब्राह्मण संज्ञामें अन्तर्निविष्ट मानते हैं। उनका कथन है कि पाणिनि सूत्र (अनुब्राह्मणादिभ्यो ४।२।६२)-में अनुब्राह्मणका उल्लेख है, किन्तु सायणकी कल्पनामें अनुब्राह्मणका उल्लेख नहीं है। अनुब्राह्मण नामके किसी अन्य ग्रन्थका कहीं उल्लेख नहीं है। वस्तुतः 'विधान' ग्रन्थोंको अनुब्राह्मणग्रन्थ कहना सुसंगत प्रतीत होता है।

सामवेदीय उपनिषद्-ग्रन्थोंमें छान्दोग्योपनिषद् और केनोपनिषद् प्रसिद्ध हैं। छान्दोग्योपनिषद्में आठ अध्याय हैं। यह छान्दोग्योपनिषद् ब्राह्मणका एक विशेषांश है परन्तु उसमें दस अध्याय हैं। पहले दो अध्यायोंमें ब्राह्मणोपयुक्त विषयोंपर विचार हुआ है। शेष आठ अध्याय उपनिषद्के हैं। छान्दोग्य ब्राह्मणके पहले अध्यायमें आठ सूक्त आए हैं। ये सब सूक्त जन्म और विवाहकी मंगलकामनाके लिये हैं। ब्रह्मतत्त्वके सम्बन्धमें यह सर्वप्रधान उपनिषद् समझी जाती है।

दूसरी उपनिषद् केनोपनिषद् है। इसकी दूसरी संज्ञा तलवकार भी है। यह तलवकार ब्राह्मणके अन्तर्गत है और तलवकार शाखा-सम्मत है।

इन दोनों उपनिषदोंपर शंकराचार्यके भाष्य हैं। आनन्दतीर्थ, ज्ञानानन्द, नित्यानन्दाश्रम, बालकृष्णानन्द, भगवद्भावक शंकरानन्द, सायण, सुदर्शनाचार्य, हरिभानु शुक्ल, वेदेश, व्यासतीर्थ, दामोदराचार्य, भूसुरानन्द, मुकुन्द और नारायणने इनपर वृत्तियाँ और टीकाएँ लिखी हैं।

सामवेदके सर्वाधिक सूत्रग्रन्थ हैं। पञ्चविंश ब्राह्मणका एक श्रौतसूत्र और एक गृह्यसूत्र है। पहले श्रौतसूत्रका नाम माशक है। लाट्यायनने इसके मशक-सूत्र कहा है। इन ग्रन्थोंका दूसरा नाम कल्पसूत्र भी है। सोमयागके स्तोत्र-मन्त्र धारावाहिक रूपसे सूत्रमें संगृहीत हैं। इसमें पञ्चविंश ब्राह्मणकी भाँति प्रार्थना-स्तोत्रोंका श्रेणी-विभाग हुआ है। अन्यान्य ब्राह्मणोंकी तथा क्रियाकाण्डकी कुछ कथाएँ इस सूत्रमें मिलती हैं। इस ग्रन्थमें 'जनक सप्तरात्र यज्ञ'-का उल्लेख है। ग्यारहवें प्रपाठकके पहले पाँच अध्यायोंमें एकाध्यायका विवरण है और छठेसे नौवें अध्यायतक कतिपय दिवस-साध्य यागोंका वर्णन है। शेष दो अध्यायोंमें सत्र-समूहोंका विवरण है। वरदराजने इसपर भाष्य किया है।

लाट्यायन-सूत्र दूसरा श्रौत-सूत्र है। यह कौथुम शाखाके अन्तर्गत है और पञ्चविंश ब्राह्मणका ही है। उसके अनेक वाक्य इसमें आए हैं। इसके पहले प्रपाठकमें सोमयागके साधारण नियम दिए गए हैं। आठवें और नौवें अध्यायके

कुछ अंश एकाह्यागकी प्रणालीपर हैं। नौवें अध्यायके शेषांशमें कुछ दिवसोंतक चलनेवाले यज्ञोंका विवरण है। दसवें अध्यायमें सत्रोंका विवरण है। इस ग्रन्थपर रामकृष्ण दीक्षित, सायण और अग्निस्वामीके सुन्दर भाष्य हैं।

तीसरे श्रौत-सूत्रका नाम द्राह्यायण हैं। यह लाट्यायन श्रौत-सूत्रसे थोड़ा ही भिन्न हैं। इसका दूसरा नाम वसिष्ठ सूत्र हैं। इसका सम्बन्ध सामवेदकी राणायनी शाखासे हैं। माध्वस्वामीने इसपर भाष्य लिखा हैं। रुद्रस्कन्दस्वामीने 'औद्गात्र-सारसंग्रह' नामक निबन्धमें उस भाष्यका और परिष्कार किया हैं। धन्विनने इसपर छान्दोग्य-सूत्र-दीप नामकी वृत्ति लिखी हैं। अनुपद-सूत्र चौथा साम-सूत्र है। इस ग्रन्थमें दस प्रपाठक हैं। इन सूत्रोंका संग्रहकर्त्ता अज्ञात है। इसमें पञ्चविंशब्राह्मणके बहुतसे दुर्बोध वाक्योंकी व्याख्या की गई है। इसमें बहुतसी ऐतिहासिक सामग्री और प्राचीन ग्रन्थोंके नाम भी मिलते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इनके अतिरिक्त स्वतंत्र रूपसे सामवेदके श्रौतसूत्रोंके कई संग्रह हुए थे। निदान-सूत्र भी उनमेंसे एक हैं। इसमें दस प्रपाठक हैं। इसमें भिन्न भिन्न सामवेदीय उक्थ, स्तोत्र और गान-सम्बन्धकी पर्यालोचना है। अनेक वेद-शाखाओंके और वेदोपदेष्टाओंके अनेक सिद्धान्त इस ग्रन्थमें संगृहीत हैं। इस दृष्टिसे अनुपद-सूत्र से इसका बहुत सादृश्य हैं। इसमें अनेकशः लाट्यायन, द्राह्यायण, शाण्डिल्य और शौचिवृक्षी आदि धर्मोपदेष्टाओंका नाम आता है, किन्तु अनुपद-सूत्रमें नहीं आता।

इसी प्रकार एक अन्य सूत्र है – पुष्पसूत्र। इसके रचयिता गोभिल माने जाते हैं। इस ग्रन्थके पहले चार प्रपाठकोंमें अनेक प्रकारके पारिभाषिक और व्याकरण-द्वारा गढ़े हुए ऐसे शब्द आए हैं, जिनका मर्म समझना कठिन हैं। इन चार प्रपाठकोंकी टीका भी नहीं मिलती। किन्तु शेषांशपर अजातशत्रु-द्वारा लिखित विशद भाष्य है। ऋक्-मन्त्ररूपी कलिका किस प्रकार सामरूप पुष्पमें परिणत हुई, यह बात इस ग्रन्थमें समझाई गई है। दक्षिणात्योंमें यह फुल्ल-सूत्र नामसे प्रसिद्ध है और वररुचिकी रचना बताई जाती है, परन्तु इसका कोई प्रमाण नहीं है। इसके शेषांशमें श्लोक हैं। इसपर दामोदर-पुत्र रामकृष्ण-रचित एक वृत्ति भी है।

इसी प्रकार एक अन्य ग्रन्थका नाम है – सामतन्त्र। इसमें तेरह प्रपाठक हैं। इसमें सामगानकी विधि, उसके संकेत और प्रणाली हैं। ग्रन्थके अन्तमें दिए गए परिचयसे ज्ञात होता है कि यह सामवेदका व्याकरण-विशेष है। कुछ

विद्वानोंने इस ग्रन्थका नाम 'सामलक्षणम प्रातिशाख्य शास्त्रम' लिखा है। ऋक् मन्त्रको सामसें परिणत करनेकी विधिके सम्बन्धमें सामवेदके बहुतसे सूत्र-ग्रन्थ हैं। इनमें कात्यायन-रचित 'पञ्चविधि-सूत्र' और 'प्रतिहार-सूत्र' प्रमुख हैं। मशक-सूत्रके वृत्तिकार, वरदराजने इसपर एक वृत्ति लिखी है। इनके अतिरिक्त ताण्ड्य-लक्षण-सूत्र, उपग्रन्थ-सूत्र, कल्पानुपद-सूत्र, अनुस्तोत्र सूत्र नामक सामवेदीय सूत्र-ग्रन्थ हैं। उपग्रन्थ-सूत्र कात्यायन-रचित माने जाते हैं। पञ्चतिथि-सूत्रमें दो प्रपाठक हैं और कल्पनानुपद-सूत्रमें भी दो ही प्रपाठक हैं। क्षुद्र-सूत्रमें तीन प्रपाठक हैं। उपग्रन्थसूत्रमें प्रायश्चित्तकी व्यवस्था है। दयाशंकर और रामकृष्ण दीक्षितने इस साममन्त्रकी वृत्ति लिखी है।

गृह्यसूत्र भी अनेक हैं। गोभिलके गृह्यसूत्रमें चार प्रपाठक हैं। कात्यायनने इसपर एक परिशिष्ट लिखा है। यद्यपि कर्म-प्रदीपक नामका यह परिशिष्ट गोभिल गृह्यसूत्रके पूरक-रूपमें लिखा गया है, तथापि एक स्वतंत्र गृह्यसूत्र और स्मृति-शास्त्रकी भाँति इसका आदर होता आया है। आशादित्य शिवरामने 'कर्मप्रदीप' ग्रन्थकी टीका की है। उनके अनुसार गोभिल गृह्यसूत्रोंको कौथुम और राणायन दोनों शाखावाले भी अपनाते हैं और दोनों ब्राह्मणों-द्वारा यह अनुमोदित भी है। भद्रनारायण, सायण और विश्रामसुत शिविने इसपर वृत्तियाँ लिखी हैं। इनके अतिरिक्त 'खादिर गृह्यसूत्र' नामका एक और गृह्यसूत्र प्राप्त होता है। कुछ विद्वानोंकी सम्मतिमें खादिर ही द्राह्यायण गृह्यसूत्रके कर्त्ता हैं। रुद्रस्कन्द स्वामीने इसपर वृत्ति लिखी हैं।

खादिर गृह्यसूत्रपर वामन-रचित कारिकाएँ भी मिलती हैं। गौतम-रचित एक अन्य गृह्यसूत्रका नाम भी पितृमेध-सूत्र है। इसके टीकाकार अनन्तज्ञानके मतसे यह गौतम न्यायसूत्रके रचयिता महर्षि गौतम ही हैं। इसके अतिरिक्त गौतम-रचित गौतम-धर्म-सूत्र है।

सामवेदके पद्धति-ग्रन्थ कई प्रकारके हैं। सूत्र-ग्रन्थोंसे इनका घनिष्ठ सबन्ध है। इनमें क्रियाओंके प्रमाणके सम्बन्धमें शिक्षा और व्यवस्था है। इनके अतिरिक्त सामवेदीय परिशिष्ट ग्रन्थ भी विपुल मात्रा में हैं। पद्धतिकार लोग सूत्रग्रन्थोंका अनुसरण करते हैं; किन्तु परिशिष्टमें वार्तिक ग्रन्थोंकी भाँति अनेक नई बातें जोड़ी हुई हैं। यद्यपि सामवेदीय परिशिष्ट-ग्रन्थ संख्यामें अनेक हैं, तथापि उनमें ताण्ड्य परिशिष्ट ही विशेष रूपसे उल्लेख्य है।



अथर्ववेद

देवताओंमें सर्वप्रथम ब्रह्माकी उत्पत्ति हुई, वे इस विश्वके रचयिता और रक्षक बने, उन्होंने अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वाको सकल विद्याओंकी मूल ब्रह्मविद्याका उपदेश दिया। अथर्वाने अपना समस्त ज्ञान अंगिराको प्रकाशित किया। फिर भरद्वाज वंशोद्भव सत्यवाहको वही विद्या सिखाई। वही श्रेष्ठ विद्या सत्यवाहने अंगिरस्को पढ़ाई थी। अथर्वाने सर्वप्रथम अग्निकी सृष्टि करके आर्योंमें यज्ञादि क्रियाएँ प्रवर्त्तित की थीं—

अग्निर्जातो अथर्वणा विदद्विश्वानि काव्या।
भुवद्दूतो विश्वतो।

(ऋग्वेद १०।२२।५)

(अथर्वाने अग्निको उत्पन्न किया था, जो समस्त विद्याओंको जानते थे। वे विवस्वत्के दूत बने थे।)

अथर्वा त्वा प्रथमो निरमन्थदग्ने। (वाजसनेय संहिता)

हे अग्नि ! अथर्वाने आपको पहले उत्पन्न किया था।

अथर्वन् ऋषिके सम्बन्धमें एक पौराणिक किंवदन्ती भी है कि पूर्वकालमें स्वयम्भू ब्रह्माने सृष्टिके लिये दारुण तपस्या की। अन्तमें उनके रोमकूपोंसे पसीनेकी धारा बह चली। इसमें उनका रेतस भी था। यह जल दो धाराओंमें विभक्त हो गया। उसकी एक दिशासे रेतस एकत्र होकर भृगु नामक महर्षि उत्पन्न हुए, तब यह देववाणी हुई, जो गोपथ ब्राह्मणमें (१।४) दी हुई है, "अथर्ववाग, एवंएतम् स्वेदाप स्वन्विच्छ" इस प्रकार उनका नाम अथर्वन् पड़ा। दूसरी धारासे अङ्गिरा नामक महर्षिकी उत्पत्ति हुई। उन्हींसे अथर्वांगिरसोंकी उत्पत्ति हुई।

यह माना गया है कि इस वेदमें सब वेदोंका सार-तत्त्व निहित है। इसीलिये यह सबसे श्रेष्ठ है। गोपथ ब्राह्मणमें लिखा है – "श्रेष्ठो हि वेदस्तपसोऽधिजातो, ब्रह्मज्ञानं हृदये संबभूष।" (१।९)

एतद्वै भूयिष्ठं ब्रह्म यद् भृग्वंगिरसः।
येऽङ्गिरसः सः सरसः। येऽथर्वाणस्तद् भेषजम्।
यद् भेषजं तदमृतम्। यदमृतं तद् ब्रह्म। (३।४)

अथर्वन् एक अत्यन्त प्राचीन ऋषिका नाम है जिसके सम्बन्धमें ऋग्वेदमें लिखा है कि इसी ऋषिने संघर्षण-द्वारा अग्निको प्रकट किया और सबसे पहले यज्ञोंके द्वारा वे मार्ग बनाए, जिनसे मनुष्यों और देवताओंमें सम्बन्ध स्थापित हो गया। इसी ऋषिने पारलौकिक और अलौकिक शक्तियों-द्वारा विरोधी असुरोंको वशमें कर लिया। इसी अथर्वन् ऋषिके, अंगिरा ऋषि और भृगुऋषिके वंशजोंको जो मन्त्र मिले, उन्हींकी संहिताका नाम अथर्ववेद, भृग्वांगिरसवेद या अथर्वांगिरस वेद पड़ा। इसका नाम ब्रह्मवेद भी है।

मार्कण्डेयपुराणके अनुसार अथर्ववेदकी उत्पत्ति ब्रह्माके उत्तरमुखसे हुई थी। इस वेदका भ्रमर और अञ्जनके समान श्यामवर्ण है, तथा घोराघोर स्वरूप और शान्ति एवं अभिचारादिक प्रक्रियाओंसे परिपूर्ण है।

भागवतके अनुसार ब्रह्माके दक्षिण मुखसे और विष्णुपुराणके अनुसार ब्रह्माके उत्तर मुखसे अथर्ववेदकी उत्पत्ति हुई है। (भागवत ३।१२।३७, विष्णुपुराण १।५।५५)

विष्णुपुराणके अनुसार, "पहले यजुर्वेद अर्थात् आध्वर्यव क्रिया-प्रधान वेद एक प्रकारका था। वेदव्यासने इस यजुः प्रधान वेदके चार भाग बनाए, जिससे चातुर्होत्र स्थापित हुआ, जिससे उन्होंने यज्ञानुष्ठाताकी विधि निर्धारित की। यजुर्वेद-द्वारा आध्वर्यव, ऋग्वेद-द्वारा होतृ, सामवेद-द्वारा उद्‌गातृ और अथर्ववेद-द्वारा यथाविधान ब्रह्मत्वकी स्थापना की और क्षत्रियोंके शान्ति-पुष्टि प्रभृति समुदाय देवकर्म इस अथर्ववेद-द्वारा ही कराए।" (विष्णुपुराण, ३ अंश, ४ अध्याय)

यद्यपि अथर्ववेदका नाम सब वेदोंके बादमें आता है, तथापि यह समझना भूल होगी कि यह वेद सबसे पीछे बना है। वस्तुतः ऋक्, यजुः और साम ये तीनों शब्द मन्त्र-रचनाकी प्रणाली मात्र हैं। इनसे वेदके संहिता-विभागकी सूचना नहीं मिलती। यज्ञ-कर्मको अच्छी प्रकारसे सम्पन्न करनेके लिये ही चार

संहिताओंका विभाजन किया गया है। ऋग्वेद होताके लिये, यजुर्वेद, अध्वर्युके लिये, सामवेद उद्गाताके लिये और अथर्ववेद ब्रह्माके लिये है। सायणने इसपर विस्तारसे विचार किया है।

अङ्गिरा ऋषिने अथर्ववेदोक्त मन्त्रपाठपूर्वक देवेन्द्रकी पूजा की। इससे प्रसन्न होकर इन्द्रने उन्हें दर्शन देकर वर दिया कि उनका अथर्वाङ्गिरस नाम वेदमें प्रसिद्ध होगा और उन्हें सर्वत्र यज्ञ-भाग प्राप्त होगा।

मेदसा तर्पयेद्देवानथर्वाङ्गिरसः पठन्।
पितॄंश्च मधुसर्पिर्म्यामन्वहं शक्तितो द्विजः ॥

(याज्ञवल्क्य १।४४)

ब्रह्माण्ड पुराणके अनुसार, "महर्षि सुमन्तुने अथर्ववेदको दो भागोंमें विभक्त कर कबन्ध नामक शिष्यको पढ़ाया। फिर कबन्धने दो भागोंमें विभक्त अथर्ववेदको पथ्य और वेद-स्पर्श या देवदर्श नामक दो शिष्योंको पढ़ाया। फिर वेद-स्पर्शने चार भाग बनाकर मोद, ब्रह्मबल या ब्रह्मबलि पिप्पलाद और शौक्तायणि या श्लोकयानिको इसका दान दिया। पथ्यने तीन भाग कर जाजलि, कुमुदादि और शौनकको अथर्वसंहिता प्रदान की। शौनकने अर्धात संहिताको दो भागोंमें विभक्त कर एक शाखा वभ्रुको और एक शाखा सैन्धवायनको पढ़ाई। सैन्धव अर्थात् सैन्धवायन शिष्य और मुंजकेश अर्थात् वभ्रुके शिष्यने अपनी अपनी संहिता दो दो भागोंमें विभक्त की —संहिता कल्प और आङ्गिरस कल्प। अथर्ववेदमें ५००० ऋक् और २० ऋषि हैं, जिन्हें अङ्गिरसने बनाया है। अग्निपुराणके मतसे इसके षष्ठि सहस्राधिक अयुत् (११०६०) मन्त्र और एक सौ एक उपनिषत् हैं।

पहले अथर्वा और अंगिरावंशियोंके अनेक मन्त्र थे। समस्त मन्त्रोंके एकत्र संकलनसे अथर्ववेदकी उत्पत्ति हुई। अथर्ववंशीयगण जिस प्रणालीसे मन्त्र रखते थे, वेदमें वही प्रणाली पाई जाती है। केवल अंगिरसोंके मन्त्र मिला देनेको स्थान स्थानमें अन्य प्रणालीका अवलम्बन लिया गया है। प्रजापतिने तीनों लोक उत्तप्त किए थे। उन्हीं तप्यमान तीनों लोकोंसे उन्होंने तीन सार भाग बाहर निकाले। पृथिवीसे अग्नि, अन्तरिक्षसे वायु और द्युलोकसे आदित्य उद्धृत किए गए। उन्होंने फिर इन तीन देवताओंमें ताप पहुँचाया और इन तीनों देवताओंके उत्तप्त होनेसे इनका सारांश उद्धृत किया गया। अग्निसे ऋग्वेद, वायुसे यजुर्वेद और आदित्यसे सामवेद उपलब्ध हुआ। प्रजापतिने इन तीनों विद्याओंमें फिर

ताप छोड़ा। इनके उत्तप्त होनेपर ऋक्से भूः, यजुः से भुवः और सामसे स्वर उत्पन्न हुआ। (छान्दोग्योपनिषद ४।१७)

इससे प्रतीत होता है कि पहले ब्राह्मण ऋक, यजुः और साम-रूप वेदत्रयीका ही अध्ययन करते थे।

प्रस्थान-भेद प्रणेता मधुसूदन सरस्वतीने लिखा है, "यज्ञादि सम्पन्न करनेके लिये वेदके ऋक, यजुः और साम – यह तीन प्रकारके विभाग किए गए हैं। अथर्ववेद यागादिकोंमें तो अनुपयुक्त है परन्तु शान्ति, पौष्टिक और अभिचार आदिका इसमें अच्छा वर्णन किया गया है इसलिये यह बड़ा ही अद्भुत है।"

कुछ विद्वानोंका मत है कि अथर्ववेद म्लेच्छोंका वेद है किन्तु यह भ्रान्त सिद्धान्त है; वस्तुतः अथर्ववेद व्रात्योंका वेद है। मनुने (मनु. २।२८-२९) कहा है कि गर्भसे सोलहवें वर्षतक ब्राह्मणोंके, २२वें वर्षतक क्षत्रियोंके औरर २४वें वर्षतक वैश्योंके यज्ञोपवीतका काल नहीं बीतता। यह समय अतीत होनेपर वह सावित्री पतित और असंस्कृत ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य व्रात्य कहलाते हैं जो आर्योंमें निन्दनीय हैं।

किन्तु अथर्ववेदमें व्रात्योंकी बहुत प्रशंसा की गई है, समस्त १५वाँ काण्ड व्रात्यकी प्रशंसासे परिपूर्ण है। अथर्ववेदी इस वेदको ब्रह्मवेद बताते हैं।

दशरथका पुत्रेष्टि-याग अथर्ववेदीय विधानानुसार अनुष्ठित हुआ था क्योंकि यज्ञस्थलमें ब्रह्मा नामक ऋत्विकके वेदका नाम अथर्ववेद है। पहले अथर्ववेदकी अनेक शाखाएँ थीं। अब उनमें केवल शौनक शाखा विद्यमान है। यह वेद नौ भागोंमें विभक्त है; यथा – पैप्लाद, शौनकीय, दामोद, तोत्तायन, जामल, ब्रह्मपालाश, कुनखा, देवदर्शी और चारण-विद्या। एक अन्य मतसे उन शाखाओंके नाम इस प्रकार हैं – पैप्पलाद, आन्ध्र, प्रदात्त, स्नात, श्नौत, ब्रह्मदावन, शौनक, देवदर्शती और चारणविद्या। इनके अतिरिक्त तैत्तिरीय नामके दो प्रकारके भेद पाए जाते हैं – औरव्य और काण्डिकेय। फिर काण्डिकेय भी और पाँच भागोंमें विभक्त है। यथा – आपस्तम्ब, बौधायन, सत्यावाची, हिरण्यकेशी और औधेय। चरण-व्यूहमें लिखा है –

द्वादशानां सहस्राणि मन्त्राणां विंशतानि च।
गोपथं ब्राह्मणं वेदोऽथर्वणे शतपाठकम ।।

अथर्ववेदमें बारह हजार तीन सौ मन्त्र, गोपथ ब्राह्मण और शत प्रपाठक विद्यमान हैं। इस वेदके मन्त्रोंकी तालिका इस प्रकार है –

१ काण्डमें	३५ सूक्त	६ अनुवाक	२ प्रपाठक	१५३ ऋक्
२ काण्डमें	३६ सूक्त	६ अनुवाक	४ प्रपाठक	२०७ ऋक्
३ काण्डमें	३२ सूक्त	६ अनुवाक	६ प्रपाठक	२३१ ऋक्
४ काण्डमें	४० सूक्त	८ अनुवाक	९ प्रपाठक	३२४ ऋक्
५ काण्डमें	३० सूक्त	६ अनुवाक	१२ प्रपाठक	३७६ ऋक्
६ काण्डमें	१४२ सूक्त	१० अनुवाक	१५ प्रपाठक	४५४ ऋक्
७ काण्डमें	११८ सूक्त	१० अनुवाक	१७ प्रपाठक	२८६ ऋक्
८ काण्डमें	१० सूक्त	५ अनुवाक	२१ प्रपाठक	२५९ ऋक्
९ काण्डमें	१० सूक्त	५ अनुवाक	२१ प्रपाठक	३०२ ऋक्
१० काण्डमें	१० सूक्त	५ अनुवाक	२३ प्रपाठक	३५० ऋक्
११ काण्डमें	१० सूक्त	५ अनुवाक	२५ प्रपाठक	३१३ ऋक्
१२ काण्डमें	५ सूक्त	५ अनुवाक	२७ प्रपाठक	३०४ ऋक्
१३ काण्डमें	४ सूक्त	४ अनुवाक	२८ प्रपाठक	१८८ ऋक्
१४ काण्डमें	२ सूक्त	२ अनुवाक	२१ प्रपाठक	१३९ ऋक्
१५ काण्डमें	१८ सूक्त	२ अनुवाक	३० प्रपाठक	१४१ ऋक्
१६ काण्डमें	९ सूक्त	२ अनुवाक	३१ प्रपाठक	९३ ऋक्
१७ काण्डमें	१ सूक्त	१ अनुवाक	३२ प्रपाठक	३० ऋक्
१८ काण्डमें	४ सूक्त	४ अनुवाक	३४ प्रपाठक	२८३ ऋक्
१९ काण्डमें	७२ सूक्त	७ अनुवाक	—	४५६ ऋक्
२० काण्डमें	१४३ सूक्त	९ अनुवाक	—	९४१ ऋक्

इस प्रकार समस्त अथर्ववेदमें ५८३०से अधिक मन्त्र नहीं हैं। ये समस्त मन्त्र गद्य-पद्यात्मक हैं, जिनमें पद्यभाग ही अधिक है।

सायणाचार्यने अथर्ववेदका भाष्य किया था; किन्तु आजकल वह अनुपलब्ध है। अथर्ववेदके पहलेसे सातवें काण्डतक सूक्तकी संख्या ऋक्-संख्याके अनुसार है; अर्थात पहले काण्डके चार, दूसरे काण्डके प्रतिसूक्तमें पाँच पाँच, तीसरे काण्डके प्रति सूक्तमें छह छह, चौथे काण्डके प्रतिसूक्तमें सात सात और पाँचवें काण्डके प्रतिसूक्तमें आठसे लेकर अठारह तक ऋक् विद्यमान हैं। छठे काण्डके प्रतिसूक्तमें तीन ऋक् हैं और सातवें काण्डके प्रति सूक्तमें एक एक ही ऋक् मिलती है। आठवें काण्डसे अठारहवें काण्डतक अनेक बड़े-बड़े सूक्त हैं। तेरहवें काण्डतक विषयोंका क्रम निर्धारित नहीं किया गया है। उनमें विशेष रूपसे प्रार्थना, मन्त्र, प्रयोग और विधियाँ हैं, जिनसे भूत, प्रेत, पिशाच, असुर, राक्षस, डाकिनी, शाकिनी, बेताल आदिसे मनुष्य बच सके। जादू-टोना

करनेवालोंसे, सर्पोंसे, नागोंसे, अनेक प्रकारके हिंसक जन्तुओंसे और रोगोंसे बचा रहे। उनमें सन्तानके लिये, सर्वसाधारणकी रक्षाके लिये, व्यक्तिकी रक्षाके लिये, विशेष प्रकारकी ओषधियोंमें विशेष गुणोंके आवाहनके लिये, मारण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण आदि प्रयोगोंके लिये सौख्य, सम्पत्ति, व्यापार और जुएँ आदिमें सफलताके लिये प्रार्थनाएँ और मन्त्र हैं।

तेरहवें काण्डमें रोहित नामक देवताका विवरण दिया गया है। कदाचित वहीं सबके सृष्टिकर्त्ता रहे होंगे। उनकी पत्नीका नाम रोहिणी था। चौदहवें काण्डमें विवाह की रीतियाँ हैं। पन्द्रहवें काण्डमें व्रात्यका वृत्तान्त कहा गया है। सोलहवें और सत्रहवें काण्डमें विविध विषय संकलित हुए हैं। अठारहवें काण्डमें अन्त्येष्टि-क्रिया और पितरोंके श्राद्धकी रीतियाँ हैं। उन्नीसवें काण्डमें विविध मन्त्रोंका संग्रह है। बीसवें काण्डके अधिकांश भागमें इन्द्र देवताकी स्तुति है जो प्रायः ऋग्वेदके प्रथम मण्डलसे उद्धृत की गई है। अथर्ववेदका लगभग छठा भाग ऋग्वेदसे संकलित है। अथर्ववेदमें भी पुरुष-सूक्त है, किन्तु ऋग्वेदके पुरुष-सूक्तसे इसमें पाठका प्रभेद भी है।[१]

अथर्ववेदका कुछ भाग ऋग्वेदसे मिलता हुआ होनेपर भी दोनोंका प्राकृतिक भाव विभिन्न प्रतीत होता है। ऋग्वेदके ऋषि प्रकृतिके सौन्दर्यसे मुग्ध हैं, किन्तु अथर्ववेदके ऋषि उपदेवोंके भय और उनके भौतिक प्रतापसे अतिशय चिन्तायुक्त हैं।

अथर्ववेदमें रोगादि झाड़नेके मन्त्र अधिक मिलते हैं। स्वामीकी वशीभूत करने, विष झाड़ने, शत्रुको मारने और वन्ध्या नारीको सन्तानोत्पत्तिके मन्त्र अथर्ववेदमें विद्यमान हैं। तत्कालीन समस्त ब्राह्मण क्षत्रियोंका पौरोहित्य करते थे, अतः उन्हें अथर्ववेद अच्छी प्रकार पढ़ना पड़ता था। रघुवंशमें कालिदासने 'अथर्वनिधि' विशेषणसे वसिष्ठकी गौरव-वृद्धि की है—

अथाथर्वनिधेस्तस्य विजितारिपुरः पुरः।

कोई व्यक्ति मृतकल्प होनेसे वह मन्त्र पढ़ उसे झाड़ते थे। उदाहरणार्थ एक मन्त्र प्रस्तुत है। किसीको कठिन रोग लगनेपर ऋषि इस मन्त्रको पढ़कर झाड़ते-फूँकते थे—

आवतस्त आवतः परावतस्त आवतः।
इहैव भव मा नु गा मा पूर्वाननु गाः पितृनसुं वध्नामि ते दृढम् ॥१॥

---

१. देखिए परिशिष्ट भाग-१

यत् त्वाभिचेरुः पुरुषः स्वो यदरणो जनः।
उन्मोचनप्रमोचने उभे वाचा ददामि ते ।।२ ।।
यद् दुद्रोहिथ शेपिषे स्त्रियैः पुंसे अचित्त्या।
उन्मोचन प्रमोचने उभे वाचा ददामि ते ।।३ ।।
यदेनसो मातृकताच्छेषे पितृकृताच्च यत।
उन्मोचन प्रमोचने उभे वाचा ददामि ते ।।४ ।।
यततेमाता यत तेपिता जामिर्भ्राता च सर्जतः।
प्रत्यक् सेवस्व भेषजं जरदष्टिं कृणोमि त्वा ।।५।।
इहैधि पुरुष सर्वेण मनसा सह।
दूतौ यमस्य मानु गा अधि जीवपुरा इहि ।।६ ।।
अनुहूतः पुनरेहि विद्वानुदयनं पथः।
आरोहणमाक्रमणं जीवतोजीवतोयनम ।।७ ।।
मा विभेर्न भरिष्यसि जरदष्टिं कृणोमि त्वा।
निरवोचमहं यक्ष्मामङ्गेभ्यो अङ्गज्वरं तव ।।८ ।।

(अथर्ववेद ५ काण्ड, ३० सूक्त)

तुम्हारे निकटसे, तुम्हारे दूरसे (मैं तुमको बुलाता हूँ)। इसी स्थानपर रहो, जाओ नहीं, अपने पूर्व पितृपुरुषोंके समीप मत जाओ। मैं तुमको दृढ रूपसे पकड़कर रखता हूँ। तुम्हारा कोई आत्मीय जन अथवा अन्य कोई यदि अभिचार क्रिया करता रहा हो तो मैं उसे मन्त्र पढ़कर दूर किए देता हूँ। यदि तुमने अनजानेमें किसी स्त्री या पुरुषको कष्ट अथवा शाप दिया हो तो मैं उसे छुड़ा देता हूँ। यदि तुमको पिता या माताके पापसे यह पीड़ा हो तो मैं मन्त्र पढ़कर उसे झाड़े देता हूँ। तुम्हारे पिता, माता, भगिनी, भ्राता आदि जो औषधि देते हैं, उसका सेवन करो। मैं तुमको दीर्घजीवी बनाता हूँ। हे पुरुष ! अपने समस्त मनके साथ यहींपर रहो। दो यमदूतोंके साथ मत जाओ। इस जीवित मनुष्यकी पुरीमें रहो। जीविताके पथवाले उदयन, आरोहण, अवतरण प्रभृति मनमें विचार, तुमको बुलानेपर लौट आना, कोई डर नहीं। तुम मरोगे नहीं। मैं तुमको दीर्घजीवी बनाता हूँ। यक्ष्मारोगसे तुम्हारे शरीरका क्षय होता था, उसे मैं झाड़ रहा हूँ।

अथर्ववेदके ८वें काण्डवाले पहले सूक्तमें मृत्युके प्रति लिखा है —

अन्तकाय मृत्यवे नमः प्राणा अपाना इह ते रसन्ताम्।
इहायमस्तु पुरुषः सहामुना सूर्यस्य भागे अमृतस्य लोके।।

"अन्तक मृत्युको नमस्कार है, तुम्हारा प्राण और अपान वायु इसी स्थानपर रहे। इसी सूर्यपुर और अमृतलोकमें आत्माके साथ यही पुरुष विद्यमान रहे।"

अथर्ववेदके संकलन-कालमें लाङ्गलादि(हल-आदि)-की पूजा की जाती थी –

सीते वन्दामहे त्वार्वाची सुभगे भव।
यथा नः सुमना असो यथा नः सुफला भुवः ॥

(अथर्ववेद ३।१७।८)

ब्रह्माण्ड पुराणमें अथर्ववेदका प्राधान्य प्रतिपादित हुआ है –

बह्वृचो हन्ति वै राष्ट्रमध्वर्यु नाशयेत सुतम्।
छन्दोगो धनं नाशयेत् तस्मादाथर्वणो गुरुः ॥

बह्वृच (ऋग्वेदके पुरोहित) राज्यको नष्ट करते, अध्वर्यु (यजुर्वेदके पुरोहित), सन्तानको नष्ट करते, छन्दोग (सामवेदके पुरोहित) धन नष्ट करते हैं, इसलिये आथर्वण ही सब वेदोंमें श्रेष्ठ हैं। अथर्ववेदी पुरोहित उत्पातकी सृष्टि करते और शान्ति भी करते हैं। ब्रह्मवेदज्ञ (अथर्ववेदज्ञ) व्यक्ति द्युलोक, अन्तरिक्ष और पृथ्वीके नाना प्रकारके उत्पातोंकी शान्ति करते हैं; अतः भृगुको दक्षिण दिशामें रखना आवश्यक है।

अथर्ववेदके समय ऋषि हिमालय पर्वतके निकट रहते थे। (अथर्ववेद १२।१।११; ५।४।८) इस वेदमें विधवा-विवाह और एक पतिके रहते अन्य पतिग्रहणका उल्लेख विद्यमान है। (९।५।२७-२८)

अथर्ववेदकी कथाओंसे ज्ञात होता है कि उस समय आर्य लोग इन्द्रिय-सुख भोगनेमें ही तत्पर रहते थे। इसीके अनुसार मरणोत्तरका निवास स्वर्गधाम, इन्द्रिय-सुखका आस्पद बताया गया है। (अथर्ववेद ४।३४।२-४) इसीलिये ऋषियोंने बार बार कहा है –

स्वर्गं लोकमभि नो नयासि सं जायया सह पुत्रैः स्याम ॥

(अथर्ववेद १२।३।१७)

"हमें स्वर्ग ले चलो, जिसमें हम स्त्री-पुत्रके साथ एकत्र वास कर सकें। वे एक ओर जैसे स्वर्ग-लाभके अभिलाषी हैं, वैसे ही दूसरी ओर मृत्यु-भयसे सशंकित जान पड़ते हैं। अथर्ववेदमें कालको ही सर्वोपरि बताया गया है –

कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः सहस्राक्षो अजरो भूमिरेताः।
तमारोहन्ति कवयो विपश्चितस्तस्य चक्रा भुवनानि विश्वा ॥१॥
कालो भूमिमसृजत काले तपति सूर्यः।
कालो ह विश्वा भूतानि काले चक्षुर्विपश्यति ॥६॥
काले मनः काले प्राणः काले नाम समाहितम्।
कालेन सर्वा नन्दन्त्यागतेन प्रजा इमाः ॥७॥
(१९ काण्ड, ६३ सूक्त)

अथर्ववेदका प्रतिपाद्य विषय

अथर्ववेदमें नाना प्रकारके ऐहिक फल, शान्ति, पुष्टिकर्म, राजकर्म, तुलापुरुष महादानादि, पौरोहित्य और राज्याभिषेक आदि विषयोंका वर्णन है।[१]

अथर्ववेदीय गोपथ ब्राह्मणके आधारपर निर्मित पाँच सूत्रोंमें प्रतिपादित विषय इस प्रकार हैं —

कौशिक सूत्र में राजकर्म-समुदाय इस प्रकार कहा गया है — यथा — शत्रु-हस्तित्रासन, संग्राम-विजय-साधन, इषु-निवारणार्थ, खड्गादि सर्वशस्त्र निवारण, शत्रुपक्षीय सेना सम्मोहन, उद्भेदन, स्तम्भन और उच्चाटन, अपनी सेनाका उत्साह-वर्धन और अभय रक्षा, संग्राममें जय और पराजयकी परीक्षा, सेनापति-प्रभृति प्रधान नायकोंका जयकरण, शत्रुसेनाके सञ्चरण प्रदेशमें

---

१. पौरोहित्य शांतिक पौष्टिकानि राज्ञाम् (?) अथर्ववेदेन कारयेत् ब्रह्मत्त्वं च।
(विष्णुपुराण)

'शांति पुष्ट्यभिचारार्था एकब्रह्मार्त्विगाश्रयाः।
क्रियंतेऽथर्ववेदेन एष्ये वार्त्माय गोचराः॥' (भट्टाचार्य)
'अभिषिक्तोऽथर्व मंत्रैर्महींभुंक्ते ससागराम्।' (मार्कण्डेयपुराण)
पुरोहितं तथाऽऽथर्व मंत्र ब्राह्मण पारगम्। (मत्स्यपुराण)
'यस्य राज्ञो जनपदे अथर्वा शांति पारगाः
निवसत्यपितद्राष्ट्रम वर्धते निरूपद्रवम
तस्माद् राजा विशेषेण अथर्वाणम जितेन्द्रियम
दानसम्मान सत्कारैर्नित्यं समभिपूजयेत। (अथर्व. परिशिष्ट ४।६.)
त्रय्यांयांच (?) दण्डनीत्याञ्च कुशलः स्यातपुरोहितः।
अथर्वविहित कर्म कुर्यात शान्तिकं पौष्टिकम॥ (नीतिशास्त्र)

अभिमन्त्रित पाश, असि कश आदिका प्रहरण और प्रक्षेपण, जयकामी राजाका रथमें आरोहण और रणक्षेत्रमें अभिमन्त्रित भेरी, पटहादि सर्वप्रकार वादित्रताड़न, सपत्नक्षय कर्म, शत्रुद्वारा उत्सादित राजाका स्वराष्ट्र प्रवेशोपाय और राज्याभिषेक। पापक्षय, निर्ऋतिकर्म, चित्रकर्मादि, पौष्टिक कर्म, गोसमृद्धि कर्म, लक्ष्मीकर कार्य, पुष्टिनिमित्तमणिबन्धनादि, कृषिपुष्टिकर, समृद्धिकरकार्य, गृह-सम्पत्तिकर कार्य, नवशालानिर्माण विषय, वृषोत्सर्ग, अग्रहायणीयकर्म, जन्मान्तर कृत पाप-जन्य विविध दुःसाध्यरोगोंकी चिकित्सा (उनमें ज्वर, अतिसार, बहुमूत्र और सब तरहकी व्याधियाँ विशेष भावसे वर्णित हैं), शस्त्रादि अभिघात द्वारा प्रवाहित रुधिरका निरोध कर्म, भूतप्रेतपिशाच, अपस्मार, ब्रह्मराक्षस, बालग्रहादि निवारण, वात, पित्त, श्लेष्माकी औषध-व्यवस्था, हृद्रोग और कामिलाश्वित्र निवारण, सन्तत ज्वर, एकाहिकादि विषमज्वर, राजयक्ष्मा और जलोदरका निवारण, गाय, घोड़े आदिका कृमिहरण, कन्दमूल, सर्प, वृश्चिक प्रभृति स्थावर और जङ्गम विषनिवारण, सिर, आँख, नाक, जीभ, कान और ग्रीवादि रोगकी औषध-व्यवस्था, ब्राह्मणादिका आक्रोश-निवारण, गण्डमालादि विविध रोगोंकी चिकित्सा, पुत्रादिकाम, स्त्रीकर्म, सुखप्रसवकर्म, गर्भाधान, गर्भबृंहण और पुंसवनादि कर्म, सौभाग्यकरण, राजादिमन्युनिवारण, अभीष्ट सिद्ध्यसिद्धि विज्ञान, दुर्दिन, अशनि, अतिवृष्टि निवारण, सभाजय, विवादजय और कलह-शमन, स्वेच्छानुसार नदी प्रवाहकरण, वृष्टिकर्म, अर्थोत्थापन कर्म, द्यूतजय कर्म, गोवंश-विरोध निवारण, अश्वशान्ति, वाणिज्य लाभकर्म, स्त्रीगण पाप लक्षण निवारण, वास्तु संस्कार कर्म, गृह-प्रवेश कर्म, कपोत, वायसादि-द्वारा उपहृत गृहमें शान्तिकी विधि, दुष्प्रतिग्रह और आज्य याजनादि दोष-निवारण, दुःस्वप्न-निवारण, पुत्रके पाप नक्षत्रमें जन्म होनेकी शान्ति, ऋणोपनोदन, दुःशकुन शान्ति, आभिचारिकादि कर्म, प्रकृताभिचारनिवारण, स्वस्त्ययनादि, आयुष्यकर्म, जातकर्म, नामकरण, चूड़ाकरण, उपनयन आदि, एकाग्निसाध्य काम्य याग समूह। ब्रह्मौदन, स्वर्गौदनादि, द्वाविंशति सत्र यज्ञ, क्रव्याच्छमन, आवसथ्याधान, विवाह, पितृमेधिक कर्म, पिण्ड, पितृयज्ञ, मधुपर्क, पांशुरुधिरवर्षण, यक्षराक्षसादि दर्शन, भूकम्प, धूमकेतु और चन्द्रार्कोपल्लवादि बहुविधि उत्पातशान्ति, आज्यतन्त्रविधि, अष्टका कर्म, इन्द्रमद और अध्ययन विधि।

वैतान सूत्रमें अयनान्त निष्पाद्य त्रयी विहित दर्श, पूर्णमासादि कर्मके ब्रह्मा, ब्राह्मणाच्छंसि, आग्नीध्र और होता इन्हीं चार ऋत्विकोंके कर्मकी कर्त्तव्यता प्रतिपादित हुई है। इस विषयमें अनुज्ञान मन्त्र आदि, ब्रह्माके शस्त्रादि, ब्राह्मणाच्छंसिके अन्वाहार्य श्रपन प्रस्थित आज्यादि, आग्नीध्रके और प्रस्थित आज्यादि पोताके, यही विभाग दिखाई पड़ते हैं। इस विषयमें क्रमक्रमसे यज्ञ किस प्रकारका होगा वह यथाक्रम वर्णित है। यथा — प्रथम दर्श पूर्णमास, तदनन्तर अग्न्याधान, अग्निहोत्र, आग्रयणेष्टि, चातुर्मास्य, विश्वेदेव, वरुणप्रघास, शाकमेध, शुनासीरी, पशुयाग, अग्निष्टोमोक्था, षोडश, अतिरात्रात्मक, प्रकृतिभूत और चतुःसंस्थ सोमयाग, वाजपेय, अप्तोर्याम, अग्निचयन, सौत्रामणि, मैत्रावरुणसम्बन्धी ईक्षेष्टि गवामयन, राजसूय, अश्वमेध, पुरुषमेध, सर्वमेध, बृहस्पतिसव, गोसवादि एकाह, सोमयाग, व्युष्टि, द्विरात्र, प्रकृति और अहीन यज्ञ, रात्रिसत्र समूह, सांवत्सरिकअयन, दर्श-पूर्णमास अयन।

नक्षत्र-कल्पमें पहले कृत्तिकादि नक्षत्रकी पूजा और होम है। उसके बाद अद्भुत महाशान्ति, निर्ऋति कर्म, अमृतसे लेकर अभय पर्यन्त महाशान्तिके निमित्त-भेदसे तीस प्रकारके कर्म हैं। यथा — दिव्य, अन्तरिक्ष और भूमिलोकके उत्पातोंकी अमृत नामकी महा शान्ति। गतायुके पुनर्जीवन प्राप्तिके लिये वैश्वदेवी शान्ति। अग्निभय-निवृत्ति हेतु और सब तरहकी कामना-प्राप्तिके लिये आग्नेयी महा शान्ति। नक्षत्र और ग्रहसे भयार्त्त रोगीके रोगमुक्त होनेके लिये भार्गवी महा शान्ति। ब्रह्मवर्चस चाहनेवालेके वस्त्र, शयन और अग्नि ज्वलनके लिये ब्राह्मी-महाशान्ति। राज्यर्थी और ब्रह्मवर्चस चाहनेवालेके लिये बार्हस्पत्य महा शान्ति। प्रजा, पशु और अन्नलाभ और प्रजाक्षय निवारणके लिये प्राजापत्य महा शान्ति, शुद्धि चाहनेवालेके लिये सावित्री महा शान्ति। छन्द और ब्रह्मवर्चस चाहनेवालेके लिये गायत्री महा शान्ति। सम्पत्ति चाहनेवाले और अभिचारकसे, अभिचर्य्यमाण व्यक्तिके लिये आंगिरसी महा शान्ति। विजय, बल, पुष्टि कामी और परचक्रोच्छेदन कामीके लिये ऐन्द्रि महा शान्ति। अद्भुत विकार-निवारण चाहनेवाले और राज्य-कामनावालेके लिये माहेन्द्रि महाशान्ति। धनकामी और धन क्षय निवारणके लिये कौबेरी महाशान्ति। विद्या, तेज और धनायुष्य कामीके लिये आदित्या महाशान्ति। अन्नकामीके लिये वैष्णवी महाशान्ति। भूतिकाम और वास्तुसंस्कार कर्मके लिये वास्तोष्पत्या महाशान्ति। रोगार्त्त और

आपद्ग्रस्तके लिये ऐन्द्री महा शान्ति। विजय-कामनावालेके लिये अपराजिता महाशान्ति। यम-भयके लिये याम्या महाशान्ति। जलभयके लिये वारूणी महाशान्ति। वातभयके लिये वायवी महाशान्ति। कुल-क्षय निवारणके लिये सन्तति महाशान्ति। वस्त्रक्षय निवारणके लिये त्वाष्ट्री महाशान्ति। बालककी व्याधि निवारणके लिये कौमारी महाशान्ति। निर्ऋति ग्रस्तके लिये नैर्ऋति महाशान्ति। बल चाहनेवालेके लिये मारुद्गणी महाशान्ति। अश्व क्षय-निवारणके लिये गांधर्वी महाशान्ति। गजक्षय-निवारणके लिये ऐरावती महाशान्ति। भूमि चाहनेवालेके लिये पार्थिवी महाशान्ति और भयार्त्तके लिये भया नामक महाशान्ति।

आंगिरस-कल्पमें अभिचार कर्मकालमें कर्त्ता और कारयिता सदस्योंकी आत्मरक्षा करनेकी विधि बतायी है। उसके बाद अभिचारके उपयुक्त देशकाल मण्डपकर्त्ता और कारयिताके दीक्षादि धर्म, समिधा और आज्यादिके सँभालनेका निरूपण है। फिर अभिचार कर्म-समूह और प्रकृताभिचार निवारण और अन्यान्य कर्मादि हैं।

शान्ति-कल्पमें पहले वैनायकोंद्वारा ग्रस्तके लक्षण हैं। उनकी शान्तिके लिये द्रव्यके सँभालने और एकत्र करनेकी व्यवस्था है। अभिषेक और वैनायक होमादि हैं। उनकी पूजाका विधान है और आदित्यादि नवग्रहके यज्ञादि भी इसीमें सन्निविष्ट हैं।

अथर्ववेदमें उपर्युक्त विषयोंके प्राचुर्यके साथ साथ बीचमें सूत्रकी भाँति ब्रह्मविद्याके गूढ विषय निहित हैं जिनका पूरा विकास उपनिषदोंमें पूर्ण रीतिसे हुआ है। यही बात है कि अथर्ववेदकी उपनिषदोंकी संख्या और वेदोंकी उपनिषदोंकी संख्यासे कहीं अधिक बड़ी है। यहाँ उदाहरणकी भाँति अथर्ववेदके पहले काण्डके पहले अनुवादके पहले सूक्तको भाष्य-सहित प्रस्तुत करते हैं—

बुद्धि वृद्ध्युपदेशः—बुद्धिकी वृद्धिके लिये उपदेश

येत्रिषप्ताः परियन्ति विश्वारूपाणि विभ्रतः।
वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे ॥१॥

भावार्थ—तृणसे लेकर परमेश्वर-पर्यन्त जो पदार्थ संसारकी स्थितिके कारण हैं, उन सबका तत्त्वज्ञान (वाचस्पतिः) वेदवाणीके स्वामी सर्वगुरु जगदीश्वरकी कृपासे सब मनुष्य वेद-द्वारा प्राप्त करें और उस अन्तर्यामीपर पूर्ण विश्वास करके पराक्रमी और परोपकारी होकर सदा आनन्द भोगें ॥१॥

पतञ्जलिने कहा है –

स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात।

(योगदर्शन, पाद १, सूत्र २६)

वह ईश्वर सब पूर्वजोंका भी गुरु है क्योंकि वह कालसे विभक्त नहीं होता।

पुनरेहि वाचस्पते देवेन मनसा सह।

वसोष्पते निरमय मय्ये वास्तुमयिश्रुतम् ॥२॥

भावार्थ – मनुष्य प्रयत्नपूर्वक (वाचस्पति) परम गुरु होकर गुरु परमेश्वरका ध्यान निरन्तर करता रहे और पूरे स्मरणके साथ वेदविज्ञानसे अपने हृदयको शुद्ध करके सदा सुख भोगे ॥२॥

टिप्पणी – यास्कमुनिने वाचस्पतिका अर्थ 'वाचःपाता वा पालयिता वा' अर्थात वाणीकी रक्षा करनेवाला या करानेवाला किया है – निरु० १०।१७। और निरु० १८ में उदारहण-रूपसे इस मन्त्रका पाठ इस प्रकार है –

पुनरेहि वाचस्पते देवेन मनसा सह।

वासेष्पते निरामय मय्येव तन्वं १ मम ॥१॥

हे वाणीके स्वामी! तू बारम्बार आ। हे धन व अन्नके रक्षक! प्रकाशमय मनके साथ मुझमें ही मेरे शरीरको नियमपूर्वक रमण करा।

मनकी उत्तम शक्तियोंको बढ़ानेके लिये (यज्जाग्रतो दूरमुदेति दैवम) इत्यादि यजुर्वेद अ० ३४ म० १-६ भी हृदयस्थ करने चाहिएँ।

इहैवाभि वितनूभे आर्त्नी इव ज्यया।

वाचस्पतिर्नि यच्छतु मय्येवास्तु मयि श्रुतम् ॥३॥

भावार्थ – जैसे संग्राममें शूरवीर धनुषकी दोनों कोटियोंको डोरीमें चढ़ाकर बाणसे रक्षा करता है उसी प्रकार आदि गुरु परमेश्वर अपने कृपायुक्त दोनों हाथोंको (अर्थात् अज्ञानकी हानि और विज्ञानकी वृद्धिको) मुझ ब्रह्मचारीपर फैलाकर रक्षा करें और नियम-पालन में दृढ करके परम सुखदायक ब्रह्मविद्याका दान करें और विज्ञानका पूरा स्मरण मुझमें रहे ॥३॥ यास्कके अनुसार निरुक्त ९।१७ (ज्या) शब्दका अर्थ जीतनेवाली अथवा आयु घटानेवाली अथवा बाणोंको छोड़नेवाली वस्तु है।

उपहूतो वाचस्पति रुपास्मान वाचस्पतिर्ह्वयताम्।

सं श्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन विराधिषि ॥४॥

भावार्थ — ब्रह्मचारी लोग परमेश्वरका आवाहन करके निरन्तर अभ्यास और सत्कारसे वेदाध्ययन करें जिससे प्रीतिपूर्वक आचार्यकी पढ़ाई ब्रह्मविद्या उनके हृदयमें स्थिर होकर यथावत् उपयोगी होवे।

इस सूक्तका यह भी तात्पर्य है कि जिज्ञासु ब्रह्मचारी अपने शिक्षक आचार्यको सदा आदर-सत्कार करके यत्नपूर्वक विद्याभ्यास करे जिससे वह शास्त्र उनके हृदयमें दृढभूमि होवे।

अथर्ववेदके

ब्राह्मण — गोपथ ब्राह्मण

आरण्यक — अथर्ववेदमें कोई आरण्यक ग्रन्थ नहीं मिलता।

गृह्यसूत्र — वैखानस गृह्यसूत्र और वाराह गृह्यसूत्र।

व्याकरण — अथर्वप्रातिशाख्य।

विलुप्त ब्राह्मण — चरक ब्राह्मण, श्वेताश्वतर ब्राह्मण, काठक ब्राह्मण, मैत्रायणीय ब्राह्मण, जाबाल ब्राह्मण, खाण्डिकेय ब्राह्मण हारिद्रविक ब्राह्मण, आह्वरक ब्राह्मण, कंकृति ब्राह्मण, गालव ब्राह्मण, औखेय ब्राह्मण, भाल्लवि ब्राह्मण, शाट्यायनि ब्राह्मण, कालवति ब्राह्मण, रौरुकी ब्राह्मण, तुम्बरु ब्राह्मण, आरुणेय ब्राह्मण, पैंगायनि ब्राह्मण, सौलभ ब्राह्मण, शैलालि ब्राह्मण, पराशर ब्राह्मण, माषशरावि ब्राह्मण, कापेय ब्राह्मण और अन्वाख्यान ब्राह्मण।

शिक्षा — अथर्ववेदकी केवल एक माण्डूकी शिक्षा है।

सर्ववेद-विषयिणी शिक्षाएँ — चारों वेदोंमें प्रयुक्त होनेवाली तीन शिक्षाएँ हैं— पाणिनीय शिक्षा, शिक्षा-प्रकाश और षोडश श्लोकी शिक्षा।

अथर्ववेदके परिशिष्ट — अथर्ववेदके निम्नांकित ७३ परिशिष्ट प्रसिद्ध हैं — नक्षत्रकल्प, राष्ट्रसंवर्ग, राजप्रथमाभिषेक, राजपुरोहित-कर्म, पुष्याभिषेक, पिष्टरात्रिकल्प, घृतावक्षेण, तिलधेनुविधि, भूमिदानविधि, तुलादानविधि, अपूपदानविधि, हिरण्यगर्भविधि, हस्तिरथदानविधि, गोसहस्रदानविधि, हस्त्यश्वदीक्षा, असाम्वत्सरीय हस्त्यश्वदीक्षा, वृषोत्सर्ग, इन्द्रमहोत्सव विधि, ब्रह्मयाग, स्कन्दयाग महोत्सव विधि, सम्भारलक्षण, अराणिलक्षण, यज्ञपात्रलक्षण, वेदिलक्षण, कुण्डलक्षण, समिल्लक्षण, स्रुवलक्षण, हस्तलक्षण, वृहल्लक्षहोम, कोटिहोमविधि, गणमालाविधि, घृतकम्बलविधि, अनुलोमकल्प, आसुरीकल्प, उच्छुष्मकल्प, समुच्चय प्रायश्चित्तविधि, ब्रह्मकूर्चविधि, तडागादिविधि, पाशुपतव्रत, सन्ध्योपासनविधि, तर्पणविधि,

श्राद्धविधि, अग्निहोत्रकल्प, उभयपटल, वर्षापटल, चरणव्यूह, चन्द्रप्रातिपदिक, ग्रहयुद्ध, ग्रहसंग्रहविधि, राहुचार, केतुचार, ऋतुकेतुलक्षण, कूर्मविभाग, मण्डल, दिग्दाहलक्षण, उल्कालक्षण, विद्युतलक्षण, परिवेषलक्षण, भूमिकल्पलक्षण, नक्षत्रग्रहोत्पातलक्षण, शेषोत्पातलक्षण, सद्योवृष्टिलक्षण, अद्भुतशान्ति, स्वप्नाध्याय, अथर्वहृदय, आरात्रिकल्प, भार्गवपरिशिष्ट, ब्राहस्पत्यपरिशिष्ट, उशनसाद्भुत परिशिष्ट और महाद्भुत परिशिष्ट।

वेदोंके कल्प – चारों वेदोंके कर्म-विभागके व्यवस्थापनार्थ ऋषियोंने नक्षत्रकल्प, वेदकल्प, संहिताकल्प, आंगिरसकल्प और शान्तिकल्प ये पाँच कल्प बनाए हैं। इन पाँचों कल्पोंमें नक्षत्रकल्प, आंगिरस कल्प और शान्तिकल्प, ये तीन कल्प तो चारों वेदोंके लिये एक ही कहे गए हैं; वेदकल्प तथा संहिता-कल्प ये दो कल्प प्रत्येक वेदके लिये पृथक् पृथक् कहे गए हैं। नारद-पुराणमें इनका विस्तृत विवरण दिया गया है।

अथर्ववेदका उपवेद – अर्थवेद

अर्थवेद सामान्यतः अथर्ववेदका उपवेद माना जाता है जबकि कुछ लोग आयुर्वेदको अथर्ववेदका उपवेद स्वीकार करते हैं। इस उपवेदसे सम्बद्ध शुद्ध वैदिक साहित्यका कोई ग्रन्थ आजकल प्राप्त नहीं होता। अर्थोपवेद, अर्थवाद, अर्थचन्द्रोदय, सम्पतिशास्त्र, नीतिप्रभा और काश्यपेय दण्डनीति ये ग्रन्थ अर्थशास्त्रसे सम्बद्ध बताए जाते हैं, किन्तु इनमेंसे कोई भी उपलब्ध नहीं है।

वर्तमानमें प्रचलित अट्ठाईस स्मृति-ग्रन्थ ही अर्थवेदसे सम्बद्ध माने जाते हैं, किन्तु शुक्रनीति और कामन्दकीय नीतिशास्त्रमें वात्तकि सम्बन्धमें विस्तृत विवरण दिया गया है।

अर्थशास्त्र या अर्थवेद एक बहुत व्यापक नाम है। इसमें समाजशास्त्र, दण्डनीति और सम्पत्तिशास्त्र तीनोंका समावेश है। वार्त्ता अर्थात् आजीविका सम्बन्धी सभी बातें सम्पत्तिशास्त्रके इष्ट विषय हैं। राजनीति और शासन-सम्बन्धी विषय दण्डनीतिके अन्तर्गत हैं। वर्णाश्रम-विभाग और तत्सम्बद्ध कर्त्तव्याकर्त्तव्यपर विचार समाजशास्त्रका विषय है। स्मृतियों या धर्मशास्त्रोंमें इन्हीं सब विषयोंका समावेश है।

महर्षि कश्यप रचित नीतिप्रभा ग्रन्थमें २७००० श्लोक हैं। इसमें चार प्रकरण हैं – (१) सृष्टि-उत्पत्ति, (२) वर्ण-व्यवस्था (वर्ण, धर्म, आश्रम-धर्म,

जाति-निर्णय क्रिया-विभाग), (३) व्यवहारकल्प (सामाजिक व्यवहार), भक्ष्याभक्ष्य, दानधर्म, प्रतिग्रह धर्म, यज्ञ-क्रिया, याजन-प्रकार, उपासना, दीक्षा, नित्याचार, स्त्री-पुरुष व्यवहार, स्त्री-अधिकार, पुरुषाधिकार, (४) क्रय-विक्रय, विवाहविधि, निर्णय-प्रकार, कलह-शमन, तपश्चर्या।

काश्यपीय दण्डनीति ग्रन्थमें २४००० श्लोक हैं। इसमें तीन प्रकरण हैं—

पहले प्रकरणमें शुभाशुभ-विभाग और इनका प्रतिफल तथा ईश्वरीय दण्ड-विधान वर्णित है।

दूसरे प्रकरणमें राजकीय मन्त्र, राज्यकी आवश्यकता, भूगोल (विश्वका) साम्राज्य, चक्रवर्तित्व निरूपण एवं राजकीय दण्डविधानका वर्णन है।

तीसरे प्रकरणमें प्रजापालनका प्रकार, प्रजाका राजाके साथ अनुवर्त्तन, प्रेम-परिचय, भूमि-संग्रह-प्रकार, इस कल्पलता भूमिसे राजा-प्रजाका निर्वाह, पशुपालन-प्रकार, व्यापार-रीति, शिल्पकला, कृषिकर्म, काल-विभाग, शासन-प्रणाली, आवश्यकतापूर्वक अधिकार एवं उपासना-तत्त्व वर्णित है।

वर्त्तमानमें चाणक्य या कौटिल्यरचित अर्थशास्त्र ही आधिकारिक ग्रन्थ है। इसमें जिस प्राचीन धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक विषयकी विवेचना की गई है उसकी सूची इस प्रकार है—प्रथम विनयाधिकारमें राजवृत्ति, विद्या समुद्देश, आन्वीक्षिकी-स्थापना, त्रयी स्थापना, वार्त्तास्थापना, दण्डनीतिस्थापना, वृद्धसंयोग, इन्द्रियजय, अरिषड्वर्गत्याग, राजर्षिवृत्त, अमात्योत्पत्ति, मन्त्रिपुरोहितोत्पत्ति, उपधासे अमात्यका शौचाशौचज्ञान, गूढपुरुषोत्पत्ति, सञ्चारोत्पत्ति, स्वविषयमें कृत्याकृत्यके पक्षका रक्षण, परविषयमें कृत्याकृत्यके उपग्रह, मन्त्राधिकार, दूतप्रणिधि, राजपुत्ररक्षण, अवरुद्धवृत्त, अवरुद्ध अवस्थाकी वृत्ति, राजप्रणिधि, निशान्त प्रणिधि, आत्मरक्षितक।

दूसरे अध्यक्षमें प्रचाराधिकारमें—जनपदकानिवेश, भूमिके छिद्रका विधान, दुर्गका विधान, दुर्गका निवेश, सन्निधाताका चेपकर्म, समाहर्तृ समुदायका प्रस्थापन, अक्षपटलका गाणनिक्य अधिकार, युक्तसे अपहृत समुदका प्रत्यायन, उपुयक्त परीक्षा, शासनका अधिकार, कोशमें रखने योग्य रत्नकी परीक्षा, आकर कर्मान्तका प्रवर्त्तन, अक्षशालामें सुवर्णका अध्यक्ष, विशिखामें सौवर्णिक प्रचार, कोष्ठके आगारका अध्यक्ष, पण्य (बाजी)-का अध्यक्ष, कृत्यका अध्यक्ष, आयुधागारका अध्यक्ष, तुलाके मानका पौतव,

देशकालका मान, शुल्कका अध्यक्ष, शुल्कका व्यवहार, सूत्रका अध्यक्ष, सीता (चीनी)-का अध्यक्ष, सुराका अध्यक्ष, सूतका अध्यक्ष, गणिकाका अध्यक्ष, नौकाका अध्यक्ष, गायका अध्यक्ष, अश्वका अध्यक्ष, हस्तीका अध्यक्ष, हस्तीका प्रचार, रथका अध्यक्ष, पत्तिका अध्यक्ष, सेनापतिका प्रचार, मुद्राका अध्यक्ष, विवीतका अध्यक्ष, समाहर्त्ताका प्रचार, गृहपति वैदेहक-तापसका व्यञ्जन प्रणिधि, नागरिक प्रणिधि।

तीसरे धर्मस्थीयाधिकार में — व्यवहारकी स्थापना, विवादके पदका निबन्ध, विवाहका संयुक्त, विवाहका धर्म, स्त्रीके धनका कल्प, आधिवेदनिक, शुश्रूषा, मर्म, पारुष्य, द्वेष, अतिचार, उपकार, व्यवहारका प्रतिषेध, निष्पतन, पथ्यनुसरण, ह्रस्वप्रवास, दीर्घप्रवास, दायका विभाग, पुत्रका विभाग, दायका क्रम, अंशका विभाग, वास्तुक, गृहका वास्तुक, वास्तुका विक्रय, सीमाका विवाद, मर्यादाका स्थापन, बाधाका बाधिक, विवीत क्षेत्रके पथकी हिंसा, समयका अनपाकर्म, ऋणका आदान, औपनिधिक, दास-कर्मकरका कल्प, स्वामीका अधिकार, मृतकका अधिकार, सम्भय-समुत्थापन, विक्रीत-क्रीतका अनुशय, दत्तका अनपाकर्म, अस्वामिक-विक्रय, स्वस्वामीका सम्बन्ध, साहस, वाक्पारुष्य, दण्डपारुष्य, द्यूतका समाह्वय, प्रकीर्णक।

चौथे कण्टक शोधनाधिकारमें — कारुकका रक्षण, वैदेहकका रक्षण, उपनिपातका प्रकार, गूढाजीवीकी रक्षा, सिंह व्यञ्जनसे माणव प्रकाश, शंकाररूप कर्मका अभिग्रह, आशुमृतककी परीक्षा, वाक्यकर्मका अनुयोग, सर्वाधिकरणका रक्षण, एकांगके व्रधका निष्क्रय, शुद्ध-चित्र (अनेक) दण्डकल्प, कन्याका प्रकम, अतिचारका दण्ड।

पाँचवें योगवृत्ताधिकारमें — दाण्डकार्मिक, कोशका अभिसंहरण, भृत्यका भरणीय, अनुजीवीका वृत्त, समयका आचारिक, राज्यका प्रतिसन्धान एकैश्वर्य।

छठे मण्डल योन्याधिकारमें — प्रकृतिकी सम्वत, शमका व्यायामिक।

सातवें षाड्गुण्याधिकारमें — षाड्गुण्य समुद्देश्य, क्षयके स्थानकी वृद्धिका निश्चय, सशयकी वृत्ति, सम-हीन ज्यायसमें गुणका अभिनिवेश, हीनसन्धि, विगृह्यासन, सन्धायसन, विगृह्य यान, सन्धाय यान सम्भूय प्रयाण, यातव्य और अमित्रके अभिग्रहकी चिन्ता, क्षय-लाभ-विराग हेतु प्रकृतियोंका सामवायक विपरिमर्श, सहित प्रयाणिक, परिपणित, अपरिपणित, अपसृत

सन्धि, द्वैधी भाविक, सन्धि-विक्रम, यातव्य वृत्ति, अनुग्राह्य मित्र विशेष, मित्र-सन्धि, हिरण्य सन्धि, भूमि सन्धि, अनवसित सन्धि, कर्म सन्धि, पार्ष्णि ग्राहचिन्ता, हीन शक्ति-पूरण, बलवानसे विग्रह करके उपरोध हेतुक दण्डोपनत वृत्त, दण्डका उपनार्या वृत्त, सन्धिका कर्म, सन्धिका मोक्ष, मध्यम चरित, उदासीन चरित, मण्डल चरित।

आठवें व्यसनाधिकारमें – प्रकृतिके व्यसनका वर्ग।

नवें अभियास्यत् कर्माधिकारमें – शक्ति, देश और कालके बलाबलका ज्ञान, यात्राका काल, बलके उपादानका काल, सन्नाहका गुण, प्रतिबल कर्मके कोपका प्रतिकार, क्षय, व्यय और लाभका विपरिमर्श, बाह्य और आन्तरिक आपत्, दूष्य शत्रुका संयुक्त, अर्थ, अनर्थ एवं संशयसे युक्त और उपाय तथा विकल्पसे उत्पन्न सिद्धि।

दसवें संग्रामाधिकारमें – स्कन्धावारका निवेश, स्कन्धावारका प्रयाण, बल-व्यसनके अवस्कन्दकालका रक्षण, कूट युद्धका विकल्प, स्वसैन्यका उत्साहन, स्वबल और अन्य बलका योग, युद्धकी भूमि, पत्ति-अश्व-रथ और हस्तीका कर्म, पक्षकक्षरोंका बलाग्रसे व्यूह-विभाग, सारगुल्फका बलविभाग, पत्ति-अश्वर-रथ और हस्तीका युद्ध, दण्डभोगके मण्डलका असंहत व्यूहन, उसके प्रति व्यूहका स्थापन।

ग्यारहवें संघवृत्ताधिकारमें भेदका उपादान, उपांशुका दण्ड।

बारहवें आबलीय साधिकारमें, दूतका कर्म, मन्त्रका युद्ध, सेनाके मुख्यका वध, मण्डलका प्रोत्साहन, शस्त्र-अग्नि और रसका प्रणिधि, वीवधासारको प्रसारवध, योगका अतिसन्धान, दण्डका अतिसन्धान, एक विजय।

तेरहवें दुर्गलभ्योपायाधिकारमें – उपजाप, योगका वामन, असर्पका प्रणिधि, पर्युपासनका कर्म, अवमर्द, लब्धप्रशमन।

चौदहवें औपनिषदाधिकारमें – परघातका प्रयोग, प्रलम्भन, अद्भुत उत्पादन, भैषज्य और मन्त्रका प्रयोग, स्वबलके उपघातका प्रतीकार।

पन्द्रहवें तन्त्रयुक्त्यधिकारमें – तन्त्रकी युक्ति।

अथर्ववेदका पूरक साहित्य

अथर्ववेदके ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें गोपथ ब्राह्मण ही प्रसिद्ध है। इसमें पूर्व और उत्तर दो खण्ड हैं। सारा ग्रन्थ ग्यारह प्रपाठकोंमें विभक्त हैं। पूर्वार्द्धमें छह और

उत्तरार्धमें पाँच प्रपाठक हैं। पूर्वार्द्धमें अनेक विषयोंपर विचारके साथ ही अनेक आख्यान हैं। उत्तरार्धमें कर्मकाण्डपर आलोचना है। अथर्ववेदमें आए विषयोंपर जो सूक्त हैं उनकी सूची विस्तारपूर्वक आठवें अध्यायमें दी गई है।

ऐहिक और पारलौकिक दोनों प्रकारके पुरुषार्थोंके परिज्ञानके लिये अथर्ववेदकी नौ शाखाएँ हैं — पैप्लादाः, स्तौदाः, मौजाः, शौनकीयाः, जामलाः, जलदाः, ब्रह्मदाः, देवदर्शाः और चारणवैद्याः। इन सब शाखाओंमें शौनकादि चार शाखाओंद्वारा अनुमोदित अथर्ववेद संहिताके अनुवाकों, सूक्त तथा ऋगादि कर्मकाण्डीय विनियोगके लिये गोपथ ब्राह्मणके आधारपर पाँच सूत्र-ग्रन्थ बने हैं। कौशिक सूत्र, वैतान सूत्र, नक्षत्र-कल्प सूत्र, आङ्गिरस कल्पसूत्र और शान्ति-कल्पसूत्र। कौशिक सूत्रको ही संहिता-विधि-सूत्र भी कहते हैं। बहुतसे सूत्र-ग्रन्थोंमें अथर्ववेदके प्रतिपाद्य कर्मोंका विधान अत्यन्त सूक्ष्म रूपसे दिया हुआ है। इसीलिये ये प्रायः दुर्बोध्य हो गए हैं। इन्हींको सुबोध्य बनानेके लिये कौशिक-सूत्र-ग्रन्थका संग्रह हुआ है।

वैतान सूत्रमें अयनान्त निष्पाद्य त्रयी विहित दर्शपूर्णमासादि कर्मके ब्रह्मा, ब्राह्मणाच्छंसी, आग्नींध्र और होता इन चारों ऋत्विजोंके कर्म बताए गए हैं।

आङ्गिरस कल्पमें अभिचार-कर्मके समय, कर्त्ता और कारयिताके लिये आत्मरक्षा-विधि लिखी हुई है।

कौशिक सूत्रमें (१) स्थाली-पाक विधानमें दर्शपूर्णमास विधि, (२) मेधा-जनन, (३) ब्रह्मचारी सम्पद, (४) ग्राम-दुर्ग-राष्ट्रादि लाभ विषय, (५) पुत्र-पशु-धन-धान्य-प्रजा-स्त्री-करि-तुरग-रथ-दोलकादि सर्व-समप्त्यसाधक समूह, (६) मानवगणमें ऐकमत्य सम्पादक सौमनस्यादि विषयोंपर विचार किया गया है।

नक्षत्र-कल्पमें नक्षत्र-पूजा तथा महाशान्ति, नैर्ऋतिकर्म और अमृतसे अभयतक महाशान्तिके निमित्त भेदके ३० कर्त्तव्य दिए गए हैं। शान्तिकल्पमें वैनायक आदि ग्रहोंके उपद्रवकी शान्तिके उपाय हैं।

इन सब कल्पोंमें राज्याभिषेककी जो विधि दी गई है, वह समुदाय-कार्य ही प्रतीत होती है। राजा, राज्य और राष्ट्रके सभी काय-समुदाय-कर्म हैं।

अन्य वेदोंकी अपेक्षा अथर्ववेदीय उपनिषदोंकी संख्या अधिक है। ब्रह्मतत्त्व-प्रकाश ही इनका उद्देश्य है। इसीलिये अथर्ववेदको ब्रह्मवेद भी कहा जाता है। विद्यारण्य स्वामीने 'सर्वोपनिषदर्थानुभूति-प्रकाश' नामक ग्रन्थमें

मुण्डक, प्रश्न और नृसिंहोत्तरतापिनी इन तीन उपनिषदोंको ही अथर्ववेदीय आदि उपनिषद् माना है। किन्तु शङ्कराचार्यने मुण्डक, माण्डूक्य, प्रश्न और नृसिंहतापिनी इन चारोंको प्रधान आथर्वण उपनिषद माना है। बादरायणने भी अपने वेदान्तसूत्रमें इन्हीं चारों उपनिषदोंके प्रमाण कई बार दिए हैं। एक विशिष्ट श्रेणीके संन्यासी सिर मुँडाए रखते हैं, उन्हें मुण्डक कहते हैं। इसीसे मुण्डकोपनिषद् नाम पड़ा। ब्रह्म क्या है, उसे कैसे समझा और प्राप्त किया जाता है, इन्हीं बातोंका इस उपनिषद्में वर्णन है।

इस उपनिषद्पर शङ्कराचार्य, आनन्दतीर्थ, दामोदराचार्य, नरहरि, भट्टभास्कर, रङ्ग-रामानुज, नारायण, व्यासतीर्थ, शङ्करानन्द, विज्ञान-भिक्षु और नरसिंह यतिके भाष्यया अनेक टीकाएँ उपलब्ध हैं जिनमें आनन्दतीर्थ और अभिनव नारायणचन्द्र सरस्वतीके भाष्य और टीकाएँ प्रमुख हैं।

प्रश्नोपनिषद् गद्यमयी है। ऋषि पिप्पलादके छह ब्रह्मजिज्ञासु शिष्योंने वेदान्तके छह मूल तत्त्वोंपर प्रश्न किए। उन्हीं प्रश्नोत्तरोंपर यह उपनिषद् बनी है। प्रजापतिसे असत और प्राणकी उत्पत्ति, अपर चिच्छक्तियोंसे (चित्-शक्तियोंसे) प्राणकी श्रेष्ठता, चिच्छक्तियोंके लक्षण और विभाग, सुषुप्ति और तुरीयावस्था, ओंकार-ध्यान-निर्णय और षोडशेन्द्रिय ये प्रश्नोपनिषद्के छह विषय हैं। अन्य उपनिषदोंके भाष्यकारों एवं टीकाकारोंने इस उपनिषद्पर भी भाष्य एवं टीकाएँ लिखी हैं।

माण्डूक्योपनिषद् एक अति लघु कलेवर गद्य-ग्रन्थ है फिर भी सर्वप्रमुख समझा जाता है। मैत्रायणोपनिषद्से कुछ सादृश्य होनेके कारण प्रायः इसे उसका परवर्ती माना जाता है। गौड पादाचार्यने इस उपनिषद्पर कारिका लिखी है। शङ्कराचार्यने भाष्य और विज्ञान-भिक्षुने आलोक नामकी व्याख्या की है। आनन्दतीर्थ, मथुरानाथ शुक्ल और रङ्गरामानुजने भाष्य-टीका, राघवेन्द्र, व्यासतीर्थ और श्रीनिवासतीर्थने उस आनन्दभाष्यकी टीका की है। इनके अतिरिक्त नारायण, शङ्करानन्द, ब्रह्मानन्द सरस्वती आदिने वृत्तियाँ भी लिखी हैं।

नृसिंहतापिनी उपनिषद पूर्वोत्तर दो भागोंमें विभक्त है। पूर्वतापिनीपर केवल शाङ्करभाष्य ही प्राप्त होता है किन्तु उत्तरतापिनीपर गौडपाद-रचित कारिका, शङ्कराचार्य और पुरुषोत्तमके भाष्य और नारायण और शङ्करानन्दकी दीपिका नामकी वृत्ति उपलब्ध है।

इनके अतिरिक्त मुक्तिकोपनिषद्में अन्य ९३द आथर्वण उपनिषदोंके नाम मिलते हैं जो इस प्रकार हैं – (१) अक्ष, (२) अक्षमालिका, (३) अव्यय, (४) अध्यात्म, (५) अन्नपूर्णा, (६) अथर्वशिखा, (७) अथर्वशिरा (८) अमृतनाद, (९) अमृतबिन्दु, (१०) अवधूत, (११) अव्यक्त, (१२) आत्मा, (१३) आत्मबोध, (१४) आरुणी, (१५) एकाक्षर, (१६) कठरुद्र, (१७) कलिसन्तरण, (१८) कालाग्निरुद्र, (१९) कुण्डिका, (२०) कृष्ण, (२१) कैवल्य, (२२) क्षुरिक, (२३) गणपति, (२४) गर्भ, (२५) गारुड, (२६) चूड़ा, (२७) गोपाल-तापिनी, (२८) जालदर्शन, (२९) जाबाल, (३०) जाबालि, (३१) तापिनी, (३२) तारस्सार, (३३) तुरीयातीत, (३४) तेजोबिन्दु, (३५) त्रिपुरा, (३६) त्रिपुरा-तापन, (३७) त्रिशिखा, (३८) दत्तात्रेय, (३९) दक्षिणामूर्त्ति, (४०) देवी, (४१) ध्यानबिन्दु, (४२) नादबिन्दु, (४३) नारायण, (४४) निरालम्भ, (४५) निर्वाण, (४६) पञ्चब्रह्म, (४७) परमहंस, (४८) परब्रह्म, (४९) परमहंस परिव्राजक, (५०) परिव्राजक, (५१) पाशुपत, (५२) पैङ्गल, (५३) प्राणाग्निहोत्र, (५४) बृहज्जाबाल, (५५) ब्रह्म, (५६) भस्म जाबाल, (५७) भावना, (५८) भिक्षु, (५९) मण्डल, (६०) मन्त्रिक, (६१) महत्त्व, (६२) महानारायण, (६३) महावाक्य, (६४) मुक्तिका, (६५) मुद्गल, (६६) मैत्रेयी, (६७) याज्ञवल्क्य, (६८) योगकुण्डली, (६९) योगतत्त्व, (७०) योगशिक्षा, (७१) रहस्य, (७२) रामतापिनी, (७३) रामरहस्य, (७४) रुद्राक्ष, (७५) वज्रसूचि, (७६) वराह, (७७) वासुदेव, (७८) विद्या, (७९) शरभ, (८०) शाट्यायनी, (८१) शाण्डिल्य, (८२) शारीरं, (८३) संन्यास, (८४) सरस्वती-रहस्य, (८५) सर्वसार, (८६) सावित्री, (८७) सीता, (८८) सुवाल, (८९) सूर्य, (९०) सौभाग्य, (९१) स्कन्द, (९२) हयग्रीव और (९३) हृदय।

इनके अतिरिक्त भी अथर्ववेदसे सम्बन्धित कुछ अन्य उपनिषदोंके नाम सुने जाते हैं जो कुल मिलाकर दो सौ से भी अधिक होंगे। सम्भवतः वे सब अर्वाचीन हैं अतः विशेष उल्लेख्य नहीं हैं।

अथर्ववेदके ऋषियों का संक्षिप्त परिचय

१. अगस्त्य (६.१३३) – अगस्त्य ऋषिका ऋषित्व चारों वेदोंमें दृष्टिगोचर होता है। अथर्ववेदमें ६.१३३ सूक्त इनके द्वारा दृष्ट है। ऋग्वेद सर्वानुक्रमणी (२.१.१६६) के अनुसार ये मित्रावरुणके पुत्र थे

तथा उर्वशीसे उत्पन्न हुए थे। ऋग्वेद १.११७.११ में अगस्त्य ऋषि-द्वारा विश्पलाकी टाँगके लिये अश्विनीकुमारोंकी स्तुति करनेका उल्लेख मिलता है। ऋ० १.१७९में इनके द्वारा अपनी पत्नी लोपामुद्राके साथ संवाद विवेचित हुआ है। इस सूक्तमें प्रथम दो ऋचाएँ लोपामुद्रा-द्वारा और अन्तिम दो ऋचाएँ अगस्त्य शिष्यों-द्वारा दृष्ट हैं। एक ऋचा १०.६०.६ अगस्त्य-स्वसा-द्वारा दृष्ट है। ऋ० ७.३३.१० से अगस्त्य और वसिष्ठ दोनोंके मित्रावरुण और उर्वशी-द्वारा उत्पन्न होनेका प्रमाण मिलता है। इसी कारण दोनोंके नामके साथ मैत्रावरुणि पद संयुक्त होता है। बृह० ५.१५० में भी इस तथ्यकी पुष्टि होती है। ऋ० १.१८९८में इन्हें मान्य (मानके पुत्र)-के रूपमें उपन्यस्त किया गया है। सप्तऋषियोंमें भी इन्हें मान्यता प्राप्त है।

२. अङ्गिरा (२.३) — अथर्ववेदमें अनेक स्थानोंपर अङ्गिरा (अङ्गिरस्)-को ऋपित्य प्राप्त हुआ है। सम्भवतः अग्नि-कर्मसे जुड़े होनेके कारण इन्हें अङ्गिरस कहा गया है। इनके वंशजों (अङ्गिरसों)-में अनेकोंको प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है। नवग्व और दशग्व उनमेंसे श्रेष्ठतम हैं — नवग्वो नु दशग्वो अङ्गिरस्तमः (ऋ० १०.६२.६)। इन्हें 'विश्वरूप' कहकर विवेचित किया गया है — विश्वरूपा अङ्गिरसो न सामभिः (ऋ० १०.७८.५)। अग्निकी भाँति इन्हें भी भी शक्तिका पुत्र माना गया है — अच्छा हि त्वा सहसः सूनो अङ्गिरः स्रुचश्चरन्त्यध्वरे (अथर्व० २०.१०३.३)। ये ज्येष्ठ ब्रह्मके नेत्ररूप माने गए हैं — चक्षुरङ्गिरसो ऽ भवन्.......ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः (अथर्व० १०.७.३४)। वे पितृतुल्य माने जाते थे — अङ्गिरसो नः पितरो (अथर्व० १८.१.५८)। अग्निके आविष्कारके लिये अङ्गिराको ख्याति प्राप्त है। मन्थनका कार्य पहले करनेसे ये सहसपुत्र कहलाए — स जायसे मथ्यमानः सहोमहत् त्वामाहुः सहसस्पुत्र-मंगिरः (ऋ० ५.११.६)। ब्राह्मण ग्रन्थोंमें इन्हें अग्निका ही रूप माना गया है — अङ्गिरा उ ह्यग्निः (शत०ब्रा० १.४.१.२५)। अङ्गिरसां वा एकोऽग्निः (ऐत०ब्रा० ६.३४)। इन्हें ही प्राण एवं रसरूपमें भी विवेचित किया गया है — प्राणो वा अङ्गिराः (शत०ब्रा० ६.१.२.२८)। ये ऽङ्गिरसः स रसः (गो०ब्रा० १.३.४)।

३. अथर्वा (१.१-३) — अथर्वा ऋषिको अथर्ववेदमें प्रमुखरूपसे ऋषित्व प्राप्त हुआ है। अनेक स्थानोंपर इन्हें एक शल्य चिकित्सकके रूपमें प्रतिष्ठा

प्राप्त हुई है। इनके द्वारा मनुष्योंकी मूर्धाको सिलने और हृदयको यथास्थान स्थिर करनेका उल्लेख मिलता है — मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत् (अथर्व० १०.२.२६)। अथर्वाका इन्द्रके साथ सखाका सम्बन्ध था, उनके लिये उन्होंने पूर्ण चमस बनाय था — अथर्वा पूर्णं चमसं यमिन्द्रायाबिभर्वाजिनीवते (अथर्व० १८.३.५४)। अथर्वा प्रथम आहुति डालनेके कारण विश्वके प्रथम याज्ञिक थे — यामाहुतिं प्रथमामथर्वा या जाता या हव्यामकृणोज्जातवेदाः (अथर्व० १९.४.१) अथर्वा और अङ्गिराको पिता-तुल्य बृहस्पति माना गया है और देवबन्धु कहा गया है। अथर्वाको वरुणसे उत्पन्न माना गया है — अजीजनो हि वरुण स्वधावन्नथर्वाणं पितरं देवबन्धुम् (अथर्व० ५.११.११)। अथर्वाको प्रजापति भी माना गया है — अथर्वा वै प्रजापतिः (गो०ब्रा० १.१.४)। अथर्वाके पुत्र दध्यङ् ऋषि प्रख्यात हैं — तमु त्वा दध्यङ्ङृषिः पुत्र ईधे अथर्वणः (मैत्रा सं० २.७.३)।

४. अथर्वाङ्गिरा (४.८) — अथर्ववेदमें अनेक स्थानोंपर अथर्वा और अङ्गिराका सम्मिलित ऋषित्व दृष्टिगोचर होता है। इनका साथ-साथ भी अनेक स्थानोंपर उल्लेख हुआ है। अथर्वण और अङ्गिरस्‌को स्कम्भ (ब्रह्म)-के मुखके रूपमें मान्यता मिली है — अथर्वाङ्गिरसो मुखं स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः (अथर्व० १०.७.२०)। अथर्वाङ्गिरस्‌को प्रथम आहुतिकर्त्ता या यज्ञ-आविष्कारकर्त्ताके रूपमें भी स्वीकार किया गया है — मेद आहुतयो ह वाऽएता देवानाम्। यदथर्वाङ्गिरसः (शत०ब्रा० ११.५.६.७)।

५. अथर्वाचार्य (८.१०) — अथर्ववेदके आठवें काण्डके दसवें सूक्तके ऋषि अथर्वाचार्य माने गए हैं। सम्भव है, अथर्वा ऋषि ही यहाँ अथर्वाचार्यके रूपमे विवेचित हुए हों अथवा अथर्वाके वंशज आथर्वणके रूपमें। इस सूक्तमें ऋषिने विराट् (जगत् या पुरुष)-की स्तुति की है।

६. उच्छोदन (६.१०३) — अथर्ववेदके छठे काण्डके १०३वें सूक्तके द्रष्टा उच्छोचन ऋषि हैं। इस सूक्तमें उन्होंने 'शत्रुनाशन' देवताकी स्तुति की है। इससे अगले सूक्तमें भी 'शत्रुनाशन' देवता स्तुत्य है; परन्तु वहाँ ऋषि नाममें 'प्रशोचन' ऋषि उल्लिखित हैं। उच्छोचन नाम व्यक्तिवाचक हैं अथवा नहीं, यह शोधका विषय है। इस सूक्तमें ऋषिने शत्रुसेनाओंको पाश-बन्धनोंमें डालनेकी प्रार्थना देवोंसे की है — संदानं वो बृहस्पतिः

संदानं सविता करत् (अथर्व० ६.१०३.१)।

७. उद्दालक (३.२९) — उद्दालकको अथर्ववेदके दो सूक्तों ३.२९ और ६.१५ का ऋषित्व प्राप्त हुआ है। इस सूक्त (३.२९)-के प्रमुख देवता 'शितिपद अवि' हैं। पाँच मंत्रोंवाले इस सूक्तका प्रयोग 'ओदनसव कर्म'-में श्वेत पैरवाली भेड़के साथ याज्ञिक क्रियाओंमें किया जाता है। इस सूक्तमें श्वेत पैरवाली भेड़के दानकी महत्ता भी प्रतिपादित हुई है — यो ददाति शितिपादमविं लोकेन संमितम् (अथर्व० ३.२९.३)। दूसरे सूक्त ६.१५ में इनके द्वारा वनस्पति देवताकी स्तुति की गई है।

८. उन्मोचन (५.३०) — अथर्ववेदके दो सूक्तों ५.३०, ६.१०५ के ऋषि-नाममें 'उन्मोचन' नाम उल्लिखित है। इस सूक्त (५.३०)-का ऋषि हस्तसे बालकका स्पर्श करनेपर पाठ किया जाता है तथा अभिचारसे उन्मोचन हेतु पिष्टरात्रि कल्पमें सरसोंके अभिमंत्रणके अनन्तर जप करना भी विनियोग होता है। इस सूक्तका देवता 'आयुष्य' है। किन्हीं शास्त्रकारोंने ऋषि नाममें उन्मोचनको 'आयुष्काम' रूपमें भी स्वीकार किया है। सम्भवतः इस सूक्तमें ऋषिने आयुष्यको क्षीण करनेवाले अभिचार तथा पाप, रोगादिसे उन्मोचनके लिए पाठ किया है, इसी क्रियाके आधारपर अज्ञातनामा ऋषि उन्मोचन अथवा आयुष्काम रूपमें मान्य हुए। सूक्त ६.१०६ में 'प्रमोचन' ऋषि भी निर्दिष्ट हैं।

९. उपरिबभ्रव (६.३०-३१) — उपरिबभ्रव ऋषिको अथर्ववेदमें पाँच सूक्तों (६.३०-३१, ७.९-१०, ७.७९) तथा तीन ऋचाओं (ऋ० २०.४८.४-६)-का ऋषित्व प्राप्त हुआ है। इन सूक्तोंमें ऋषिने शमी, गौ (रश्मियों) पूषा, सरस्वती आदिकी स्तुति की है।

१०. ऋभु (४.१२) — अथर्ववेदके चौथे काण्डके १२वें सूक्तमे ऋभुका ऋषित्व दृष्टिगोचर होता है। इस सूक्तमें इन्होंने रोहणी वनस्पतिकी स्तुति की है। इस सूक्तका प्रयोग शस्त्रादिके प्रहारसे कटे अंगसे बहते रुधिरको रोकने, टूटी हड्डीको जोड़नेके लिये रोहणी लाखके औटाए हुए जलको छिड़कनेमे किया जाता है तथा इस सूक्तसे घृत, दुग्धका अभिमंत्रण करके क्षत अंगवाले पुरुषको पिलाया जाता है।

११. कपिञ्जल (२.२७) — अथर्ववेदके तीन सूक्तों २.२७, ७.१००-१०१के ऋषि रूपमें 'कपिञ्जल' नाम निर्दिष्ट है। इस सूक्तका प्रमुख

देवता वनस्पति है। अन्तिम दो मन्त्रोंमें रुद्र तथा इन्द्रकी स्तुति की गई है। निरुक्त-द्वारा 'कपिञ्जल' शब्दकी व्युत्पत्ति निम्नानुसार है — 'कपिञ्जलः कपिरिव जीर्णः, कपिरिव जवत ईषत पिङ्गलो वा, कमनीयं शब्दं पिञ्जयतीति वा' (बूढ़े बन्दरके समान वर्णवाले अथवा वृद्ध कपिके समान गति अथवा थोड़े भूरे वर्णवाले अथवा सुमधुर शब्द होनेवालेसे कपिञ्जल कहा जाता है। (नि० ३.१८) कपिञ्जलका सामान्य अर्थ चातक अथवा तित्तिर पक्षी किया जाता है।

१२. कबन्ध (६.७५.७७) — 'कबन्ध' द्रष्टा-रूपमें अथर्वके तीन सूक्तों ६.७५.७७ में उल्लिखित हैं। इनमेंसे प्रथम सूक्तमें ऋषिने इन्द्रकी तथा द्वितीयमें सान्तपन अग्नि और तृतीयमें जातवेदाकी स्तुति की है। 'कबन्ध' शब्दकी व्युत्पत्ति वाच०के अनुसार 'कं जलं बध्नाति इति कबन्धः' है। इसका अर्थ अमरकोशके अनुसार 'जल' तथा निरुक्तके अनुसार 'मेघ' किया गया है।

१३. कश्यप (१०.१०) — 'कश्यप' ऋषि अथर्ववेदमें १०.१० तथा १२.४-५ सूक्तोंमें ऋषि-रूपमें मान्य हैं। १०.१० तथा १२.४-५ सूक्तोंमें पोषक धाराओं (किरणों)-के रूपमें 'वशा'-की स्तुति की गई है। यहाँ ऋषि नाममें अपत्यवाचक पदका उल्लेख नहीं किया गया है। सप्तर्षि मण्डलके प्रमुख ऋषिके रूपमें इनका उल्लेख मिलता है। आचार्य सायणने ऋग्वेद भाष्यमें इनका मरीचि-पुत्र होना स्वीकार किया है — मरीचि पुत्रः कश्यपो वैवस्वतो मनुर्वा ऋषिः (ऋ० ८.२९ सा.भा.)। बृहद्देवता ग्रन्थमें कश्यपको प्रजापतिके पौत्र, मरीचिके पुत्र तथा दक्षकी अदिति आदि तेरह पुत्रियोंके पतिके रूपमें माना गया है — प्राजापत्यो मरीचिर्हि मारीचः कश्यपो मुनिः। तस्य देव्यो ऽ भवञ्जाया दाक्षायण्यस्त्रयोदश (बृह० ५.१४३)।

१४. काङ्कायन (६.७०) — अथर्ववेदके दो सूक्तों ६.७० और ११.११ के ऋषि नाममें 'काङ्कायन' निर्दिष्ट हैं। प्रथम सूक्तका देवता अघ्न्या और द्वितीय सूक्तका अर्बुदि है। प्रथम सूक्तका गौ और बछड़ेके परस्पर विरोधको शान्त करनेके लिये पाठ किया जाता है। दूसरे सूक्तका प्रयोग विजयाकांक्षी राजा युद्धके समय करता है।

१५. काण्व (२.३१-३२) — काण्व ऋषिको अथर्ववेदके तीन सूक्तों २.३१-३२ तथा ५.२३ का ऋषित्व प्राप्त हुआ है। यह 'काण्व' पद अपत्यवाचक

प्रतीत होता है। 'काण्व' पद का अर्थ 'कण्व गोत्रीय' ऋषि लिया जाता है। ऋषि नाम यहाँ अनुक्त है। प्रथम सूक्तमें ऋषिने मही, चन्द्रमा तथा द्वितीय सूक्तमें आदित्य एवं तृतीय सूक्तमें इन्द्र देवताकी स्तुति की है। ऋग्वेदके अष्टम मण्डलमें 'काण्व' (कण्वगोत्रीय) ऋषियोंको ऋषित्व प्राप्त होनेका विशेष गौरव प्राप्त हुआ है। अथर्ववेदमें ये ऋषि क्रिमिनाश विद्याके कारण गौरवान्वित हुए हैं — अत्रिवत् वः क्रिमयो हन्मि कण्ववज्जमदग्निवत् (अथर्व० २.३२.३)। अनेक रोगोंकी एकमात्र ओषधि वीरुध्के ज्ञाता थे— कण्वस्य वीरुधम्। आभारिषं विश्वभेषजीमस्यादृष्टान् निशमयत् (अथर्व० ६.५२.३)। कण्व ऋषियों (काण्वों)-की इन्द्र विषयक स्तुतियाँ उत्तम मानी जाती थीं, अन्य स्तोता उनके समान स्तुतिका प्रयत्न करते थे — अहं प्रत्नेन मन्मना गिरः शुम्भामि कण्ववत् (अथर्व० २०.११५.३)।

१६. कुत्स (१०.८) — कुत्सका ऋषित्व अथर्ववेदमें अपत्यवाचक पदरहित नामसे निर्दिष्ट है। ऋग्वेदमें ये आङ्गिरस (अङ्गिरस-गोत्रीय) पदसे उल्लिखित हैं। अष्टाध्यायी (पाणिनि)-के सूत्रोंमें पूर्वाचार्योंके नाममें तथा निरुक्त ३.११ में ऋषि-रूपमें ये उल्लिखित हुए हैं। कुत्सको ऋग्वेद १.११२.२३ में आर्जुनेय भी कहा गया है। आचार्य सायणने वाजसनेयकका उद्धरण देकर इन्द्रको अर्जुन-रूपमें तथा कुत्सको उनके पुत्र-रूपमें उल्लिखित किया है। अथर्ववेदके कुछ मंत्रोंमें (अथर्व० ४.१६.१०-१२) कुत्सको इन्द्रके अभिन्न सखा-रूपमें वर्णित किया गया है, जिन्हें देखकर इन्द्र पत्नी शचीको इन्द्रको पहचाननेमें भ्रान्ति हुई थी। इन्द्रदेवने कुत्सके लिये शुष्णका हनन किया था — कुत्साय शुष्णमशुषं नि बर्हीः (ऋ० ४.१६.१२)।

१७. कृति (१.६) — अथर्ववेदके एक सूक्तमें ऋषि नाम कृति, सिन्धुद्वी अथवा अथर्वा निर्दिष्ट है। इससे स्पष्ट है कि इस सूक्तके ऋषि तथा सिन्धुद्वीप अथवा कृति तथा अथर्वा सम्मिलित रूप से हैं। कृतिका ऋषित्व अन्यत्र कहीं निर्दिष्ट नहीं है। सामान्य अर्थमें कृति शब्द छन्द या असि या तलवारके रूपमें प्रयुक्त होता है। वाचस्पत्यम्में इनके पुरुष प्रयत्न, कर्त्तृ व्यापार, हिंसा आदि अर्थ भी दिए हैं।

१८. कौरुपथि (७.६०) — अथर्ववेदके दो सूक्तों ७.६० तथा ११.१० के 'कौरुपथि' नाम उपन्यस्त किया गया है। प्रथम सूक्तमें ऋषिने इन्द्रावरुण

तथा द्वितीय सूक्तमें 'अध्यात्म एवं मन्यु' देवताकी स्तुति की है। कौरुपथि ऋषिका अन्यत्र कहीं कोई विवरण प्राप्त नहीं होता है।

१९. कौशिक (६.३५) — कौशिक ऋषिको अथर्ववेदमें ६ सूक्तों ६.३५, ६.११७-१२१ तथा कुछ मंत्रों १०.५.२५-३६ का ऋषित्व प्राप्त हुआ है। यह नाम अपत्यवाचक पद प्रतीत होता है, क्योंकि ऋग्वेदके चार सूक्तों ३.१९-२२ के ऋषि नाममें 'गाथी कौशिक' निर्दिष्ट है। अथर्ववेदमें कौशिक ऋषिका नाम 'गाथी' अनुक्त है। ये कुशिकके पुत्र तथा विश्वामित्रके पिता थे। ऋ० ३.३३.५ में विश्वामित्रको 'कुशिकस्य सूनुः' कहकर उल्लिखित किया गया है। इन्हें राजा सुदास्के महायज्ञमें पुरोहित माना गया है। उक्त सूक्तोंमें कौशिक ऋषिने प्रमुख रूपसे अग्नि, वैश्वानर अग्निकी स्तुति की है।

२०. गरुत्मान् (४.६-७) — अथर्ववेदमें गरुत्मान्को सात सूक्तों ४.६.७, ५.१३, ६.१२, ६.१००, ७.९३, १०४ का ऋषित्व प्राप्त हुआ है। इन सूक्तोंमें ऋषिने प्रायः तक्षक और वनस्पति देवताकी स्तुति की है। सम्भव है, ऋषि सर्प विषनिवारणकी विद्यामें पारंगत रहे हों। निरुक्तकारने गरुत्मान् शब्दकी व्युत्पत्ति निम्न प्रकार दी है — गरुत्मान् गरणवान् गुर्वात्मा महात्मेति वा (नि० ७.१८)।

२१. गार्ग्य (६.४९) — अथर्ववेदमें गार्ग्य ऋषिको तीन सूक्तों ६.४९, १९.७-८ के ऋषि होनेका गौरव प्राप्त हुआ है। प्रथम सूक्तमें ऋषिने अग्निकी तथा शेष दो सूक्तोंमें नक्षत्रोंकी स्तुति की है। ऋग्वेदमें एक सूक्त ६.४७ के ऋषि गर्ग भारद्वाज हैं। सम्भव है, गार्ग्य ऋषि इन्हींके पुत्र या वंशज हों। बृ०उ० २.११ और कौषी०उ० ४.१ में बालाकिका पैतृक नाम गार्ग्य है। इनके वंशज गार्ग्यायण या गार्ग्यायणि कहलाए। निरुक्त १.१२, ३.१३ में भी गार्ग्यका नामोल्लेख मिलता है।

२२. चातन (१.७-८) — अथर्ववेदके अनेक सूक्तों (१.७-८, १.१६ आदि)-के ऋषि-नाममें 'चातन'-का उल्लेख है। इन्होंने प्रमुख रूपसे अग्निके विविध रूपोंकी स्तुति की है। इन ऋषिके विषयमें अन्य कोई विशेष विवरण प्राप्त नहीं होता है।

२३. जगद्बीज पुरुष (३.६) — अथर्ववेदके एक सूक्त ३.६ के ऋषि-नाममें जगद्बीज पुरुष नाम निर्दिष्ट है। यह सूक्त शत्रुनाशन सूक्तके

नामसे विवेचित हैं। इसका देवता अश्वत्थ (वनस्पति) है। सम्भवतः ये ऋषि प्रजापति पुत्र आदि-पुरुष होंगे, जिन्हें यजु० १२.१०२ सूक्तके ऋषि-नाममें हिरण्यगर्भ कहा गया है, ऋ० १०.१२१ सूक्तके ऋषि नाममें हिरण्यगर्भ प्राजापत्य कहा गया है। काठक संहितामें पुरुष मात्रको जगत (चैतन्य) संज्ञासे निरूपित किया गया है – यः पुरुषमात्रस्य जगतिच्चत (काठ०सं० २१.४)।

२४. जमदग्नि (६.८-९) – जमदग्नि ऋषिका ऋषित्व चारों वेदोंमें दृष्टिगोचर होता है। अथर्ववेदमें तीन सूक्तों ६.८-९, ६.१०२ के ऋषि होनेका गौरव इन्हें प्राप्त हुआ है। इन सूक्तोंके देवता कामात्मा, अश्विनीकुमार आदि हैं। ऋग्वेदमें इन्हें एक भार्गव (भृगु वंशज) कहा गया है। हरिश्चन्द्रके राजसूय यज्ञमें इनके पुरोहित (अध्वर्यु) होनेका वर्णन निर्दिष्ट है – तस्य ह विश्वामित्रो होता ऽऽ सीज्जमदग्निरध्वर्युर्वसिष्ठो ब्रह्मा ऽ यास्य उद्गाता (ऐत०ब्रा० ७.१६)। इन्हें जगद् द्रष्टा रूपमें भी स्वीकार किया गया है – चक्षुर्वै जमदग्निर्ऋषिर्यदनेन जगत पश्यत्यथो मनुते तस्माच्चक्षुर्जमदग्निऋषिः (शत०ब्रा० ८.१.२.३)।

२५. जाटिकायन (६.३३) – जाटिकायनका ऋषित्व अथर्ववेदके दो सूक्तों ६.३३, ६.११६ में दृष्टिगोचर होता है। इन्होंने प्रथम सूक्तमें इन्द्र तथा द्वितीय सूक्तमें विवस्वानकी स्तुति की है। इनके विषयमें अन्यत्र कोई विशेष विवरण नहीं प्राप्त होता है।

२६. द्रविणोदा (१.१८) – अथर्ववेदके एक सूक्त १.१८के ऋषिरूपमें द्रविणोदाको स्वीकार किया गया है। इन्होंने इस सूक्तमें विनायक देवताकी स्तुति की है। निरुक्तकारने द्रविणोदाकी व्युत्पत्ति निम्न प्रकारसे की है– द्रविणोदाः कस्मात ? धनं द्रविणमुच्यते यदेनदभिद्रवन्ति बलं वा द्रविणं – यदेनेनाभिद्रवन्ति। तस्य दाता द्रविणोदाः (नि० ८.१)। द्रविणोदा अग्निरूपमें भी मान्य हैं – अथाप्यग्निं द्रविणोदसमाह (नि० ८.२)।

२७. द्रुह्वण (६.६३) – अथर्वमें 'द्रुह्वण' ऋषिको केवल एक सूक्त ६.६३ का ऋषित्व प्राप्त हुआ है। चार मंत्रोंके इस सूक्तमें ऋषिने क्रमशः निर्ऋति, यम, मृत्यु और अग्निकी स्तुति की है। इनके विषयमें अन्यत्र कोई विवरण नहीं प्राप्त होता है।

२८. नारायण (१०.२) — नारायण ऋषिको चारों वेदोंमें ऋषित्व प्राप्त हुआ है। यजुर्वेदमें प्रसिद्ध पुरुष सूक्तके द्रष्टा नारायण पुरुष ही हैं। आचार्य सायणके अनुसार आदि कारण पुरुषका प्रतिपादन करनेके कारण इस सूक्तको पुरुष सूक्त कहा गया है। अथर्वमें दो सूक्तों १०.२.१९.६ के द्रष्टा-रूपमें ये मान्य हैं। इनमें भी ऋषिने प्रमुख रूपसे 'पुरुष' देवताकी स्तुति की है।

२९. पतिवेदन (२.३६) — अथर्ववेदके एक सूक्त २.३६के ऋषि-नाममें 'पतिवेदन' नाम उपन्यस्त किया गया है। इस सूक्तमें ऋषिने विभिन्न देवोंकी स्तुति की है।

३०. प्रचेता (६.४५-४८) — अथर्वमें प्रचेताका ऋषित्व चार सूक्तों ६.४५-४८में अङ्गिरस् एवं यमके साथ सम्मिलित रूपसे दृष्टिगोचर होता है। एक मंत्र २०.९६.२४में इनका स्वतंत्र ऋषित्व भी निर्दिष्ट है। इन्होंने प्रमुख रूपसे दुःस्वप्ननाशन और विश्वेदेवा आदिकी स्तुति की है। ऋग्वेदमें एक सूक्त १०.१६४ के ऋषि नाममें इन्हें एक आङ्गिरस (अङ्गिरस-गोत्रीय) स्वीकार किया गया है। वैदिक साहित्यमें अग्नि एवं आदित्योंको भी प्रचेतस् कहा गया है। प्रचेतस्का सामान्य अर्थ 'प्रकृष्ट चित्तवाला' है। यास्कने भी प्रायः यही अर्थ स्वीकार किया है — प्रचेताः प्रवृद्धचेताः (नि० ८.५) अग्नि, सोम और सूर्यको भी प्रचेता विशेषणसे सम्बद्ध किया गया है — संयच्च प्रचेताश्चाग्नेः सोमस्य सूर्यस्य (तैत्ति०सं० ४.४.११.२)। प्रचेता, वरुणके पर्यायरूपमें मान्य हैं।

३१. प्रजापति (२.३०) — प्रजापतिका ऋषित्व चारों वेदोंमें दृष्टिगोचर होता है। अथर्ववेदके अनेक सूक्तों २.३०, ४.३५ आदिके ऋषि-रूपमें प्रजापति मान्य हैं। ऋग्वेदमें प्रजापतिके साथ तीन वैकल्पिक पद संयुक्त हुए हैं — (क) वाच्य, (ख) वैश्वामित्र, (ग) परमेष्ठी। प्रजापति शब्दका उल्लेख वैदिक साहित्यमें सृष्टि-रचयिता, प्रजापालक, सविता, अग्नि, यज्ञ आदिके लिये किया गया है — प्रजापतिर्वा इदमेक आसीत् सो ऽकामयत प्रजाः पशून्सृजेयेति (तैत्ति०सं० २.१.१.४)। प्रजापतिर्वै भुवनस्य पतिः (तैत्ति०सं० ३.४८.६)। सविता वै प्रजापतिः (जैमि०ब्रा० १.६)। प्रजापतिर्वा ऽग्निः (जै०ब्रा० १.२९०)।

३२. प्रत्यङ्गिरस (१०.१) — अथर्ववेदमें प्रत्यङ्गिरसको केवल एक ही

सूक्त १०.१ का ऋषित्व प्राप्त हुआ हैं। इस सूक्तमें इन्होंने 'कृत्यादूषण' देवताकी स्तुति की है। कृत्याको दूर करनेके लिये इस सूक्तका विनियोग किया जाता है।

३३. प्रमोचन (६.१०६) — अथर्वकि एक सूक्त ६.१०६के ऋषि-नाममें 'प्रमोचन' नाम उल्लिखित हैं। इससे पहले के सूक्तमें उन्मोचन ऋषि नाम निर्दिष्ट हैं। ये नाम व्यक्तिवाचक नहीं प्रतीत होते। प्रमोचन ऋषिने वहाँ 'दूर्वाशाला' देवताकी स्तुति की है।

३४. प्रशोचन (६.१०४) — प्रशोचनका ऋषित्व अथर्ववेद ६.१०४में दृष्टिगोचर होता है। इसके पूर्व सूक्तके ऋषि उच्छोदन हैं। उक्त सूक्तोंमें इन्द्र, इन्द्राणी, इन्द्राग्नी आदि देवगण स्तुत हुए हैं। उक्त सूक्त 'शत्रुनाशन सूक्त' नामसे वर्णित है।

३५. प्रस्कण्व (७.४०-४७) — प्रस्कण्व ऋषि-द्वारा दृष्ट मंत्र चारों वेदोंमें संगृहीत हैं। अथर्ववेदमें अनेक सूक्तोंके ऋषि नाममें प्रसकण्व उल्लिखित हैं; परन्तु इनके नामके साथ अपत्यवाचक पद अनुक्त है। ऋग्वेदमें इन्हें एक काण्व (कण्व गोत्रीय)-के रूपमें उपन्यस्त किया गया है। निरुक्तकारने इन्हें कण्व-पुत्रके रूपमें वर्णित किया है — प्रस्कण्व कण्वस्य पुत्रः। कण्व प्रभवो यथा प्राग्रम् (नि० ३.१७)। बृह० ६.८५ में प्रस्कण्व-द्वारा पृषध्रको धन देनेका वर्णन प्रतिपादित किया गया हैं। इन्द्रद्वारा इनकी सहायताका उल्लेख भी मिलता है — धने हिते येन प्रस्कण्वमाविथ (अथर्व० २०.९.३)।

३६. बभ्रुपिंगल (६.१४) — बभ्रुपिंगलको अथर्ववेदमें ६.१४ सूक्तका ऋषित्व प्राप्त हुआ है। इसमें इन्होंने बलास देवताकी स्तुति की है। ऋग्वेदके एक सूक्त (५.३०)-के ऋषि अत्रिगोत्रीय बभ्रु हैं, जिन्होंने ऋणंचय से दान प्राप्त किया था।

३७. बादरायणि (४.३७-३८) — बादरायणिका अथर्वमें ऋषित्व अथर्ववेदके चार सूक्तों ४.३७-३८, ७.६१, ७.११४ में दृष्टिगोचर होता है। इन सूक्तोंमेंसे प्रथम दो सूक्तोंमें इन्होंने मुख्यतः अप्सराओं और तृतीय, चतुर्थमें क्रमशः अग्निनाशन और अग्निदेवताकी स्तुति की है। बादरायणिका सामान्य अर्थ 'बदरके वंशज' लिया जाता है। बदर वैदिक

साहित्यमें कोई ऋषि रहे होंगे। सामान्यतः बदर (बेरके) फलदार वृक्षके रूपमें मान्य है। पौराणिक सन्दर्भमें बादरायणिको व्यासका पुत्र शुकदेव माना गया है।

३८. बृहच्छुक्र (६.५३) — बृहच्छुक्रका अथर्वमें मात्र एक सूक्त ६.५३ का ऋषित्व प्राप्त हुआ है। बृहच्छुक्र शब्दकी व्युत्पत्ति 'बृहत् शुक्र' की जाती है। शुक्र ऋषिको अथर्वमें अनेक सूक्तों २.११, ४.१७-१९ आदिका ऋषि माना गया है। 'बृहच्छुक्र' ऋषि शुक्रसे भिन्न हैं या नहीं, यह शोधका विषय है। उक्त सूक्तमें इन्होंने त्वष्टा, वैश्वानर, अग्नि, वायु आदिकी स्तुति की है।

३९. बृहद्दिवोऽथर्वा (५.१-३) — बृहद्दिव और अथर्वा ऋषिको अथर्ववेदमें तीन सूक्तों ५.१-३का सम्मिलित ऋषित्व प्राप्त हुआ है। बृहद्दिव ऋषिको २०.१०७.४-१३ मंत्रोंका स्वतंत्र ऋषित्व भी प्राप्त हुआ है। ऋक्, यजु और साम तीनों वेदोंमें इनके ऋषि नाम में 'आथर्वण' पद भी संयुक्त हुआ है। इससे स्पष्ट है कि ये अथर्वाके वंशज रहे होंगे। ये इन्द्रके स्तोताओंमें अग्रणी रहे हैं — इमा ब्रह्म बृहद्दिवः कृणवदिन्द्राय शूषमग्रियः स्वर्षाः (अथर्व० ५.२५)। ये दोनों महान् ऋषि इन्द्रके शरीरकी भाँति उनके अति निकट थे — एवा महान् बृहद्दिवो अथर्वावोचत् स्वां तन्वमिन्द्रमेव (अथर्व० ५.२९)।

४०. बृहस्पति (१०.६) — बृहस्पतिका ऋषित्व चारों वेदोंमें दृष्टिगोचर होता है। ऋग्वेद १०.७१-७२ में इन्हें आङ्गिरस अथवा लौक्यके रूपमें स्वीकार किया गया है। अथर्ववेदमें इन्हें एक सूक्त १०.६ का ऋषित्व प्राप्त हुआ है। इस सूक्तमें इन्होंने प्रमुखतः फालमणि वनस्पतिकी स्तुति की है। वे ज्ञानके देवता हैं तथा ज्ञान-द्वेषियोंको ताप देनेवाले हैं — ब्रह्मद्विषस्तपनो मन्युमीरसि बृहस्पते (ऋ० २.२.३.४)। वैदिक साहित्यमें इन्हें ब्रह्म-ज्ञानके रूपमें ही कहा गया है — बृहस्पतिर्वै सर्वं ब्रह्म (गो०ब्रा० २.१.३)। बृहस्पतिर्ब्रह्म ब्रह्मपतिः (तैत्ति०सं० २.५.७.४)। बृहस्पति शब्दकी व्युत्पत्ति निरुक्तकारने निम्न प्रकारसे दी है — बृहस्पतिः बृहतः पाता वा पालयिता वा (बृहस्पति अर्थात् बृहद रूपसे रक्षा करनेवाले अथवा पालन करनेवाले।) (नि० १०.११)।

४१. ब्रह्मा (१.१७, १९) — अथर्ववेदमें अनेक सूक्तोंके द्रष्टा-रूपमें ब्रह्मा स्वीकार किए गए हैं। ऋग्वेदमें कण्वगोत्रीय एक ऋषि ब्रह्मातिथिका

ऋषित्व (ऋ० ८.५में) निर्दिष्ट है ; परन्तु ब्रह्मा ऋषिका अन्य संहिताओंमें ऋषित्व नहीं मिलता। निरुक्तकारने ब्रह्माकी उपमाएँ निम्न प्रकारसे दी हैं – ब्रह्मैको जातेजाते विद्यां वदति। ब्रह्मा सर्वविद्यः सर्वं वेदितुमर्हति। ब्रह्मा परिवृढः श्रुततः (नि० १.८)। इन्हें देवोंमें श्रेष्ठकी उपमा दी गई है – तस्मादाजहुर्ब्रह्मैव देवानां श्रेष्ठमिति (शत०ब्रा० ८.४.१.३)। इन्द्रको ब्रह्माके रूपमें स्वीकार किया गया है – इन्द्र एव ब्रह्माऽऽसीत् (जैमि०ब्रा० ८.४.१.३)।

४२. ब्रह्मास्कन्द (४.३१-३२) – ब्रह्मास्कन्दको अथर्ववेदके दो सूक्तों ४.३१-३२के द्रष्टा-रूपमें स्वीकार किया गया है। इन दोनों सूक्तोंमें इन्होंने देवता-रूपमें 'मन्यु'-की स्तुति की हैं। 'स्कन्द' सामान्य अर्थोंमें 'शिवका एक नाम' हैं। सम्भव है, ब्रह्मा और शिवका संयुक्त ऋषित्व यहाँ अभीष्ट हो।

४३. भग (६.८२) – भग ऋषिको अथर्ववेदके एक सूक्त ६.८२ का ऋषित्व प्राप्त हुआ है। इस सूक्तमें इन्होंने इन्द्र देवताकी स्तुति की है। यज्ञके पर्यायके रूपमें भी 'भग' प्रयुक्त हुआ है – यज्ञो भगः (शत०ब्रा० ६.३.१.१९)। निरुक्तकारने 'भग' शब्दकी व्युत्पत्ति निम्न प्रकार दी है– भगो भजतेः (नि० १.७)। निरुक्त ग्रन्थमें ही आदित्योंके नाममें इन्हें परिगणित किया गया है – तद्यथैतन्मित्रस्य वरुणस्यार्यम्णो दक्षस्य भगस्यांशस्येति (नि० २.१३)। कश्यप पत्नी देवमाता अदितिको इनकी माताके रूपमें स्वीकार किया गया है। पौराणिक सन्दर्भमें इनकी पत्नीका नाम सिद्धि है, जिनसे महिमा आदि पुत्र उत्पन्न हुए।

४४. भरद्वाज (२.१२) – भरद्वाज ऋषिको चारों वेदोंमें ऋषित्व प्राप्त हुआ है। ऋग्वेद तथा सामवेदमें इनके नाम अपत्यवाचक पद 'बार्हस्पत्य' संयुक्त हुआ हैं, जिसका आशय बृहस्पतिके पुत्र अथवा वंशजसे है। ये सप्तर्षियोंमें प्रतिष्ठा प्राप्त ऋषि हैं। उषा देवींसे प्रार्थना की गई है कि वे भरद्वाजके समान हमें प्रकाशित करें – उच्छा दिवो दुहितः प्रत्नवन्नो भरद्वाजवद् विधते मघोनि (ऋ० ६.६५.६) निरुक्तकारने भरद्वाज शब्दकी व्युत्पत्ति निम्न प्रकार दी है – भरणाद् भारद्वाजो (भरण-पोषण करनेके कारण भरद्वाज कहलाते हैं - नि० ३.१७)। ब्राह्मण ग्रन्थमें इनकी संगति मनसे बिठाते हुए उपन्यस्त किया है – मनो वै भरद्वाज ऋषिरन्नं

वाजो यो वै मनो बिभर्त्ति सो ऽन्नं वाजं भरति तस्मान्मनो भरद्वाज ऋषिः (शत०ब्रा० ८.१.१.९)। इन्हें ममताके गर्भसे उत्पन्न बृहस्पतिका पुत्र माना जाता है। बृहद्देवता ५.१०२-१०३ में इन्हें अङ्गिरस्का पौत्र तथा बृहस्पति-पुत्र स्वीकार किया गया है।

४५.भागलि (६.५२) — अथर्ववेदके एक सूक्त ६.५२ का ऋषित्व भागलिको प्राप्त हुआ है। तीन मंत्रोंके इस सूक्तमें ऋषिने क्रमशः सूर्य, गौ और भेषजका वर्णन किया है।

४६.भार्गव (७.११८-११९) — भार्गव ऋषिका ऋषित्व अथर्ववेदके दो सूक्तों ७.११८-११९ में दृष्टिगोचर होता है। ये सूक्त 'शत्रुनाशन सूक्त' शीर्षकसे वर्णित हैं। इनमें ऋषिने तृष्टिका और अग्नीषोमा देवताकी स्तुति की है। भार्गव नाम व्यक्तिवाचक न होकर अपत्यवाचक है, जिसका आशय 'भृगु गोत्रीय' से है। भार्गव ऋषियोंमें इट, कवि, गृत्समद, च्यवन, जमदग्नि आदि प्रसिद्ध हैं। सम्भव है, उक्त दो सूक्त इन्हींमें से किन्हीं ऋषि-द्वारा दृष्ट हों।

४७. भृगु (३.१३) — भृगु ऋषिको अथर्ववेदमें अनेक सूक्तोंके द्रष्टा-रूपमें स्वीकार किया गया है। ऋग्वेदके दो सूक्त ९.६५, १०.१९ के ऋषि नाममें इनके साथ 'वारुणि' पद उल्लिखित है, जिसका आशय 'वरुण-पुत्र' है, इसकी पुष्टि आचार्य सायणके भाष्यसे होती है — 'वरुणपुत्रस्य भृगोरार्षं भार्गवस्य जमदग्नेर्वा (ऋ० ९.६५ सा०भा०)। अथर्ववेदके एक सूक्त २.५ के ऋषि भृगु आथर्वण हैं, जिससे ये अथर्वाके वंशज प्रतीत होते हैं। अथर्ववेदके अनेक सूक्तोंमें भृगुके साथ अङ्गिराका सम्मिलित ऋषित्व प्राप्त होता है। सम्भवतः भृगु अथवा भार्गवोंको अग्नि-पूजक होनेके कारण अङ्गिरासे सम्बद्ध माना गया है। निरुक्तकारने इन्हें अङ्गिराके रूपमें स्वीकार किया है — अर्चिषि भृगुः संबभूव। भृगुर्भृज्यमानोनदेहे अङ्गरेष्वङ्गिरा (नि० ३.१७)। शतपथ ब्राह्मणमें ये वारुण (वरुण-पुत्र)-के रूपमें अभिहित है — भृगुर्ह वै वारुणिः। वरुणं पितरं ....(शत०ब्रा० ११.६.१.१)।

४८. भृगु आथर्वण (२.५) — भृगु आथर्वणको अथर्ववेदके एक सूक्त २.५ का ऋषि स्वीकार किया गया है। वे अथर्वा ऋषिके वंशज हैं, इसी कारण अपत्यवाचक पद 'आथर्वण' संयुक्त किया गया है। इस सूक्तमें ऋषिने

इन्द्रके पराक्रमोंकी विवेचना की है। इन्द्र ही इस सूक्तके देतवा हैं। इन्हें इन्द्रके मित्रके रूपमें वर्णित किया गया है — इन्द्रस्तुराषाण्मित्रो......... विभेद वलं भृगुर्न (अथर्व० २.५.३)। मातरिश्वाने अग्निको भी इनका मित्र बनाया था — वह्निं......रातिं भरद् भृगवे मातरिश्वा (ऋ० १.६०.१)।

४९. भृग्वङ्गिरा (१.१२.१४) — अथर्ववेदमें अनेक सूक्तोंके द्रष्टा-रूपमें 'भृगु और अङ्गिरा'-को सम्मिलित रूपसे स्वीकार किया गया है। भृगु और अङ्गिराका स्वतंत्र ऋषित्व भी अनेक सूक्तोंमें निर्दिष्ट है। एक सूक्त १९.७२ में भृगु, अङ्गिराके साथ ब्रह्माको भी सम्मिलित ऋषित्व प्राप्त हुआ है। इन दोनोंको मंगलकारी कहा गया है — भद्रा भृगवोऽङ्गिरसः सुदानवः (काठ०संक० ६२)। इन्हें तपमें अग्रणी माना गया है — भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वम् (काठ०सं० १.७) इन्हें विपुल ब्रह्मज्ञानका प्रतीक माना गया है — एतद्धै भूयिष्ठं ब्रह्म यद् भृग्वंगिरसः (गो०ब्रा० १.३.४)।

५०. मयोभू (५.१७-१९) — अथर्वमें तीन सूक्तों ५.१७-१९के ऋषि-रूपमें 'मयोभू' नाम उल्लिखित है। इनमें उन्होंने ब्रह्मजाया और ब्रह्मगवीकी स्तुति की है। यजुर्वेदके एक मंत्र ११.१८ के ऋषि-नाममें 'मयोभुवः' नाम आता है, जिसका आशय सम्भवतः मयोभूके वंशजोंसे होगा। मयोभूका सामान्य अर्थ (मयस्‌से सुख तथा भूसे प्राण) 'सुखकारी प्राणरूप' किया जाता है।

५१. मरीचि कश्यप (७.६४) — मरीचि कश्यपको अथर्ववेदमें एक सूक्त ७.६४का ऋषित्व प्राप्त हुआ है। इस सूक्तमें इन्होंने अग्निकी स्तुति की है। ऋग्वेदमें अनेक स्थानोंपर कश्यप मारीचका ऋषित्व दृष्टिगोचर होता है। इन्हें आचार्य सायणने अपने ऋग्वेद भाष्यमें मरीचि-पुत्रके रूपमें विवेचित किया है — 'जातवेदस' इति एकर्चं षष्ठं सूक्तं मरीचिपुत्रस्य कश्यपस्यार्षं त्रैष्टुभम् (ऋ० १.९९ सा०भा०)। कश्यप ऋषि सप्तर्षियोंमें एक माने जाते हैं। बृहद्देवता ग्रन्थ (५.१४३-१४५)-में प्रजापतिके वंशज एवं दक्ष-पुत्रियों अदिति आदिके पतिके रूपमें इनका उल्लेख निर्दिष्ट है। शतपथ ब्राह्मण (१३.७.१.१५)-के अनुसार इन्होंने विश्वकर्मन् भौवन राजाका सर्वमेध यज्ञ कराया था।

५२. मातृनामा (२.२) — मातृनामाको अथर्ववेदके तीन सूक्तों २.२, ४.२०,

८.६ का ऋषित्व प्राप्त हुआ है। उक्त सूक्तोंमें गन्धर्व-अप्सरा मातृनामा और ब्रह्मणस्पति आदिकी स्तुति की है।

५३. मृगार (४.२३-२९) — अथर्ववेदके सात सूक्तों ४.२३-२९में मृगारको मंत्रद्रष्टा ऋषिके रूपमें स्वीकार किया गया है। इन सूक्तोंमें ऋषिने प्रचेता अग्नि, इन्द्र, सविता, वायु, द्यावा-पृथिवी, मरुद्गण आदि देवताओंकी स्तुतियाँ की हैं।

५४. मेधातिथि (७.२६-३०) — मेधातिथिका ऋषित्व चारों वेदोंमें दृष्टिगोचर होता है। अथर्ववेदके पाँच सूक्तों ७.२६-३० तथा एक मन्त्र २०.१४३.९का ऋषित्व इन्हें प्राप्त हुआ है। ऋग्वेद तथा सामवेदमें इनके नामके साथ अपत्यवाचक शब्द 'काण्व' संयुक्त है, जिसका आशय 'कण्वगोत्रीय' है। आचार्य सायणने इन्हें कण्वगोत्रीयके रूपमें उल्लिखित किया है — मेधातिथि मेध्यातिथि नामानौ द्वावृषी तौ च कण्वगोत्रौ (ऋ० ८.१ सा०भा०)। अथर्ववेदमें मेध्यातिथि ऋषिको भी अनेक सूक्तोंका ऋषित्व प्राप्त हुआ है। इन्द्र-द्वारा मेधातिथिके पास जाकर सोमपान करनेका उल्लेख मिलता है — तेपां ह स्मेन्द्रो मेधातिथेर्मेषस्य रूपं कृत्वा सोमं व्रतयति (जैमि०ब्रा० ३.२३४)। मेधातिथेर्ह मेषो भूत्वा (इन्द्रः) राजानं (सोमम्) पपौ (जैमि०ब्रा० २.७९)।

५५. यम (६.४५-४६) — अथर्वमें यम, प्रजापति, वरुण, सविता, भग, ब्रह्मा आदि देवोंका ऋषित्व भी दृष्टिगोचर होता है। 'यस्य वाक्यं स ऋषिः'-के अनुसार जिन देवों-द्वारा संवाद या वाक्य प्रस्तुत किया जाता है, वे देवगण भी ऋषि-रूपमें अभिप्रेत हैं। ऋग्वेदके ऋषि-नाममें 'यम'-के साथ 'वैवस्वत' पद संयुक्त है जिसका आशय विवस्वत् या विवस्वान्का पुत्र है। ऋग्वेदमें यमकी बहन यमी वैवस्वतीका ऋषित्व भी निर्दिष्ट है। इनकी माताका नाम सरण्यू विवेचित है — यमस्य माता पर्युह्यमाना.....द्वा मिथुना सरण्यूः (ऋ० १०.१७.१-२)। यम गोत्रीय ऋषियों (यामायनो)-में कुमार, दमन, देवश्रवा, शङ्ख, संकुसुक आदि ख्याति-प्राप्त हैं।

५६. वरुण (७.११७) — वरुणका ऋषित्व ऋक्, यजु और अथर्व तीनों वेदोंमें निर्दिष्ट है। अथर्ववेदमें एक सूक्त ७.११७ का ऋषित्व वरुणको प्राप्त हुआ है। वरुण पुत्रोंमें भृगु और सत्यधृतिका ऋषित्व भी क्रमशः

ऋग्वेद ९.६५ तथा १०.१८५ में निर्दिष्ट हैं। वरुणानी इनकी पत्नीके रूपमें अभिप्रेत हैं। भागवत पुराणके अनुसार वरुणकी चर्षणी नामकी पत्नीसे इन्हें दो पुत्र भृगु और वाल्मीकि प्राप्त हुए। निरुक्तकारने इन्हें द्वादश आदित्योंमेंसे एक माना है। महाभारतके अनुसार ये कश्यप-द्वारा अदितिके गर्भसे जन्मे थे। वरुणको सम्पूर्ण भुवनोंके सम्राटके रूपमें वर्णित किया गया है – आसीदद् विश्वा भुवनानि सम्राड् विश्वेत्तानि वरुणस्य व्रतानि (ऋ० ८.४२.१)। निरुक्तमें वरुण शब्दकी व्युत्पत्ति निम्न प्रकार दी है – वरुणः वृणोतीति सतः (नि० १०.३)।

५७. वसिष्ठ (१.२९) – वसिष्ठ ऋषिको चारों वेदोंमें ऋषित्व प्राप्त हुआ है। ऋग्वेद और सामवेदमें इनके नामके साथ अपत्यवाचक पद 'मैत्रावरुणि' संयुक्त हुआ है। वसिष्ठ और अगस्त्यको मित्र और वरुणका पुत्र माना जाता है, अतः दोनोंके नामके साथ मैत्रावरुणि पद निर्दिष्ट है। इनके मित्रावरुण और उर्वशीसे उत्पन्न होनेकी पुष्टि ऋग्वेदमें होती है – उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठोर्वश्या ब्रह्मन्मनसोऽधि जातः (ऋ० ७.३३.११)। इन्हें सप्तर्षियोंमें विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त है। ऋ० ७.३३.१०-१४ में वसिष्ठ पुत्रोंका सम्मिलित ऋषित्व भी प्राप्त होता है। अथर्ववेदके एक सूक्त ४.२२में वसिष्ठ और अथर्वाका सम्मिलित ऋषित्व निर्दिष्ट है। वसिष्ठगोत्रीय ऋषियोंमें उपमन्यु, द्युम्नीक, शक्ति आदिका ऋषित्व भी ऋग्वेदमें वर्णित है। महामृत्युञ्जय मन्त्रके द्रष्टा भी वसिष्ठ ही हैं – त्र्यम्बकं द्वे अनुष्टुभौ-वसिष्ठ .... (यजु० सर्वा० १.१५)। पुराणानुसार कर्दमकी पुत्री अरुन्धती इनकी पत्नी थी।

५८. वामदेव (३.९) – वामदेव ऋषिका ऋषित्व चारों वेदोंमें अभिहित है। अथर्ववेद और यजुर्वेदमें इनके ऋषि नामके साथ अपत्यवाचक पद 'गौतम' अनुल्लिखित है। ये गोतमके पुत्र होनेके कारण 'गौतम' पदसे संयुक्त हुए हैं। ऋग्वेदके चतुर्थ मण्डलके अनेक सूक्तोंके द्रष्टा वामदेव गौतम हैं। गोतम वंशजोंने इन्द्रकी स्तुति करते हुए श्रेष्ठ बुद्धि प्रदान करनेकी प्रार्थना की है – इन्द्र ब्रह्माणि गोतमासो अक्रन्। एषु विश्वपेशसंधियं धाः (अथर्व० २०.३५.१६)। शत्रुओंको नष्ट करनेकी सामर्थ्य इन्हें पितासे प्राप्त हुई थी – महो रुजामि बन्धुता वचोभिस्तन्मा

पितुर्गोतमादन्वियाय (४.४.११)। बृहद्देवता ग्रन्थमें वामदेव-द्वारा

इन्द्रपर विजय प्राप्त करनेका उल्लेख मिलता है (बृह० ४.१३२)। वामदेव-गोत्रीय ऋषियोंमें अंहोमुक, दधिक्रावा, बृहदुक्थ, मूर्धन्वान ऋषियोंका ऋषित्व ऋग्वेदमें उपनिबद्धित है।

५९. विश्वामित्र (३.१७) — विश्वामित्र ऋषिको चारों वेदोंमें ऋषित्व प्राप्त हुआ है। ऋग्वेद तथा सामवेदमें इनके नामके साथ अपत्यवाचक 'गाथिन' प्रयुक्त हुआ है। ये गाथिके पुत्र होनेके कारण 'गाथिन' पदसे संयुक्त हुए। ये कुशिकके पौत्र होनेके कारण कौशिक भी कहे जाते हैं। निरुक्त ग्रन्थमें उनके पितामहके राजा होनेका उल्लेख मिलता है — प्रज्ञया याऽवनाय कुशिकस्य सूनुः। कुशिको राजा बभूव (नि० २.२५)। विश्वामित्रने शुनः शेपको अपना दत्तक पुत्र बनाकर उसका नाम देवरात रखा, इसकी पुष्टि ऐत०ब्राह्मण ७.१७.१८ में होती है। ऋषि विश्वामित्र गायत्री महामंत्रके द्रष्टाके रूपमें प्रख्यात हैं तथा सप्तऋषियोंमें भी ख्याति प्राप्त हैं। सम्पूर्ण विश्वके मित्र होनेके कारण इन्हें विश्वामित्र कहा गया है — विश्वस्य ह वै मित्रं विश्वामित्र आस, विश्वं हास्मै मित्रं भवति य एवं वेद (ऐत०ब्रा० ६.२०)। ये ऋग्वेदके तृतीय मण्डलके ऋषि-रूपमें मान्य हैं। ये सुदासके महायज्ञके प्रमुख ऋत्विक्-रूपमें भी वर्णित हुए हैं।

६०. विहव्य (१०.५.४२-५०) — विहव्य ऋषिका ऋषित्व अथर्ववेदमें ९ मंत्रों (१०.५.४२-५०)-में दृष्टिगोचर होता है। ऋग्वेदके एक सूक्त १०.१२८ तथा यजुर्वेदके एक मंत्र ३४.४६-का ऋषित्व भी इन्हें प्राप्त है। ऋग्वेदमें इनके नामके साथ अपत्यवाचक पद 'आङ्गिरस' संयुक्त है। ये अङ्गिरस-गोत्रोत्पन्न होनेके कारण आङ्गिरस कहलाए। बृहद्देवताकार ऋषि शौनकने (बृह० २.१३०, ३.५७ में) वैश्वदेव सूक्तोंके द्रष्टाओंमें इन्हें परिगणित किया है। ऋषि-रूपमें ये जमदग्निके साथ वर्णित हुए हैं— जमदग्नेश्च वा ऋषीणाश्च सोमौ सं सुतावास्तां तत एतज्जमदग्नि र्विहव्यमपश्यत् (तां०म० ९.४.१४)।

६१. वीतहव्य (६.१३६-१३७) — अथर्ववेदमें वीतहव्यका ऋषित्व दो सूक्तों ६.१३६-१३७ में दृष्टिगोचर होता है। ऋग्वेका एक सूक्त ६.१५ तथा सामवेदके तीन मंत्र १५६७-६९ भी इनके द्वारा दृष्ट हैं, परन्तु यहाँ इनके नामके साथ अपत्यवाचक पद 'आङ्गिरस' संयुक्त है। अथर्ववेदमें इनका उल्लेख दो बार हुआ है। इन्द्र-द्वारा सहायता पानेका उल्लेख

प्राप्त होता है – त्वं धृष्णो धृषता वीतहव्य प्रावः (अथर्व० २०३७.३)। ये असितके घरसे ओषधि ढूँढ़कर लाए थे – तां वीतहव्य आभ्रदासितस्य गृहेभ्यः (अथर्व० ६.१३७.१)। ऋग्वेदके एक स्थानमें भरद्वाजके साथ इनका नामोल्लेख मिलता है। इसके भाष्यमें आचार्य सायणने भरद्वाजको वीतहव्य ऋषिके विशेषणके रूपमें वर्णित किया है तथा विकल्पमें वीतहव्यको भरद्वाज ऋषिके विशेषणके रूपमें भी उल्लिखित किया है – वीतं गमितं हव्यं हविर्येन तादृशाय भरद्वाजायेति वा योज्यम् (ऋ० ६.१५.३ सा०भाष्य)।

६२. वेन (२.१) – वेन ऋषिका ऋषित्व चारों वेदोंमें उपन्यस्त है। अथर्वमें तीन सूक्त २.१, ४.१-२ तथा ऋग्वेदके दो सूक्त ९.८५.१०.१२३ इनके द्वारा दृष्ट हैं; परन्तु ऋग्वेदमें इन्हें एक भार्गवके रूपमें माना गया है। ये एक मेधा-सम्पन्न ऋषि-रूपमें मान्य हैं। पृथवानको वैनगोत्रीय भी समझा जाता है – प्र तद्दुः शीमे पृथवाने वेने (ऋ० १०.९३.१४)। आचार्य सायणने पृथुको वेन पुत्र कहकर वर्णित किया है, इसीलिये इनके नामके साथ वैन्य पद संयुक्त हुआ है। ब्राह्मण ग्रन्थमें वेनको इन्द्रके रूपमें माना गया है – इन्द्र उ वै वेनः (कौषी०ब्रा० ८.५)। आर्षा०में इन्हें भृगुपुत्रके रूपमें प्रमाणित किया गया है – वेनो नाम भृगोः सुतः (आर्षा० १०.६०)। पौराणिक सन्दर्भमें इन्हें राजा अंग तथा सुनीथाका पुत्र माना गया है। ये कुरुके पौत्र तथा चाक्षुष मनुके प्रपौत्र थे।

६३. शन्ताति (१.३३) – शन्तातिको अथर्ववेदके अनेक सूक्तों (१.३३, ४.१३, ६.१०, ६.१९, ६.२१-२४, ६.५१, ६.५६-५७, ६.९३, ६.१०७, ७.७०-७२)-के ऋषि होनेका गौरव प्राप्त हुआ है। अन्यत्र इनका ऋषित्व अनुपलब्ध है।

६४. शम्भु (२.२८) – शम्भु अथर्ववेदके ऋषि हैं। इन्हें अथर्ववेदके केवल एक ही सूक्त (२.२८)-का ऋषित्व प्राप्त हुआ है। 'शम्भुः'-का अर्थ निरुक्तकारने 'सुखभूः' लिया है (नि० ५.३), जिसका आशय 'सुख देनेवाला' या 'समृद्धि देनेवाला' है। इस सूक्तमें इन्होंने मित्रावरुण, द्यावा-पृथिवी आदि देवगणोंकी स्तुति की है।

६५. शुक्र (२.११) – शुक्रको अथर्ववेदके अनेक सूक्तोंका द्रष्टा माना गया है। ये अथर्ववेदीय ऋषि हैं। अन्य संहिताओंमें इनका ऋषित्व

उपलब्ध नहीं है। जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण २.७.७ में एक आचार्यका नाम शुक्र है, जो जबालाका वंशज होनेके कारण 'जाबाल' पदसे संयुक्त है। शुक्रको अनेक स्थानोंपर आकाशीय प्रकाशमय ग्रहके अर्थमें लिया गया है — एष वै शुक्रो य एष तपति (शत०ब्रा० ४.३.१.२६)। ज्योतिर्वै शुक्रं हिरण्यम् (ऐत०ब्रा० ७.१२)। असौ वा आदित्यः शुक्रः (शत०ब्रा० ९.४.२.२१) पौराणिक सन्दर्भमें इन्हें कविका पुत्र तथा भृगुका पौत्र कहा गया है, जो दैत्योंके गुरु शुक्राचार्य कहलाए।

६६. **शुनः शेप (६.२५)**— शुनः शेप ऋषिका ऋषित्व चारों वेदोंमें उपन्यस्त है। अथर्ववेदमें इन्हें चार सूक्तों ६.२५, ७.८८, २०.७४, २०.१२२ तथा तीन मन्त्रों २०.२६.१-३ का ऋषित्व प्राप्त हुआ है। ऋग्वेद तथा सामवेदमें इनके नामके साथ 'आर्जीगर्ति' पद संयुक्त है। ये अजीगर्तके पुत्र थे, इसी कारण आर्जीगर्ति कहलाए। ऐतरेय ब्राह्मणमें ये विश्वामित्रके दत्तक पुत्रके रूपमें विवेचित हैं, जो कालान्तरमें देवरात वैश्वामित्र कहलाए। इनके पिता अजीगर्तके तीन पुत्रों, जिनमेंसे मध्यम शुनः शेप थे, का उल्लेख भी इसीमें वर्णित है — तस्य ह त्रयः पुत्रा आसुः शुनः पुच्छः शुनः शेपः शुनोलाङ्गूल इति (ऐत०ब्रा० ७.१५)। बृहद्देवता ३.१०३)-में इन्द्रदेव-द्वारा शुनः शेपको स्वर्णमय रथ प्रदान करनेका उल्लेख है।

६७. **शौनक (२.६)** — अथर्ववेदमें शौनक ऋषिको २.६, ६.१६, ६.१०८, ७.११-१३, ७.८३ सूक्तोंका द्रष्टा स्वीकार किया गया है। ऋग्वेदमें शौनक ऋषिका पूरा नाम गृत्समद भार्गव शौनक वर्णित है तथा इनका पूर्व नाम गृत्समद आङ्गिरस शौनहोत्र उल्लिखित है। यहाँ शौनकका नाम अपत्यवाचक ही है, जो गृत्समद ऋषिके साथ संयुक्त हुआ है। ये भृगु कुलमें उत्पन्न होनेसे भार्गव तथा शुनक-पुत्र होनेसे शौनक कहलाए, इस तथ्यकी पुष्टि आचार्य सायणने अपने ऋग्वेद-भाष्यमें की है — मण्डलद्रष्टा गृत्समद ऋषिः। स च पूर्वम् आङ्गिरस कुले शुनहोत्रस्य पुत्रः सन् यज्ञकालेऽसुरैर्गृहीत इन्द्रेण मोचितः। पश्चात् तद्वचनेनैव भृगुकुले शुनक पुत्रो गृत्समदनामा अभूत् (ऋ० २.१ सा०भा०)। ये ऋग्वेदके द्वितीय मण्डलके ऋषि-रूपमें मान्य हैं। कौषीतकि ब्राह्मण २२.४में ये भार्गवके रूपमें तथा बृहद्देवता ४.७८में ये शौनहोत्रके रूपमें अभिप्रेत

हैं। गृत्समदके पुत्र कूर्म गार्त्समदका ऋषित्व भी ऋ० २.२७-२९में निर्दिष्ट हैं। गृत्समद शब्दकी व्युत्पत्ति निरुक्तकारने निम्न प्रकार की है — गृत्समदो गृत्समदनः। गृत्स इति मेधाविनाम गृणातेः स्तुतिकर्मणः (नि० ९.५)।

६८. सविता (२.२६) — सविताका ऋषित्व यजुर्वेद एवं अथर्ववेदमें प्राप्त होता है। अथर्ववेदमें अनेक देवगणों प्रजापति, ब्रह्मा, बृहस्पति, भग, वरुण आदिको भी ऋषित्व प्राप्त हुआ है। 'यस्य वाक्यं स ऋषिः' सूत्रोक्तिके अनुसार मंत्रोंमें वर्णित देवोंको जिन देवों-द्वारा सम्बोधित किया गया है, वे देवगण भी ऋषि-रूपमें मान्य हैं। सविताको देवोंका उत्पत्तिकारक कहा गया है — देवो वः सविता पुनात्वच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः (कपि०कठ०सं० १.५)। निरुक्तकारने उन्हें सबका जनक स्वीकार किया है — सविता सर्वस्य प्रसविता (नि० १०.३१)। आदित्यको भी सविता कहा गया है — आदित्योऽपि सविता उच्यते (नि० १०.३२)। प्रजापतिने सविता-रूपमें प्रजाकी उत्पत्ति की — प्रजापतिः सविता भूत्वा प्रजा असृजत (तैत्ति०ब्रा० १.६.४.१)।

६९. सिन्धुद्वीप (१.४-५) — सिन्धुद्वीप ऋषिका ऋषित्व चारों वेदोंमें निर्दिष्ट है। ऋग्वेदमें एक सूक्त १०.९ का ऋषित्व इन्हें प्राप्त है, जिसमें इन्हें आम्बरीष (अम्बरीष-पुत्र) कहा गया है। इनके पिता अम्बरीष वार्षागिरको एक राजा स्वीकार किया गया है। वृषागिरके पाँच राजर्षि-पुत्रों ऋजाश्व, अम्बरीष, सहदेव, भयमान और सुराधसका ऋषित्व भी ऋ० १.१००में उपन्यस्त है। बृहद्देवताकार ऋषि शौनक (६.१५२-१५३)-के अनुसार इन्द्रने विश्वरूपका वध किया, उनके पापका निवारण करनेके लिये सिन्धुद्वीप ऋषिने जलका सिञ्चन कर सूक्त १०.९ का गायन किया। आचार्य सायणने इन्हें राजा अम्बरीषके पुत्र-रूपमें वर्णित किया है — अम्बरीषस्य राज्ञः पुत्रः सिन्धुद्वीप ऋषिस्त्वष्ट्र-पुत्रस्त्रिशिरा वा (ऋ० १०.९ सा०भा०)।

अथर्ववेदके देवताओंका संक्षिप्त परिचय

१. अंश (६.४.२) — बृहद्देवतामें एक स्थानपर (७.११४में) अदितिके आठ पुत्र वर्णित हैं, किन्तु इसी ग्रन्थमें एक स्थानपर (५.१४७में)

अदितिके बारह पुत्रों (आदित्यों)-का वर्णन भी मिलता है। इन दोनों प्रसङ्गोंमें अंशका देवत्व उपन्यस्त है— धातेन्द्रो वरुणो मित्रो अंशः सूर्योऽर्यमा भगः (बृह० ७.११७)। भगश्चैवार्यमांशश्च मित्रो वरुण एव च। धाता चैव विधाता च विवस्वांश्च महाद्युतिः (बृह० ५.१४७)। अंश शब्दका उल्लेख अथर्ववेदमें दो बार हुआ है। एक बार तब, जब वे मित्र, भग, वरुण, अदिति, मरुत और अर्यमाके साथ हैं तथा उनसे शत्रुको दूर भगानेकी प्रार्थना की गई है— अंशो भगो वरुणो मित्रो अर्यमादितिः पान्तुः मरुतः। अप तस्य द्वेषो गमेदभिह्रुतो यावयच्छत्रुमन्तिम (अथर्व० ६.४२)। दूसरी बार तक उनके नामका उल्लेख हुआ है, जब उनसे पापसे मुक्ति दिलानेकी प्रार्थना की गई है और उनके साथ वरुण, भग, विष्णु और विवस्वान हैं— ....वरुणं मित्रं विष्णुमथो भगम। अंशं विवस्वन्तं ब्रूमन्ते नो मुञ्चत्वंहसः (अथर्व० ११.६.२)। इस प्रकार अथर्ववेदमें अंशदेव पापोंको दूर करनेवाले तथा शत्रुओंसे त्राण दिलानेवाले देवताके रूपमें प्रतिष्ठित हैं।

२. अग्राविष्णू (७.३०) — अथर्ववेदीय देवयुग्मोंमें अग्राविष्णूका देवत्व विवेचित है। अथर्ववेदमें दो बार इनका नामोल्लेख हुआ है। अथर्ववेदके ७वें काण्डके ३०वें सूक्तमें ऋषि मेधातिथि-द्वारा इनकी स्तुति की गई है। इनकी महिमाका गान करते हुए ऋषिने इन्हें गुह्य, आज्य एवं सांनाय्य नामक घृत पीनेवाला तथा घर-घरमें सातों रत्न प्रदान करनेवाला बताया है— अग्राविष्णू महि तद्वां महित्वं पाथो घृतस्य गुह्यस्य नाम। दमे दमे सप्त रत्ना दधानौ प्रति वां जिह्वा घृतमा चरण्यात (अथर्व० ७.३०.१)। इन दोनों देवोंके धामको महान् तथा सबका प्रिय वर्णित किया गया है तथा उनसे निवेदन किया गया है कि आप दोनों की जिह्वा आज्यको ग्रहण करें— अग्राविष्णू महि धाम प्रियं वां वीथो घृतस्य गुह्या जुपाणौ।......घृतमुच्चरण्यात। (अथर्व० ७.३०.२)।

३. अग्नि (८.३) — चारों वेदोंमें अग्निका देवत्व प्रतिष्ठित है। सर्वप्रथम उत्पन्न होनेके कारण इन्हें अग्नि कहा गया है। शतपथ ब्राह्मणमें उल्लेख है—स यदस्य सर्वस्याग्रमसृज्यत तस्मादग्निः (शत०ब्रा० ६.१.१.११)। अग्निदेवको सभी देवोंका अधिष्ठाता निरूपित किया गया है— अग्निर्वै

सर्वेषां देवानामात्मा (शत०ब्रा० १४.२.२.५)। ये सभी पापोंके विनाशक हैं। ऋग्वेदमें इन्हें द्यौसे उत्पन्न विवेचित किया गया है — यदेनं द्यौर्जनयत सुरेताः (ऋ० १०.४५.८)। कुछ प्रसङ्गोंमें इन्हें आपः, त्वष्टा, सूर्य, यज्ञ तथा अरणिसे भी उद्‌भूत कहा गया है। स्थिति-भेदसे इन्हें अनेक नामोंसे उपन्यस्त किया गया है। जैसे — घर्षणबल (अरणि मंथन)-से उत्पन्न होनेके कारण उन्हें सहसः पुत्र, नरों-द्वारा प्रशंसित होनेके कारण नराशंस, पार्थिव अग्निको तनूनपात्, सर्वत्र विद्यमान, सर्वत्र पूजित अग्निको वैश्वानर; घरोंमें प्रयोग होनेवाली अग्निको गार्हपत्य, शवोंको जलानेमें प्रयुक्त होनेवाली अग्निको क्रव्यादग्नि, सभी उत्पन्न हुएको जाननेके कारण जातवेदा, द्रविण अर्थात् धन-प्रदाता होनेके कारण अग्निको द्रविणोदा कहते हैं। पापनाशक होनेके कारण अग्निको पापनाशन, कोशग्रन्थोंके अनुसार प्रकृष्ट चित्त और प्रकृष्ट ज्ञान सम्पन्न होनेके कारण सन्तप्त करनेकी सामर्थ्य होनेसे सान्तपनाग्नि, पेटमें भोजनको पचानेवाली अग्निको जठराग्नि, जंगलोंको जलानेवाली अग्निको दावाग्नि तथा समुद्रमें विद्यमान अग्निको बड़वाग्नि कहते हैं। अग्निका एक नाम त्रिणामा भी है; क्योंकि स्थान-भेदकी दृष्टिसे ये (पार्थिव, वैद्युत और गार्हपत्य) तीन नाम वाले हैं — एवा त्रिणामन्नह्रणीयमान इमान् जनान्त्संमनसंस्कृधीह (अथर्व० ६.७४.३)। वैदिक देवोंमें इन्हें इन्द्रदेवके समान ही प्रतिष्ठा प्राप्त है। अग्निदेवके अनेक कार्योंमें सर्वप्रमुख कार्य वर-वधूका संयोजन करना है। सूयकि विवाहमें अग्निको पुरोगव अर्थात् विवाह सुनिश्चित करनेके लिये प्रतिपक्षसे भेजा गया प्रतिनिधि वर्णित किया गया है — सूर्याया अश्विना वराग्निरासीत् पुरोगवः (अथर्व० १४.१.८)। अग्नि तथा वधूको सुभगा और जरदष्टि बनानेवाला कहा गया है — अग्निः सुभगां जातवेदाः पत्ये पत्नीं जरदष्टिं कृणोतु (अथर्व० १४.१.४९)। अग्निदेवको देवताओं और मनुष्योंका नेत्र कहा गया है — अग्ने प्रेहि प्रथमो देवतानां चक्षुर्देवानामुत मानुषाणाम् (अथर्व० ४.१४.५)। इस प्रकार चारों वेदों तथा इतर ग्रन्थोंमें भी अग्निदेवको महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है।

४. अग्नीन्द्र (१.७.३) — वैदिक देवयुग्मोंमें अग्नीन्द्रकी अभ्यर्थना चारों वेदोंमें प्राप्य है। इन्हें यमल भ्राता कहा जाता है। जो एक ही पिताकी सन्तान है। ऋग्वेदके छठे मण्डलमें उल्लेख है — बळित्था महिमा

वामिन्द्राग्नी पनिष्ठ आ। समानो वां जनिता भ्रातरा युवं यमाविहेहमातरा (ऋ० ६.५९.२)। कष्टदायी मायावियोंका निराकरण करके ये श्रेष्ठजनोंकी सहायता सदैव तत्परतापूर्वक करते हैं — ता महान्ता सदस्पती इन्द्राग्नी रक्ष उब्जतम्। (ऋ० १.२१.५)। इनके वीरतापूर्ण कृत्य प्रसिद्ध हैं — यानीन्द्राग्नी चक्रथुर्वीर्याणि यानि रूपाण्युत वृष्ण्यानि (ऋ० १.१०८.५)। अथर्ववेद १.७.३में इस देवयुग्मसे राक्षसोंको नष्ट करने, तदनन्तर यज्ञमें आने तथा हवि और घृत स्वीकार करने की प्रार्थना की गई है — वि लपन्तु यातुधाना अत्त्रिणो ये किमीदिनः। अथेदमग्ने नो हविरिन्द्रश्च प्रति हर्यतम्॥ बृहद्देवतामें भी अग्नीन्द्रका देवत्व प्रमाणित करते हुए ऋषि शौनकने लिखा है — सम्यगग्नीन्द्रसूर्याणां तान्युक्तानि यथाक्रमम् (बृह० २.७०)। इस देवयुग्मका उल्लेख 'अग्नीन्द्र' और 'इन्द्राग्नी' दोनों रूपोंमें मिलता है। जहाँ अग्निकी प्रधानता होती है, वहाँ अग्निका नाम पहले और इन्द्रका बादमें होता है तथा जहाँ इन्द्रकी प्रधानता होती है, वहाँ इन्द्रका नाम पहले और अग्निका बादमें होता है। शतपथ ब्राह्मणमें इन दोनों (अग्नीन्द्र)-की तुलना प्राणोदानसे की गई है — इन्द्राग्नी हि प्राणोदानौ (शत०ब्रा० ४.३.१.२२)। इसी ग्रन्थमें इन समस्त देवोंमें महान् विवेचित किया गया है — इन्द्राग्नी वै सर्वे देवाः (शत०ब्रा० ६.१.२.२८)।

५. अग्नीषोम (१.८.१-२) — अग्नि और सोमदेवका सम्मिलित देवत्व 'अग्नीषोम' नामसे उपन्यस्त किया गया है। ऋग्वेदमें यह देवयुगल प्रकाश-प्रदाताके रूपमें तथा कुछ स्थानोंपर इन्हें जल-प्रवाहोंको मुक्त करनेवाला, आकाशमें नक्षत्रोंका विस्तारक निरूपित किया गया है — युवं सिन्धूँरभिशस्तेरवद्यादग्नीषोमावमुञ्चतं गृभीतान् (ऋ० १.९३.५)। इन दोनों देवोंमें एकको मातरिश्वा-द्वारा आकाशसे तथा दूसरेको श्येन पक्षी-द्वारा पर्वत-शिखर (अद्रि)-से यहाँ लानेका विवरण मिलता है — आन्यं दिवो मातरिश्वा जभारामथ्नादन्यं परि श्येनो अद्रेः। अग्नीषोमा..... लोकम् (ऋ० १.९३.६)। शतपथ ब्राह्मणमें इन्हें दो भ्राता बताया गया है — आग्नीषोमौ भ्रातरावब्रवीत् (शत०ब्रा० ११.१.६.१९)। इसी ग्रन्थमें अग्निको सूर्यसे और सोमको चन्द्रसे सम्बद्ध निरूपित किया गया है — सूर्य एवाग्नेयश्चन्द्रमाः सौम्यः। (शत०ब्रा० १.६.३.२४)। ऋग्वेद तथा

अथर्ववेद में अनेक स्थलोंपर इनसे धन, स्वर्ण, पशु, प्रजा और ऐश्वर्य आदिकी प्रार्थना की गई है। अथर्ववेदके कुछ मन्त्रोंमें इनसे उपद्रवकारी राक्षसोंको दण्ड देने और मारनेकी प्रार्थना की गई है — अयं स्तुवान ..... हर्यत। बृहस्पते वशे लब्ध्वाग्नींषोमा वि विध्यतम (अथर्व० १८.२)।

६. अदिति (६.६८.२) — अदिति विश्वदेवोंके रूपमें प्रतिष्ठित हैं। मैत्रायणी संहितामें उल्लेख है — इयं (पृथिवी) वा अदितिर्देवी विश्वदेव्यवती (मैत्रां०सं० ३.१८)। सम्पूर्ण विश्वका भरण-पोषण अदितिके द्वारा ही सम्पन्न होता है एवं इन्हींके द्वारा उसकी प्रतिष्ठा है — एवा न देव्यदितिरनर्वा। विश्वस्यभर्त्री जगतः प्रतिष्ठा (तैत्ति०सं० ३.१.१.४)। अदिति अष्ट आदित्योंकी माताके रूपमें प्रख्यात हैं — अष्टयोनिरदितिरष्ट पुत्राष्टमीम् (अथर्व०८.९.२१)। निरुक्तकार यास्कने भी अदितिको देवमाताके रूपमें उपन्यस्त किया है — अदितिर् अदीना देवमाता (नि० ४.२२)। अदितिका भौतिक आधार अनन्त अन्तरिक्ष है, जहाँ आदित्यगण भ्रमण करते रहते हैं। इनकी सार्वभौम संज्ञाका संकेत अथर्ववेदके इस मंत्रमें मिलता है — अदितिर्द्यौरिदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता च पुत्रः (अथर्व० ७.६.१)।

७. अध्यात्म (९.९) — अथर्ववेदके ग्यारहवें तथा तेरहवें काण्डके कुछ मन्त्रोंका देवत्व अध्यात्मको प्राप्त हुआ है। आचार्य सायणके 'यस्य वाक्यं स ऋषिः। या तेनोच्यते सा देवता (ऋ० १०.१० सा०भा०)' सूत्रके अनुसार अध्यात्मको देवता के रूपमें स्वीकार किया गया है क्योंकि इन सूक्तोंका वर्ण्य विषय अध्यात्म (तन्त्र) ही है। आप्टे०सं० कोश, पृ० २८के अनुसार अध्यात्म शब्दकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है — 'अध्यात्मनः संबद्धम्' इति अध्यात्मः — अर्थात् आत्मा या व्यक्तिसे सम्बन्ध रखनेवाला (विषय)। हिन्द शब्दसागरमें पृ० १७६ पर अध्यात्मके तीन अर्थ वर्णित हैं — १. ब्रह्म-विचार ज्ञानतत्त्व, आत्मज्ञान, २. परमात्मा, ३. आत्मा। बृहत्सर्वानुक्रमणीमें अध्यात्मका देवत्व इन शब्दोंमें विवेचित है — 'यन्मन्युः' इति चतुस्त्रिंशत्। कौरुपथिः। अध्यात्ममन्यु दैवतम्...... (बृह०सर्वा० ११.१०)। अथर्ववेद '१०.७.८में अध्यात्मके आधारभूत आत्माको अलगसे भी देवत्व प्रदान किया गया है। वस्तुतः 'आत्मा'-को आधार मानकर या आत्मा-पर आधारित जो भी चिन्तन-मनन-

निदिध्यासनकी प्रक्रिया सम्पन्न होत है, उसे 'अध्यात्म' की संज्ञा प्रदान की जाती है। 'आत्मा' ही वेदांत (वेदके चरम ज्ञान)-का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय है। सभी उपनिषद् इसी तत्त्वका प्रतिपादन करते हैं। बृहद्देवतामें आत्माका देवत्य इस प्रकार निर्दिष्ट है — तेषामात्मैव तत्सर्वं यद्यद्भक्तिः प्रकीर्त्यते (बृह० १.७३)।

८. अनुमति (६.११.३) — अनुमति कल्याणकी देवीके रूपमें ख्यातिलब्ध हैं। अथर्ववेदमें उल्लेख है कि वे किसी स्त्रीके अरणि (दुर्भाग्यसूचक चिह्नों)-को दूर करती हैं; क्योंकि सौभाग्य प्रदान करनेका कार्य देवताओंद्वारा अनुमति देवीको ही सौंपा गया है — ....निरस्मभ्यमनुमती रराणा प्रेमां देवा असाविषुः सौभागाय (अथर्व० १.१८.२)। अनुमतिदेवीका वर्णन प्रायः सिनीवालीके साथ दृष्टिगोचर होता है। खोए हुए पशुओंको उनके गृहमें वापस लानेमें बृहस्पति और सिनीवाली उनकी सहायता करते हैं। अनुमति देवीसे प्रार्थना की जाती है कि उन्हें (पशुओंको) गोष्ठमें बाँधकर रखें, जिससे वे बाहर न निकल सकें....सिनीवाली नयत्वाग्रमेपामाजग्मुषो अनुमते नि यच्छ (अथर्व० २.२६.२)। सन्ततिके विषयमें प्रजापति, सिनीवालीके साथ अनुमतिका भी गर्भस्थ भ्रूणका अंग-निर्माता कहा गया है। अथर्ववेदके छठे काण्डके एक मंत्रमें उपर्युक्त तीनों देवताओं-द्वारा एक स्त्रीके गर्भसे कन्याको जन्म देनेवाले तत्त्वोंको अन्यत्र पहुँचाकर उनके स्थानपर पुरुष-तत्त्वोंको स्थापित कर देनेका वर्णन मिलता है — प्रजापतिरमनुमतिः सिनीवाल्य चीक्लृपत्। स्त्रैपूयमन्यत्र दधत्पुमांसमु दधदिह (अथर्व० ६.११.३)। वैदिक ग्रन्थोंमें अनुमतिको पूर्णिमा और सिनीवालीको अमावस्या-कालका प्रतिनिधित्व करनेवाला विवेचित किया गया है। अमरकोशके अनुसार अनुमति, पूर्णिमा (राका)-से एक कला हीन दिन अर्थात् चतुर्दशीकी देवी है — कलाहीने सानुमतिः पूर्णे राका निशाकरे (अमर० १.४८)। निरुक्तमें भी यास्क मुनिने इसी तथ्यकी पुष्टि इन शब्दोंमें की है — 'या पूर्वा पौर्णमासी साऽनुमतिर्योत्तरा सा राके।' (नि० ७.२८)

९. अपांनपात् (६.३.१) — अपांनपात्का देवत्व ऋक्०, साम० तथा अथर्व० तीनों वेदोंमें दृष्टिगोचर होता है। अपांनपात अग्निदेवका एक नाम भी है, जो मेघोंमें स्थित जलको नीचे न गिरने देकर उसका संवर्द्धन

करते हैं। अपांनपात्को जलसे उत्पन्न वनस्पतियों-द्वारा उद्भूत माना गया है, इसीलिये उन्हें जलका पौत्र कहते हैं। जलसे वृक्ष-वनस्पतियाँ और उनसे अग्नि। इस प्रकार अग्नि (अपांनपात्) आपःके तृतीय पुत्र (पौत्र) हुए। एक मन्त्रमें वायुको अपानपात् कहा गया है—अपां नपातवतु वायुरिष्टये (ऋ० १०.९२.१३)। ऋग्वेदमें ही दो बार वैद्युत अग्निके रूपमें अपांनपात्का उल्लेख हुआ है। अथर्ववेदमें अपांनपात्से सामान्य रक्षा और सहायताके लिये प्रार्थना की गई है—अपां नपात् सिन्धवः सप्त पातन पातु नो विष्णुरुत द्यौः (अथर्व० ६.३.१)। अपांनपात्का देवत्व स्वीकार करते हुए बृहद्देवताकारने लिखा है—अपांनपादित्यनेन नाम्नाग्निर्मध्यम स्तुतः (बृह० ७.३३)।

१०. अप्सरा (४.३८.१-४)— अप्सराओंका देवत्व ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा अथर्ववेदमें संप्राप्य है। इनका उल्लेख एकवचन तथा बहुवचनमें भी हुआ है। अप्सराओंका सम्बन्ध प्रायः गन्धर्वों और मृगोंके साथ वर्णित है—अप्सराओं गन्धर्वाणां मृगाणां चरणे चरन् (ऋ० १०.१३६.६)। अप्सरोंको गन्धर्वोंकी पत्नी भी निरूपित किया गया है—ताभ्यो गन्धर्व पत्नीभ्योऽप्सराभ्योऽकरं नमः (अथर्व० २.२.५)। अथर्ववेद (३.२६.१-६)-में गन्धर्वोंको स्थिति-भेदसे क्रमशः साग्नि हेति, सकामा अविष्यव, वैराज, सवाता प्रविध्यन्त, सौषधिका निलिम्पा तथा बृहस्पतियुक्त अवस्वान् विशेषण प्रदान किए गए हैं। शब्दकल्पद्रुमके अनुसार जल (अप्)-से उत्पन्न होनेके कारण ही इन्हें अप्सरा कहा जाता है—अद्भ्यः समुद्रजलेभ्यः सरन्ति उद्यान्ति......अप्सु निर्मथनादेवरसात् तस्मात् वरस्त्रियः। उत्पेतुर्मनुजश्रेष्ठ तस्मादप्सरसोऽभवन् (श०क० पृ० ७१) अथर्ववेदके द्वितीय काण्डमें सूर्यको गन्धर्व और उसकी किरणोंको अप्सरा बताया गया है—दिविस्पृष्टो यजतः सूर्यत्वगवयाता हरसो दैव्यस्य। मृडाद् गन्धर्वो भुवनस्य यस्पतिरेक एव नमस्यः सुशेवाः (अथर्व० २.२.२)। अप्सराओंका निवास समुद्र (अन्तरिक्ष या जल) बताते हुए यह भी कहा गया है कि वे वहींसे आती हैं और पुनः वहीं लौट जाती हैं—समुद्र आसां सदनं च आहुर्यतः सद्य आं च परा च यन्ति (अथर्व० २.२.३)।

११. अप्सरा-समूह (४.३७.१-५)— द्र० अप्सरा।

१२. अमावस्या (७.८४) – वैदिक देवताओंमें अमावस्याका नाम प्रतिष्ठित है। अमावस्याको विशेषतया अथर्ववेदमें ही देवताका सम्मान मिला है। यों तो ऋग्वेदमें 'अमा' शब्दका प्रयोग प्रायः १०-१२ बार हुआ है, पर वह गृह, समीप या सहके अर्थमें ही हुआ है। अस्तु, अमावस्या अथर्ववेदीय ऋषियोंकी सम्मानास्पद देवीके रूपमें विवेचित है। ऋषियों द्वारा उन्हें वसुओंको प्राप्त करानेवाली शक्ति, पुष्टि और समृद्धि प्रदान करनेवाली कहा गया है – आगनात्री संगमनी वसूनामूर्जं पुष्टं वस्वावेशयन्ती। अमावस्यायै हविषा.......न आगन (अथर्व० ७.८४.३)। अमावस्याको विश्ववारा-सबके द्वारा वरण करने योग्य श्रेष्ठ-भाग्यवती कहा गया है, जो याजकको धन और वीर सन्तति प्रदान कर उसके यज्ञको पूर्ण करती है – तेना नो यज्ञं पिपृहि विश्ववारे रयिं नो धेहि सुभगे सुवीरम (अथर्व० ७.८.४.१)। एक मंत्रमें स्वयं अमावस्याके शब्द हैं कि अर्थकी दृष्टिसे मैं सार्थक हूँ; क्योंकि सुकृती देवता मेरे अन्दर निवास करते हैं (अमा समीपे अथवा सह वसन्ति देवाः यस्याम) - अहमेवास्म्यमावस्या ३ मामा वसन्ति सुकृतो मयीमे (अथर्व० ७.८४.२)।

१३. अराति समूह (५.७.१-३, ६-१०) – ऋग्वेद, अथर्ववेद तथा ब्राह्मण ग्रन्थोंमें 'अराति'-का उल्लेख लक्ष्यको असफल कर देनेवाली पीडा-प्रदात्री पाप देवताके रूपमें हुआ है। इन्हें अनिष्टकर्त्री पाप-देवताके रूपमें स्वीकार किया गया है। एकवचन और बहुवचन दोनोंमें स्त्रीलिंगमें अराति शब्दका प्रयोग मिलता है। असफलता, संकट और विपन्नताके अर्थोंमें भी कई जगह इस शब्दको लिया गया है। दुर्भाग्यसूचक अन्य वस्तुओंकी तरह ही अरातिको स्वयं व सन्ततिसे दूर रखनेके लिये कई मंत्रोंमें संकेत दिए गए हैं। जैसे – निर्लक्ष्यं ललाम्यं१ निररातिं सुवामसि। अथ या भद्रा तानि नः प्रजाया अरातिं नयामसि (अथर्व० १.१८-१)। जंगिड नामक पदार्थकी बनी मणिसे कृत्या और अरातिको दूर करनेका विवेचन भी वेदोंमें मिलता है, इसीलिये उस मणिको 'अराति दूषि' कहा गया है। अराति एवं अभिमति आदि पाप देवताओंसे बचनेके लिये अन्य मणियोंको बाँधनेका विधान था – परि मां परि मे प्रजां परि णः पाहि यद्धनम। अरातिर्नो मा तारीन्मा नसतारिषुरभिमातयः (अथर्व० २.७.४)। अरातिसे मुक्तिके निमित्त अग्निसे भी प्रार्थना की गई है – वि

देवा जरसावृतन्त्रि त्वमग्ने अरात्या (अथर्व० ३.३१.१)।

१४. अरुन्धती (६-५९) — अथर्ववेदमें अरुन्धती नामक ओषधिको भी देवताकी श्रेणीमें परिगणित किया गया है। इसका एक नाम सिलाची तथा लाक्षा भी है। अरुन्धती देवीकी माताके रूपमें रात्रि तथा पिताके रूपमें नभ और पितामहके रूपमें अर्यमाका उल्लेख है — रात्री माता नभः पितार्यमा ते पितामहः। सिलाची नाम वा असि सा देवानामसि स्वसा (अथर्व० ५.५.१)। अरुन्धतीको देवताओंकी बहन निरूपित किया गया है। अरुन्धतीको स्मरणी नामक ओषधि भी कहते हैं, जो प्लक्ष, न्यग्रोध, खदिर, धव, पीपल और पर्ण-वृक्षोंसे निकलती है — भद्रात प्लक्षान्निस्तिष्ठस्यश्वत्थात खदिराद्धवात्। भद्रान्न्यग्रोधात् पर्णात् सा न एह्यरुन्धति (अथर्व० ५.५५)। इस (अरुन्धती नामक ओषधि)-को रक्तवर्णा तथा कटे हुए अंगोंको फिरसे जोड़ देनेवाली तथा रुधिरको रोकनेवाली विवेचित किया गया है। पुरुषोंको क्षयरोग-रहित करनेकी क्षमता भी इसमें है। अरिष्ट-निवारण हेतु भी अरुन्धतीसे प्रार्थना की गई है — जीवलां नघारिषां....। अरुन्धती मुन्न्यन्तीं पुष्पां मधुमतीमिह हुवेऽस्मा अरिष्टतातये (अथर्व० ८.७.६)।

१५. अर्यमा (६-४-२) — अथर्ववेदीय देवताओंमें अर्यमाका देवत्व उपन्यस्त है। इनका देवत्व ऋग्वेद तथा यजुर्वेदमें भी संप्राप्य होता है। अर्यमादेवकी गणना आदित्यगणोंमें की गई है। तैत्तिरीय संहितामें उल्लेख है — असौ वा आदित्योऽर्यमा (तैत्ति०सं० २.३.४.१)। सूर्यका ही एक नाम होनेके कारण अर्यमा शब्दकी व्युत्पत्ति इन शब्दोंमें वर्णित है — 'ऋच्छति सदा गच्छतीत्यर्यमा'। अनेक स्थानोंपर इनका नामोल्लेख वरुण और मित्र देवोंके साथ हुआ है — आ नो बर्ही रिशादसो वरुणो मित्रो अर्यमा (ऋ० १.२६.४)। अर्यमादेवको सप्त होताका भी होता विवेचित किया गया है — अर्यमा सप्तहोतृणां होता (तैत्ति०ब्रा० २.३.५.६)। वैदिक संहिताओंमें अर्यमाको धन, कल्याण तथा स्वर्ग प्रदान करनेवाला बताया गया है। अथर्ववेदमें अर्यमा कल्याणके देवता-रूपमें प्रतिष्ठित हैं। वे विवाहके अधिष्ठाता देवताके रूपमें माने जाते हैं। वे अपने रश्मि-समूहके साथ पूर्वसे आते हैं और कन्याको पति और वरको पत्नी प्रदान करनेकी कामना करते हैं — अर्यमा यात्यर्यमा पुरस्ताद

विपितस्तुपः। अस्या इच्छन्नगुवं पतिमुत जायामजानयं (अथर्व० ६.६०.१)। अथर्ववेदके एक अन्य मंत्रमें अर्यमाको सुबन्धु तथा पतिवेदन कहा गया है, जो घनिष्ठ मित्रके समान कन्याके लिये पति और पतिके लिये कन्याकी खोज करते हैं — अर्यमणं यजामहे सुबन्धुं पतिवेदनम्। उर्वारुकमिव बन्धनात्प्रेतो मुञ्चामि नामुतः (अथर्व० १४.१.१७)। अर्यमा देव प्रख्यात दाताके रूपमें भी जाने जाते हैं, इसी कारण उन्हें यज्ञकी उपमा प्रदान की गई है — एष वा अर्यमा यो ददाति (काठ०सं० ११.४)। .... यज्ञो वा अर्यमा (मैत्रा०सं० ४.२.१०)।

१६. अशनि (३.२७.४) — वज्र आयुधको अशनि कहा गया है। आकाशके बादलोंके परस्पर संघर्षसे कड़कनेवाली बिजलीको अशनि कहा गया है। अथर्ववेदमें अशनिका देवत्व भी स्वीकार किया गया है। अथर्ववेदके एक मंत्रमें अशनिको उत्तर दिशाकी रक्षा करनेवाला 'बाण' विवेचित किया गया है — उदीची दिक् सोमोऽधिपतिः स्वजो रक्षिताशनिरिषवः। तेभ्यो......... एभ्यो अस्तु (अथर्व० ३.२७.४)। अशनिपातसे वृक्षोंके जल जानेका वर्णन अनेकशः मिलता है। शपथसे प्रार्थना की गई है कि वे हमें अपशब्द कहनेवालेको ऐसे जला दें, जैसे अशनि वृक्षको जलाते हैं — परिणो वृङ्धि शपथ ह्रदमग्निरिवादहन्। शप्तारमत्र नो जहि दिवो वृक्षमिवाशनिः (अथर्व० ६.३७.२)। एक स्थानपर किसीको यह आशीष भी दिया गया है कि दिव्य अशनि उसे न मारें.......मा त्वा दिव्याशनिर्वधीत (अथर्व० ६.१४२.१)।

१७. अश्विनीकुमार (६.५०) — वैदिक संहिताओंमें अश्विनीकुमारोंका महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रायः इन दो भाइयोंका उल्लेख संयुक्त रूपमें ही हुआ है। ये देवभिषक् हैं — अश्विनौ वै देवानां भिषजौ (तैत्ति०सं० २.३.११.२)। रासभ इनके वहनकर्त्ता हैं, जिसपर आरूढ़ होकर ये विजय प्राप्त करते हैं — गर्दभ रथेनाश्विना उदजायताम् (ऐ०ब्रा० ४.९)। निरुक्तकार यास्क मुनिने इन्हें रात्रि तथा उषाका पुत्र कहा है — वासात्योऽन्य उच्यत उषः पुत्रस्तवान्यः (नि० १२.२)। ऋग्वेदमें एक स्थानपर इन्हें विवस्वान तथा त्वष्टा-पुत्री सरण्यूका यमलपुत्र भी उपन्यस्त किया गया है — उताश्विनावभरद् यत्तदासी दजहादु द्वा मिथुना सरण्यूः (ऋ० १०.१७.२)। ये कल्याण एवं शुभ-प्रदाताके रूपमें प्रतिष्ठित

हैं – ताविद् दोषा ता उषसि शुभस्पती (ऋ० ८.२२.१४)। अथर्ववेदमें अश्विनीकुमारोंका यह शुभस्पती विशेषण प्रायः तीन बार (६.३३, ७.१.१९, ६.६१.२) प्रयुक्त हुआ है। अथर्वमें उनसे वर्चस प्रदान करने, सन्ततिविहीन स्त्रीको गर्भ प्रदान करने, यजमानको निर्ऋतिसे बचाने, वषटकार-द्वारा स्तोताकी रक्षा करने, बुद्धिको स्थिर रखने तथा ओजस, तेजस और वर्चस्में वृद्धि करने हेतु प्रार्थना की गई है – .... एवा मे अश्विना वर्चस्तेजो बलमोजश्च धियताम (अथर्व० ९.१.१७)।

१८. अष्टका (३.१०) – द्र० एकाष्टका।

१९. असुर (१.१०-१) – वैदिक देवताओंकी श्रेणीमें असुरोंकी गणना की जाती है। प्रारम्भ में असुर शब्द 'प्राणवान्'-के अर्थमें प्रयुक्त होता था। बादमें यह सुर (देवता)-के विलोम अर्थमें असुर प्रयुक्त होने लगा। ऋग्वेद १.२४.१४ तथा अथर्व० १.१०.१ असुर शब्द वरुणके लिये प्रयुक्त हुआ है – अवर्त हेळो वरुण नमोभिरव यज्ञेभिरीमहे हविर्भिः। क्षयन्नयस्मभ्यमसुर प्रचेता राजन्नेनांसि शिश्रथः कृतानि (ऋ० १.२४.१४), अयं देवानामसुरो वि राजति वशा हि सत्या वरुणस्य राज्ञः (अथर्व० १.१०.१)। यह सृष्टि सत् और असतके द्वन्द्वसे बनी है। मानवीय चेतना इन दोनों शक्तियोंपर विश्वास करती है, दोनों ही एक-दूसरेकी पूरक हैं। सामान्यतः देवताओंकी विरोधी शक्तियाँ असुर कहलाती हैं। ऋग्वेदके एक मंत्रमें उल्लेख है – अनायुधासो असुरा अदेवाश्चक्रेण ताँ अपवयऋजीषिन् (८.९६.९)। ये असुर शक्तियाँ सृष्टिके क्रियाकलापोंमें अवरोध उत्पन्न करती हैं। जल-प्रवाह-निरोध, सूर्याच्छादन तथा वृष्टि-अवरोध इनके प्रमुख कार्य हैं। अतः इन्द्रादि देवों-द्वारा मंत्रों एवं शक्तिके माध्यमसे इनको पराजित करनेके प्रमाण मिलते हैं – तदद्य वाचः प्रथमं मसीय येनासुराँ अभि देवा असाम। ऊर्जाद यत यज्ञियासः पञ्चजना मम होत्रं जुषध्वम् (ऋ० १०.५३.४)।

२०. आदित्यगण (५.३.९-१०) – आदित्यगणोंका देवत्व ऋक्०, यजु०, साम० तथा अथर्ववेदमें मिलता है। कुछ स्थानोंपर एकवचनमें यह शब्द (आदित्य) मिलता है, अधिकांश स्थलोंपर बहुवचनमें प्राप्त होता है। ये अदितिके पुत्र हैं, इसी कारण अपत्यार्थक अण प्रत्यय लगाकर इन्हें आदित्य कहते हैं – दित्यदित्यादित्यपत्युत्तर पदाण्ण्यः (अ०

४.१.८५)। ये आकाशस्य देवता हैं। देवमाता अदितिके पुत्रोंकी संख्या अलग अलग ग्रन्थोंमें भिन्न भिन्न वर्णित हैं। वह कहीं छह, कहीं सात, कहीं आठ और कहीं बारह बताई गई हैं। अथर्ववेदमें इन्हें आठ बताया गया है – अष्टयोनिरदितिरष्टपुत्राष्टमीं (अथर्व० ८.९.२१)। ऋग्वेद २.२७.१ में आदित्योंकी संख्या छह, ९.११.४३में सात तथा १०.७२.८में आठ वर्णित हैं। आचार्य सायणने इनकी संख्या आठ बताई हैं – 'ते च तैत्तिरीये' अष्टौ पुत्रासो अदितेरित्युपक्रम्य स्पष्टमनुक्रान्ताः – 'मित्रश्च वरुणश्च धाता च अर्यमा च अंशुश्च भगश्च इन्द्रश्च विवस्वांश्च इत्येते (ऋ० २.२७.१ सा०भा०)। शतपथ ब्राह्मणमें बारह आदित्यगणोंका उल्लेख है – स द्वादश द्रप्सान् गर्भ्यभवत्। ते द्वादशादित्याः असृज्यन्त। तान् दिव्युपादधात् (शत०ब्रा० १.२८)। ये बारह नाम हैं – धाता, मित्र, अर्यमा, पूषा, शक्र, वरुण, भग, त्वष्टा, विवस्वान्, सविता, अंशुमान तथा विष्णु। आदित्यगण सम्पूर्ण जगत्के धारणकर्त्ता हैं – धारयन्त आदित्यासो जगत्स्था (ऋ० ?.२७.४)। तैत्तिरीय ब्राह्मण तथा जैमिनीय उपनिषद्में आदित्योंकी प्रजाओंका सिर (मूर्धा-शिरोमणि) तथा चक्षु (द्रष्टा) भी उपन्यस्त किया है – असावादित्यः शिरः प्रजानाम (तैत्ति०ब्रा० १.२.३.३)।................. अथ यत्तच्चक्षुरासीत् स आदित्योऽभवत् (जैमि०उ० २.१.२.३)। आदित्यका एक विशेषण संस्फान भी है। संस्फान अर्थात् प्रवृद्ध। अथर्व० ६.७.९ में दानादि गुण सम्पन्न और प्रवृद्ध आदित्यसे धन-ऐश्वर्य प्रदान करनेकी प्रार्थना की गई है।

२१. आपः (१.४-६) – आपो देवता अथवा आपः का देवत्व ऋक्०, यजु० तथा अथर्ववेदमें प्राप्त होता है। ये अन्तरिक्ष स्थानीय देवता हैं। इन्हें सूर्यका निकटस्थ तथा अग्निका जनक प्रतिपादित किया गया है – अमूर्या उपसूर्ये याभिर्वा सूर्यः सह (ऋ० १.२३.१७), या अग्निं गर्भं दधिरे सुवर्णास्तान आपः शं स्योना भवन्तु (अथर्व० १.३३.१)। ये चर-अचरके सृष्टिकर्त्ता तथा रोगहर्त्ता हैं, इसी कारण इन्हें श्रेष्ठ माता तथा भिषक् भी उपन्यस्त किया गया है – यूयं हिष्ठा भिषजो मातृतमा विश्वस्य स्थातुर्जगतो जनित्री (ऋ० ६.५०.७)। काठक संहितामें आपः को पवित्र (कारक) वर्णित किया गया है – आपो वै पवित्रम् (काठ०सं०

८८); शतपथ ब्राह्मणमें आपःको प्राण विवेचित किया गया है—आपो वै प्राणाः (शत०ब्रा० ३.८.२.४)। अथर्ववेद ६.१२४.१ में द्युलोक स्थानीय आपः अथवा दैवीय गुण-सम्पन्न आपः-को 'दिव्य आपः' कहा गया है। अथर्ववेदमें आपः-को विशेष महत्त्व मिला है, इसका अनुमान इसीसे लगाया जा सकता है कि जहाँ ऋग्वेदका प्रारम्भ अग्निकी स्तुतिसे हुआ है, वहीं अथर्ववेदके प्रथम काण्डके ४-५-६ सूक्तोंमें आपःकी स्तुति है। अथर्ववेदके प्रथम काण्डके छठे सूक्तके प्रथम मंत्रमें आपःको देवी बताते हुए उनकी शक्तियों और उपयोगपर भी प्रकाश डाला गया है, उन्हें यज्ञ, पान और रोगोंके शमन तथा भयके निवारण-हेतु कल्याणकारी विवेचित किया गया है—शं नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये। शं यो रभि स्रवन्तु नः।

२२. आशापालक वास्तोष्पतिगण (१.३१)—अथर्ववेदमें आशापालक वास्तोष्पतिगणोंका देवत्व प्रतिष्ठित है। प्रारम्भमें यज्ञभूमिकी चतुर्दिक् रक्षाका दायित्व ये ही सँभालते थे। कालान्तरमें वास्तोष्पतिगणोंको गृहपतिके अर्थमें माना जाने लगा और घरकी रक्षाके देवताके रूपमें उनकी स्तुति की गई। आशापालका शाब्दिक अर्थ दिशापालक तथा वास्तोष्पतिका (वसति गृह अर्थात् घर, पति अर्थात् पालन करनेवाला) शाब्दिक अर्थ घरका पालक है। प्रारम्भमें वास्तोष्पतिके यज्ञ-रक्षक होनेकी पुष्टि इस मंत्रसे भी होती है—देवा वास्तोष्पतिं व्रतपां निरतक्षन् (ऋ० १०.६१.७)। बादमें इनके गृहपति होनेका उल्लेख कई मंत्रोंमें मिलता है, जिनमें उन्हें गृहपालक, गृहके रोग-मुक्तकर्त्ता, धन-प्रदाता, पुत्र-पौत्र, पशु और शम्-प्रदाता विवेचति करते हुए गो, अश्व और अन्य वस्तुओंका सम्वर्द्धनकर्त्ता उपन्यस्त किया गया है—वास्तोष्पते प्रति जानीह्यस्मान् त्स्वावेशो अनमीवो भवा नः।....चतुष्पदे (ऋ० ७.५४.१)। इसी प्रकार इस मंत्रमें भी उल्लेख है—वास्तोष्पते प्रतरणो न एधि गयस्फानो गोभिरश्वेभिरिन्दो। (ऋ० ७.५४.२)। पूर्वकालमें चारों दिशाओंके अधिपति या रक्षकके रूपमें वास्तोष्पतिगणोंको ही आशापाल विशेषणसे सम्बद्ध किया जाता था। बादमें आशापाल विशेषणको चार देवताओं इन्द्र, वरुण, कुबेर और यमसे सम्बद्ध माना जाने लगा। इसी कारण इन चारों देवताओंको दिक्पाल भी कहते हैं। इन्हें समग्र भूतजात

(प्राणियों)-का अध्यक्ष विवेचित करते हुए अमर्त्य कहा गया है — आशानामाशापालेभ्यश्चतुर्भ्यो अमृतेभ्यः। इदं भूतस्याध्यक्षेभ्यो विधेम हविषा वयम् (अथर्व० १.३१.१)। आशापालोंकी प्रसन्नतासे परिवारमें माता-पिता, गोधन, परिजन आदिको सुख-समृद्धि प्राप्त होनेकी फलश्रुति भी एक मंत्रमें उपन्यस्त है — स्वस्ति मात्र उत पित्रे .....दृशेम सूर्यम (अथर्व० १.३१.४)। इस प्रकार आशापालों और वास्तोष्पतिगणोंके गुणोंमें भी समानता परिलक्षित होती हैं, जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि पूर्वमें आशापाल शब्द वास्तोष्पतिगणोंके साथ ही सम्बद्ध रहा होगा।

२३. इन्द्र (८.८) — इन्द्रदेवका देवत्व चारों वेदोंमें प्रतिष्ठित है। अथर्ववेदमें आपः और अग्निके बाद सर्वाधिक महत्त्व इन्द्रदेवको ही प्राप्त हुआ है। ऋग्वेदमें तो प्रायः २५० सूक्त इन्द्रदेवको समर्पित हुए हैं। ये अन्तरिक्ष (मध्यलोकके) देवताके रूपमें ख्यातिलब्ध हैं जो संगठक शक्तिके अर्थमें प्रयुक्त हुए हैं। ये अतिशय सोमप्रिय हैं जो तीन प्रमुख देवों (अग्नि, वायु और सूर्य)-में वायुके प्रतिनिधि माने जाते हैं। इन्द्रदेव-द्वारा अनेक राक्षसोंका संहार किया था जिनमें वृत्र प्रमुख हैं। इसी कारण इन्द्रको वृत्रहन् भी कहा गया है — अयं स्वादुरिह मदिष्ठ आस यस्येन्द्रो वृत्रहत्ये ममाद (ऋ० ६.४७.२)। वृत्र-वधके समय इन्होंने तीन सोमह्रदोंका पान किया था — त्री साकमिन्द्रो मनुषः सरांसि सुतं पिबद् वृत्रहत्याय सोमम् (ऋ० ५.२९.७)। इन्द्रको महेन्द्र तथा मघवा भी कहा गया है। वृत्रवधके उपरान्त ही इन्हें महेन्द्र उपाधिसे विभूषित किया गया है। शतपथ ब्राह्मणमें विवेचित है — इन्द्रो वा एष....महेन्द्रोऽभवत् (शत०ब्रा० १.६.४.२१)। धनवान् और दानी होनेके कारण इन्हें मघवा विशेषणसे भी अलंकृत किया गया है — इन्द्रको हिरण्यवर्ण और हिरण्यबाहु विशेषणोंसे भी सम्बद्ध किया गया है। इनके रथके दो 'हरी' संज्ञक अश्वों-द्वारा वहन करनेका भी विवरण ऋग्वेदमें मिलता है — आ द्वाभ्यां हरिभ्यामिन्द्र याह्या (ऋ० २.१८.४)। इनका रथ मनकी गतिसे संचालित है — यस्ते रथो मनसो जवीयानेन्द्र तेन सोमपेयाय याहि (ऋ० १०.११२.२)। अथर्ववेदमें इन्द्रको शतक्रतु उपन्यस्त किया गया है। यह भी सम्भव है कि पूर्वकालमें शत शब्द अनेक अर्थका बोधक हो और शतक्रतुका अर्थ अनेक क्रतुओंका हव्यभाक् (हवि ग्रहण करनेवाला)

रहा हो। कालान्तरमें इन्द्र शब्द पार्थिव प्रशासकोंके लिये भी प्रयोगमें आया और उसका अर्थ हो गया पार्थिवोंमें उत्तम। इन्द्र और अग्निदेवकी उत्पत्ति विराट् पुरुषके मुखसे विवेचित की गई है – मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत (अथर्व० १९.६.७)। अथर्व०के एक मंत्रमें सभी कार्योंमें शक्त या समर्थ होनेके कारण इन्द्रको 'शक्र' भी विवेचित किया गया है – शक्रः सर्वकार्येपुशक्त इन्द्रः (अथर्व० ३.३१.२ सा०भा०)। सेचन समर्थ होनेसे इन्द्रको 'वृषा' भी कहा गया है – ....वृषा सेचन समर्थ इन्द्रः (अथर्व० ६.४८.३ सा०भा०)।

२४. इन्द्रवायू: (३.२०.६) – वैदिक देवयुग्मोंमें इन्द्रवायूको भी परिगणित किया गया है। ऋग्वेदमें इस देवयुग्मको सोमपानके लिये एक साथ आवाहित किया गया है – उभा देवा दिविस्पृशेन्द्रवायू हवामहे। अस्य सोमस्य पीतये (ऋ० १.२३.२)। ये अपने हिरण्यबन्धुर रथमें बैठकर मखमण्डलमें पधारते हैं – रथं हिरण्यबन्धुरमिन्द्रवायू स्वध्वरम् (ऋ० ४.४६.४)। इन्हें शवसस्पति और धियस्पति-जैसे विशेषणोंके साथ सम्बद्ध किया गया है – वायविन्द्रश्च शुष्मिणा सरथं शवसस्पती (ऋ० ४.४७.३)। सहस्राक्षा धियस्पती (ऋ० १.२३.३)। अथर्ववेदमें केवल एक मंत्रमें इन्द्रवायूकी स्तुति की गई है, जिसमें इन्हें सुहव विवेचित करते हुए यज्ञमें आमंत्रित किया गया है। इनके आगमनसे लोग समाजमें स्तुतिकर्त्ताके प्रति श्रेष्ठ मनवाले ही नहीं, दान देनेके इच्छुक भी हो जाते हैं – इन्द्रवायू उभाविह सुहवेह हवामहे। यथा नः सर्व इज्जनः संगत्यां सुमना असद्दानकामश्च नो भुवत् (अथर्व० ३.२०.६)।

२४. इन्द्राग्नी (६.१०३-१०४) – इन्द्राग्नीका देवत्व चारों वेदोंमें प्राप्य है। यह देवयुग्म सोमपायी देवताओंमें श्रेष्ठ है। सोमपानके लिये वे रथारूढ़ होकर आते हैं – य इन्द्राग्नी चित्रतमोरथो वामभि विश्वानि भुवनानि चष्टे (ऋ० १.१०.१)। इन्द्राग्नी सोमपीतये (ऋ० ८.३८.७)। इन्द्राग्नी देव-युगलका प्रमुख कार्य शत्रुओं और उनके आवास-स्थलोंका भेदन है। वज्र, विद्युत् और तिग्म नामक आयुधोंसे वे अपना कार्य सम्पन्न करके सज्जनोंकी रक्षा करते हैं – आ भरतं शिक्षतं वज्रबाहू अस्माँ इन्द्राग्नी अवतं शचीभिः (ऋ० १.१०९.७)। ऋग्वेदमें इनके द्वारा दास नामक असुरके ९९ दुर्ग तोड़े जानेका वर्णन मिलता है – इन्द्राग्नी नवतिं पुरो

दासपत्नीरधूनुतम् (ऋ० ३.१२.६)। याज्ञिक कार्य करनेके कारण इन्हें पुरोहित भी विवेचित किया गया है। अथर्ववेदमें इन्द्राग्नीके नामकी २४ बार आवृत्ति हुई है। कई बार उनके नामके साथ अन्य देवयुग्मोंको भी आवाहित किया गया है। उनसे प्रायः सोमपानके निमित्त पधारने, शत्रुओंसे रक्षा करने तथा धन प्रदान करनेकी प्रार्थना की गई है। जैसे – इन्द्राग्नी आ भरतां नो वसूनि (अथर्व० ५.७.६)।

२६. इन्द्राणी (१.२७) – अथर्ववेदीय देवियोंमें इन्द्राणीका देवत्व भी परिगणित किया गया है। यद्यपि ऋग्वेदमें भी एक स्थानपर इनका देवत्व प्रकाशित हुआ है; किन्तु वहाँ वे केवल इन्द्रदेवकी पत्नीके रूपमें ही प्रतिष्ठित हैं। उनके किसी क्रियाकलाप और गुण-विशेषका परिचय वहाँ नहीं मिलता; किन्तु अथर्ववेदमें एक सम्पूर्ण सूक्त उन्हें समर्पित हुआ है। अथर्ववेदमें उन्हें सेनाकी देवीके रूपमें माना गया है। युद्धके निमित्त प्रस्थान करते हुए एक योद्धा कहता है, 'हे पैरों! उत्साहित होकर तेजीसे बढ़कर शत्रुतक ले चलो, वे इन्द्राणी जो अजीत और अनपहृत हैं, आगे आगे चलें – प्रेतं पादौ प्र स्फुरतं वहतं पृणतो गृहान्। इन्द्राण्येऽतु प्रथमाजीतामुषिता पुरः (अथर्व० १.२७.४)। इन्द्राणीको सुभगा और वीर पुत्रवती उपन्यस्त करते हुए नववधूसे कहा गया है कि वह प्रसन्न मनसे तल्प (शय्या)-पर आरूढ़ हो और इन्द्राणीके समान स्वपति हेतु श्रेष्ठ सन्तति उत्पन्न करे और इन्द्राणीके समान ही बुद्धि-सम्पन्न रहकर उषाकालमें जागती रहे – आरोह तल्पं सुमनस्य मानेह प्रजां जनय पत्ये अस्मै। इन्द्राणीव सुबुधा बुध्यमाना ज्योतिरग्रा उषसः प्रति जागरासि (अथर्व० १४.२.३१)। बृहद्देवतामें भी इन्द्राणीके देवत्वको प्रमाणित करते हुए आचार्य शौनकने लिखा है – इन्द्राणी वरुणानी च अग्नायी च पृथक् स्तुताः (बृह० ३.९२)।

२७. इन्द्रापूषन् (६.३.१) – इन्द्रापूषन नामक देवयुगलका देवत्व अथर्ववेदमें गौण रूपमें प्रतिपादित है। इन्हें केवल एक मंत्र समर्पित हुआ है, जिसमें उनसे रक्षाकी कामना की गई है – पातं न इन्द्रापूषणादितिः पान्तु मरुतः। अपांनपात्सिन्धवः सप्त पातन पातु नो विष्णुरुत द्यौः (अथर्व० ६.३१)। इस मंत्रमें इन्द्रापूषन्के साथ अदिति, अपानपात, अग्नि, मरुद्गण, सप्तसिन्धु, आकाश और विष्णु आदिसे भी रक्षाकी

प्रार्थना की गई है। अथर्ववेदके उन्नीसवें काण्डमें वाजसाति युद्धमें रोगोंके निवारण व भयसे मुक्ति हेतु भी इन्द्रापूषन्‌से प्रार्थना की गई है — शं न इन्द्राग्नी भवतामवोभिः शं न इन्द्रावरुणा रातहव्या शमिन्द्रासोमा सुविताय शं योः शं न इन्द्रापूषणा वाजसातौ (अथर्व० १९.१०.१)। इन्द्रापूषनका देवत्व बृहद्देवताकारने भी स्वीकार किया है। इनके देवत्वको प्रमाणित करते हुए आचार्य शौनकने लिखा है — छागस्य कीर्त्तनं चात्र इन्द्रापूष्णोः सह स्तुतिः (बृह० ४.२१)।

२८. इन्द्राबृहस्पती (७.५३) — अनेक देवयुग्मोंकी तरह अथर्ववेदमें इन्द्राबृहस्पतीका यमल देवत्व भी संप्राप्य है। ऋग्वेदमें भी इन्द्राबृहस्पतीको दो सूक्त समर्पित हुए हैं। जिनमें इन्हें सोमपानके लिये निमंत्रित करते हुए उनसे अश्वोंसे रहित विपुल धन प्रदान करने एवं परस्पर सौमनस्यमें वृद्धि करनेकी प्रार्थना की गई है — आ न इन्द्राबृहस्पती गृहमिन्द्रश्च गच्छतम्। सोमपा सोमपीतये। अस्मे इन्द्राबृहस्पती रयिं धत्तं शतग्विनम्। अश्वावन्तं सहस्रिणम् (ऋ०४.४९.३-४)अथर्ववेदमें भी इन्द्राबृहस्पतीसे रक्षार्थ तथा धनार्थ प्रार्थना की गई है — बृहस्पतिर्नः परिपातु पश्चादुतोत्तरस्मादधरादघायोः। इन्द्रः पुरस्तादुत मध्यतो नः सखा सखिभ्यो वरीयः कृणोतु (अथर्व० ७.५३)। इन्द्राबृहस्पतीका देवत्व प्रमाणित करते हुए आचार्य शौनकने लिखा है — स्तौतीन्द्रं प्रथमा त्वत्र द्वितीयाद्या बृहस्पतिम्। यज्ञ आद्येन्द्रमेवास्तौद् अन्त्या त्विनद्राबृहस्पती। (बृह० ६.२६)।

२९. इन्द्रावरुण (७.६०) — इन्द्रावरुणका देवत्व ऋग्वेद तथा अथर्ववेदमें प्रतिष्ठित है। ऋग्वेदमें इनके निमित्त आठ सम्पूर्ण सूक्त समर्पित हुए हैं। इन्हें मनुष्योंका धारणकर्त्ता विवेचित किया गया है — धर्तारा चर्षणीनाम् (ऋ० १.१७.२)। अपने उपासकोंको विजय प्रदान करनेके लिये ये प्रख्यात हैं — इन्द्रावरुण वामहं हुवे चित्राय राधसे। अस्मान्त्सुजिग्युपस्कृतम् (ऋ० १.१७.७)। अथर्ववेदमें इनका विवेचन सोमपान हेतु यजमानके घर अध्वर रथसे पधारने व यजमानोंके कल्याणकर्त्ताके रूपमें है — इन्द्रावरुणा सुतपाविमं सुतं सोमं पिबतं मद्यं धृतव्रतौ। युवो रथो अध्वरो देववीतये प्रति स्वसरमुप यातु पीतये। (अथर्व० ७.६०.१)। बृहद्देवतामें इन्द्रावरुणका देवत्व इन शब्दोंमें

स्वीकार किया गया है — दशाश्विनार्नीमानीति इन्द्रावरुणयो स्तुतिः (बृह० ३.१११)।

३०. इन्द्रासोम (८.४) — इन्द्रासोमका देवत्व अथर्ववेद तथा ऋग्वेदमें उपन्यस्त है। उनका नाम शान्ति संस्थापक देवयुग्मोंमें प्रतिष्ठालब्ध है। ऋग्वेदमें इस देवयुगलका प्रमुख कार्य शत्रुओंको परास्त करना, पहाड़ोंमें छिपी वस्तुओंको प्रकट करना, सूर्यको तेजस्वी बनाकर (मेघोंको सामनेसे हटाकर) अन्धकारको दूर भगाना, द्युलोकको स्थिर करके पृथिवीको विस्तृत (उसके सद्‌गुणों, गाम्भीर्य, क्षमाशीलता, ममत्व आदिमें वृद्धि) करना विवेचित है — इन्द्रासोमा महि तद्वां महित्वं युवं महानि प्रथमानि चक्रथुः। युवं सूर्यं विविदथुर्युवं स्व१र्विश्वा तमांस्यहतं निदश्च (ऋ० ६.७२.१)। अथर्ववेदमें इन्द्रासोमकी स्तुति प्रमुखतः शत्रुओं, राक्षसोंसे रक्षाके लिये की गई है — इन्द्रासोमा तपतं रक्ष उब्जतं न्यर्पयतं वृषणा तमोवृधः। परा शृणीतमचितो न्योषतं हतं नुदेथां नि शिशीतमत्त्रिणः (अथर्व० ८.४.१)। बृहद्देवताकारने भी इनका देवत्व प्रमाणित किया है — इन्द्रश्च सोमश्चेत्येवम् इन्द्रासोमौ निदर्शनम् (बृह० २.१०७)।

३१. ईश्वर (१.१९) — यस्य वाक्यं स ऋषिर्या तेनोच्यते सा देवता (ऋ० १०.१० सा०भा०) सूत्रके अनुसार अथर्ववेदमें ईश्वरको भी देवताकी श्रेणीमें परिगणित किया गया है। वैदिक कोशके अनुसार प्रभु या स्वामीके अर्थमें ईश्वर शब्दका प्रयोग वैदिककालसे ही होता रहा है। ईश्वर शब्दमें प्रभु या स्वामीका भाव इतना प्रबल है कि कालान्तरमें यह शब्द भगवानका पर्याय बन गया। अथर्व० १.१९के प्रमुख देवता ईश्वर हैं, किन्तु चार मंत्रोंवाले इस सूक्तके प्रत्येक मंत्रके देवता क्रमशः इन्द्र, मनुष्यइषु, रुद्र और देवगण भी हैं अर्थात् इनकी समर्थताके कारण सम्पूर्ण सूक्तके देवता ईश्वर माने गए हैं। इसी प्रकार अथर्व० ७.१०.२.१में भी द्युलोक-पृथिवी और अन्तरिक्षके ईश्वर (स्वामी या प्रभु) अग्नि, वायु और सूर्य माने गए हैं। अतः वहाँ भी समर्थताके अर्थमें ईश्वर शब्दका प्रयोग हुआ है — नमस्कृत्य द्यावापृथिवीभ्यामन्तरिक्षाय मृत्यवे। मेक्षाम्यूर्ध्वस्तिष्ठन् मा मा हिंसिषुरीश्वराः (अथर्व० ७.१०७.१)। इस मंत्रके भाष्यमें आचार्य सायण लिखते हैं — ईश्वराः स्वामिनः द्युपृथिव्यन्तरिक्ष

देवता अग्निवायुसूर्या........वधिषुः।

३२. उषा (३.१६.७) – 'उषा' प्रातःकालकी अधिष्ठात्री देवीके रूपमें प्रख्यात हैं। इनका देवत्व चारों वेदोंमें प्रतिष्ठित है। ऋग्वेदमें इनका नामोल्लेख प्रायः तीन सौ बार हुआ है। उषाकी रचना वैदिककालकी सर्वोत्कृष्ट मनोरम कल्पना है। प्रायः किसी भी साहित्यमें उषासे अधिक आकर्षक चरित्र उपलब्ध नहीं होता। ऋग्वेदमें उन्हें अनुपम सुषमासे सम्पन्न झिलमिलाती हुई, उदित होकर सौन्दर्य-प्रदर्शन करती हुई, तमसको दूर भगाकर प्रकाशके साथ अवतरित होनेवाली उपन्यस्त किया है – अप द्वेषो बाधमाना तमांस्युषा दिवो दुहिता ज्योतिषागात् (ऋ० ५.८०.५)। उषा देवी प्रसुप्तोंको जगाती एवं सभी प्राणियों द्विपादों एवं चतुष्पादोंको गति हेतु प्रेरित करती है – प्रबोधयन्तीरुषसः ससन्तं द्विपाच्चतुष्पाच्चरथाय जीवम् (ऋ० ४.५१.५)। अथर्ववेदमें उषाकी प्रतिष्ठा देवताके रूपमें अधिक तथा प्रकृति-सुन्दरीके रूपमें कम है। यहाँ उषाकालको सौभाग्यका जनक तथा दौर्भाग्यका विनाशक विवेचित किया गया है। इस तथ्यकी पुष्टि इस मंत्रसे होती है, जिसमें याजक-द्वारा यह आशा की गई है कि नक्षत्रों तथा उषाओंके विदा होते ही हमारे समस्त दुर्भूत और क्षेत्रिय रोग (कुष्ठ, अपस्मार आदि) नष्ट हो जायँगे – अपवासे नक्षत्राणामपवास उषसामुत। अपास्मत् सर्वं दुर्भूतमप क्षेत्रियमुच्छतु (अथर्व० ३.७.७)। उषा और नक्षत्रोंके विदा होनेका समय एक ही है, यही समय देव-यजनका भी माना गया है। उषा देवी सभी उपासकोंको प्रबुद्ध करके यज्ञाग्निको प्रदीप्त कराकर देवताओंपर भरपूर उपकार करती हैं – उषो यदग्निं समिधे चकर्थ वि यदावश्चक्षसा सूर्यस्य। यन्मानुषान्यक्ष्यमाणाँ अजीगस्तद्देवेषु चकृषे भद्रमप्नः (ऋ० १.११३.९)। उषाको भगकी बहन कहा गया है – भगस्य स्वसा वरुणस्य जामिरुषः सूनृते प्रथमा जरस्व (ऋ० १.१२३.५)। उषाको रात्रिकी बहन तथा दिवःदुहिता (द्युलोक-पुत्री) भी कहा गया है। उषाका सूर्यके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसीलिये वे सूर्यकी यात्रा-हेतु पथ खोलती हैं – अरैक्पन्थां यातवे सूर्याय (ऋ० १.११३.१६)। उषा देवीका सम्बन्ध अश्विनीकुमारों, चन्द्रमा, इन्द्र तथा बृहस्पति आदि देवताओंके साथ भी होनेके प्रमाण मिलते हैं।

३३. उषासानक्ता (६.३.३) – उषासानक्ताका देवत्व ऋग्वेद तथा अथर्ववेद दोनोंमें दृष्टिगोचर होता है। उषा और रात्रिको युगल-रूपमें 'उषासानक्ता' नामसे आवाहित किया गया है। उषा और नक्तका संयुक्त रूप उषासानक्ता है। इन्हें दिन-रातकी देवीके रूपमें प्रतिष्ठा प्राप्त है। इनसे रक्षाकी प्रार्थना की जाती है – ....उषासानक्तोत न उरुष्यताम (अथर्व० ६.३.३)। इन दोनोंको दिवोदुहिता अर्थात द्युलोककी पुत्री स्वरूप चित्रित किया गया है – उत योषणे दिव्ये मही न उषासानक्ता सुदुघेव धेनुः (ऋ० ७.२.६)। इन्हें धन-सम्पदासे विभूषित दिव्य युवती भी विवेचित किया गया है – उत त्ये देवी सुभगे मिथूदृशोपासानक्ता जगतामपीजुवा (ऋ० २-३१.५)। अथर्ववेदमें इन्हें सुवर्णाभूषणोंसे सज्जित, उज्ज्वल, राजमान और सौन्दर्य-श्रीसे युक्त योषा वर्णित किया गया है – आ सुष्वयन्ती यजते उपाके उषासानक्ता सदतां नि योनौ..... .... दधाने (अथर्व० ५.१२.६)। उषा और नक्त परस्पर बहनें हैं, जिनका रंग तो अलग अलग है पर मन एक है। इनका मार्ग भी एक है और साथ ही अनन्त भी। ये न कभी ठहरती हैं न परस्पर टकराती ही हैं – समानो अध्वा स्वस्रोरनन्तस्तमन्यान्या चरतो देवशिष्टे। न मेथेते न तस्थतुः सुमेके नक्तोषासा समनसा विरूपे (ऋ० १.११३.३)। निरुक्तमें 'उषा'-का निर्वचन इस प्रकार दिया गया है – उषाः कस्माद् ? उच्छतीति (नि० २.१८) अर्थात् जो अन्धकारको हल्का कर देती है, वह उषा है। इसी प्रकार निरुक्तमें नक्तको भी अव्यक्तवर्णा कहा गया है – 'अपि वाऽनक्ताऽव्यक्तवर्णा (नि० ८.१०)।

३४. ऋभु (६.४८.२) – वैदिक देवोंमें कुछ देवगण ऐसे भी हैं, जिनके दिव्यगुणोंका अधिक विकास नहीं हो पाया है, फिर भी वे देवता संज्ञासे प्रतिष्ठित हैं। इनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण 'ऋभु' हैं। अथर्ववेदमें ऋभुओंको देवकल्प ऋषियोंके रूपमें उपन्यस्त किया गया है। ऋग्वेदमें इनका नाम सौसे अधिक बार आवृत्त हुआ है तथा प्रायः ग्यारह सूक्तोंमें इनकी स्तुति की गई है। अथर्ववेदमें ऋभुगणोंका उल्लेख आठ बार हुआ है। इनका प्रचलित नाम तो 'ऋभु' है, पर ये एक समूह (ऋभुगण)-के रूपमें भी आवाहित किए जाते हैं, जिसमें तीन नामोंका उल्लेख मिलता है। ये नाम हैं – ऋभुक्षन्, वाज और विभ्वन्। इस सन्दर्भमें ऋग्वेदका एक मंत्र द्रष्टव्य

है – तद्वो वाजा ऋभवः सु प्रवाचनं देवेषु विभ्वो अभवन्महित्वनम (ऋ० ४.३६.३)। कुछ आचार्योंने इन्हें परस्पर तीनों भाई विवेचित किया है, जो आङ्गिरस सुधन्वाके पुत्र थे। निरुक्तमें इस तथ्यकी पुष्टि इन शब्दोंमें विवेचित है – ऋभु विभ्वा वाज इति सुधन्वन आङ्गिरसस्य त्रयः बभूवुः (नि० ११.१६)। कुछ आचार्योंने ऋभुके ही ये तीनों नाम बताए हैं। कहीं कहीं इनका यह स्वरूप कुछ धुँधला-सा प्रतीत होता है; क्योंकि ऋभुओंके साथ ऋभु और विभुवोंके साथ विभ्वनका आवाहन भी मिलता है – ऋभुर्ऋभुभिरभि वः स्याम विभ्वो विभुभिः शवसा शवांसि (ऋ० ७.४८.२)। निरुक्तकार यास्कने आदित्य-रश्मियोंको ऋभुकी संज्ञा प्रदान की है – आदित्यरश्मयोऽयृभव उच्यन्ते (नि० ११.१६)। ऋभुगणोंका आवाहन तृतीय सवनमें किया जाता है, इसीलिये उन्हें तृतीय सवनको देवता कहते हैं। इसी कारण तृतीय सवनका ऋभु-सवन भी कहा जाता है – ऋभुरसि जगच्छन्दा अनु त्वारभे....... (अथर्व० ६.४८.२)। इन्द्रदेवके साथ ऋभुका सम्बन्ध इतना घनिष्ठतापूर्ण बताया गया है कि एक स्थानपर तो उन्हें अभिनव इन्द्र ही कह दिया गया है – ऋभुर्न इन्द्रः शवसा नवीयान (ऋ० १.११०.७)। ऋभुको इन्द्रके अतिरिक्त मरुतों, आदित्य, सविता, पर्वत और सरिताओंसे भी सम्बद्ध उपन्यस्त किया गया है।

३५. एकाष्टका (३.१०.५) – अथर्ववेदमें एक पूरा सूक्त एकाष्टकाको समर्पित है। माघ मासकी कृष्ण-पक्षकी अष्टमीकी पूर्वरात्रिको एकाष्टका या अष्टका कहते हैं। एकाष्टकाको देवीका गौरव प्राप्त है। इस रात्रिमें पितृकर्म करने तथा अनेक यागोंको सम्पन्न करनेका विधान है। शास्त्रोंमें वर्णित है कि सृष्टिके आदिमें जब न रात्रि थी, न दिन, तब देवताओंकी शक्तिसे पाँच उषाएँ जो अन्धकारको दूर कर प्रकाशित हुईं, उनमें एकाष्टका सर्वप्रथम थीं। देवगण आगामी एकाष्टकाकी रात्रिकी धेनुके समान प्रतीक्षा करते हैं और कामना करते हैं कि वे हमारे लिये प्रतिवर्ष फलवती बनें और सुख प्रदान करें – प्रथमा ह व्युवास सा धेनुरभवद्यमे (अथर्व० ३.१०.१)। एकाष्टकाको संवत्सरकी पत्नी तथा प्रतिमा विवेचित करते हुए उन्हें मंगलदात्री, आयु-प्रदात्री, सन्तति और धन-प्रदात्री वर्णित किया गया है – संवत्सरस्य या पत्नी सा नो अस्तु सुमङ्गली (अथर्व०

३.१०.२) तथा – संवत्सरस्य प्रतिमां यां त्वा राञ्युपास्महे। सा न आयुष्मतीं प्रजां रायस्पोषेण सं सृज (अथर्व० ३.१०.३)। एकाष्टकाके संवत्सरकी पत्नी होनेके विवेचन से ऐसा लगता है कि इस सूक्तकी रचनाके समय इसे वर्ष (नए संवत्सर) -का प्रथम दिन माना जाता होगा, इसी कारण यह कहा गया है कि सर्वप्रथम यही उषा प्रकट हुई और अब अन्य उषाओंमें प्रवेश करके संचरित होती है – इयमेव सा या प्रथमा व्यौच्छदास्वितरासु चरति प्रविष्टा।........नवगज्जनित्री (अथर्व० ३.१०.४)। एक स्थानपर अष्टकाको प्रजापतिकी सुपुत्री तथा सोम और इन्द्रकी माता भी कहा गया है – इन्द्र पुत्रे सोम पुत्रे दुहितासि प्रजापतेः (अथर्व० ३.१०.१३)। वार्षिक पितृकर्मके निमित्त इसी दिन पुरोहितगण पत्थरों-द्वारा हवि तैयार करते हैं – वानस्पत्या ग्रावाणो.......। एकाष्टके सुप्रजसः सुवीरा वयं स्याम पतयो रयीणाम् (अथर्व० ३.१०.५)।

३६. कश्यप (८.९) – वैदिक देवताओंमें 'कश्यप' भी निर्दिष्ट है। यों तो 'कश्यप' सप्तर्षि मण्डलके महत्त्वपूर्ण ऋषिके रूपमें भी प्रतिष्ठित हैं, किन्तु अथर्ववेदके आठवें काण्डके नवें सूक्तके सातवें मंत्रमें उन्हें देवताके रूपमें परिगणित किया गया है। 'या तेनोच्यते सा देवता' सूत्रके अनुसार उनका वहाँ देवताके क्रममें परिगणन उचित भी है। वहाँ अन्य छह ऋषियोंमें कश्यप ऋषिसे विराट्के सन्दर्भमें प्रश्न किए हैं। अस्तु, वहाँ कश्यप ऋषि देवता-स्वरूप प्रतिष्ठित हुए – षट् त्वा पृच्छाम ऋषयः कश्यपेमे त्वं हि युक्तं युयुक्षे योग्यं च। विराज माहुर्ब्रह्मणः पितरं तां नो वि धेहि यतिधा सखिभ्यः (अथर्व० ८.९.७)। कुछ आचार्यगण कश्यपको मरीचि-पुत्र भी विवेचित करते हैं। इसीकारण इनके नामके साथ कई स्थलोंपर अपत्यार्थक पद 'मारीच' भी संयुक्त मिलता है। बृहद्देवताकार आचार्य शौनक-द्वारा इस तथ्यकी पुष्टि इन शब्दोंमें प्राप्त होती है – प्राजापत्यो मरीचिर्हि मारीचः काश्यपो मुनिः (बृह० ५.१४३)। बृहद्देवता (५.१४३)-में ही कश्यपको प्रजापतिका पौत्र तथा दक्षकी अदिति आदि तेरह पुत्रियोंका पति भी उपन्यस्त किया गया है। आचार्य सायणने भी इनका मरीचि-पुत्र होना प्रतिपादित करते हुए लिखा है – मारीचि पुत्रः कश्यपो वैवस्वतो मनुर्वा ऋषिः (ऋ० ८.२९ सा०भा०)।

३७. काम (३.२९.७) – अथर्ववेदीय देवताओंमें 'काम' भी देवता-श्रेणीमें

प्रतिष्ठित हैं। सामान्य अर्थोंमें चाह या इच्छाको काम कहते हैं। प्रायः इसी अर्थ में अथर्ववेदमें काम शब्दका प्रयोग हुआ है। कामकी उत्पत्ति सृष्टिसे भी पूर्वकी मानी जाती है। काम ही मनका प्रथम रेतस था, जिसके सहयोगसे मन-द्वारा समस्त सृष्टिका प्रादुर्भाव हुआ— कामस्तदग्रे समवर्तत मनसो रेतः प्रथमं यदासीत (अथर्व० १९.५२.१)। इसकी पुष्टि तैत्तिरीय ब्राह्मण २.२.९.१ -द्वारा इन शब्दोंमें की गई है — तदसदेव सन्मनो कुरुतस्यामिति। यह कामका समष्टिगत स्वरूप है — व्यापक स्वरूप है। विशेष काम अर्थात् व्यक्ति-विशेषकी विशेष इच्छा यद्यपि संकुचित होती है, फिर भी बृहत्कामकी ही सहोदर या सयोनि है — स काम कामेन बृहता सयोनी राजस्पोषं यजमानाय धेहि (अथर्व० १९.५२.१)। कामका निवास-स्थल हृदय है — हृत्सु कामा अरंसत (अथर्व० १४.२.५)। काम का एक अन्य स्वरूप प्रणय मनोभव है जो जीवनकी सर्वोत्कृष्ट शक्तिशाली वृत्ति है। इसी वृत्तिको कामदेवकी संज्ञा प्रदान की गई है। कामदेवका बाण इतना भयंकर है जो सीधे हृदयपर चोट करता है — उत्तुदस्त्वोत्तुदतु मा धृथाः शयने स्वे। इषुः कामस्य या भीमा तया विध्यामि त्वा हृदि (अथर्व० ३.२५.१)। काम-इषु अर्थात् काम-बाणको धनुषपर चढ़ाकर कामदेव अपने लक्ष्य, हृदयको विद्ध करते हैं — ....तां सुसंनतां कृत्वा कामो विध्यतु त्वा हृदि (अथर्व० ३.२५.२)। कामावेशका आख्यान ऋग्वेदके यम-यमी संवादमें भी मिलता है, जिसमें यमके प्रति यमीके हृदयमें कामाभिलाषा जाग्रत हो उठती है, तब वह कहती है — यमस्य मा यम्यं[1] काम आगन्त्समाने योनौ सहशेय्याय। जायेव पत्ये तन्वं रिरिच्यां वि चिद्वृहेव रथ्येव चक्रा (ऋ० १०.१०.७)। ऋग्वेदका यही मंत्र अथर्व० १८.१.८में भी पठित है। इस प्रकार कामके तीन स्वरूप दृष्टिगोचर होते हैं। प्रथम सामान्य निर्विकल्पक अभिलाषा अर्थात् निर्विषयक अभिलाषा — यह सात्त्विक काम है। द्वितीय धन आदिकी इच्छा-विशेष। काम शब्दका अधिकतर प्रयोग इसी अर्थमें हुआ है। यथा — ....यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् (ऋ० १०.१२१.१०)। तृतीय काम यौनैषणाके रूपमें वर्णित है जिसकी अथर्ववेदमें विस्तृत चर्चा है। अथर्व० ६.१३०में कामका एक नाम स्मर भी उल्लिखित है। स्मर शब्द कामके स्थूल आकर्षणके रूपमें प्रयुक्त किया जाता है। स्मर उस मनःस्थितको

कहते हैं, जिसमें व्यक्ति सदा अपने स्नेहीका स्मरण किया करता है।

३८. काम-बाण (३.२५) — द्र० काम।

३९. कुहू (७.४९) — यस्य वाक्यं स ऋषिः। या तेनोच्यते सा देवता (ऋ० १०.१० सा०भा०) सूत्रके अनुसार कुहूको भी देव-श्रेणीमें मान्यता प्रदान की गई है। अमावास्याका एक नाम कुहू भी है। जिस रात्रिको चन्द्रमा दृष्टिगोचर नहीं होता, उसे कुहू कहते हैं। इस तिथिको देवकी संज्ञा प्रदान की गई है। इन्हें सुकृत अर्थात् सुकर्मा भी कहते हैं। याजकों-द्वारा इनकी स्तुति करते हुए इनसे वरणीय धन और वीर सन्ततिकी कामनाका विवेचन मिलता है। उसी क्रममें इन्हें शतदाय और विश्ववार भी कहा गया है — कुहूं देवीं सुकृतं विद्मनाप-समस्मिन्यज्ञे सुहवा जोहवीमि। सा नो रयिं विश्ववारं नि यच्छाद् ददातु वीरं शतदायमुक्थ्यम् (अथर्व० ७.४९.१)। कुहूको दिव्य अमृतकी पुष्टिकर्त्री वर्णित किया गया है। इनके लिये हविष् अर्पित किए जानेके भी प्रमाण मिलते हैं। वे जिस याजकपर कृपा करती हैं, उसे धन-समृद्धि (रायस्पोप)-से परिपूर्ण कर देती हैं — कुहूर्देवानाममृतस्य पत्नी हव्या नो अस्य हविपो जुषेत। शृणोतु यज्ञमुशती नो अद्य रायस्पोपं चिकितुषी दधातु (अथर्व० ७.४९.२)। बृहद्देवतामें प्रायः ४ बार कुहूका नाम आवृत्त हुआ है। कुहूके देवत्वका प्रतिपादन आचार्य शौनकने इन शब्दोंमें किया है — तत्पूर्वं द्वे ऋचौ कुह्वाः कुहू-महमिति स्मृते (बृह० ४.८७)।

४०. गन्धर्व-अप्सरा समूह (२.२) — द्र० अप्सरा।

४१. चन्द्रमा (६.७८.१-२) — चन्द्रमा देवताका देवत्व ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा अथर्ववेदमें निर्दिष्ट है। अन्तरिक्ष स्थानीय देवोंमें चन्द्रदेव या चन्द्रमाका नाम प्रख्यात है। यजुर्वेदमें चन्द्रमाकी उत्पत्ति मनसे बताई गई है — चन्द्रमा मनसो जातः (यजु० ३१.१२)। इनका अस्तित्व सूर्य-आधृत है। अमावस्याको चन्द्रदेव आदित्यमें प्रविष्ट हो जाते हैं — चन्द्रमा वा अमावास्यामादित्यमनुप्रविशति (ऐ०ब्रा० ८.२८)। चन्द्रमा और सोम अभिन्न हैं, यह तथ्य कौषीतकि ब्राह्मण और ऐतरेय ब्राह्मण दोनोंमें प्रतिपादित है — सोमो वै चन्द्रमाः (कौषी०ब्रा० १६.५)। एतद्वै देवसोमं यच्चन्द्रमाः (ऐ०ब्रा० ७.११)। चन्द्रमा रात्रिके स्वामी हैं। उनके आविर्भावसे ही शुक्ल और कृष्ण पक्ष बनते हैं जिनके अनुसार सभी

देवगणों को उनका अंश (हविष्य) प्राप्त होता है। मासों और ऋतुओं के सृजनकर्त्ता भी चन्द्रदेव ही हैं। नक्षत्रोंमें चन्द्रमा प्रमुख है। यही नक्षत्रोंकी प्रतिष्ठा है – चन्द्रमा अस्यादित्ये श्रितः नक्षत्राणां प्रतिष्ठा (तैत्ति०ब्रा० ३.११.१.१२)। अथर्ववेदमें सूर्य और चन्द्रमाकी तुलना शिशुओंसे की गई है जो परस्पर क्रीडा करते हुए कभी आगे और कभी पीछे परिभ्रमण करते हैं। इस क्रीडामें सूर्यदेव सभी भुवनोंको देखते हैं और चन्द्रदेव ऋतुओंका निर्माण करते हैं – पूर्वापरं चरतो माययैतौ शिशु क्रीडन्तौ परि यातोऽर्णवम्। विश्वान्यो भुवना विचष्टऋतुंरन्यो विदधज्जायसे नवः (अथर्व० ७८६.१)। चन्द्रमा शान्ति और विश्रान्ति प्रदान करके दीर्घायुष्य प्रदान करते हैं – ....भागं देवेभ्यो वि दधास्यायन्प्र चन्द्रमस्तिरसे दीर्घमायुः (अथर्व ७८६.२)।

४२. जरिमा (२.२८.१, ३) – जरिमा शब्दका सामान्य अर्थ जरा अथवा वृद्धावस्था है। अथर्ववेदमें इस शब्दका प्रयोग प्रायः चार बार हुआ है। 'या तेनोच्यते सा देवता' सूत्रके अनुसार कुछ मंत्रोंका वर्ण्य विषय 'जरिमा' होनेके कारण उसे देवत्व प्रदान किया गया है। अथर्ववेदमें सर्वत्र यही प्रार्थना है कि अमुक व्यक्ति जरावस्थातक देवों-द्वारा सुरक्षित रहे – इमान रक्षतु पुरुषा नाजरिम्णः (अथर्व० १८.३.६२)। एक अन्य मंत्रमें जरिमामें देवत्वका आरोपण करके प्रार्थना है कि अमुक व्यक्ति तुमतक पहुँचनेके लिये बढ़ता रहे, मृत्युके अन्य साधन इसे नष्ट न कर सकें – तुभ्यमेव जरिमन् वर्धतामयं मेममन्ये मृत्यवो हिंसिषुः शतं ये (अथर्व० २.२८.१)। निरुक्तकार यास्कने जरिमाका अर्थ 'स्तूयमान' किया है – जरा स्तुतिर्जरते स्तुति कर्मणः (नि० १०.८)। आचार्य सायणने भी यास्क मुनिके आधारपर इस मंत्रका भाष्य करते हुए लिखा है – जरिमन् जरितः स्तुतिकर्मा (अथर्व० २.२८.१ सा०भा०)। आचार्य सायणने इस मंत्रके अर्थमें जरिमाको अग्नि माना है; क्योंकि अग्नि भी स्तूयमान है। जरिमा शब्द ऋग्वेदमें भी आया है, पर वहाँ उसे देवताकी श्रेणीमें परिगणित नहीं किया गया है। वहाँ इसका प्रयोग वृद्धावस्था, स्तुति और स्तुतिकर्त्ता इन तीन अर्थोंमें हुआ है।

४३. जातवेद (अग्नि) – द्र० अग्नि।

४४. तार्क्ष्य (७.९०) – वैदिक देवताओंमें तार्क्ष्यका देवत्व निर्दिष्ट है।

ऋग्वेदमें इन्हें कुछ मंत्रोंका ऋषित्व भी प्राप्त हुआ है। ऋग्वेदमें तार्क्ष्य शब्दका विशेषण 'अरिष्टनेमि' है। मूलतः तार्क्ष्यकी कल्पना अश्व-स्वरूप की गई थी। वह तार्क्ष्य (अश्व) अरिष्टनेमि अर्थात् अनिष्टनेमि (अर्थात् जिसके रथकी नेमि नष्ट न हो सके) था। वाजसनेयि संहिता १५.१८ तथा शतपथ ब्राह्मणसे भी इस तथ्यकी पुष्टि होती है – तार्क्ष्यश्चारिष्टनेमिश्च सेनानीग्रामण्याविति (शत०ब्रा० ८६.१.१९)। परवर्ती ग्रन्थोंमें 'तार्क्ष्य'-को पक्षी-रूपमें विवेचित किया गया। कालान्तरमें तार्क्ष्यका तादात्म्य भगवान् विष्णुके वाहन गरुडके साथ हो गया। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भ में 'तार्क्ष्य' दिव्य अश्व-स्वरूप आदित्यका प्रतिरूप रहा होगा; क्योंकि सूर्यको भी 'अश्व' कहा गया है। तार्क्ष्य शब्दकी व्युत्पत्ति तृक्षसे हुई है। तृक्षके पुत्रको अपत्यवाचक अर्थमें तार्क्ष्य कहा गया है। सुपर्णके साथ भी तार्क्ष्य पद जोड़ा जाता है। आचार्य सायणने सुपर्णको तक्ष-पुत्र तार्क्ष्य कहा है। तार्क्ष्य तृक्ष पुत्र सुपर्णम्। (ऋ० १०.१७८.१ सा०भा०)। अथर्ववेद ७.९०.१ में तार्क्ष्यका आह्वान कल्याणके लिये किया गया है – त्यमू षु वाजिनं देवजूतं सहोवानं तरुतारं रथानाम्। अरिष्टनेमिं पृतनाजिमाशुं स्वस्तये तार्क्ष्यमिहा हुवेम। वैदिक कोशके अनुसार एक राजाका नाम तृक्षि था जो त्रसदस्युका वंशज था। अतः त्रासदस्यवको भी तार्क्ष्य कहा गया है।

४५. तिस्रो देव्यः (इळा, भारती, सरस्वती) (५.२७.९) – वेदोंमें प्रायः तीन देवियोंका नाम एक साथ लिया गया है, इन्हें एक शब्दमें तिस्रो देव्यः (तीन देवियाँ) नामसे जानते हैं। ये हैं – इळा, भारती और सरस्वती। 'त्रिस्रोदेव्यः' समूहकी प्रथम देवी – इळाको घृतवती माना गया है। उनसे घृतसिक्त अंगोंका वर्णन मिलता है। हविष्की प्रतिरूप होनेके कारण उन्हें घृतहस्ता और घृतपाद उपन्यस्त किया गया है – येषामिळा घृतहस्ता दुरोण आँ अपि प्राता निषीदति (ऋ० ७.१६.८)। मनुष्वद् यज्ञं हवींषीळा देवी घृतपदी जुषन्त (ऋ० १०.७०.८)। शतपथ ब्राह्मणमें इळाको मित्रावरुणकी पुत्री निरूपित किया गया है – इळासि मैत्रावरुणी वीरे वीरमजीजनथाः (शत०ब्रा० १४९.४.२७)। तीन देवियोंके इस वर्गमें द्वितीय देवी भारती हैं। बृहद्देवताके अनुसार ये तीनों देवियाँ जो 'वाच्'-के रूपमें हैं, इनके तीन स्थान हैं (त्रिस्थानैव हि सा तु

वाक -३.११)। इळा अग्निकी अनुगामिनी, सरस्वती मध्यमसे सम्बद्ध तथा भारती दिव्य लोकमें स्थित हैं – अग्निमेवानुगेळा तु मध्यं प्राप्ता सरस्वती। ....भारती भवति ह्यसौ (बृह० ३.१३)। त्रिदेवी (तिस्रोदेव्यः)-वर्गकी तृतीय देवी – सरस्वती नामसे प्रख्यात हैं। इन्हें वाणीकी देवीके रूपमें भी प्रतिष्ठा प्राप्त है – वाग्वै सरस्वती पावीरवी (ऐत०ब्रा० ३.३७)। ऐतरेय ब्राह्मणमें इन्हें वाणीकी उत्प्रेरिका देवी भी निरूपित किया गया है – अथ यत्स्फूर्जयन्, वाचमिवं वदन्दहति यदस्य सारस्वतं रूपम् (ऐत०ब्रा० ३.४)। शतपथ ब्राह्मणमें सरस्वतीको जिह्वा स्थानीय देवी माना गया है ....जिह्वा सरस्वती (शत०ब्रा० १२.९.१.१४८। इनके द्वारा ही सम्पूर्ण वेदोंकी उत्पत्ति वर्णित है– सरस्वत्याः सर्वे वेदाः अभवन् (गा०र०उ० ४.५.९-१०)। सरस्वती बौद्धिक पुष्टि-प्रदात्री भी है, इसी कारण इन्हें पुष्टि-पत्नी भी विवेचित किया गया है – सरस्वती पुष्टिः पुष्टिपत्नी (तैत्ति०ब्रा० २.५.७.४)। अथर्ववेदमें इन तीनों देवियोंसे यज्ञ-मण्डपमें पधारने और बर्हिपर बैठनेके लिये प्रार्थना की गई है .....तिस्रो देवीर्बर्हिरिदं सदन्तामिडा सरस्वती मही भारती गृणाना (अथर्व० ५.२७.९)।

४६. त्रिणामा (६.७४) – द्र० अग्नि।

४७. त्वष्टा (३.८.२) – दिव्य शिल्पीके रूपमें त्वष्टा देव चारों वेदोंमें प्रतिष्ठित है। विभिन्न प्रकारके निर्माण-कार्योंमें वे निष्णात और समर्थ हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मणमें इस तथ्यका उल्लेख इन शब्दोंमें है – त्वष्टा रूपाणि विकरोति (तैत्ति०ब्रा० २.७.२.१)। त्वष्टा वै रूपाणामीशे (तैत्ति०ब्रा० १.४.७.१)। उनके द्वारा देवताओंके निमित्त उपयोगी सामग्रीके रूपमें वज्र, आयस, परशु, भोज्य तथा पानक वस्तुओंको रखने हेतु 'चमस' बनानेका उल्लेख विशेषतः मिलता है – उतत्यं चमसं नवं त्वष्टुर्देवस्य निष्कृतम्। अकर्त चतुरः पुनः (ऋ० १.२०.६)। उनके हाथोंसे श्रेष्ठतम निर्माणके कारण उन्हें सुपाणि कहा गया है – सुकृत् सुपाणिः स्ववाँ ऋतावा देवस्त्वष्टावसे तानि नो धात् (ऋ० ३.५४.१२)। त्वष्टा देवताका एक अन्य कार्य सन्तति प्रदान करना भी है। वे ही मनुष्यों और पशुओंके अंग-अवयवोंका सृजन कर उनका लिङ्ग निर्धारित करते हैं – त्वष्टा वै पशूनां मिथुनानां रूपकृत् (तैत्ति०ब्रा० ३.८.११.२)।

जन्मोपरान्त शिशुके पोषणमें भी त्वष्टा ही सहायता करते हैं — बृहस्पतिरूर्जयोद्गायति त्वष्टा पुष्ट्या प्रति हरति विश्वेदेवा निधनम् (अथर्व० ९.१०.२)। आचार्य सायणने वैद्युत अग्निका नाम भी त्वष्टा निरूपित किया है — ....त्वष्टुः दीप्तात मध्यमात् वायोः सकाशात् जनयन्त वैद्युतमग्निम् उत्पादयन्ति (ऋ० १.९५.२ सा०भा०)। बृहद्देवतामें चौदह बार त्वष्टाका नामोल्लेख हुआ है।

४८. त्विषि (६.३८) — अथर्ववेदमें 'त्विषि' जो एक गुण है, को भी देवत्व प्राप्त हुआ है। त्विषिका अर्थ 'दीप्ति' या 'तेजस्' है। यह एक ऐसा गुण है जो किसी पदार्थ या व्यक्तिको प्रखरता-सम्पन्न बनाता है। स्तोता पृथ्वी मातासे त्विषि प्रदान करनेके लिये प्रार्थना करता है — ......सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे (अथर्व० १२.१.८)। ओषधि भी त्विषि सम्पन्न हो सकती है। वरुणको भी त्विषिमान् विवेचित किया गया है — .... नमो राज्ञे वरुणाय त्विषीमते (अथर्व० ६.२०.२)। त्विषिको मेधाके समान ही महत्त्वपूर्ण गुणकी प्रतिष्ठा प्राप्त है। मेधा आन्तरिक शक्तिके रूपमें प्रतिष्ठित है, तो त्विषि बाह्य शक्तिके रूपमें। सिंह, व्याघ्र, अग्नि, सूर्य, ब्राह्मण और पृदाकुमें त्विषि विद्यमान है। त्विषिको सुभगा निरूपित करते हुए विवेचन किया गया है कि उन्हींके द्वारा इन्द्रका आविर्भाव हुआ अर्थात् इन्द्रमें इन्द्रत्वका आविर्भाव हुआ। एक मंत्रमें त्विषिसे प्रार्थना की गई है कि वे आएँ और साथमें अपने मित्रके रूपमें वर्चस्को भी लाएँ — सिंहे व्याघ्र उत या पृदाकौ त्विषिरग्नौ ब्राह्मणे सूर्ये या। इन्द्रं या देवी सुभगा जजान सा न ऐतु वर्चसा संविदाना (अथर्व० ६.३८.१)।

४९. दधिक्रावा (३.१६.६) — दधिक्रावाका देवत्व ऋक्, साम और अथर्वमें प्राप्त है; किन्तु ऋक् और साममें 'दधिक्रा' पाठ मिलता है; जबकि अथर्ववेदमें दधिक्रावा। दधिक्रावाका अभिप्राय दैवी अश्वसे है। गर्जनशील और शक्तिस्वरूप होनेसे इसे दैवी अश्वकी संज्ञा प्रदान की गई है। बृहद्देवताकारने उस शक्तिको 'दधिक्रा' कहा है, जो आकाशमें आठ मासतक जलको धारण करके रखती है तथा यदा-कदा गर्जना करती है— अपामम्बरगर्भौघम् ....दधिक्रास्तेन कथ्यते (बृह० २.५६)। आचार्य सायणने दधिक्रावाकी व्याख्या इन शब्दोंमें की है — दधिक्रावेव।

अश्वनामैतत्। दधिः धारयिता सन् क्रामतीति दधिक्रावा अश्वः (अथर्व० ३.१६.६ सा०भा०)। उन्होंने दधिक्राको अश्व-विशेष कहा है—दधिक्राम् एतन्नामकमश्वविशेषं देवम् (ऋ० ७.४४.२ सा०भा०)। निरुक्तकार यास्कने इसकी परिभाषा इस प्रकार की है—दधत् क्रामतीति वा। दधदाकारी भवतीति वा (नि० २.२७)। अथर्वमें देवी उपासे प्रार्थना की गई है कि जैसे—दधिक्रावा शुद्ध स्थानपर पद रखनेके लिये समुद्यत होता है, उसी तरह वे धन-प्रदाता भग देवताको याजकके पास लाने हेतु उद्यत हों—समध्वरायोपसो नमन्त दधिक्रावेव शुचये पदाय। अर्वाचीनं वसुविदं भगं मे रथमिवाश्वा वाजिन आ वहन्तु (अथर्व० ३.१६.६)। कुछ स्थानोंपर 'दधिक्र' शब्दसे विद्युतका संकेत भी मिलता है।

५०. दिव (४.३९.५-६)—द्र० द्यौ।

५१. दिव्य आपः (६.१२४))—द्र० आपः।

५२. दिव्य ऋषिगण (६.४१.३)—द्र० सप्तर्षिगण।

५३. देवगण (६.९७.१, ३)—देवगणोंका देवत्व ऋग्वेद तथा अथर्ववेदमें भी विवेचित है। वैसे तो एक मंत्रमें एक या दो देवताओंका देवत्व ही दृष्टिगोचर होता है; किन्तु कुछ मंत्रोंमें कई देवताओंका देवत्व उपन्यस्त है। ऐसे मंत्रोंके देवताओंके समूहको 'देवगण' कहते हैं। जैसे—ऋग्वेदकी एक ऋचामें बालक, तरुण, वृद्ध सभीको देव मानकर नमन किया गया है। इनके लिये देवाः (देवगण) शब्द प्रयुक्त हुआ है—नमो महद्भ्यो नमो अर्भकेभ्यो नमो युवभ्यो नम आशिनेभ्यः। यजाम देवान्यदि शक्नवाम मा ज्यायसः शंसमा वृक्षि देवाः (ऋ० १.२७.१३)। बृहद्देवतामें इस देवसमूहको 'विश्वेदेवा' नाम दिया गया है—जराबोधेति विज्ञेया वैश्वदेव्युत्तमा नमः (बृह० ३.९९)। इसी प्रकार अथर्ववेदके इस मंत्रमें भी अनेक देवताओं (याग, अग्नि, सोम, सेना, हवि आदि)-की एक साथ स्तुति की गई है—अभिभूर्यज्ञो अभिभूरग्निरभिभूः सोमो अभिभूरिन्द्रः। अभ्य१ हं विश्वाः पृतना यथासान्येवा विधेमाग्निहोत्रा इदं हविः (अथर्व० ६.९७.१)। देवताओंके विशिष्ट गणके लिये बहुवचनमें 'देवजन' शब्दका उल्लेख भी मिलता है। मोनियर विलियम्सने राक्षसों एवं सर्पोंके समूहको भी देवजन कहा है। पवित्रताके निमित्त देवजनोंसे प्रार्थना की गई है—पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनवो धिया (अथर्व० ६.१९.१) अर्थात्

देवजातिके व्यक्ति मुझे पवित्र करें। सर्पोंका उत्कीलन करनेके लिये भी देवगणों व देवजनोंकी स्तुति की गई है— मा नो देवा अहिर्वधीत सतोकान्त्सहपुरुषान्। संयतं न विष्परद् व्यात्तं न सं यमन्नमो देवजनेभ्यः (अथर्व० ६.५६.१)। आचार्य सायणने देवजन शब्दका अर्थ 'सर्पादिके विषको दूर करनेमें समर्थ व्यक्ति' किया है— देवजनेभ्यः ये सर्पादि विष निर्हरण समर्थाः....... नमोऽस्तु (अथर्व० ६.५६.१ सा०भा०)। अथर्ववेदके कई मंत्रोंसे ऐसा प्रतीत होता है कि देवजनोंका सर्पोंके साथ निश्चित ही कोई सम्बन्ध रहा होगा। देवजन विद्याके प्रसंग (छा०उप०)-में भी सर्प-विद्याका ही उल्लेख है। 'देवगण' और 'देवजन' शब्द मिलते-जुलते होनेके कारण दोनोंका संक्षिप्त विवेचन यहाँ प्रस्तुत किया गया है।

५४. देवजन (६.१९.१) — द्र० देवगण।

५५. देवपत्नी (७.५१) — वैदिक आस्थाके क्रममें जहाँ देवोंका महत्त्वपूर्ण स्थान है, वहाँ देवियों अथवा देवपत्नियोंका स्थान अपेक्षाकृत गौण है। ऋग्वेदमें कुछ स्थानोंपर यज्ञकी रक्षाके निमित्त देवताओंकी पत्नियोंको भी आवाहित किया गया है— अभि नो देवीरवसा महः शर्मणा नृपत्नीः। अच्छिन्नपत्राः सचन्ताम् (ऋ० १.२२.११)। देवपत्नियों तथा देवियोंका अलगसे कोई व्यक्तित्व प्रकाशित नहीं होता, वरन् देवोंके नामोंके आधारपर ही उनका भी नामकरण हुआ है। अथर्ववेदके एक मंत्र (जो ऋ० ५.४६.७ में भी पठित है)-में अग्निदेवकी पत्नी अग्नायी, इन्द्रदेवकी पत्नी इन्द्राणी, अश्विनीकुमारोंकी पत्नी अश्विनी, रुद्रदेवकी पत्नी रोदसी और वरुणदेवकी पत्नी वरुणानीका रक्षार्थ आवाहन किया गया है— उतग्ना व्यन्तु देवपत्नीरिन्द्राण्य१ग्नाय्यश्विनीराट्। आ रोदसी वरुणानी शृणोतु व्यन्तु देवीर्य ऋतुर्जनीनाम् (अथर्व० ७.५१.२)। ऋग्वेदके एक अन्य मंत्रमें सोमपान हेतु इन्द्राणी, अग्नायी और वरुणानीको निमंत्रित किया गया है— इहेन्द्राणीमुप ह्वये वरुणानीं स्वस्तये। अग्नायीं सोमपीतये (ऋ० १.२२.१२)। अथर्ववेद ३.२०.३ का भाष्य करते हुए आचार्य सायणने देवी शब्दको इन्द्राणी तथा सरस्वतीके साथ सम्बद्ध किया है —देवीः देव्यः इन्द्राणीप्रभृतयः धनम्.......प्रयच्छन्तु। ....देवी सरस्वती रयिम्.........प्रयच्छतु। (अथर्व० ३.२०.३ सा०भा०)। कुछ स्थानोंपर दो अप्सराओंको भी देवपत्नी निरूपित किया गया है— ते वाध

वादिपुर्मोत्तरां मद्देवपत्नी अप्सरसावर्धातम् (अथर्व० ६.११८.३)। इसी प्रकार वृपाकपिकी पत्नपीको वृपाकपायी विवेचित किया गया है — वृपाकपायि रेवति सुपुत्र आदु सुस्नुपे (अथर्व० २०.१२६.१३)।

५६. देवी (३.२०.३) — द्र० देवपत्नी।

५७. द्यावा-पृथिवी (६.३.२) — वैदिक देवयुग्मोंमें द्यावा-पृथिवी उच्च स्थलपर प्रतिष्ठित हैं। इन्हें आकाश और पृथ्वी भी कहते हैं। आदिम चिन्तनमें ये दोनों देवता एक-दूसरेसे इतने घनिष्ठ रूपसे सम्बद्ध थे कि उनके दाम्पत्य-भावकी कथाएँ आदिमजनोंमें सर्वत्र उभरकर आई थीं। इसी कारण द्यावा-पृथिवीको सभीने माता-पिताके रूपमें स्वीकार किया है — उत मन्ये पितरद्रुहो मनो मातुर्महि स्वतवस्तद्धवीमभिः (ऋ० १.१५९.२)। इन्हें आदि जनक-जननीके रूपमें प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है — प्र पूर्वजे पितरा नव्य सीभिर्गीर्भिः कृणुध्वं सदने ऋतस्य। आ नो द्यावा-पृथिवी दैव्येन जनेन यातं महि वां वरूथम् (ऋ० ७.५३.२)। द्यावा-पृथिवीका पृथक् पृथक् उल्लेख भी अनेक बार हुआ है ; किन्तु उनका संयुक्त उल्लेख कई बार विराट् विश्वकी ओर ध्यानाकर्षित करनेके लिये हुआ है। एक मंत्रमें द्यावा-पृथिवीसे प्रार्थना की गई है कि वे गोदमें बैठे व्यक्तिको भूख-प्याससे पीड़ित न होने दें — एप वां द्यावापृथिवी उपस्थे मा क्षुधन्मा तृषत् (अथर्व० २.२९.४) अर्थात् पृथ्वी और आकाशके बीच निवास करनेवाले जगत्का कोई भी प्राणी भूख-प्याससे परेशान न हों। द्यावा-पृथिवीसे पाप-मुक्त करनेकी प्रार्थना की गई है। उन्हें सुचेतस्, सुभोजस्, अपरिमित योजनोंतक विस्तारवाली तथा वसुओंका आगार विवेचित किया गया है — मन्वे वां द्यावापृथिवी सुभोजसौ सचेतसौ ये अप्रथेथाममिता योजनानि। प्रतिष्ठे ह्यभवतं वसुनां ते नो मुञ्चतमंहसः (अथर्व० ४.२६.१)। द्यावापृथिवीके देवत्वको प्रमाणित करते हुए आचार्य शौनक लिखते हैं — द्यावापृथिव्यौ द्वे च स्यात् स्यांनेत्यृक् पार्थिवी स्मृता (बृह० ३.९३)।

५८. द्यौ (३.२५) — वैदिक देवोंमें द्यौका देवत्व प्रख्यात है। ऋग्वेद तथा अथर्ववेदमें इन्हें पर्याप्त प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है। ऋग्वेदमें द्यौका उल्लेख प्रायः ५०० बार हुआ है। अधिकांशतः इस शब्दका प्रयोग स्थूल आकाशके अर्थमें हुआ है। कभी कभी दिनके अर्थमें भी इसका उल्लेख मिलता है।

पृथ्वीको मातृ-स्वरूप माना गया है तथा द्यौको पिता-स्वरूप मान्यता प्रदान की गई है — मधु द्यौरस्तु नः पिता (ऋ० १.९०.७)। ऋग्वेदमें पृथ्वी माता के साथ उनके पितृत्वका प्रायः १५ बार उल्लेख मिलता है — द्यौ३ष्पितः पृथिविमातरध्रुक्......(ऋ० ६.५१.५)। अथर्व०में द्यौके लिये दिव शब्दका भी प्रयोग हुआ है। द्यौ अथवा दिवको विश्ववेदस् अर्थात् सर्वज्ञाता मानकर उन्हें नमन किया गया है — दिवे च विश्ववेदसे पृथिव्यै चाकरं नमः (अथर्व० १.३२.४)। द्यौके पितृत्वका अथर्ववेदमें भी कईबार उल्लेख हुआ है — द्यौष्ट्वा पिता पृथिवी माता जरामृत्युं कृणुतां संविदाने (अथर्व० २.२८.४)। अन्य देवताओंके साथ द्यौसे भी रक्षा-हेतु प्रार्थना निर्दिष्ट है — ....अपांपात् सिन्धवः सप्त पातन पातु नो विष्णुरुत द्यौः (अथर्व० ६.३.१)। द्यौ सबको सुख-सम्पन्न बनाते तथा मृत्युके बन्धनसे छुटकारा प्रदान करते हैं — उत् त्वा द्यौरुत् .... मृत्योरोषधयः सोमराज्ञीरपीपरन् (अथर्व० ८.१.१७)।

५९. द्यौष्पिता (६.४.३) — द्र० द्यौ।

६०. द्रविणोदा (५.३५) — द्र० अग्नि।

६१. धनपति (२.३६.६) — अथर्ववेदीय देवताओंमें धनपतिका देवत्व धनके देवताके रूपमें प्रतिष्ठित है, फिर भी उनकी स्तुति कन्याके द्वारा इच्छित वरको उसके (कन्याके) अनुकूल बनाने, वरको बुलाने और अभिलषित वरको दाम्पत्यके अनुरूप व्यवहार करनेके लिये प्रेरित करने हेतु की गई है — आ क्रन्दय धनपते वरमामनसं कृणु। सर्वं प्रदक्षिणं कृणु यो वरः प्रतिकाम्यः (अथर्व० २.३६.६)। वैसे तो अथर्ववेदमें कुछ अन्य स्थलोंपर धनपति शब्द इन्द्र और राजाके विशेषण-रूपमें प्रयुक्त हुआ है— अस्येन्द्र कुमारस्य क्रिमीन् धनपते जहि (अथर्व० ५.२३.२)। अयमस्तु धनपतिर्धनानामयं विशां विश्पतिरस्तु राजा (अथर्व० ४.२२.३); किन्तु शांखायन श्रौत सूत्र २.१४में इसे कुबेर का नाम निरूपित किया गया है। विश्रवाका पुत्र होनेके कारण कुबेरको वैश्रवण भी कहते हैं। अथर्व० २.३६.६में धनपति शब्द वैश्रवण (कुबेर)-के लिये ही आया है। आचार्य सायण कहते हैं — हे धनपते वैश्रवण वरम् वरयितारं ......उद्घोषय (अथर्व० २.३६.६ सा०भा०)। पौराणिक

कोशमें वायुदेवको धनपति उपन्यस्त किया गया है।

६२. धन्वन्तरि (२.३) — अथर्ववेदके द्वितीय काण्डका तृतीय सूक्त धन्वन्तरिको समर्पित है। इस सूक्तमें चिकित्सा या ओषधि सम्बन्धी मंत्र होनेके कारण इसे भैषज्य सूक्त भी कहते हैं। एक मंत्रमें आस्राव-ओषधिकी स्तुति इन शब्दोंमें की गई है — तदास्रावस्य भेषजं तदु रोगमनीनशत् (अथर्व० २.३.३)। धन्वन्तरिको आयुर्वेदका प्रवर्त्तक कहते हैं। मत्स्य-पुराण ४७.३० के अनुसार धन्वन्तरिको विष्णु भगवान्का तेरहवाँ अवतार विवेचित किया गया है। जो दीर्घतमा या दीर्घतपाके पुत्र तथा केतुमान्के पिता थे। इन्हें देवताओंका वैद्य निरूपित किया गया है, जो समुद्र-मंथनके समय १४ (चौदह) रत्नोंके साथ समुद्रसे प्रकट हुए थे। भाव-प्रकाशके अनुसार इन्हें इन्द्र-द्वारा आयुर्वेदका शिक्षण देकर लोककल्याण-हेतु धरित्रीपर भेजा गया था। अथर्ववेदीय बृहत्सर्वानुक्रमणीमें धन्वन्तरिका देवत्व इन शब्दोंमें प्रमाणित किया गया है — 'अदो यत्' इति भैषज्यायुर्धन्वन्तरिदैवतं ....(बृह०सर्वा० २.३)।

६३. धाता (३.८.२) — धाता देवता त्वष्टाके निकटस्थ देव निर्दिष्ट हैं। वे दोनों कई कार्य साथ साथ सम्पन्न करते हैं। त्वष्टा यदि किसी कन्याके लिये 'वहतु'-की व्यवस्था करते हैं, तो धाता उसे सुयोग्य और अनुकूल वर (पति)-की प्राप्ति कराते हैं — धातुर्देवस्य सत्येन कृणोमि पतिवेदनम् (अथर्व० २.३६.२)। त्वष्टाके साथ धाताको भी हविष् अर्पित की जाती है। वे त्वष्टाके सहभोक्ता हैं — धाता रातिः सवितेदं.......मेवचः। हुवे देवीमदितिं ....यथासानि (अथर्व० ३.८.२)। धारण-स्थापनकी सामर्थ्यके कारण उन्हें धाता संज्ञासे अलंकृत किया गया है। वे गर्भ-धारणमें विशेष सहायता करते हैं। उन्हें स्त्रीके गर्भाशयमें पुत्रको दशम मासमें प्रसवार्थ स्थापित करनेवाला भी निरूपित किया गया है — धातः श्रेष्ठेन रूपेणास्या नार्या गवीन्योः। पुमांसं पुत्रमा धेहि दशमे मासि सूतवे (अथर्व० ५.२५.१०)। धाता, विधाता और समृद्धका नाम प्रायः एक साथ आता है। विधाताको निर्माताका, धाताको धारण (स्थित)-का तथा समृद्धको समृद्धिका देवता उपन्यस्त किया गया है — धात्रे विधात्रे समृधे भूतस्य पतये यजे (अथर्व० ३.१०.१०)। एक अन्य मंत्रमें धाताको प्रजापति और

पुष्टिपतिके साथ भी विवेचित किया गया है। प्रजापतिको प्रजनन, धाताको धारण तथा पुष्टिपतिको पोषणकर्त्ता निरूपित किया गया है। ये तीनों देव एक मूलसे समुत्पन्न, समान ज्ञानवाले तथा समान विचार और इच्छावाले हैं—प्रजापतिजर्नयति प्रजा इमा धाता दधातु सुमनस्यमानः। संजानानाः संमनसः सयोनयो मयि पुष्टं पुष्टपतिर्दधातु (अथर्व० ७.२१.१)। धाता देवता पृथ्वी और द्यौको उचित स्थानपर धारण करते हैं तथा पतिकामा स्त्रीको उसका प्रेम-पात्र प्रदान करते हैं—धाता दाधार पृथिवी धाता द्यामुत सूर्यम्।...प्रतिकाम्यम् (अथर्व० ६.६०.३)।

६४. धेनु (३.१०.१)— द्र० एकाष्टका।

६५. निर्ऋति (२.१०.४-८)— ऋग्वेद और अथर्ववेदमें निर्ऋतिका देवत्व प्राप्त होता है। निर्ऋति शब्द विनाश, विलय, दुर्भाग्य, रोग, विपत्ति आदि अर्थोंमें प्रयुक्त हुआ है। उन्हें मृत्युके समान माना गया है। बृहद्देवतामें एक स्थानपर निर्ऋतिको मृत्युके समतुल्य विवेचित किया गया है—ऋक् सौम्या निर्ऋती चैषा........परे (बृह० ७.९२)। अथर्ववेदके एक मंत्रमें एक रोगाक्रान्त पुरुषके सन्दर्भमें कहा गया है कि चाहे उसकी आयु पूरी हो चुकी हो अथवा वह इस लोकसे प्रयाण कर मृत्युके निकट जा चुका हो, मैं उसे निर्ऋतिके पाससे भी वापस ले आऊँगा—यदिक्षितायुर्यदि वा परेतो यदि मृत्योरन्तिकं नीत एव।........ निर्ऋतेरुपस्थादस्पाशमिनं शतशारदाय (अथर्व० ३.११.२)। निर्ऋतिको पापदेवता वर्णित किया गया है, जो अराति और मृत्युसे घनिष्टतापूर्वक सम्बद्ध है। निरुक्तमें भी निर्ऋतिको पाप-देवता निरूपित किया गया है—निर्ऋत्याः पाप देवताया (नि० १.१७)। निरुक्तमें ही एक स्थलपर निर्ऋतिकी व्युत्पत्ति पृथ्वीके अर्थमें दी गई है—तत्र निर्ऋतिर्निरमणात् (नि० २.७)। अर्थात् जिसपर प्राणी प्रसन्नतापूर्वक रमण करते हैं, वह निर्ऋति अर्थात् पृथ्वी है। अथर्ववेदमें पाप-देवताके रूपमें निर्ऋतिका देवत्व विवेचित है।

६६. पराशर (६.६५)— पराशरका देवत्व ६.३५में निर्दिष्ट है। वैसे तो पराशर शक्तिके पुत्र और ऋषि वसिष्ठके पौत्र वर्णित हैं। निरुक्तकार यास्कने भी यह तथ्य प्रमाणित किया है—........पराशरः ऋषिर्वसिष्ठस्य नप्ता शक्तेः पुत्र एव (नि० ६.३०); किन्तु कुछ स्थानोंपर पराशर शब्द

इन्द्रके विशेषण-रूपमें प्रयुक्त हुआ है। आचार्य सायणने पराशर शब्दकी व्याख्या इस प्रकार की है — हे पराशर परागत्य शृणाति हिनस्ति शत्रून् इति पराशर इन्द्रः (अथर्व० ६.६५.१ सा०भा०) अर्थात् शत्रुओंको परास्त करके उन्हें नष्ट कर देनेवालेको पराशर कहते हैं। ये गुण इन्द्रमें हैं, अतः वे भी पराशर हैं। निरुक्तमें एक अन्य स्थलपर पराशरकी दूसरी व्याख्या इन शब्दोंमें विवेचित है — इन्द्रोऽपि पराशर उच्यते। परा शातयिता यातूनाम्। ....परा परितः यातूनां ....रक्षसाम्। .... शातयिता विनाशकः (नि० ६.३०) अर्थात् जो चारों ओर से राक्षसोंका विनाश करनेमें समर्थ हो, वह पराशर है। इसी गुणके कारण यहाँ इन्द्रको भी पराशर निरूपित किया गया है। अथर्ववेदके इस मंत्रमें पराशर (इन्द्र)-से प्रार्थना की गई है कि वे शत्रुको नष्ट करें — अव मन्युरवायताव ....। पराशरत्वं तेषां पराञ्चं शुष्ममर्दयाधा नो रयिमा कृधि (अथर्व० ६.६५.१)।

६७. पर्जन्य (६.४.१) — पर्जन्यका देवत्व ऋग्वेद, सामवेद और अथर्ववेदमें भी दृष्टिगोचर होता है। देवताओंके विभक्तीकरणमें इन्हें वायवीय देवताके रूपमें प्रतिष्ठा प्राप्त है। देवता प्रायः तीन भागोंमें विभक्त हैं — पार्थिव, वायवीय और स्वर्गीय। इन्हें प्रायः जल बरसानेवाले देवताके रूपमें जाना जाता है; किन्तु ये जलके साथ प्राण-तत्त्वका भी वर्षण करते हैं, जिससे धरतीकी उर्वरा-शक्तिमें वृद्धि होती है, वनस्पतियाँ पोषित होती हैं तथा प्राण-शक्ति सम्पन्न बनती है — समुत्पतन्तु प्रदिशो नभस्वतीः समभ्राणि वातजूतानि यन्तु (अथर्व० ४.१५.१)। अथर्ववेदके एक अन्य मंत्रमें पर्जन्यको शरोंका पिता (उत्पादक) तथा समूची सृष्टिके जड-जङ्गम पदार्थोंका उत्पादन एवं पोषण करनेवाला निरूपित किया गया है — विद्या शरस्य पितरं पर्जन्यं भूरिधायसम् (अथर्व० १.२.१)। पर्जन्यको शरों (बाणों)-का पिता इसलिये कहा गया है कि बाण शरकण्डोंसे ही बनते हैं और शरकण्डे वर्षाकालमें ही वर्द्धित होते हैं। इषु (बाण)-को ऋग्वेदमें 'पर्जन्यरेतस्' कहा गया है — इदं पर्जन्यरेतस इष्वै देव्यै बृहन्नमः (ऋ० ६.७५.१५)। पर्जन्यको पृथ्वीका वृषभ (गर्भाधायक) भी उपन्यस्त किया गया है — पर्जन्यवाता वृषभा पृथिव्याः (ऋ० ६.४९.६)। पर्जन्यका मण्डूकों (मेढकों)-से घनिष्ठ सम्बन्ध है, जो मेढक पूरे वर्ष पृथ्वीके गर्भमें

शयन करते हैं, वे पर्जन्यागमनसे प्रसन्न होकर पर्जन्यको प्रसन्नता प्रदान करनेवाली वाणीमें बोलते हैं – .... वाचं पर्जन्यजिन्वितां प्र मण्डूका अवादिषुः (अथर्व० ४.१५.१३)। पर्जन्यका सम्बन्ध अग्नि, मरुत्, वात और इन्द्रके साथ भी निर्दिष्ट है – वाचं सुमित्रावरुणा विरावतीं पर्जन्यश्चित्रां वदति त्विषीमतीम् (ऋ० ५.६३.६)। ऋग्वेदमें पर्जन्य शब्द मेघका विशेषण है। बृहद्देवतामें पर्जन्यका देवत्व प्रमाणित करते हुए लिखा है – वातेनैव च पर्जन्यो लक्ष्यतेऽन्यत्र वै क्वचित् (बृह० २.५)।

६८. पवमान (६.१९.१-२) – पवमान वस्तुतः एक विशेषण है जो 'पवित्रकारक'-के अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। यह विशेषण कुछ स्थलोंपर तो स्वयं उसी देवता का वाचक बन गया है जिसके लिये प्रयुक्त किया गया है। जैसे – ऋग्वेदमें पार्थिव अग्निको पवमान कहा गया है। दिव्य प्रवहमान सोम भी पवित्रकारक होनेसे 'पवमान'-के रूपमें प्रख्यात है। पवमान सोम द्युलोक और अन्तरिक्षसे पृथ्वीकी ओर प्रवाहित होता है – पवमाना दिवस्पर्यन्तरिक्षादसृक्षत। पृथिव्या अधि सानवि (ऋ० ९.६३.२७)। पावन करनेवाले वायुको भी पवमान संज्ञा प्रदान की गई है। आचार्य सायण इस तथ्यका प्रतिपादन करते हुए लिखते हैं – हरितः दिशः पवमानः वायुः आविवेश आविष्टः (ऋ० ८.१०१.१४ सा०भा०)। जैमिनीय ब्राह्मणमें तो अग्नि, वायुके साथ आदित्यको भी पवमान उपन्यस्त किया गया है – त्रयो ह्वा एते समुद्रा यत् पवमानाः। अग्निर्वायुरसावादित्यः (जैमि०ब्रा० १.२७४)। पवित्र करनेवाला होनेसे प्राणको भी पवमान कहा गया है – प्रजा वै हरितः। ता अयं प्राणः पवमान आविष्टः (जैमि०ब्रा० २.२२९)।

६९. पशुपति (२.३४.१) – पशुपतिका देवत्व अथर्ववेदमें प्रतिष्ठित है। इन्हें संसारके समस्त द्विपदों और चतुष्पदों (दो पैर वाले और चार पैर वाले पशु-पक्षियों)-का स्वामी विवेचित किया गया है। एक मंत्रमें भव और शर्वको पशुपति कहा गया है, इसी कारण उनसे प्रार्थना की गई है कि वे द्विपदों और चतुष्पदोंसे होनेवाले कष्टसे हमारी रक्षा करें – भवाशर्वौ मृडतं माभि यातं भूतपती पशुपती नमो वाम्। प्रतिहितामायतां मा वि स्राष्टं मा नो हिंसिष्टं द्विपदो मो चतुष्पदः (अथर्व० ११.२.१)। एक अन्य मंत्रमें पशुपतिसे विनती की गई है कि श्वान, गृध, शृगाल आदि मांसभक्षी

पशु हमारे शरीरको न खाएँ — शुने क्रोष्ट्रे मा शरीराणि .... च कृष्णा अविष्यवः (अथर्व० ११.२)। पशुपति कष्ट देनेवाले शृगालों, श्वानों एवं विकेशी पिशाचियोंसे प्रार्थीकी रक्षा करते हैं — .... स नो मृड पशुपते नमस्ते परः क्रोष्टारो अभिभाः श्वानः परो यन्त्वघरुदो विकेश्यः (अथर्व० ११.२.११)। अथर्ववेदके ही एक मंत्रमें जहाँ भव और शर्वको पशुपति विवेचित किया है, वहीं रुद्रको भी पशुपति कहा है। उनके बाण सर्वविदित हैं, जो स्तोताके लिये कल्याणकारी (शिव) होते हैं — भवाशर्वाविदं ब्रूमो रुद्रं पशुपतिश्च यः। इषूर्या एषां संविद्म ता नः सन्तु सदा शिवाः (अथर्व० ११.६.९)।

७०. पाप्महा (३.३१) — वैदिक देवोंमें 'पाप्महा'-का देवत्व भी स्वीकार किया गया है। यद्यपि इनका व्यक्तित्व स्पष्टतः प्रकाशित नहीं होता, तथापि अथर्ववेदके कुछ मंत्रोंमें पापसे बचानेवाले या पापको नष्ट करनेवाले देवताके रूपमें इनकी स्तुति की गई है। इस मंत्रमें उपनयनके उपरान्त बालकको पापसे बचाने तथा यक्ष्मारोगसे दूर रखनेकी प्रार्थना की गई है — ....व्य१ हं सर्वेण पाप्मना वियक्ष्मेण समायुषा (अथर्व० ३.३१.१)। बृहत्सर्वानुक्रमणीकारने इनके देवत्वको प्रमाणित करते हुए लिखा है — 'वि देवाः' इत्येकादशर्चं पाप्महदेवत्यमानुष्टुभम्।............ देवान् पाप्मघ्नानस्तौत् (बृह०सर्वा० ३.३१)। पापके अधिष्ठाता देवताका एक नाम पाप्मा या पाप्मन् भी है। अथर्व०के छठे काण्डके २६वें सूक्तमें उनसे प्रार्थना की गई है कि वे (पाप्मा) हमें छोड़ दें, हमें शान्तिसे रहने दें और हमें कष्टमुक्त करके भद्रलोकमें स्थान दें — अव मा पाप्मान्त्सृज वशी सन् मृडयासि नः। आ मा भद्रस्य लोके पाप्मान् धेह्यविह्रुतम् (अथर्व० ६.२६.१)। बृहत्सर्वानुक्रमणीमें भी इनके देवत्वको प्रमाणित किया गया है — अव मा पाप्मन् इति पाप्मदेवताकमानुष्टुभम् (बृह०सर्वा० ६.२६)।

७१. पाप्मा (६.२६) — द्र० पाप्महा।

७२. पितर अङ्गिरस (२.१२.४) — द्र० पितरगण।

७३. पितरगण (३.२७.२) — उच्च स्थानीय स्वर्गके निवासी पुण्यात्मा मृतक पितर या पितृगण कहलाते हैं। सृष्टिमें विभिन्न योनि-वर्ग हैं। जैसे-देव, पितर, मनुष्य, गन्धर्व और अप्सराएँ। इनमें पितरोंका स्थान देवोंके उपरान्त ही आता है — देवाः पितरो मनुष्या गन्धर्वाप्सरसश्च ये (अथर्व०

१०.९.९)। पितरोंको यज्ञोंमें आमंत्रित किया जाता है, वे आकर वेदीके दक्षिण भागमें बर्हिपर घुटने मोड़कर बैठते हैं और हविष्को ग्रहण करके आह्वाताकी भूलोंको क्षमा करके उसकी रक्षा करते हैं — आच्या जानु दक्षिण तो निषद्येदं नो हविरभि गृणन्तु विश्वे। मा हिंसिष्ट पितरः केन चिन्नो यद् व आगः पुरुषता कराम (अथर्व० १८.१.५२)। पितृगणोंकी अनेक जातियाँ हैं, जैसे — पितर, अङ्गिरस् पितर, अथर्वन् पितर आदि। अङ्गिरसो नः पितरो नवग्वा अथर्वाणो भृगवः सोम्यासः (अथर्व० १८.१.५८)। इसी प्रकार इनकी कई कोटियाँ भी हैं, जैसे— अवर, पर, मध्यम, पूर्व और अपर — उदीरतामवर उत्परास उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः (अथर्व० १८.१.४४)। यम मृतकोंमें सर्वप्रथम थे, जो विवस्वान्के पुत्र थे। मृत्युके उपरान्त सभी वहीं जाते हैं, वहीं प्रेत और पितर मिलते हैं। पितृगणोंका भोज्य हविष् 'स्वाहा'-से भिन्न 'स्वधा' शब्दसे अर्पित किया जाता है — यांश्च देवा वावृधुर्ये.........स्वधयान्ये मदन्ति (ऋ० १०.१४.३)। पितरोंसे प्रार्थना की गई है कि वे अपने वंशजोंको अपने प्रति किए गए अपराधोंके लिये दण्ड न दें और न क्षति ही पहुँचाएँ। बृहद्देवतामें भी इनके देवत्वका उल्लेख है — संस्कार्यप्रेत संयुक्तैः पितृभिः स्तूयते यम (बृह० ६.१५८)।

७४. पितर सौम्य (२.१२.५) — द्र० पितरगण।

७५. पुरुष (१०.२) — पुरुषका देवत्व चारों वेदोंमें प्रतिष्ठित है। ऋग्वेदमें एक सम्पूर्ण सूक्त (ऋ० १०.९०) पुरुषको समर्पित है। यही सूक्त मंत्रोंके क्रमान्तरसे यजुर्वेद एवं अथर्ववेदमें भी सम्प्राप्य है। शतपथ ब्राह्मणके अनुसार पुरुष शब्दकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है — पुरि शेते तस्मात्पुरुषः अर्थात् जो इस शरीरमें शयन करता है, वह पुरुष है। पुरुषके सन्दर्भमें कहा गया है कि विश्वमें जो कुछ उत्पन्न हुआ है और आगे उत्पन्न होगा, वह सब पुरुष ही है — पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम् (अथर्व० १९.६.४)। उस पुरुषके विराट् स्वरूपके विषयमें उल्लेख है कि उसके हज़ारों सिर, हज़ारों आँखें, हज़ारों हाथ तथा हज़ारों पैर हैं, वह भूमि तथा (इसके अतिरिक्त) और जो कुछ भी है, सबको आवृत्त किए हुए है— सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्। स भूमिं विश्वतो वृत्वा ऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम (ऋ० १०.९०.१)। विराट् पुरुषके शरीरसे ही

चतुर्वर्णोंकी उत्पत्ति हुई है, जो इन शब्दोंमें विवेचित है — ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्योऽभवत्। मध्यं तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत (अथर्व० १९.६.६)। इस प्रकार वह सृष्टिके मूलमें अवस्थित मूलतत्त्वके अतिरेकी और अन्तर्यामी स्वरूपका द्योतक है। उसका यही स्वरूप सर्वेश्वरवादके नामसे प्रख्यात है।

७६. पुष्टिपति (७.२०) — द्र० धाता।

७७. पूषा (३.१४.२) — पूषा देवताकी गणना महत्त्वपूर्ण देवताओंमें की जाती है। इनका देवत्व चारों वेदोंमें दृष्टिगोचर होता है। पूषन् शब्द संस्कृतकी पुष् धातुसे निष्पन्न है, जिसका अर्थ 'पोषक' अथवा 'पुष्ट करनेवाला' है। ऋग्वेदमें पूषा देवता 'सूर्यकी मानव पुष्टिप्रदात्री' तथा मानव 'कल्याणकारी शक्ति'-के प्रतीक-रूपमें विवेचित है। निरुक्तकार यास्कने 'पूषा'-की व्याख्या करते हुए लिखा है — 'अथ यद्रश्मिपोषं पुष्यति तत्पूषा भवति (नि० १२.१६)' अर्थात् जो पोषण-हेतु रश्मियों (किरणोंको पोषकत्वसे भर देता है, वह पूषा है। यजुर्वेदमें पूषा देवताको सविता (सूर्यके प्राण)-की प्रेरणासे ही विचरण करनेवाला विवेचित किया गया है — तस्य पूषा प्रसवे याति विद्वान् (यजु० १७.५८)। अथर्ववेदके एम मंत्रमें कहा गया है कि सविता ही जब जाता है (चलता है), तो वही पूषा कहलाता है। वे प्राणियोंको दीर्घायु एवं वर्चस् प्रदान करते हैं — पूष्णः पोषेण मह्यं दीर्घायुत्वाय शतशारदाय शतं शरद्भ्यः आयुषे वर्चसे (तैत्ति०ब्रा० १.२.१.१९)। वैवाहिक प्रसंगमें भी पूषा देवताका स्मरण कई बार किया गया है। पूषा देवता धाता, सविता और मरुद्गणोंके साथ वरको शक्ति प्रदान करते हैं — अस्मै वः पूषा मरुतश्च सर्वे अस्मै वो धाता सविता सुवाति (अथर्व० १४.१.३३)। विवाहोपरान्त भी दम्पतीके यौन सम्बन्धोंको सार्थक बनानेमें भी पूषा-द्वारा सहायता किया जाना उपन्यस्त है — तां पूषं छिवतमामेरयस्व यस्यां बीजं मनुष्या ३ वपन्ति (अथर्व० १४.२.३८)। प्रसव कर्ममें सहायताके लिये भी अर्यमा, वेधा और पूषासे प्रार्थना की गई है — वषट् ते पूषान्नस्मिन्त्सूतावर्यमा होता कृणोतु वेधाः (अथर्व० १.११.१)। पूषा दन्तहीन हैं तथा उन्हें करम्भ (पुआ) अधिक रुचिकर हैं, यह वर्णन कौषीतकि ब्राह्मणमें मिलता है — तस्य (पूष्णः) दन्तान्परोवाप तस्मादाहुरदन्तकः पूषा करम्भ भाग इति

(कौषी०ब्रा० ६.१२)। पूषा देवताका नाम कई प्रमुख देवोंके साथ मिलता है। ये देव हैं – इन्द्र, वरुण, मित्र, अग्नि, आदित्य, विश्वेदेवा, अर्यमा, वेधा, बृहस्पति, मित्रावरुण, अश्विनीकुमार, भग, ब्रह्मणस्पति, सोम, रुद्र आदि।

७८. पृथिवी (६.१७) – वैदिक ग्रन्थोंमें पृथ्वीको माताके रूपमें स्वीकार किया गया है। पृथ्वीका नामोल्लेख द्यौ या द्यावाके साथ अधिक मिलता है। पृथ्वी और आकाशको जगत्का माता-पिता निरूपित किया गया है– भूमिर्मातादितिर्नो जनित्रं भ्रातान्तरिक्षमभिशस्त्या नः। द्यौर्नः पिता पित्र्याच्छं भवाति...............लोकात् (अथर्व० ६.१२०.२)। अथर्ववेदके ही एक अन्य मंत्रमें पर्जन्यको पति और धरती (भूमि)-को उनकी पत्नी उपन्यस्त किया गया है – भूम्यै पर्जन्यपत्न्यै नमोऽस्तु वर्षमेदसे (अथर्व० १२.१.४२)। इसी सूक्तके बारहवें मंत्रमें सभी प्राणियोंको पुत्र तथा पर्जन्यको पिता और पृथ्वीको माता विवेचित किया गया है – .... माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः। पर्जन्यः पिता स उ नः पिपर्तु (अथर्व० १२.१.१२)। पृथ्वी शब्दकी व्युत्पत्ति संस्कृतकी प्रथ् धातुसे हुई है, जिसका अर्थ फैलना (विस्तार होना) है। इस प्रकार पृथ्वी शब्दका अर्थ हुआ – 'विस्तृत आकारवाली।' निरुक्तकार यास्क मुनिने इस तथ्यकी पुष्टि करते हुए पृथ्वीकी व्युत्पत्ति इन शब्दोंमें विवेचित की है – प्रथनात्पृथिवीत्याहुः .... प्रथनात्पृथुत्वात्पृथिवीत्याहुते शाकटायनाः (नि० १.१३)। ऋग्वेदके एक मंत्रमें उल्लेख है कि इन्द्रदेवने पृथ्वीका प्रथन किया (पप्रथत्), उस मंत्रसे पृथ्वीके इस अर्थकी संगति ठीक-ठाक बैठ जाती है – स धारयत् पृथिवीं पप्रथंच्च सोमस्य ता मद इन्द्रश्चकार (ऋ० २.१५.२)। पृथ्वीमाता पर्वतोंका भार धारण करनेवाली, वन्य ओषधियोंकी धारणकर्त्री, भूमिको उर्वरता प्रदान करनेवाली तथा जल बरसानेवाली हैं – बळित्था पर्वतानां खिद्रं बिभर्षि पृथिवि। प्र या भूमिं प्रवत्वति मह्ना जिनोषि महिनि (ऋ० ५.८४.१)। पृथ्वीका आधार सत्य, ऋतं, दीक्षा, तप, ब्रह्म और यज्ञ है। इन्हींके सहारे वे टिकी रहकर हमारा हर प्रकारसे संरक्षण करती हैं – सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति। सा नो भूतस्य........ पृथिवी नः कृणोतु (अथर्व० १२.१.१)।

७९. पौर्णमासी (७.८५.१-२, ४) — 'यस्य वाक्यं स ऋषिः। या तेनोच्यते सा देवता (ऋ० १०.१० सा०भा०)' सूत्रके अनुसार पौर्णमासीको भी देवत्व प्रदान किया गया है। जिस तिथिकी रात्रिको चन्द्रमा पूर्णरूपेण प्रकाशित होता है, उसे पौर्णमासी या पूर्णमासी कहते हैं। इस दिन यज्ञादि धर्मकृत्य सम्पन्न करनेसे देवोंके साथ निवास करनेका पुण्य प्राप्त होता है और उपयोगी सामग्री-सहित स्वर्गके पृष्ठपर आनन्दित होनेका सौभाग्य हस्तगत होता है — पूर्णा ....पौर्णमासी जिगाय। तस्यां देवैः संवसन्तो महित्वा नाकस्य पृष्ठे समिषा मदेव (अथर्व० ७.८५.१)। पूर्णिमा या पौर्णमासीकी अधिष्ठात्री देवी राका हैं, जो उत्तम ऐश्वर्य-प्रदात्री, पुष्टिकर्त्री तथा श्रेष्ठ सन्तति प्रदान करनेवाली हैं। आचार्य सायणने भी पौर्णमासीकी अधिष्ठात्री देवीके रूपमें 'राका'-का उल्लेख इन शब्दोंमें किया है — संपूर्णचन्द्रा पौर्णमासी राका (ऋ० २.३२.४ सा०भा०)। विभिन्न यागोंमें पौर्णमास याग बहुत महत्त्वपूर्ण है और यह याग पौर्णमासीको ही सम्पन्न होता है — पौर्णमासी प्रथमा यज्ञियासीदह्नां रात्रीणामतिशर्वरिषु (अथर्व० ७.८५.४)।

८०. प्रचेता अग्नि (४.२३) — द्र० अग्नि।

८१. प्रजापति (६.११.३) — प्रजापतिका देवत्व चारों वेदोंमें दृष्टिगोचर होता है। प्रजापति 'क' नामसे भी प्रख्यात हैं। सायणाचार्यने 'क'-का अर्थ सुख लिया है। सुखमय होनेके कारण ही प्रजापतिको 'क'-की संज्ञा प्रदान की गई है; इसीलिये 'कस्मै' शब्दसे 'प्रजापतिके लिये' अर्थ लिया जाता है। 'क' वर्णसे वाच्य होनेके कारण प्रजापतिको वाच्य प्रजापति भी कहतेहैं। इसके अतिरिक्त कुछ स्थानोंपर प्रजापतिके साथ परमेष्ठी और वैश्वामित्र विशेषण भी संयुक्त हुए हैं। प्रजापतिका उल्लेख प्रायः सम्पूर्ण जीवोंके रचयिता अथवा ब्रह्मा, प्रजापालक, सविता या अग्निके रूपमें हुआ है। ऋग्वेदमें उल्लेख है — प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वाजातानि परि ता बभूव (ऋ० १०.१२१.१०)। प्रजापति आदिदेवके रूपमें भी स्वीकृत हैं। उन्हें सर्व प्रथमोद्भूत जगत्स्वामी तथा पृथ्वी और आकाशका धारणकर्त्ता निरूपित किया गया है। ऋग्वेदके हिरण्यगर्भ सूक्तमें उन्हें हिरण्यगर्भके प्रतिरूप ही विवेचित किया गया है — हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्। स दाधार पृथिवीं

द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम (ऋ० १०.१२१.१)। शतपथ ब्राह्मणमें प्रजापति का आदिकालमें एकाकी होना निर्दिष्ट है – प्रजापति र्ह वाऽददमग्रऽएक एवाऽस (शत०ब्रा० २.२.४.१)। प्रजापति ही प्रथम यज्ञकर्त्ता भी थे – प्रजापति र्ह वा ऽ एतेनाग्रे यज्ञेनेजे (शत०ब्रा० २.४.४.१)। आचार्य सायणने प्रजापतिको ब्रह्मा विवेचित करते हुए लिखा है – ब्रह्माणम् एषां देवानां स्रष्टारं प्रजापतिम् (अथर्व० ३.२०.४ सा०भा०)। प्रजापति नष्टवीर्य पुरुषमें पुरुषत्व जाग्रत् कर देते हैं, उन्हें वृषा कहा गया है, वे अपनी शक्तिसे पुरुषकी प्रजनन-शक्तिमें वृद्धि कर देते हैं – उदेजतु प्रजापतिर्वृषा शुष्मेण वाजिना (अथर्व० ४.४.२)।

८२. प्राण (२.१५-१७) – प्राणको भी देवताके रूपमें मान्यता प्रदान की गई है। अथर्ववेदके द्वितीय काण्डके (१५-१७) तीन सम्पूर्ण सूक्त प्राणको ही समर्पित हैं। प्राणको सभीका ईश्वर विवेचित करते हुए यह भी कहा गया है कि सभी कुछ उसी (प्राण)-में प्रतिष्ठित है, अतः वह नमन करने-योग्य है – प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे। यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्त्सर्वं प्रतिष्ठितम् (अथर्व० ११.६.१)। प्राणकी स्थिति विवेचित करते हुए ऋषिने लिखा है कि आते हुए, जाते हुए, स्थिर, आसीन होते हुए, संचरण करते हुए, पराचीन और प्रतीचीन जिस रूपमें भी हो, प्राण नमनीय है – नमस्ते अस्त्वायते नमो अस्तु परायते .... नमः। नमस्ते प्राण प्राणते नमो अस्त्वपानते। परार्चीनाय........ त इदं नमः (अथर्व० ११.६.७-८)। प्राणका सामर्थ्य निरूपित करते हुए द्रष्टाने यह भी कहा है कि जो श्वास लेते दीखते हैं, उनके ही नहीं, जो श्वास लेते प्रत्यक्षतः नहीं दीखते, उनके भी स्वामी प्राण-देवता हैं। जिस तरह पिता अपने पुत्रको संरक्षण प्रदान करता है, वैसे ही प्राणदेव सभी प्रजाओंको ढँके (आच्छादित किए) हैं – प्राणः प्रजा अनुस्वते पिता पुत्रमिव प्रियम्। प्राणो हि सर्वस्येश्वरो यच्च प्राणति यच्च न (अथर्व० ११.६.१०)। गर्भमें भी प्राण अपना काम करते रहकर गर्भको पुष्ट कर देता है, तदुपरान्त वह प्राणीके रूपमें उत्पन्न हो जाता है – अपानति प्राणति पुरुषो गर्भे अन्तरा। यदा त्वं प्राण जिन्वस्यथ स जायते पुनः (अथर्व० ११.६.१४)। कोश-ग्रन्थोंमें प्राणके कई प्रकार वर्णित हैं। ये हैं – प्राण, अपान, उदान, व्यान और समान। शरीरके अन्दर स्थित भेदसे इनके कार्य भी अलग अलग हैं।

८३. बृहस्पति (६.३८) — वेदोंमें बृहस्पति प्रमुख देवके रूपमें प्रतिष्ठित हैं। उन्हें स्तुति-अधिपति माना गया है, इसी कारण इन्हें कवि-उपाधिसे विभूषित किया गया है — कविं कवीनामुपमश्रवस्तमम् (ऋ० २.२३.१)। इन्हें वाणी और प्रज्ञाके देवताके रूपमें भी प्रतिष्ठा प्राप्त है, साथ ही ये देव-पुरोहित भी हैं — वाग् वै बृहती तस्या एष पतिस्तस्मादु बृहस्पतिः (शत०ब्रा० १४.४.१.२२)। बृहस्पतिर्वै देवानां ब्रह्मा (शत०ब्रा० १.७४.२१)। ऋषियोंके नेतृत्व करनेके कारण इन्हें पुरोधा, ब्रह्म आदि नामोंसे भी संबोधित किया गया है — ब्रह्म वै देवानां बृहस्पति (तैत्ति०सं० २.२.९.१)। अथर्ववेदमें बृहस्पति, अग्नि, वरुण और सोमकी तरह सोमनस्यकारी देवताके रूपमें प्रख्यात हैं। आचार्य सायणने बृहस्पति शब्दकी व्युत्पत्ति इसप्रकार वर्णित की है — बृहस्पतिः बृहतां देवानाम् अधिपतिः (अथर्व० ६.७३.१ सा०भा०) अर्थात् बृहस्पति बड़े बड़े देवोंके अधिपति हैं। उन्हें अष्ट वसुओंके साथ आमंत्रित किया गया है — एह यातु वरुणः सोमो अग्निर्बृहस्पतिर्वसुभिरेह यातु (अथर्व० ६.७३.१)। वे राज्यको स्थिर बनाते हैं — ध्रुवं ते राजा वरुणो ध्रुवं देवो बृहस्पतिः (अथर्व० ६.८८.२)। वे सविता, अर्यमा और मित्र आदि देवताओंकी भाँति शत्रुसे यजमानकी रक्षा करते हैं। वैवाहिक कृत्योंमें भी बृहस्पति संरक्षण व सहयोग प्रदान करते हैं। वस्तुतः बृहस्पति एक कल्याणकारी देवता हैं, जो वन्ध्याको गर्भधारण करानेसे लेकर किसी विपत्तिमें मणि-बन्धन करनेतकके सभी कर्मोंमें सहायता प्रदान करते हैं — गर्भं ते मित्रा वरुणो गर्भं देवो बृहस्पतिः दधातु ते (अथर्व०५.२५.४)।.......... आ त्वा चृतत्वयमा पूषा बृहस्पतिः (अथर्व० ५.२८.१२)। द्युलोक गो-मोचन, बल-हनन, अन्धकार-निराकरण आदि इनके प्रमुख शौर्य-कृत्योंमें गिने जाते हैं। इनका सम्बन्ध मरुद्गणों, इन्द्र, वरुण और पूषाके साथ विवेचित है।

८४. बृहस्पति युक्त अवस्वान् (३.२६.६) — द्र० अप्सरा।

८५. ब्रध्न (७.२३) — द्र० सूर्य।

८६. ब्रह्म (५.६.१) — अथर्ववेदीय देवताओंमें ब्रह्मका देवत्व भी दृष्टिगोचर होता है। ब्रह्म शब्दकी व्याख्या करते हुए निरुक्तार यास्कने लिखा है — 'ब्रह्म परिवृढं सर्वतः' (नि० १.८) अर्थात् जो सर्वत्र व्याप्त है, वह ब्रह्म

है। सम्पूर्ण जगत् ब्रह्मसे ही जन्मा है और उसीमें लय हो जाता है, इसीलिये इस सम्पूर्ण जगत्में जो कुछ है, वह निश्चित ही ब्रह्म है। इस तथ्यकी पुष्टि करते हुए छान्दोग्य उपनिषद्कारने लिखा है – सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत (छांदो० ३.१.४.१)। ब्रह्मके एक स्वरूपको 'विश्वरूप' भी कहते हैं क्योंकि वह सर्वत्र व्याप्त रहता है; किन्तु अथर्ववेदमें 'विश्वरूप' एक राजाके विशेषण-स्वरूप भी प्रयुक्त हुआ है, जिसका प्रधान कारण राजाका, शत्रु, मित्र, कलत्र आदि रूपोंमें विद्यमान होना है। जैसा कि कहा गया है – तादृङ् नामांकितो राजा विश्वरूपः शत्रु मित्रकलत्रादिषु नानाविधरूपः (अथर्व० ४.८.३ सा०भा०)। अथर्ववेदमें भी ब्रह्मको सर्वप्रथमोद्भूत विवेचित किया गया है – ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद् (अथर्व० ५.६.१)। विराट् विश्व ब्रह्माण्डमें संचरित समष्टिगत चेतनाको ब्रह्म कहते हैं और वही चेतना जब व्यष्टिगत होकर प्राणियोंके हृदयक्षेत्रमें संचरित होती है, तब उसे आत्मा कहते हैं। इसी तथ्यको प्रतिपादित करते हुए अथर्ववेदके ऋषिने ब्रह्मात्माका स्वरूप इन शब्दोंमें स्पष्ट किया है – वेनस्तत् पश्यत् परमं गुहां यद् यत्र विश्वं भवत्येकं रूपम् (अथर्व० २.१.१)। आचार्य सायणने इसका भाष्य करते हुए लिखा है – गुहारूपे सर्वप्राणि हृदये यत् श्रुत्यन्तप्रसिद्धं सत्यज्ञानादिलक्षणं परमम् ब्रह्म (अथर्व० २.१.१ सा०भा०)।

८७. **ब्रह्म-आत्मा (२.१)** – द्र० ब्रह्म।

८८. **ब्रह्मगवी (५.१८-१९)** – अथर्ववेदीय देवताओंमें 'ब्रह्मगवी'-को भी देवत्व प्रदान किया है। ब्रह्मगवीका सामान्य अर्थ 'ब्राह्मणकी गाय' होता है; किन्तु विशिष्ट अर्थोंमें इसे 'ब्राह्मणकी सम्पदा' भी कहते हैं। ब्रह्म अर्थात् ब्राह्मण, गवी अर्थात् गो। गो-के कई अर्थ होते हैं, जैसे – गाय, भूमि, इन्द्रियाँ, वाणी तथा किरणें आदि। अथर्ववेदके पाँचवें काण्डके अठारहवें और उन्नीसवें सूक्तमें ब्रह्मगवीका बार बार उल्लेख आया है, जिनमें ऐसे प्रसंग हैं, जिनसे ब्राह्मणकी सामान्य गाय (पशु)-की संगति नहीं बैठती, वरन् उसका अर्थ ब्रह्मवृत्ति एवं ब्रह्मनिष्ठा लेनेसे तात्पर्य ठीक ठीक समझमें आता है। जैसे - ब्रह्मगवी पच्यमाना यावत् साभि विजङ्ग्हे। तेजो राष्ट्रस्य निर्हन्ति .... वृषा (अथर्व० ५.१९.४)। इस मंत्रका

सामान्य अर्थ तो यह है कि जिस राष्ट्रमें ब्राह्मणकी गायका हनन होता है, वह राष्ट्र तेजहीन हो जाता है; किन्तु विशिष्ट अर्थमें यह माना गया है कि जिस राष्ट्रमें ब्रह्मनिष्ठा या ब्रह्मवृत्ति प्रायः समाप्त हो जाती है, वहाँ तेजस्विता समाप्त हो जाती है। एक अन्य मंत्रमें कहा गया है कि ब्राह्मणकी गाय अथवा सम्पत्तिका अपहरण जिस राष्ट्रमें होता है, वहाँ कोई जाग्रत नहीं रह सकता – .... ब्राह्मणस्य गां जगध्वा राष्ट्रे जागार कश्चन (अथर्व० ५.१९.१०)। इसका भावार्थ यह है कि जिस राष्ट्रमें ब्राह्मणकी सम्पत्ति (आदर्शोंके प्रति निष्ठा अथवा लोकसेवी प्रवृत्ति)-का हरण होता है, वहाँ कोई जाग्रत् नहीं रह सकता। उसकी विचित्रताका उल्लेख (अथर्व० ५.१९.७) इस प्रकार हैं – वह गो आठ पाँववाली, चार आँखोंवाली, चार कानोंवाली, चार हनुवाली, दो मुख तथा दो जिह्वावाली होकर ब्राह्मणको सतानेवाले राजाके राष्ट्रको हिला देती है – 'अष्टापदी चतुरक्षी चतुः श्रोत्रा.........धूनुते ब्रह्मज्यस्य।' इसीलिये एक मंत्रमें यह निर्देश है कि कोई राजा ब्राह्मणकी गाय (सम्पत्ति)-को नष्ट न करें – मा ब्राह्मणस्य राजन्य गां जिघत्सो अनाद्याम् (अथर्व० ५.१८.१)। बृहत्सर्वानुक्रमणीमें ब्रह्मगवीका देवत्व इन शब्दोंमें प्रतिपादित है – पञ्चदशके ब्रह्मगवी देवत्ये (बृह०सर्वा० ५.१८.१९)।

८९. ब्रह्मणस्पति (१.२९) – ब्रह्मणस्पतिका देवत्व चारों वेदोंमें दृष्टिगोचर होता है। बृहस्पति और ब्रह्मणस्पति यों तो अलग अलग देवोंके रूपमें प्रतिष्ठित हैं, किन्तु कुछ आचार्योंने इनका तादात्म्य स्वीकाकर किया है– बृहस्पते ब्रह्मणस्पते (तैत्ति०ब्रा० ३.११.४.२)। कौषीतकि ब्राह्मणकारने ब्रह्मको ही ब्रह्मणस्पति माना है – ब्रह्म वै ब्रह्मणस्पतिः (कौषी० ब्रा० ८.५.९.५)। स्तुतिके अधिष्ठाताको ब्रह्मणस्पति कहा गया है – ज्येष्ठराजं ब्रह्मणां ब्रह्मणस्पत आ नः शृण्वन्नूतिभिः सीद सादनम् (ऋ० २.२.३.१)। अथर्ववेदके प्रथम काण्डके २९वें सूक्तमें ब्रह्मणस्पतिसे विनती की गई है कि वे हमें इस प्रकार वृद्धि प्रदान करें कि हम राष्ट्रको समर्थ एवं समृद्ध बना सकें – अभीवर्तेन मणिना........तेनास्मान् ब्रह्मणस्पतेऽभि राष्ट्राय वर्धय (अथर्व० .१.२३.१)। अग्नि, इन्द्र, अश्विनीकुमार, मित्रावरुण, भग, पूषा, सोम और रुद्रके साथ ब्रह्मणस्पतिका भी प्रातःकाल आवाहन किए जानेका उल्लेख मिलता

है– प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे प्रातर्मित्रावरुणा प्रातरश्विना। प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं..........हवामहे (अथर्व० ३.१६.१)। इतना ही नहीं, ब्रह्मणस्पति अपने उपासकोंको अनेक कष्टों, उत्पातों, संकटों, शापों और दुश्मनोंसे भी बचाते हैं। अथर्व०के एक मंत्रमें सर्पदंशके कारण एक व्यक्तिके अंग-अवयवोंके टेढ़े पड़ जानेपर उन्हींके द्वारा सीधे करने व उसे कष्टमुक्त करनेका वर्णन मिलता है – अयं यो वक्रो विपरुर्व्यङ्गो मुखानि वक्रा.......ब्रह्मणस्पत इषीकामिव सं नमः (अथर्व० ७.५८.४)।

९०. ब्रह्मा (३.२०.४) – द्र० प्रजापति।

९१. भग (२.३६.७) – भगका देवत्व ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा अथर्ववेदमें सम्प्राप्य है। इनकी गणना द्वादश आदित्योंमें की गई है। ऋग्वेदके एक प्राचीन मंत्रमें छह आदित्योंका वर्णन मिलता है जिसमें भग भी एक है। बृहद्देवताकार ऋषि शौनकने भगके आदित्य (अदिति-पुत्र) होनेका प्रतिपादन करते हुए बारहों आदित्योंके नाम भी गिनाए हैं –........तत्रैका त्वदितिर्देवी द्वादशजयत्सुतान् (बृह० ५.१४६)। भगश्चैवार्य मांशश्च मित्रो वरुण एव च.......द्वादशो विष्णुरुच्यते।...........वरुणश्च ह (बृह० ५.१४७-४८) शत०ब्रा० (६.३.१.१९)। इनके विषयमें ऐसी परिकल्पना है कि ये नेत्रहीन थे – तस्य (भगस्य) चक्षुः परापतत् तस्मादाहुरन्धो वै भग इति (गो०ब्रा०)। भग शब्दका प्रयोग ऋग्वेद एवं अथर्ववेदमें ऐश्वर्य, कामं, तेजस्विता, सौन्दर्य, प्रणय, समृद्धि तथा नारीकी योनिके अर्थमें प्राप्त होता है। भगको सत्यराध (वास्तविक धनवाला) सबका नेता तथा गो, अश्व और धन-सम्पत्ति प्रदाता कहा गया है – भग प्रणेतर्भग सत्यराधो भगेमां ....गोभिरश्वैर्भग .....स्याम (अथर्व० ३.१६.३)। विवाहादि पुनीत कृत्योंमें भी भग देवता सहायता प्रदान करते हैं। सूर्या विवाहमें भी विवाहोपरान्त वे सूर्याको हाथ पकड़कर उसके पतिगृह ले गए थे तथा पालकीके चारों पाँवोंका निर्माण भी उन्होंने किया था।

९२. भव-शर्व (४.२८) – द्र० पशुपति।

९३. भूमि (४.४०.५) – द्र० पृथिवी।

९४. मन्यु (४.३१.३२) – अथर्ववेदीय देवताओंके क्रममें मानवीय प्रवृत्ति

'मन्यु' (साहस, स्फूर्ति या उत्साह)-को भी देवत्व प्रदान किया गया है। मन्यु क्रोधभिमानी देवता है। प्रारम्भमें मन्यु शब्दका प्रयोग, मनकी अवस्था-विशेष, बादमें स्फूर्ति, उत्साह तथा अन्तमें क्रोधके अर्थमें हुआ है। निरुक्तमें मन्यु अमूर्त देवता-रूपमें उल्लिखित हुए हैं – मन्युर्मन्यतेर्दीप्ति कर्मणः, क्रोध कर्मणो (नि० १०.२९)। मरुद्गण मन्युके साथी हैं। मन्यु अग्नितुल्य प्रदीप्त, शत्रुको पराजित करनेवाले सहनशील हैं, जो आवाहित होकर ओज प्रदर्शित कर शत्रुओंको रणक्षेत्रसे भगा देते हैं – अग्निरिव मन्यो त्विषितः सहस्वः ....मृधो नुदस्व (अथर्व० ४.३१.२)। सामने खड़ी सेना या चुनौती देते हुए शत्रुओं (अथवा अपने आन्तरिक दोष-दुर्गुणों)-का प्रतिरोध करने हेतु प्रथमतः मन्युका उद्दीप्त होना अनिवार्य है, इसीलिये उन्हें देव-स्वरूप माना गया है। वे हर व्यक्तिको अनाचार और अनौचित्यके प्रति युद्ध करनेके लिए उत्तेजित करते हैं। मन्युकी तेजस्विताका वर्णन करते हुए अथर्ववेदके ऋषिने उन्हें इन्द्र, अग्नि, वरुण और होता तक कहा है – मन्युरिन्द्रो मन्युरेवास देवो मन्युर्होता वरुणो जातवेदाः..........सजोषाः (अथर्व० ४.३२.२)।

९५. मरुत्पिता (५.२४.१२) – द्र० मरुद्गण।

९६. मरुद्गण (३.१.२) – वेदोंमें मरुद्गणोंको उच्च प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है। इनका देवत्व सभी वेदोंमें प्राप्त होता है। ये गण देवताके रूपमें प्रख्यात हैं अर्थात् इनकी संख्या गणोंमें है – गणाशो हि मरुतः (ता०म०ब्रा० १९.१४.२)। इनकी संख्या ७ गुणकके रूपमें पाई जाती है। त्रिवै सप्त सप्त मरुतः (काठ०सं० ३७.४)। इनकी संख्याका कोई सुनिश्चित उल्लेख नहीं मिलता, फिर भी परम्परासे इन्हें उन्चास माना जाता है। इनकी माता पृश्नि है – पृशन्या वे मरुतो जाता..........पृथिव्याः (काठ०सं० १०.११)। रुद्रको मरुतोंका पिता विवेचित किया गया है, इसलिये इन्हें (मरुतोंको) कई बार रुद्राः या रुद्रियाः कहा गया है। अथर्ववेदके एक मंत्रमें भी पशुपति अर्थात् रुद्रको मरुतोंके पिता-रूपमें स्वीकार किया गया है – मरुतांपिता पशूनामधिपतिः स.......... (अथर्व० ५.२४.१४)। मरुद्गण वायु और आँधीके देवस्वरूप प्रतिष्ठित हैं। वर्षाके साथ भी मरुद्गण घनिष्ठतापूर्वक सम्बद्ध हैं। वे ही जलको समुद्रसे ऊपर उठाते हैं और फिर अन्तरिक्षसे नीचे पृथ्वीपर गिराते हैं। जल बरसाते

समय वे जोर जोरसे घोष करते हुए पर्जन्यका गुणगान करते हैं — उदीरयत मरुतः समुद्रतस्त्वेषो......पृथिवीं तर्पयन्तु (अथर्व० ४.१५.५)। मरुतों ने वृत्र-वधमें भी इन्द्रकी सहायता की थी।

९७. मित्र (३.८) — द्वादश आदित्योंमें मित्र भी प्रतिष्ठित हैं। इन्हें भी अदिति-पुत्र माना गया है — ....अदितिर्देवी द्वादशजनयत्सुतान्। भगश्चैवार्यमांशश्च मित्रो वरुण एव च। ....महाद्युतिः (बृह० ५.१४६-४७)। 'मित्र' शान्तिके देवताके रूपमें प्रख्यात हैं — मित्रो वै यज्ञस्य शान्तिः (काठ०सं० ३५.१९)। मित्र द्युलोक एवं पृथिवीके धारणकर्त्ता हैं — मित्रो दाधार पृथिवीमुत द्याम् (काठ०सं०२३.१२)। नवोत्पन्न अग्निको 'वरुण' और समिद्ध अग्निको 'मित्र'-की संज्ञा प्रदान की गई है— त्वमग्ने वरुणो जायसे यत् त्वं मित्रो भवसि यत् समिद्ध (ऋ० ५.३.१)। इसीप्रकार रात्रिसे सम्बद्ध देवताको वरुण और प्रातः या प्रकाशसे सम्बद्ध देवको मित्र कहा गया है — वरुणेन सगुब्जितां मित्रः प्रातर्व्युब्जतु (अर्थ० ९.३.१८)। मित्रदेव अपने उपासकोंको जरा, मरण और पापसे बचाते हैं — प्र स मित्र मर्तो अस्तु प्रयस्वान्............व्रतेन। न हन्यते न जीयते त्वोतो नैनमंहो अश्नोत्यन्तितो न दूरात् (ऋ० ३.५९.२)। मित्रका वर्णन प्रायः सूर्यके पर्यायके रूपमें ही मिलता है। स्थिति-भेदसे सूर्य या आदित्यके अनेक नाम हैं, जिनमें मित्र भी हैं, मित्रका सम्बन्ध अनेक देवोंसे है; किन्तु उनका नामोल्लेख सर्वाधिक बार वरुणके साथ हुआ है।

९८. मित्रावरुण (५.२४.५) — द्र० मित्र।

९९. मृत्यु (६.१३) — अथर्ववेदीय देवताओंमें मृत्युको भी परिगणित किया गया है। कई सूक्तोंका वर्ण्य विषय 'मृत्यु' होनेके कारण यह देवत्व न्याय-संगत भी है। अथर्ववेदमें मृत्यु शब्दका प्रयोग प्रायः यम या अन्तकके पर्याय-स्वरूप हुआ है। मृत्यु वस्तुतः एक स्थिति या अवस्थाका नाम है, जो जीवनके अन्तके रूपमें प्रकट होती है। निरुक्तकार यास्कमुनिने मृत्युको मारक बताया है अर्थात् जो सबको मार देती है, वह मृत्यु है — मृत्युर्मारुतीति सतः (नि० ११.६)। यमदेवको साक्षात् मृत्यु कहा गया है। मृत्यु और यम दोनोंको नमन किया गया है — ....तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे (अथर्व० ६.२८.३)। निर्ऋति

और मृत्युकी परस्पर मित्रता निर्दिष्ट है— ....तन्मृत्युना निर्ऋतिः संविदाना (अथर्व० ७.७३.१)। मृत्युको अन्तक विवेचित करते हुए अथर्ववेदके ऋषिने कहा है— अन्तकाय मृत्यवे नमः (अथर्व० ८.१.१)। एक स्थानपर मृत्युको यमका दूत भी वर्णित किया गया है; क्योंकि वह प्रेतके प्राणोंको पितरोंके पास वहाँ पहुँचानेका कार्य सम्पन्न करती है— मृत्युर्यमस्यासीद् दूतः प्रचेता असून् पितृभ्यो गमयां चकार (अथर्व० १८.२.२७)। जीवन प्रकाशका तथा मृत्यु अन्धकारका प्रतीक है— .... उदेहि मृत्योर्गम्भीरात् कृष्णाश्चित् तमसस्परि (अथर्व० ५.३०.११)।

१००. मेधा (६.१०८.१-३, ५)— अथर्ववेदमें कुछ मंत्रोंका वर्ण्य विषय 'मेधा' होनेसे मेधाको भी देवश्रेणीमें परिगणित किया गया है। निरुक्तकार यास्कने मेधाकी विवेचना करते हुए लिखा है — मेधाकस्मात्? ....मतौ धीयते। मतिर्बुद्धिः तस्यां या पुरुषशक्तिर्धीयते अभिव्यज्यते धारणानाम सैव मेधा इत्युच्यते (नि० ३.१९) अर्थात् मति बुद्धिको कहते हैं। बुद्धिमें जो धारण करनेकी शक्ति अभिव्यक्त होती है, वह मेधा कहलाती है। दूसरे शब्दोंमें श्रुत धारण-समर्था बुद्धि ही मेधा है। ब्रह्मचारी मेखला धारण करते समय प्रार्थना करता है कि वे उसे मति (भविष्यदर्शिनी बुद्धि) तथा मेधा (श्रुत धारण समर्था बुद्धि) प्रदान करें — सा नो मेखलेमतिमा धेहि तप इन्द्रियं (अथर्व० ६.१३३.४)। काव्य-रचना और मंत्र-रचनामें मेधाकी महत्त्वपूर्ण भूमिका है। इसीलिये इस शक्तिसे सम्पन्न व्यक्तियों-कवियोंको मेधावी कहा जाता है। सम्मान और प्रतिष्ठा प्राप्त करनेमें भी मेधा ही कारणभूत है। मेधाकी इस महत्ताने ही उसे देवता-पदपर प्रतिष्ठित कर दिया। ऋभुगणों, असुरों और ऋषियों-द्वारा जिस मेधाका साक्षात्कार कर लिया गया, बादमें उनका आवाहन किया जाने लगा और अपने अन्दर आवेशित करनेकी प्रार्थना की जाने लगी — यां मेधामृभवो........मय्यावेशयामसि (अथर्व० ६.१०८.३)। मेधासे प्रार्थना की जाती है कि वह सूर्य-रश्मियोंकी भाँति हमारे पास आएँ— त्वं सूर्यस्य रश्मिभिस्त्वं नो असि यज्ञिया (अथर्व० ६.१०८.१)। बृहद्देवतामें भी मेधाका देवत्व प्रमाणित हुआ है— श्रद्धा मेधा च दक्षिणा (बृह० २.८.४)।

१०१. यक्ष्मनाशन अग्नि (१.२५) – द्र० अग्नि।

१०२. यज्ञ (३.१०.७) – अथर्ववेदीय देवताओंमें यज्ञको भी देवत्व प्रदान किया गया है। वैदिककालसे ही यज्ञको धर्मका महत्त्वपूर्ण अंग माना जाता रहा है। प्रारम्भमें यज्ञ शब्द यजन, पूजन या उपासनाके अर्थमें प्रयुक्त होता था; किन्तु कालान्तरमें अग्निमें आहुति प्रदान करनेके साथ अनेक अनुष्ठानोंको यज्ञ समझा गया। बादमें यज्ञके कई प्रकार विकसित हुए, जैसे अश्वमेध, राजसूय, वाजपेय, पुरुषमेध, पूर्ण-दशमास, अग्निष्टोम आदि। इन यज्ञोंको तीन भागोंमें बाँटा गया – (१) पाकयज्ञ, (२) हविर्यज्ञ, (३) सोमयज्ञ। बादमें यज्ञका स्वरूप इतना विस्तृत हो गया कि त्याग और परमार्थकी क्रियाको भी यज्ञ संज्ञा प्रदान की गई; क्योंकि यज्ञ शब्दकी व्युत्पत्ति ही संस्कृतकी यज् धातुसे हुई है। महर्षि पाणिनिके अनुसार – 'यज्ञ देवपूजा संगतिकरणदानेषु (पाणि०धा०को० १००२)' यजके तीन अर्थ हैं – देवपूजा, संगतिकरण और दान। अर्थात् यज्ञमें इन तीन तथ्योंका समावेश रहता है। अस्तु, देवपूजा, संगतिकरण और दानपरक प्रायः सभी प्रक्रियाएँ यज्ञ कहलाती हैं। इसीलिये दानार्थक श्रेष्ठ कार्योंको भी यज्ञ कहा गया है, जैसे - नेत्रदान यज्ञ, भूदान यज्ञ आदि। यज्ञको समस्त भुवनोंकी 'नाभि' कहा गया है – ....अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः (यजु० २३.६२)। सृष्टिके आदि-पुरुषको विराद् पुरुष कहा गया है, उसे ही यज्ञ-पुरुषकी संज्ञा भी प्रदान की गई है। उस विराद् यज्ञ-पुरुषसे ही ऋक्, साम, यजु और अथर्व वेदोंकी उत्पत्ति विवेचित है – तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतऽ ऋचः सामानि जज्ञिरे छन्दा ँ सि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत (यजु० ३१.७)। चौबीस अवतारोंमें भी यज्ञको प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है। अथर्ववेदमें कई मंत्र यज्ञ-देवको समर्पित हैं। यथा – इमं होमा यज्ञमवेतमं संस्रावणा उत। यज्ञमिमं ....जुहोमि (अथर्व० ११.१२)।

१०३. यम (४.४०.२) – ऋग्वेदमें परलोकवाद एवं मृत्यु-विषयक सिद्धान्तोंके क्रममें यमका देवत्व प्रतिष्ठित है; किन्तु वहाँ उनके नामके साथ अपत्यवाची पद 'वैवस्वत' संयुक्त है। यमका सम्बन्ध मुख्यतः वरुण, बृहस्पति, अग्नि, निर्ऋति, मृत्यु अन्तक आदि देवताओंके साथ वर्णित है। मृतकोंको ले जानेवाले होनेसे ये सब देवगण सहज ही यमसे सम्बद्ध हैं। यम

देवता मृतकोंपर शासन करते हैं, अतः कहीं कहीं इनका उल्लेख एक राजाके रूपमें भी मिलता है – यमराज्ञो गच्छतु रिप्रवाहः (ऋ० १०.१६.९)। यमको मृत्यु भी कहा गया है – यमाय नमो अस्तु मृत्यवे (अथर्व० ६.२८.३)। मृतक व्यक्ति स्वर्गमें पहुँचकर यम और वरुणका दर्शन करते हैं। यमके आवासको यम-सदन कहते हैं – अया यमस्य सादनमग्निदूतो अरंकृतः (अथर्व० २.१२.७)। यमके पास जानेके लिये पंचभौतिक शरीरका परित्याग आवश्यक है, इसीलिये अभिचारकर्त्ता कहता है कि मैं इस पुरुषको यमके निमित्त पंचभूतोंसे माँगता हूँ – मृत्यो रहं ब्रह्मचारी यदस्मि निर्याचन् भूतात् पुरुषं यमाय (अथर्व० ६.१३३.३)। यमको मृत्युके साथ अन्तक भी कहा गया है – अन्तकाय मृत्यवे नमः (अथर्व० ८.१.१)। निरुक्तमें यमकी व्युत्पत्ति इन शब्दोंमें निर्दिष्ट है – यमो-यच्छतीति सतस्तस्यैया भवति। यमः निर्वक्तव्यः। स पुनरेष यच्छति उपरमयति जीवितात्सर्वं भूतग्राममिति यमः (नि० १०.११)। अर्थात् जो प्राणि-समुदायको विश्रान्ति प्रदान करता है, वह यम है।

१०४. यमसादन (यम स्थान) (२.१२.७) – द्र० यम।

१०५. राका (७.५०) – द्र० पौर्णमासी।

१०६. रात्रि (३.१०.२-४, ७) – वैदिक देवताओंमें रात्रिको भी देवताके रूपमें परिगणित किया गया है। रात्रिका देवत्व ऋक्, साम तथा अथर्ववेदमें संप्राप्य है। रात्रिको उषाकी बहन वर्णित किया गया है – निरुस्वसारमस्कृतोषसं देव्यायती (ऋ० १०.१२७.३)। अथर्ववेदमें रात्रिको संवत्सरका प्रतिनिधि भी कहा गया है – संवत्सरस्य प्रतिमां या त्वा रात्र्युपास्महे (अथर्व० ३.१०.३)। रात्रिसे प्रार्थना की गई है कि वे हमें धनसे तथा पुत्र-पुत्रादिसे समृद्ध करें – आ मा पुष्टे च पोषे च रात्रि देवानां सुमतौ स्याम........भर (अथर्व० ३.१०.७)। रात्रिको दिवो दुहिता भी कहा गया है। वे प्रकाशके द्वारा अन्धकारको दूर करती हैं। उनके आ जानेपर मनुष्य अपने घरोंको तथा पक्षी अपने घोंसलोंकी तरफ लौट जाते हैं और विश्रान्ति प्राप्त करते हैं – उप ते गा इवाकरं वृणीष्व दुहितर्दिवः (ऋ० १०.१२७८.८)। बृहद्देवतामें भी रात्रिका देवत्व निर्दिष्ट है .... स्कन्नं रात्रौ न्यधारयत् (बृह० ५.८४)।

१०७. रुद्र (६.५५.२-३) — वैदिक देवताओंमें रुद्रदेव उच्च प्रतिष्ठालब्ध हैं। रुद्र शब्दकी व्युत्पत्ति संस्कृतकी रु अथवा रुद् धातुसे हुई है, जिसका अर्थ बहुत शब्द करनेवाला या रुलानेवाला है — रुद्रो रौतीति स तो, रोरूयमाणो द्रवतीति वा। रोदयतेर्वा (नि० १०.५)। जाबालोपनिषद्के अनुसार मृत्युकालमें प्राणियोंको ब्रह्म या तारक मंत्रका उपदेश करनेके कारण रुद्रका यह नाम पड़ा है, जो निरुक्तकारकी व्युत्पत्तिके साथ ठीक बैठता है। वायवीय संहिताके अनुसार रुद्र अर्थात् रुलानेवाले दुःखका द्रावणकर्त्ता (विनाशकर्त्ता) होनके कारण रुद्र नाम पड़ा — रुद् दुःखं हेतुर्वा तद् द्रावयति नः प्रभुः - रुद्र इत्युच्यते तस्मात् (वाय०सं०)। वस्तुतः रुद्रसंहारके देवताके रूपमें प्रख्यात हैं। रुद्र जहाँ एक ओर संहारके देवता हैं, वहीं दूसरी ओर उनका सर्जकरूप भी प्रकाशित होता है। रुद्र समस्त भूतोंका सृजन करनेमें भी सक्षम हैं — य इमा विश्वा भुवनानि चाक्लृपे तस्मै रुद्राय नमो अस्त्वग्नये (अथर्व० ७.९२.१)। तैत्तिरीय संहितमें रुद्रोंकी संख्या ग्यारह विवेचित है — एकादश रुद्रा एकादशाक्षरा त्रिष्टुप् (तैत्ति०सं० ३.४.९.७)। इसी ग्रन्थमें दूसरे स्थलपर रुद्रोंकी संख्या तैंतीस वर्णित है — त्रिंशत्त्रयश्च गणिनो रुजन्तो दिवं रुद्राः पृथिवीं च सचन्ते (तैत्ति०सं० १.४.११.१)। ये विभिन्न वेशोंवाले तथा अनेक कार्योंके सम्पादक कहे जाते हैं, इसीलिये इनकी एवं इनके गणोंकी अभ्यर्थना कई जगह साथ साथ की जाती है — नमो गणेभ्यो गणपतिभ्य श्च वो नमो............ (यजु० १६.२५)। रुद्र और अग्निका सम्बन्ध अत्यन्त निकटवर्ती है — यो वै रुद्रः सो अग्निः (तैत्ति०ब्रा० ५.२.४.१३)। रुद्र मरुत्पिता भी हैं — आ ते पितर्मरुतां...रुद्र प्रजाभिः (ऋ० २.३३.१)। रुद्रको सर्वात्मा विशेषणसे भी विभूषित किया गया है। बृहत्सर्वानुक्रमणीकारने लिखा है — ....सर्वात्मकं रुद्रमिति (बृह० सर्वा० ५.६.११-१४)। तैत्ति०आ० १०.१६.१ में भी इस तथ्यकी पुष्टि मिलती है — सर्वो वै रुद्रः।

१०८. रुद्रगण (५.६.३-४) — द्र० रुद्र।

१०९. वरुण (५.१-२) — अथर्ववेदमें वरुणका नामोल्लेख प्रायः १५० बार हुआ है। वरुणको देवताओंका राजा कहा गया है — क्षत्रस्य राजा

वरुणोऽधिराजः (तैत्ति०सं० ३.१.२.७)।ये सम्पूर्ण भुवनोंके अधिपति भी निर्दिष्ट हैं – तेन विश्वस्य भुवनस्य राजा ....(ऋ० ५.८५.३)। द्यावा और पृथिवी इन्हींके अनुशासन या धर्मके आश्रयमें हैं – द्यावा पृथिवी वरुणस्य धर्मणा विष्कभिते.........(ऋ० ६.७०.१)। सूर्यके निमित्त मार्गान्वेषण भी इन्हींके द्वारा सम्पन्न होता है – उरु ॐ हि राजा वरुणश्चकार सूर्याय पन्थामन्वेतवा उ (कपि०क०सं० ३.११)। वरुण शब्दकी व्याख्या करते हुए निरुक्तकारने कहा है कि आवृत्त करनेवाला होनेसे इसे वरुण कहते हैं – वरुणः - वृणोतीति सतः (नि० १०.३) अर्थात् जो अपने आवरण (मेघों)-से आकाशको आवृत्त कर लेता है, वह वरुण है। आचार्य सायणने अपने अथर्ववेद भाष्यमें लिखा है – वृणोति तमसा पाशैर्वा प्राणिजातम् इति वरुणः (अथर्व० १.३.३ सा०भा०) अर्थात् जो समस्त जगत्को अन्धकार-द्वारा या समस्त प्राणियोंको पाशों-द्वारा आवृत्त कर देता है, वह वरुण है। वरुणका उल्लेख प्रायः मित्रके साथ मिलता है। मित्रको दिनाभिमानी तथा वरुणको रात्र्यभिमानी देवता विवेचित किया गया है। वरुणदेव जलको भी समावृत्त कर लेते हैं। अस्तु, इन्हें जलका देवता भी कहा गया है – यच्च (आपः) वृत्वाऽतिष्ठंस्त द्वरणोऽ भवतत्तं वा एतं वरणं सन्तं वरुण इति (गो०ब्रा० १.१.७)।

११०. वसुगण (६.६८.१) – वैदिक देवोंमें कुछ देवता गणों-सहित प्रतिष्ठित हैं। जैसे - आदित्यगण, रुद्रगण, विश्वेदेवा, मरुद्गण और वसुगण आदि। वसुओंकी संख्या प्रायः ८ प्रसिद्ध है – अष्टौ देवा वसवः सोम्यासः (तैत्ति०ब्रा० ३.१.२.६); किन्तु ३३३ तकका उल्लेख भी मिलता है। तैत्तिरीय संहितामें वर्णन है – तेन त्रीणि च शतान्यसृजन्त त्रयस्त्रिंशतं च (तैत्ति०सं० ५.५.२.६)। 'वसु' शब्दका अर्थ धन-सम्पत्ति है। इस कारण वसुको सम्पत्तिदायक देवता माना गया है। निरुक्तकार यास्काचार्यने वसु शब्दकी परिभाषा इन शब्दोंमें की है – वसुना अन्न साधनेन गवादि धनेन (नि० ५.१९)। एक अन्य व्युत्पत्तिमें सबका आच्छादनकर्त्ता होनेसे इन्हें वसु कहा गया है – वसवो यद्विवसते सर्वम्।.......... वसते आच्छादयन्ति तस्माद्वसव उच्यन्ते (नि० १२.४१)। वसुगण प्रार्थीके शत्रुओंका भी मर्दन करते हैं –

अर्मामृणन्वसवो नाथिता इमे................(अथर्व० ३.१.२)। वसुगण विशेषतः आदित्य और रुद्रोंसे सम्बन्धित हैं — एते वै त्रया देवा यद्वसवो रुद्रा आदित्याः (शत०ब्रा० १.३.४.१२)। तैत्तिरीय संहितामें वसुको अग्निका सहचर तथा इन्द्र, सोम, रुद्र, आदित्य, वरुण, विश्वेदेवा, बृहस्पति आदिसे सम्बन्धित विवेचित किया गया है — अग्निर्वसुभिः सोमो रुद्रैरिन्द्रो मरुद्भिर्वरुण आदित्यैर्बृहस्पतिर्विश्वेदेवैः (तैत्ति०सं० ६.२.२.१)। वसुगण हविष् और मधु ग्रहण करके तृप्त होकर यजमानको विविध 'वसु' प्रदान करते हैं तथा जम्भ, तमस् और प्रमयु (हिंसक)-के आक्रमणसे रक्षा करते हैं ....जक्षिवांसः पपिवांसो मधून्यस्मै धत्त वसवो वसूनि (अथर्व० ७.१०२.३)।

१११. वाक् (७.४४) — 'वाक्' अन्तरिक्ष स्थानीय देवोंमें निर्दिष्ट है। निरुक्तमें वाक्के सम्बन्धमें यास्क मुनिने लिखा — वाक् कस्मात ? .... वचेः। .... स च वाक् शब्दः "वच परिभाषणे" (नि० २.२३) अर्थात् वाक् शब्द वच धातुसे निष्पन्न है, जिसका परिभाषणके अर्थमें प्रयोग होता है। आचार्य सायणने वाक्के प्रकारोंका उल्लेख करते हुए अपने अथर्ववेद भाष्यमें लिखा है — सर्वा हि वाक् परापश्यन्तीमध्यमावैखरीरूपचतुरवस्थापन्ना (अथर्व० ७.४४.१ सा०भा०)। आचार्य सायणकी व्याख्याके अनुसार वाक्के प्रायः ४ प्रकार हैं — परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। निरुक्तकारने इनमें मध्यमाको वाक् नामसे सम्बोधित किया है — तस्मान्माध्यमिकां वाचं मन्यन्ते (नि० ११.२७)। माध्यमिका वाक्को सरस्वती भी कहा गया है — ....सरस्वती माध्यमिका वाक् (नि० ११.२७)। वाणीका सम्बन्ध बृहस्पतिसे वर्णित है। ऋग्वेदके वाक् सूक्तमें आत्मकथन है — बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत्प्रैरत नामधेयं दधानाः (ऋ० १०.७१.१)। ऋग्वेदके वाक् सूक्तकी द्रष्ट्री वागाम्भृणी हैं, जो अम्भृण ऋषिकी सुपुत्री हैं। इसमें आत्मकथन होनेसे वाक्को देवत्व व ऋषित्व दोनों प्राप्त हुए हैं। वाक्को देवी, राष्ट्री और दिव्या स्वीकार किया गया है — अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम् (ऋ० १०.१२५.३)। अथर्व० ४.३० में वाक्का उल्लेख सर्वरूपा, सर्वात्मिका और सर्वदेवमयी देवीके रूपमें मिलता है, जिनका देवत्व बृहत्सर्वानुक्रमणीकारने इन शब्दोंमें

प्रमाणित किया है – वाचं सर्वरूपां सर्वात्मिकां सर्वदिवमर्यामित्यस्तौत (बृह० सर्वा० ४.३०)।

११२. वाचस्पति (१.१) – वाचस्पतिको वाक्का स्वामी विवेचित किया गया है किन्तु वाक्की अपेक्षा अथर्ववेदमें वाचस्पतिका देवत्व अत्यल्प है। वाचस्पतिका स्वरूप बहुत स्पष्ट नहीं हुआ है। अथर्वमें उनसे प्रार्थना की गई है कि वे हमारे लिये पृथ्वीको सुख-प्रदात्री बनाएँ, उसकी योनि (परतें) सुखद हों और हमारे लिये भी सुख-प्रदायक हों – वाचस्पते पृथिवी न स्योना.....सुशेवा (अथर्व० १३.१.१७)। वाचस्पतिसे एक मंत्रमें यह भी प्रार्थना की गई है कि वह हमें सुन्दर मन प्रदान करें, हमारे गोष्ठमें गौएँ उत्पन्न करें,श्रेष्ठ सन्तति प्रदान करें। इसी मंत्रमें आगे कहा गया है कि 'हे परमेष्ठिन् ! आपको मैं वर्चस् और आयुसे धारण करता हूँ।' इससे ऐसा प्रतीत होता है कि परमेष्ठी (प्रजापति या ब्रह्मा) विशेषणके रूपमें ही वाचस्पति शब्द आया है अथवा परमेष्ठीके साथ वाचस्पतिका कोई सम्बन्ध है – वाचस्पते सौमनसं मनश्च गोष्ठे नो गा जनय योनिषु प्रजाः। इहैव प्राणः सख्ये नो अस्तु तं त्वा परमेष्ठिन् पर्यहमायुषा वर्चसा दधामि (अथर्व० १३.१.१९)। अथर्ववेद (शौनकीय संहिता)-के प्रारम्भिक चार मंत्रोंमें वाचस्पतिकी ही स्तुति की गई है, जिनमें वेदरूपा वाणीके स्वामीकी ही स्तुति की गई है, जिनमें वेदरूपा वाणीके स्वामीके रूपमें वेद-वाणी समझनेके लिये उनका आवाहन किया गया है – उपहूतो वाचस्पतिरुपास्मान् वाचस्पतिर्ह्वयताम्.......राधिषि (अथर्व० १.१.४)। इसी मंत्रके भाष्यमें आचार्य सायणने वाचस्पतिको वाच् (वाक् या वाणी)-का पालनकर्त्ता देवता निरूपित किया गया है – वाचस्पतिः वाचः पालयिता देवः। यास्क मुनिने भी वाचस्पतिको वाच्का पालन करनेवाला ही निरूपित किया गया है – वाचस्पतिर्वाचः पाता वा पालयिता वा (नि० १०.१७)।

११३. वात (६.६२) – द्र० वायु।

११४. वात पत्नी (२.१०.४-८) – द्र० वायु।

११५. वाम (९.१४'९') – द्र० सूर्य।

११६. वायु (६.१०.२) – वायुदेव अन्तरिक्ष स्थानीय देवताके रूपमें

प्रतिष्ठित हैं। निरुक्तकार यास्कने इस तथ्यको प्रतिपादित करते हुए लिखा है – वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थानः (नि० ७.५)। तैत्तिरीय ब्राह्मणमें वायुको अन्तरिक्ष स्थानीय देवताओंका अध्यक्ष निरूपित किया गया है – वायुन्तरिक्षस्याध्यक्षः (तैत्ति०ब्रा० ३.२१.३.४) वायु समस्त देवताओंकी आत्माके रूपमें भी वर्णित हैं – सर्वेषामु हैष देवानामात्मा यद्वायुः (शत०ब्रा० ९.१.२.३८)। ऋग्वेदमें वायुकी उत्पत्ति प्रजापतिके प्राणसे बताई गई है – प्राणाद्वायुरजायत (ऋ० १०.९०.१३)। वायुका प्रवाह तिर्यक् गतिवाला होता है – अयं वायुरस्मिन्नन्तरिक्षे तिर्यङ् पवते (जैमि० ब्रा० ३.३.१०)। समस्त देवोंमें वायुकी गति सर्वाधिक है – वायुर्वै देवानामाशुः सारसारितमः (तैत्ति०सं० ३.८.७.१)। वायुदेव पशुओंके संरक्षक हैं, इसीलिये अथर्ववेदमें उनसे प्रार्थना की गई है कि वे गोष्ठसे बाहर गए पशुओंको पुनः गोष्ठमें वापस ले आएँ – इह यन्तु पशवो ये परेयुर्वायुर्येषां........गोष्ठे सविता नियच्छतु (अथर्व० २.२६.१)। अथर्व० के एक मंत्रमें वायुको इष् (अन्न), ऊर्ज, काम (इच्छित), आयु, सन्तति, रयि और पोष-प्रदाता विवेचित किया गया है – .... सा मे वायुना वत्सेनेषमूर्जं कामं दुहाम्। आयुः प्रथमं प्रजां पोषं रयिं स्वाहा। (अथर्व० ४.३९.४)। शरीरमें संचरण करनेके कारण वायुको वात भी कहते हैं – .....तथा वातः वायुः देहमध्ये संचरन् (अथर्व० ६.६.२.१ सा०भा०)। दिशाओंमें वायुका संचार होते रहनेके कारण वायुको दिशाओंका पति माना गया है, इसीलिये दिशाओंको 'वातपत्नी' संज्ञा प्रदान की गई है – ....इमा या देवीः प्रदिशश्चतस्रो वातपत्नीरभि........स्ताम (अथर्व० २.१०.४)।

११७. वास्तोष्पति (३.१२) – द्र० आशापालक वास्तोष्पतिगण।

११८. विद्युत् (१.१३) – अथर्ववेदीय देवताओंमें विद्युत्को भी देवत्व प्रदान किया गया है। विद्युत्के तीन रूप प्रकट हुए हैं, प्रथम - स्तनयित्नु (गरजनेवाला), द्वितीय - अश्माके रूपमें (गिरकर भस्म करनेवाला) और तृतीय - विद्योतमान (तीव्र प्रकाशवाला)। ऋषिने इन तीनों स्वरूपोंवाले विद्युत् देवको नमन किया है – नमस्ते अस्तु विद्युते नमस्ते स्तनयित्नवे। नमस्ते अस्त्वश्मने येना दूडाशे अस्यसि (अथर्व० १.१३.१)। विद्युतके अन्दर अग्नि निरन्तर संचरित रहती है – ये

विद्युंतमनुसंचरन्ति। ....अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् (अथर्व० ३.२१.७)। वर्षाकालमें विद्युत् सभी दिशाओंमें कौंधती हुई अभ्र और आपः (जल)-के साथ सम्पूर्ण जगत्को तृप्त करती है। पर्जन्यसे प्रार्थना की गई है कि वे विद्युत्से हमारी फसलको नष्ट न करें.......मा नो वधीर्विद्युता देव सस्यं........(अथर्व० ७.१२.१)। विद्युत् शब्दका उल्लेख कुछ स्थलोंपर बहुवचनमें भी मिलता है, जो सम्भवतः उसके विभिन्न रूपोंका निदर्शक है। विद्युत्का मूल स्वभाव मारक है, जो कई मंत्रोंमें परिलक्षित होता है — .... विद्युत् त्वा हनिष्यतीत्येनमाह (अथर्व० ११.४.९)। बृहद्देवतामें विद्युत्का देवत्व इन शब्दोंमें निर्दिष्ट है— अरोदोन्तरिक्षे यद् विद्युद्वृष्टिं ददन्नृणाम् (बृह० २.३४)।

११९. विधाता (५.३.९) — द्र० धाता।

१२०. विराट् (८.१०) — विराट् पुरुषका नाम ऋग्वेदके पुरुष सूक्तमें सर्वप्रथम मिलता है। वेदोंमें वर्णन मिलता है कि सर्वप्रथम विराट् ही उत्पन्न हुआ, तदुपरान्त विराट्से पुरुष या यज्ञ-पुरुष उत्पन्न होनेके बाद उस विराट्ने सब ओरसे पृथ्वी व अन्य लोकोंको आवृत्त कर लिया और उससे भी बड़ा (विराट्) हो गया — विराडग्रे समभवद् विराजो अधि पूरुषः। स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद् भूमिमथो पुरः (अथर्व० १९.६.९)। वह विराट् (पुरुष) हज़ारों भुजाओं, हज़ारों पैर, हज़ारों आँखोंवाला है, जो सप्त समुद्र और द्वीपवाली पृथ्वीको अपनी महिमासे परिव्याप्त करके दस अंगुलके परिमाणवाले हृदयाकाशमें स्थित हो गया — सहस्रबाहुः पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्। स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम् (अथर्व० १९.६.१)। विराट्के विषयमें ऋग्वेदके पुरुष-सूक्तमें विस्तारसे वर्णन है, जिसके मंत्र-पाठ-भेदसे यजुर्वेद व अथर्ववेदमें भी प्राप्त होते हैं। विराट् शब्दका प्रयोग कई बार स्त्रीलिंगमें भी हुआ है और पुल्लिंग में भी, जैसे — विराट् वाक् है और पृथिवी भी। वह अन्तरिक्ष भी है और प्रजापति भी विराड् वाग् विराट् पृथिवी विराडन्तरिक्षं विराट् प्रजापतिः (अथर्व० ९.१५.२४)। कई बार विराट् शब्दका प्रयोग इन्द्र, प्रजापति, परमेष्ठी आदिकी उत्कृष्टता ज्ञापित करनेके लिये उनके विशेषण स्वरूप भी हुआ है, फिर भी विराट्की मूल अवधारणा विराट् पुरुषके रूपमें ही समझनी चाहिए।

१२१. विवस्वान् (६.११६) — विवस्वान्‌का देवत्व ऋग्वेद और अथर्ववेदमें दृष्टिगोचर होता है। विवस्वान् यम देवताके पिता हैं, इसी कारण यमको वैवस्वत भी कहते हैं। प्रेत-कर्ममें विवस्वान्‌का आवाहन करनेका विधान है — विवस्वन्तं हुवे यः पिता तेऽस्मिन्बर्हिष्या निषद्य (अथर्व० १८.१.५९)। यमके कोपसे रक्षा-हेतु भी उनके पिता विवस्वान्‌से अभयदानकी याचना की गई है — विवस्वन्नो अभयं कृणोतु ......पुष्टम् (अथर्व० १८.३.६१)। बृहद्देवतामें (६.१६२-७.७ तक) विवस्वान्‌के सम्बन्धमें विस्तृत वर्णन मिलता है। त्वष्टाकी दो पुत्रियाँ थीं— सरण्यू और त्रिशिरा। सरण्यू विवस्वान्‌की पत्नी थीं। सरण्यू और विवस्वान्‌की दो सन्तानें थीं — यम और यमी। सरण्यूके स्वसदृश एक स्त्रीका निर्माण करके स्वयं अश्वी बनकर चले जानेपर विवस्वान्‌ने उस स्त्रीको सरण्यू ही समझा और उससे एक सन्तति हुई, जिसका नाम मनु पड़ा। इसीलिये मनुको भी वैवस्वत विशेषणसे विभूषित किया जाता है— अविज्ञानाद्विवस्वांस्तु तस्यामजनयन्मनुम् (बृह० ७.२)। सर्वाधिक दीप्तिमान् होनेके कारण आदित्यको भी विवस्वान् कहा गया है। अग्निको विवस्वान्‌का दूत निरूपित किया गया है।

१२२. विश्वकर्मा (२.३५) — विश्वकर्माका देवत्व ऋग्वेद, यजुर्वेद एवं अथर्ववेदमें निर्दिष्ट है। इनकी ख्याति सृष्टिकर्त्ताके रूपमें है। शतपथ ब्राह्मणमें उल्लेख है — अथो विश्वकर्मणे। विश्वं वै तेषां कर्म कृतं सर्वं जितं भवति.......(शत०ब्रा० ४.६.४.५)। निरुक्तकार यास्क मुनिने विश्वकर्माको सभीका कर्त्ता विवेचित किया है — विश्वकर्मा सर्वस्य कर्त्ता (नि० १०.२५)। कुछ स्थलोंपर प्रजापति और विश्वकर्मामें तादात्म्य दृष्टिगोचर होता है — प्रजापतिर्वै विश्वकर्मा (शत०ब्रा० ८.२.१.१०)। यज्ञमण्डप वेदिका निर्माण, यज्ञकी अन्य व्यवस्थाओं एवं यज्ञको पूर्ण करनेका दायित्व भी विश्वकर्मापर ही है — ......या तेषामवया दुरिष्टिः स्विष्टिं नस्तां कृणवद् विश्वकर्मा (अथर्व० २.३५.१)। यज्ञादि कार्योंमें हुई भूलोंके लिये क्षमा प्रदान करनेके निमित्त भी विश्वकर्मासे याजकगण प्रार्थना करते हैं — अदान्यान्त्सोमपान् मन्यमानो यज्ञस्य विद्वान्तसमये न धीरः। ....विश्वकर्मन् प्र मुञ्चा स्वस्तये (अथर्व० २.३५.३)। शौनक-प्रणीत बृहद्देवतामें विश्वकर्माका देवत्व इन शब्दोंमें स्वीकृत है —

अपश्यमिति याग्नेये य इमा वैश्वकर्मणे (बृह० ७.११७)।

१२३. विश्वजित् (६.१०७) — अथर्ववेदके कुछ मंत्रोंका वर्ण्य-विषय विश्वजित् होनेसे उसे भी देवत्व प्रदान किया गया है। ऋग्वेदमें विश्वजित् शब्द इन्द्र और सोमके विशेषण-स्वरूप प्रयुक्त हुआ है; किन्तु अथर्ववेदमें तो उसे देवता-रूपमें ही स्वीकार किया गया है। (अथर्व० १७.१.११)-के भी एक मंत्रमें विश्वको वशमें करनेवाले होनेके कारण इन्द्रको विश्वजित् कहा गया है — त्वमिन्द्रासि विश्वजित्। विश्वजित् एक सोमयाग है — विश्वजिदभिजतौ द्वौ सोमयागौ (अथर्व० ११.९.१२ सा०भा०)। विश्वजित्को देवता मानकर प्रार्थना की गई है कि वे स्तुतिकर्त्ताको त्रायमाण (त्राण करनेवाले) देवताके संरक्षणमें दें। उसी तरह त्रायमाणसे प्रार्थना है कि वे उसे विश्वजित्को सौंप दें। इस प्रार्थनाका एक ही भाव है कि ये देव और दो पैरवाले (मनुष्यों) और चार पैरवाले (पशुओं) और उनकी सम्पूर्ण सम्पदाकी रक्षा करें — विश्वजिंत् त्रायमाणायै मा परिदेहि। त्रायमाणे द्विपाच्च सर्वं नो रक्ष चतुष्पाद् यच्च नः स्वम्। त्रायमाणे विश्वजिते........ (अथर्व० ६.१०७.१-२)। कौषीतकि ब्राह्मणमें प्रजापतिको विश्वजित् कहा गया है; क्योंकि उनके द्वारा ही समूची सृष्टिकी उत्पत्ति हुई है — प्रजापतिर्विश्वजित् (कौषी०ब्रा० २५.११.१२.१५)।

१२४. विश्वरूप (४.८.३) — द्र० ब्रह्म।

१२५. विश्वेदेवा (६.११४-११५) — विश्वेदेवा देवताका देवत्व चारों वेदोंमें प्राप्त होता है। अथर्ववेदमें विश्वेदेवोंका उल्लेख गणरूपमें मिलता है। आदित्यों, वसुओं, रुद्रों और मरुतोंकी तरह विश्वेदेवोंका भी एक गण है। इनकी संख्या तीनसे लेकर तैंतीस कोटितक वर्णित है। शतपथ ब्राह्मणमें इन्हें अनन्त कहा गया है — अनन्ता विश्वे देवा (शत०ब्रा० १४.६.१.११)। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा परवर्ती ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें यह माना गया है कि विश्वेदेवाके समुदायमें सभी देवगण समाहित हो जाते हैं अर्थात् देवताओंका समष्टिगत स्वरूप ही विश्वेदेवा है। सम्पूर्ण देवताओंके प्रतिनिधि-रूपमें यज्ञमण्डपमें इनका आवाहन किया जाता है। यज्ञमें इनकी सायुज्यता अनिवार्य है — विश्वेषामहं देवानां देवयज्यया प्राणानां सायुज्यं गमेयम् (काठ० सं० ५.१)। इन्हें आमंत्रित कर लेनेपर

कोई देवता अनामंत्रित नहीं रहते। कौषीतकि ब्राह्मणमें उल्लेख है—एते वै सर्वे देवा यद्विश्वेदेवाः (कौषी०ब्रा० ४.१४.५.२)। देव-मण्डलमें इनका यश सर्वाधिक है— विश्वे वै देवा देवानां यशस्वितमाः (शत०ब्रा० १३.१.२.८)। अथर्ववेदमें विश्वेदेवोंसे कल्याण व रक्षाके निमित्त अनेकशः प्रार्थनाएँ की गई हैं — विश्वे देवास्ते विशि क्षेममदीधरन् (अथर्व० ३.३.५)। आयु-वृद्धिके निमित्त भी विश्वेदेवाकी स्तुति की गई है — कृण्वन्तु विश्वेदेवा आयुष्टे शरदः शतम् (अथर्व० २.१३.४)।

१२६. विष्णु (३.२७.५) — वैदिक देवताओंमें विष्णु उच्चस्तरीय प्रतिष्ठालब्ध हैं। 'विष्णु' शब्द संस्कृतकी विष्लृ धातुसे निष्पन्न है, जिसका अर्थ है—सर्वत्र फैलना अथवा व्यापक होना। महाभारत (५.७०, १३-१४)-में विष्णुका सर्वत्र फैलना उल्लिखित भी है। ये द्युलोक स्थानीय देवताके रूपमें प्रख्यात हैं। ऋग्वेदमें विष्णुके साथ 'उरुगाय' और 'उरुक्रम' विशेषण संलग्न किए गए हैं—उरुक्रमस्य स हि बन्धुरित्या विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः (ऋ० १.१५४.५)। अथर्ववेदमें प्रायः पैंसठ बार विष्णुका नामोल्लेख हुआ है। विष्णुके तीन पाद (पद या डग) वर्णित हैं, जो समस्त प्राणियोंके आश्रयदाता हैं — त्रीणि पदा वि चक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः (अथर्व० ७.२७.५)। विष्णुके क्रम (डग)-को 'विष्णु क्रम' भी कहते हैं। विष्णुक्रमको भी कुछ मंत्रोंमें देवत्स प्रदान किया गया है— विष्णोः क्रमोसि सपत्नहा (अथर्व० १०.५.३०)। विष्णु इन्द्रके सखा हैं। ये दोनों कभी पराजित नहीं होते। सिनीवाली विष्णुकी पत्नीके रूपमें वर्णित हैं— ....विष्णोः पत्निः तुभ्यं राता .... (अथर्व० ७.४८.३)। मूलतः विष्णुका स्वरूप पालनकर्त्ता, आश्रय-प्रदानकर्त्ता और संरक्षकका है, इसीलिये वे ऋग्वेदमें 'अघ्नन' अर्थात् पीड़ा न पहुँचानेवाले कहे गए हैं—अघ्नते विष्णवे वयमरिष्यन्तः .... (ऋ० ८.२५.१२)। यज्ञ-वेदिका की परिकल्पना विष्णुकी ही है — यवेवात्र विष्णुमन्वविन्दं स्तस्माद्वेदिर्नाम (शत० १.२.५.१०)। विष्णुको यज्ञका प्रतीक भी माना जाता है— यज्ञो वै विष्णुः (मैत्रा०सं० ४.१.१२)।

१२७. विष्णुक्रम (१०.५.२५-३५) — द्र० विष्णु।

१२८. वृषा (६.४८.३) — द्र० इन्द्र।

१२९. वेधा (१.११) — अथर्ववेदीय देवताओंमें वेधाका देवत्व भी निर्दिष्ट

हैं। वेधा या वेधस् शब्दका प्रयोग कई अर्थोंमें मिलता है। वेधाको सम्पूर्ण जगत्का निर्माणकर्त्ता और धाता कहा गया है। इन्हें पूषा और अर्यमाके समतुल्य माना गया है – वषट् ते पूषन्नस्मिन्त्सूतावर्यमा होता कृणोतु वेधाः (अथर्व० १.११.१)। अथर्ववेदमें अन्यत्र 'वेधा'-का अर्थ ज्ञानवान् से लिया है – आस्थानामस्य भूतस्य विदुष्टद् वेधसो न वा (अथर्व० १.३२.२)। कुछ स्थलोंपर 'वेधा' अग्निका विशेषण भी है; क्योंकि वह भी विधाता हैं। विद्वान् ऋषिको भी वेधस् कहा गया है – ....हन्ताभिशस्तेन्द्रस्तथा तद् वेधसो विदुः (अथर्व० ५.१८.१४)। ऋग्वेदमें सामान्यतः वेधा शब्द उसके मूल अर्थ 'विधान या निर्माण करनेवाला' अर्थमें प्रयुक्त हुआ है, इस दृष्टिसे बहुतसे देवगण विधाता या वेधा हैं। मरुद्गण, अग्नि, सोम, सूर्य, अश्विनीकुमार आदि सभीको वेधा कहा गया है। इस प्रकार वेधा शब्द अपने मूल अर्थ विधाता या सृष्टिकर्त्ताका बोधक होकर विशिष्ट देवताओं और विद्वज्जनोंके सम्मानपूर्वक विशेषणके रूपमें प्रयुक्त होता रहा है, इसीलिये कुछ स्थलोंपर इसे सीधे भी देवत्व प्रदान किया गया है।

१३०. वैराज (३.२६.३) – द्र० अप्सरा।

१३१. वैश्वदेवी (५.३.६) – अथर्ववेदमें वैश्वदेवीका देवत्व भी वैश्वदेवोंकी तरह ही प्रतिष्ठित है। जिस प्रकार वैश्वदेवोंमें कुछ पुरुषवाचक देवगणोंकी गणना की जाती है अर्थात् समस्त देवोंके लिये वैश्वदेव शब्द प्रयुक्त किया जाता है। उसी प्रकार समस्त स्त्रीवाची देवियाँ वैश्वदेवीमें समाहित मानी जाती हैं अथवा समस्त देवियोंका आवाहन वैश्वदेवीके रूपमें कर लिया जाता है। अथर्व०के एक मंत्रमें वैश्वदेवीसे प्रार्थना की गई है कि वे षट् उर्वियों (पृथ्वी, आकाश, जल, ओषधि, दिन और रात)-को विस्तृत रूपमें करनेकी कृपा करें – दैवीः षडुर्वीरुरु नः कृणोत विश्वे देवास इह मादयध्वम् (अथर्व० ५३.६)। वैसे तो उर्वी शब्द पृथ्वीके लिये प्रयुक्त होता है; किन्तु 'उर्वी' शब्द विस्तृत अर्थमें प्रयुक्त होनेसे उपर्युक्त छह तत्त्वोंको भी उर्वीकी श्रेणीमें परिगणित किया गया है। बृहत्सर्वानुक्रमणीकारने वैश्वदेवीका देवत्व इन शब्दोंमें प्रमाणित किया है – परा वैश्वदेवी (बृह०सर्वा० ५.३६)। जबकि आचार्य सातवलेकरने 'देवीः' ही लिखा है।

१३२. वैश्वानर (६.११९) — द्र० अग्नि।

१३३. शकधूम (६.१२८) — अथर्ववेदमें शकधूमका मानवीकरण दृष्टिगोचर होता है। सामान्यतः शकधूमका अर्थ गोबर या उपलेसे निकला हुआ धुआँ है। अथर्ववेदमें नक्षत्रों-द्वारा शकधूमको अपना राजा स्वीकार किया गया है, इसी कारण राजा शकधूमसे प्रार्थना की गई है कि वे हमें 'भद्राह' (कल्याणकारी दिवस) प्रदान करें। हमारे लिये प्रातः, माध्यन्दिन, सायं तथा रात्रि कल्याणकारी हो — शकधूमं नक्षत्राणि यद् राजानमकुर्वत (अथर्व० ६.१२८.१)। ....ते नक्षत्र राज शकधूम सदा नमः (अथर्व० ६.१२८.२)। आचार्य सायणने शकधूमका अर्थ अग्नि किया है। उनका कहना है कि शक (गोबरके उपले)-से सम्बन्धित धूम्र जिस अग्निमें है, वह शकधूम अग्नि है — शकस्य शकृतः सम्बन्धी धूमोयस्मिन्नग्नौ शकधूमः अग्निः (अथर्व० ६.१२८.१सा०भा०)। आचार्य सायणने अग्निसे अभेदके कारण शकधूमको ब्राह्मण भी कहा है — ....तदभेदाद् ब्राह्मणोत्र अभिधीयते (अथर्व० ६.१२८.१ सा०भा०)। प्रो० ब्लूमफील्डने चन्द्रमाको शकधूम कहा है; क्योंकि चन्द्रमापर दिखाई देनेवाली कालिमा उपलोंके धुएँ जैसी दिखती है और चन्द्रमासे भद्राहकी याचना भी युक्ति-युक्त है।

१३४. शक्र (३.३१.२) — द्र० इन्द्र।

१३५. शुक्र (६.५३.१) — द्र० सूर्य।

१३६. श्येन (६.४८.१) — अथर्ववेदके कुछ मंत्रोंका देवत्व श्येनको प्रदान किया गया है। वैसे तो यह मूलतः एक पक्षी (बाज़, गरुड अथवा सुपर्ण)-का नाम है; किन्तु लाक्षणिक स्थितिमें इसे सूर्यका नाम भी माना गया है। श्येन अति तीव्रगामी पक्षी होता है, जो आकाशमें बहुत ऊँचाईतक उड़ता है, इसीलिये इस गुण-साम्यके आधारपर सूर्यको भी श्येन कहा गया है — श्येनः शंसनीय गतिः सूर्यः (अथर्व० ७.४२.१ सा०भा०)। श्येनको सबका द्रष्टा, द्युस्थित, सुपर्ण, सहस्रचरणोंसे युक्त और शक्ति या अन्नका धारणकर्त्ता विवेचित किया गया है। यह सभी गुण सूर्यके हैं, इसीलिये भी सूर्यको श्येन कहा गया है — श्येनो नृचक्षा दिव्यः सुपर्णः सहस्रपाच्छतयोनिर्वयोधाः (अथर्व० ७.४२.२)। प्रातः सवनात्मक

गायत्रच्छन्द यज्ञको भी श्येन विवेचित किया गया है; क्योंकि वह प्रशंसनीय गतिसे चलनेवाले बाज़ (श्येन) पक्षीकी तरह शीघ्रगामी है। प्रातः सवनात्मक सोमयागमें गायत्री छन्दका ही अधिक प्रयोग होता है, सम्भवतः इसीलिये श्येनको गायत्रच्छन्दा यज्ञ कहा गया है। श्येनाकार वेदिका (श्येनचित वेदिका)-में प्रतिष्ठित होनेसे अग्नि भी श्येन निर्दिष्ट है — श्येनोऽसि गायत्रच्छन्दा अनु त्वा रभे। ......स्वाहा (अथर्व० ६.४८.१)। ऋग्वेदमें श्येन प्रायः सोमके सम्बन्धमें उल्लिखित है, इन्द्रके लिये सोमरस श्येन ही लेकर आया था — इन्द्र पिब वृषधूतस्य वृष्ण आ अयं ते श्येन उशते जभार (ऋ० ३.४३.७)। श्येनके समान सोमपर टूट पड़नेके कारण इन्द्रको भी श्येन वर्णित किया गया है — उप यत्सीददिन्दु शरीरैः श्येनोऽयोपाष्टिर्हन्ति दस्यून् (ऋ० १०.९९.८)।

१३७. संवत्सर (३.१०.८) — संवत्सरका देवत्व ऋग्वेद तथा अथर्ववेदमें दृष्टिगत होता है। संवत्सर-कालचक्रका एक विभाजन है, देवत्व प्रदान किया गया है। एक संवत्सर प्रायः तीन सौ साठ दिनों अथवा बारह महीनों अथवा तीन ऋतुओं (ग्रीष्म, वर्षा, हेमन्त)-वाला माना गया है — त्र्यृतुः संवत्सरो ग्रीष्मो वर्षा हेमन्त इति (नि० ४.२७)। यह समय एक वर्षका होता है। ऋग्वेदमें इस काल-संवत्सरका रूपक एक चक्रके साथ निरूपित किया गया है, जिसमें बारह अरे, तीन नाभियाँ और तीव्र गतिवाली तीन सौ साठ खूँटियाँ लगी हैं — द्वादश प्रध्यश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत। तस्मिन् त्साकं त्रिशता न शङ्कवो ऽर्पिताः षष्टिर्न चलाचलासः (ऋ० १.१६४.४८)। अथर्ववेवदमें भी संवत्सरकी विवेचना इसीसे मिलती-जुलती है। अथर्ववेदमें उसे चौबीस पक्षों, चैत्रादि बारह महीनोंवाला वर्णित किया गया है — ......समाः संवत्सरान् मासान् भूतस्य पतये यजे (अथर्व० ३.१०.९)। यह समय भी एक वर्षका ही है। संवत्सरको एकाष्टका (माघ कृष्ण अष्टमीकी पूर्व-रात्रि)-का पति निरूपित किया गया है। सम्भवतः वैदिक कालमें एकाष्टकासे ही नए वर्ष (संवत्सर)-का शुभारम्भ होता होगा, इसीलिये एक मंत्रमें याजक एकाष्टकासे विनय करता है कि हे एकाष्टके! आपका पति संवत्सर आ गया है, अतः आप अपने पति-सहित हमारी पुत्र-पौत्रादि प्रजाको आयुष्य व धन-सम्पत्ति प्रदान करें — आयमगन्त्संवत्सरः पतिरेकाष्टके तव। सा

न आयुष्मतीं प्रजां रायस्पोषेण सं सृज (अथर्व० ३.१०.८)।

१३८. संस्फान (६.७९) – द्र० आदित्यगण।

१३९. सकामा अविष्यव (३.२६.२) – द्र० अप्सरा।

१४०. सत्यौजा अग्नि (४.३६) – द्र० अग्नि।

१४१. सप्तर्षिगण (६.४०.१) – अथर्ववेदमें सप्तर्षियोंको भी देवत्व प्रदान हुआ है। अन्यत्र तो इनके ऋषित्वका ही वर्णन मिलता है; किन्तु अथर्ववेदमें इनके देवत्वके भी दर्शन होत हैं जो .... सप्तर्षियोंमें प्रायः भरद्वाज बार्हस्पत्य, कश्यप मारीच, गोतम राहूगण, अत्रि भौम, विश्वामित्र गाथिन, जमदग्नि भार्गव तथा वसिष्ठ मैत्रावरुणिका नामोल्लेख मिलता है। कुछ स्थानोंपर इनके नामके साथ अपत्यार्थक पदका उल्लेख नहीं मिलता। इन ऋषियों-द्वारा दृष्ट मंत्र चारों वेदोंमें सम्प्राप्य हैं। कुछ स्थानोंपर इनका स्वतंत्र ऋषित्व है और कुछ स्थानोंपर समुदित। अथर्व०के एक मंत्रमें इनका समुदित देवत्व भी वर्णित है वहाँ इन्हें समस्त ऋषिगण कहा गया है – षट् त्वा पृच्छाम ऋषयः .... (अथर्व० ८.९.७)। अथर्व० ६.४०.१ में सप्त ऋषियोंकी स्तुति है, अतः वहाँ भी इन्हें देवत्व प्रदान किया गया है – सप्तऋर्षीणां च हविषाभयं नो अस्तु। आश्वलायन परिशिष्ट १ का उद्धरण देते हुए आचार्य सायणने अपने अथर्ववेद भाष्यमें सप्तर्षियोंके नाम गिनाए हैं – सप्तर्षीणां विश्वामित्रो जमदग्निर्भरद्वाजोऽथ गौतमः। अगिर्वसिष्ठः कश्यपः इत्येवं प्रसिद्धा ये सप्त ऋषयः सन्ति। (अथर्व० ६.४०.१ सा०भा०)। मैत्रायणी संहितामें सप्तर्षियोंकी संज्ञा प्रदान की गई है – प्राणा वै विश्वेदेवाः सप्त ऋषयः (मैत्रा०सं० १.५.११)। अथर्ववेदमें बाईस बार सप्तर्षियोंका नामोल्लेख हुआ है, इससे स्पष्ट है कि इस कालतक अन्य ऋषियोंकी अपेक्षा सप्तर्षियोंको अधिक महत्त्व मिल चुका था। शौनक-प्रणीत बृहद्देवतामें भी सप्तर्षियोंका देवत्व प्रतिपादित किया गया है – देवाः सप्तर्षयश्च ये (बृह० २.११)।

१४२. सप्तसिन्धु (४.६.२) – वैदिक ग्रन्थोंमें सप्तसिन्धुओंकी स्तुति सहायता या रक्षाके निमित्त की गई है। अस्तु, इन्हें भी देवताकी श्रेणीमें परिगणित किया गया है – ....अपांनपात् सिन्धवः सप्त पातन ....रुत द्यौः (अथर्व० ६.३.१)। कोश-ग्रन्थोंमें सप्त नदियोंको

सप्तसिन्धु कहा गया है। मैक्समूलरने पंजाब की सिन्धु और सरस्वतीके अतिरिक्त अन्य पाँच नदियोंको सप्तसिन्धु कहा है। पौराणिक कोश पृष्ठ ५११ के अनुसार सात नदियोंके तीन वर्ग प्राप्त होते हैं – (अ) वेदोंमें वर्णित – गंगा, यमुना, सरस्वती, शतद्रि (सतलज), परुष्णि, मरुद्वृद्धा और आर्जीकीया (व्यास या विपाशा)। (ब) महाभारतमें वर्णित – गंगा, यमुना, प्लक्षगा, रथस्था, सरयू, गोमती और गंडक अथवा वस्वोकसारा, नलिनी, पावनी, गंगा, सीता, सिन्धु और जम्बू। (स) रामायणमें वर्णित – नलिनी, ह्लादिनी, पावनी, चक्षु, सीता, सिन्धु और भागीरथी। ऋग्वेदमें गंगादि सात नदियोंको सप्तसिन्धु इन शब्दोंमें विवेचित किया गया है – ....सतवि सप्त सिन्धून् (ऋ० १.३२.१२)। अथर्ववेदके एक मंत्रमें संसारमें फैले सात समुद्रोंको सप्तसिन्धुकी संज्ञा प्रदान की गई है – सप्त संख्याकाः सिन्धवः समुद्रा (अथर्व० ४.६.२ सा०भा०)। इन समुद्रों अथवा नदियोंके समूहको सिन्धु कहकर भी देवत्व प्रदान किया गया है। आचार्य सायणने सिन्धुको स्यन्दनशील उदककी आत्मा कहा है – सिन्धुः स्यन्दनशीलोदकात्मा देवता (ऋ० १.९४.१६ सा०भा०)।

१४३. समस्त ऋषिगण (८.९) – द्र० सप्तर्षिगण।

१४४. सरस्वती (६.९४) – द्र० तिस्रो देव्यः।

१४५. सरस्वान् (७.४१) – सरस्वान्का देवत्व ऋग्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेदमें विवेचित है। सरस्वान शब्दका मूल अर्थ 'जलसे भरा हुआ' है। ऋग्वेदमें इनकी स्तुति सूर्यके पर्यायरूपमें की गई है। सूर्य प्राणस्वरूप हैं, इसलिये इन्हें भी प्राण-स्वरूप माना गया है। बृहद्देवताकारने लिखा है– सस्वन्तमिति प्राणो वाचं.......(बृह० ४.३९)। सूर्यके पर्याय-स्वरूप सरस्वान्को ऋग्वेदमें सुपर्ण, बृहत्, जलका केन्द्र, जल-वृष्टि-द्वारा चतुर्दिक् भूमिको तृप्त करनेवाला और ओषधियोंको पुष्ट करनेवाला वर्णित किया गया है – दिव्य सुपर्णं वायसं........ वृष्टिभिस्तर्पयन्तं सरस्वतन्तमवसे जोहवीमि (ऋ० १.१६४.५२)। शतपथ ब्राह्मणमें सरस्वान्को मन भी कहा गया है – मनो वै सरस्वान् (शत०ब्रा० ७.५.१.३१)। शतपथ ब्राह्मणमें सरस्वान्को पुष्टिपति कहा गया है – सरस्वन्तं पुष्टिपतिं रयिष्ठाम् (अथर्व० ७.४०.२)।

१४६. सवाता प्रविध्यन्त (३.२६.४) — द्र० अप्सरा।

१४७. सर्वरूपा सर्वात्मिका सर्वदेवमयी वाक् (४.३०) — द्र० वाक्।

१४८. सविता (६.१) — द्र० सूर्य।

१४९. सर्वात्मा रुद्र (५.६.११-१४) — द्र० रुद्र।

१५०. साग्नि हेति (३.२६.१) — द्र० अप्सरा।

१५१. सान्तपनाग्नि (६.७६) — द्र० अग्नि।

१५२. सावित्री (७.८६) — द्र० सूर्य।

१५३. सिनीवाली (६.११.३) — सिनीवाली ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेदमें देवता-स्वरूप प्रतिष्ठित हैं। राका और सिनीवाली चन्द्रमाकी कलाओंसे सम्बन्धित मानी गई हैं। पूर्ण चन्द्र दिवसको राका और प्रथम अभिनव चन्द्र दिवसको सिनीवाली कहा गया है। ऐतरेय ब्राह्मणमें सिनीवाली अमावस्याके नव चन्द्र दिन एवं उसकी अधिष्ठात्री देवीके रूपमें वर्णित हैं, जो उर्वरताकी प्रतीक है — या पूर्वाऽमावस्या सा सिनीवाली (ऐत०ब्रा० ७.११)। सिनीवालीको देवताओंकी बहन कहा गया है — ......सिनीवालि पृथुष्टुके या देवानामसि स्वसा (ऋ० २.३२.६)। ऋ० में सरस्वती राका तथा गुंगूके साथ इनका भी आवाहन किया गया है — या गुङ्गूर्या सिनीवाली या सरस्वती (ऋ० २.३२.८)। आचार्य सायणने इन्हें प्रकाशकी देवी निरूपित किया है — दृष्टचन्द्रा अमावास्या सिनीवाली (ऋ० २.३२.६ सा०भा०)। अथर्ववेदमें सिनीवालीका प्रजापति और अनुमतिके साथ उल्लेख है, जो गर्भाशय स्थित रेतस्के अंग-अवयवोंका निर्माण करके, उसमें लिंगका निर्धारण भी करते हैं — प्रजापतिरनुमतिः सिनीवाल्य चीक्लृपत् (अथर्व० ६.११.३)।

१५४. सिन्धु-समूह (१.१५) — द्र० सप्तसिन्धु।

१५५. सीता (३.१७) — सीताका देवत्व ऋग्वेद तथा अथर्ववेदमें निर्दिष्ट है। सीता कृषिकी अधिष्ठात्री देवीके रूपमें प्रतिष्ठित हैं। कोश-ग्रन्थोंमें सामान्यतया सीता शब्दका अर्थ हलके फालसे धरतीमें बननेवाली रेखा (या कूँड़) है। ऋग्वेदमें सीतासे उत्तम फल, ऐश्वर्य एवं कृपावर्षणकी

प्रार्थना की गई है – अर्वाची सुभगे भव सीते वन्दामहे त्वा (ऋ० ४.५७.६)। अन्नकी उत्पादि होनेके कारण अथर्ववेदमें सीताकी सुभगा कहकर प्रार्थना की गई हैं – सीते वन्दामहे त्वार्वाची सुभगे भव। .... सुफला भुवः (अथर्व० ३.१७.८)। सीता घृत और मधुसे सिंचित हैं, जो स्तोताको पयस्-सम्पन्न करती हैं – घृतेन सीता मधुना समक्ता..... ...... पिन्वमाना (अथर्व० ३.१७.९)। बृहद्देवतामें सीताका देवत्व इन शब्दोंमें विवेचित है – द्वे तु सीतायै षष्ठी सप्तमी च (बृह० ५.९)।

१५६. सुपर्ण (६.८.२) – द्र० श्येन।

१५७. सूर्य (३.३१.७) – वैदिक देवोंमें सूर्यको प्रमुख देवके रूपमें मान्यता प्राप्त है। इनका देवत्व चारों वेदोंमें सम्प्राप्य है। द्वादश आदित्योंमें सूर्य भी एक है। विराट् पुरुषके नेत्रोंसे सूर्यकी उत्पत्ति हुई है – ......चक्षोः सूर्यो अजायत (यजु० ३१.५०.२), इसी कारण सूर्यको सभी जीवोंके कर्मोंको देखनेवाला विवेचित किया गया है – सूराविश्वचक्षसे (ऋ० १.५०.२)। सूर्यके बिना किसीका जीवित रहना कठिन है, अतः सूर्यको सभीका आत्मा उपन्यस्त किया गया है – सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च (ऋ० १.११५.१)। अथर्ववेदमें सूर्यकी स्तुति कई अन्य नामोंमें भी की गई है। जैसे – ब्रध्न, वाम, शुक्र, सविता आदि। सभीको अपने कर्म और उसके फलमें टिकाए (बन्धित) रखनेके कारण सूर्यको ब्रध्न कहा गया है – ब्रध्नः सर्वेषां स्वस्व कर्मसु तत्फलेषु च बन्धकः संयोजकः सूर्यः (अथर्व० ७.२३.२ सा०भा०)। जगत्के पालक होनेके कारण सूर्यको वाम भी कहा गया है – अस्य वामस्य पलितस्य ......(अथर्व० ९.१४.१)। देदीप्यमान होनेके कारण सूर्यको शुक्र भी कहते हैं – शुक्रः शोचमानो दीप्यमानः सूर्यः (अथर्व० ६.५३.१ सा०भा०)। सबका प्रेरक होनेसे सूर्यको सविता कहा गया है – ....सवितारम् अन्तर्यामितया सर्वस्य प्रेरकं सूर्यं स्तुहि (अथर्व० ६.१.१ स०भा०)। अपने ऋग्वेद भाष्यमें आचार्य सायणने उदित होनेसे पूर्व, सूर्यको सविता कहा है – उदयात् पूर्व भावी सविता (ऋ० ५.८१.४ सा०भा०)। सवितां सभी देवताओंके जनक हैं – सविता वै देवानां प्रसविता (शत०ब्रा० १.१.२.१७)। सूर्यकी पुत्री सूर्या है, यह तथ्य इन शब्दोंमें उल्लिखित है– आ वां रथं दुहिता सूर्यस्य कार्ष्मेवातिष्ठदर्वता जयन्ती (ऋ०

1.116.17)। सूर्याको सविताकी पुत्री भी कहते हैं, इसीलिये इनका एक नाम सावित्री भी है। ऐतरेय ब्राह्मणमें सावित्री प्रजापतिकी पुत्री वर्णित हैं — प्रजापतिर्वै सोमाय राज्ञे दुहितरं प्रायच्छत् सूर्यां सावित्रीम् (ऐत०ब्रा० 4.7)। सावित्री-सोम अथवा अश्विनीकी पत्नी भी हैं। इस प्रकार सूर्यदेव वस्तुतः अग्नि-तत्त्वके ही आकाशीय रूप हैं। वे विश्व-विधानके संरक्षणकर्त्ता हैं, इसीलिये उनका चक्र नियमित और सार्वभौमिक नियमोंका अनुगामी है। सूर्य अग्नि एवं मित्रावरुणसे विशिष्टतः सम्बद्ध हैं।

158. सोम (6.2) — सोमको पृथ्वी स्थानीय देवताके रूपमें प्रतिष्ठा प्राप्त है। सोमका देवत्व चारों वेदोंमें प्राप्त होता है। ऋग्वेदमें सैकड़ों बार इनका नामोल्लेख हुआ है। सामान्यतः इनका उद्गम पार्थिव सोमलतासे माना जाता है और इससे (सोमलतासे) निकले मादव स्रावको सोम कहा गया है। द्रव-रूपमें सोमकी यज्ञमें आहुति भी दिए जानेका वर्णन मिलता है — तत् ते भद्रं यत् समिद्धः स्वे दमे सोमा हुतो जरसे मृळयत्तमः (ऋ० 1.94.14)। सोमको अमृत और राजाकी संज्ञा प्रदान की गई है— सोमो राजाऽमलꣳ सुत (यजु० 19.72)। ओषधियोंमें सर्वश्रेष्ठ होनेके कारण सोमको वनस्पतियोंका अधिपति कहा गया है — सोमं नमस्य राजानं यो यज्ञे वीरुधां पतिः (अथर्व० 3.27.4)। अथर्ववेदके एक अन्य मंत्रमें वर्णन है कि लोग जिस सोम नामक ओषधिको पीसकर पान करते हैं, वे वास्तविक सोमका पान नहीं करते, पर ब्राह्मण (विद्वान्) लोग जिस सोमको जानते हैं, उसको कोई मर्त्य ग्रहण नहीं कर सकता। उसका पान देवगण करते हैं और वह (सोम) पुनः प्रबुद्ध हो जाता है। पवित्रकारक होनेके कारण सोमको 'पवमान सोम' भी कहा गया है। ये द्युलोक और अन्तरिक्षसे पृथ्वीकी ओर प्रवाहित होता है — पवमाना दिवस्पर्यन्त रिक्षा दस्तृक्षता पृथिव्या अधि सानवि (ऋ० 9.63.27)। वैसे तो अन्य देवोंके साथ भी सोम सम्बन्ध है, किन्तु सोमका सम्बन्ध प्रमुखतः इन्द्रके साथ दिखाई देता है — इन्द्रायः सोममृत्विजः सुनोता च धावत (अथर्व० 6.2.1)।

159. सोमारुद्र (5.6) — अथर्ववेदमें सोम और इन्द्रके युग्मका देवत्व

भी प्राप्त होता है। यहाँ वे ओषधियोंके श्रेष्ठ विज्ञ एवं अधिपति स्वरूप निर्दिष्ट हैं। वे शरीरान्तर्गत विषूची और अमीवा रोगोंको दूर कर निर्ऋतिको दूर भगाते हैं — सोमा रुद्रा विवृहतं विषूचीममीवा या नो गयमा विवेश (अथर्व० ७.४३.१)। शरीरके मल-विकारोंको दूर कर वे उपासकको पापमुक्त भी करते हैं — सोमारुद्रा युवमेतान्यस्मद् विश्वातनूषु भेषजानि धत्तम् (अथर्व० ७.४३.२)। अथर्व०के एक अन्य मंत्रमें इन्हें तीक्ष्ण आयुधोंवाला और सुख-प्रदाता विवेचित किया गया है — तिग्मायुधौ तिग्म हेती सुशेवौ सोमा रुद्राविह सु मृडतं नः (अथर्व० ५.६.५)।

१६०. सौधन्वन् (६.४७.३) — अथर्ववेदीय देवताओंमें सुधन्वा आङ्गिरसके पुत्र देवश्रेणीमें परिगणित हुए हैं। वस्तुतः सुधन्वा अङ्गिरस गोत्रीय ऋषि थे, जिनके तीन पुत्र क्रमशः ऋभुक्षन् वाज और विभ्वन् थे। इन्हें ऋभुगण कहते हैं। इनका अपत्यवाची सम्बोधन सौधन्वन् है। इन तीनों पुत्रोंने अपनी कर्म-कुशलताके कारण देवत्वको प्राप्त किया। पौराणिक कोशके अनुसार इन्होंने इन्द्रके घोड़ों और रथका निर्माण किया था और अपने वृद्ध पिताको युवा बना दिया था। निरुक्त ११.१६का उद्धरण देकर आचार्य सायणने इस तथ्यकी पुष्टि करते हुए लिखा है — सौधन्वनाः सुधन्वन आङ्गिरसस्य पुत्राः। ....सुधन्वन आङ्गिरस्य त्रयः पुत्रा बभूवः। ऋभुर्विभ्वा वाज इति। ...त च मनुष्या एव सन्तो रथ निर्माणाति शिल्प करणेन देवास्तोषयित्वा तत्प्रसादेन देवत्वं प्राप्ताः (अथर्व० ६.४७.३ सा०भा०)। इन तीनों पुत्रोंको त्वष्टाने शिक्षण प्रदान किया था जिसके कारण इन्होंने सोमके लिये चार चमसोंका निर्माण किया था — सुधन्वन....ऋभुर्विभ्वा च वाजश्च शिष्यास्त्वष्टुश्च तेऽभवन् (बृह० ३-८३)।

१६१. सौषधिका निलिम्पा (३.२६.५) — द्र० अप्सरा।

१६२. स्कम्भ (१०.७) — द्र० अथर्ववेदमें विराट् ब्रह्माण्डके आधार-स्वरूप स्कम्भका देवत्व प्रतिष्ठित है। स्कम्भ आदि सनातन देवका नाम है। स्कम्भको ब्रह्मासे भी प्राचीन माना गया है, अतः इन्हें ज्येष्ठ ब्रह्मकी संज्ञा प्रदान की गई है — स्कम्भ इति सनातनतमो वो ब्रह्मणोप्याद्यः

भूतः। अतो ज्येष्ठं ब्रह्मेति तस्य संज्ञा (अथर्व० १०.७ सा०भा०)। विराट् एवं सम्पूर्ण देवता स्कम्भमें ही समाहित हैं। स्कम्भ उस देव शक्तिके रूपमें विवेचित हैं, जिसके ऋत, तप, श्रद्धा, सत्य, अग्नि, वायु, चन्द्र, भूमि अन्तरिक्ष आदि अंग-अवयव हैं— कस्मिन्नङ्गे तपो .... तिष्ठत्युत्तरं दिवः (अथर्व० १०.७.१.३)। लोग जिस हिरण्यगर्भको सर्वातिशायी और अनिर्वचनीय कहते हैं, वह हिरण्यगर्भ संसारको सर्वप्रथम स्कम्भ-द्वारा ही प्रदान किया गया था — हिरण्यगर्भं परममनत्युद्यं जनाविदुः। स्कम्भस्तगदग्रे प्राश्चिद्धिरण्यं लोके अन्तरा (अथर्व० १०.७.२८)। स्कम्भकी माप भूमिको बताया गया है, साथ ही उनके उदरको अन्तरिक्ष, मूर्धाको द्यौ, सूर्य और चन्द्रको दो नेत्र, अग्निको मुख, प्राण और अपानको वायु, अङ्गिरा गोत्रियोंको दृष्टि और दिशाओंको ज्ञानेन्द्रियाँ कहा है— यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम्। दिवं यश्चके मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः। ......दिशो यश्चके......... नमः (अथर्व० १०.७.३२-३४)। स्कम्भके इस विवेचनकी संगति पुरुषसूक्तके उस विवेचनसे बैठती प्रतीत होती है, जो विराट् पुरुषके लिये वर्णित है। जैसे— चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत। श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत (यजु० ३१.१२)। अथर्व०के एक मंत्रमें लोक, तप और ऋत, इन्द्रमें समाहित बताते हुए इन्द्रको स्कम्भ कहा गया है — इन्द्रे लोका ....इन्द्रं त्वा वेद प्रत्यक्षं स्कम्भे सर्वं प्रतिष्ठितम् (अथर्व० १०.७.३०)।

१६३. स्तनयित्नु (४.१५.११)— स्तनयित्नुको अथर्ववेदमें गौण स्थान प्राप्त हुआ है। ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्यमें स्तनयित्नुको गर्जनके अर्थमें लिया है। ताण्ड्य ब्राह्मणमें उल्लेख है— तत् स्तनयित्नोर्घी ये ऽन्वसृज्यत (ता०ब्रा० ७.८.१०)। शतपथ ब्राह्मणमें इसे अशनि (वज्र या बिजली)-के अर्थमें लिया गया है — कतस्तनयित्नुरिति। अशनिरिति (शत०ब्रा० ११.६.३.९)। आकाशीय विद्युत् गर्जनशील और कड़कनेवाली होती है, जो वज्रकी तरह गिरती है, सम्भवतः इसीलिये शतपथ ब्राह्मणकारने इसे अशनि कहा है। अथर्ववेदके एक मंत्रमें ऋषिने स्तनयित्नुको गरजता हुआ मेघ कहा है — प्रजापतिः सलिलादा ....स्तयित्नुनेहि (अथर्व० ४.१५.११)।

१६४. स्मर (६.१३०-१३२) — द्र० काम।

अन्य देव-समुदाय

वैदिक ऋषि और देवताओंके निर्धारणके सम्बन्धमें मूल अवधारणा यह है कि मन्त्रद्रष्टा ऋषि तथा मन्त्रोक्त (अथवा मन्त्रका वर्ण्य-विषय) देवता है — यस्य वाक्यं स ऋषिः। या तेनोच्यते सा देवता (ऋ० १०.१० सा०भा०)। वेदविद् आचार्य सायणने इस सूत्रको आधार मानकर ही अथर्ववेदके ऋषियों और देवताओंका निर्धारण किया गया है। कुछ प्रचलित और प्रख्यात देवगण जैसे - अग्नि, इन्द्र, वरुण, अश्विनीकुमार, सोम, पृथिवी आदिके अतिरिक्त अचेतन और अमूर्त्त (भावात्मक), मानव, पशु-पक्षी व अन्य प्राणी, उपकरण, हव्य, वस्तु, द्रव्य तथा अंग-अवयव आदिका भी देवश्रेणीमें परिगणन किया गया है। गुण-धर्मके आधारपर इन सभीको निम्नाङ्कित वर्गोंमें विभाजित किया गया है —

(क) मानव-वर्ग — अतिथि, क्षत्रिय राजा, राजा, दम्पती, द्रुह्वण (द्रोह करनेवाला व्यक्ति), ब्रह्मजाया (ब्राह्मणकी पत्नी), ब्रह्मद्विट (वेदोक्त कर्मसे द्वेष करनेवाला), ब्राह्मण, ब्राह्मणम्, ब्राह्मणाः, मनुवंशी (मनुष्य), राजा आदि।

(ख) पशु और प्राणी-वर्ग — अघ्न्या (न मारने-योग्य) गौ, अनड्वान (बैल), अश्व-समूह, असित (काला सर्प), ऋषभ (बैल), एक वृष (बैल), कल्माषग्रीव (कालीगर्दनवाला सर्प), गो-समूह, गृधद्वय, तक्षक (सर्प), तिरांश्चराजी (तिरछी रेखाओंवाला सर्प), पश्चौदन अज (यज्ञका अज विशेष), पतत्रिण (पक्षी), पशु-समूह, पृदाकु (सर्प-विशेष), मण्डूक समूह, मधु (मधुकशा नामक गौ), वय (पक्षीं), वशा (वशानामक गौ), वाजी (अश्व), वृश्चिकादि, वृषभ, व्याघ्र, शतौदना (गो-विशेष), शितिपात् अविं (श्वेत पैरवाली भेड़), स्वज (सर्प-विशेष), हरिण (कृष्ण मृग) आदि।

(ग) उपकरण-वर्ग — कृशन (शत्रुको क्षीण करनेवाला शंख), ग्रावा (पत्थर), दुन्दुभि (वाद्ययंत्र), मनुष्योंकके बाण, मेखला (कमरमें बाँधनेवाली), वज्र (आयुध), हेति (संहारक अस्त्र) आदि।

(घ) स्थान-वर्ग — गृह-समूह (घर), गोष्ठ (पशु बाँधनेका स्थान), दूर्वाशाला (दूर्वागृह), वेदी (यज्ञवेदी), शाला (गृह) आदि।

(ङ) **अंग-अवयव वर्ग** — अक्षि (आँख), दन्त-समूह, योनि (नारीका प्रजनन-अंग), रामायणी (रामायण नामक नाड़ी), शेप (पुरुषकी उपस्थेन्द्रिय), हस्त (हाथ), हिरा (धमनी या शिरा) आदि।

(च) **हव्य वर्ग** — अन्न, आज्य (घृत), ब्रह्मौदन (ऋत्विज हेतु पकाया गया भात) आदि।

(छ) **वस्तु या द्रव्य-वर्ग** — अभीवर्त मणि (सफलता प्रदायक मणि), अर्क (अर्कमणि), जङ्गिड़ (काष्ठमणि), त्रिवृत् (तीन लड़ोंसे बनी मणि-विशेष), त्रैकादुकाञ्जन (त्रिककुद पर्वतसे उत्पन्न आञ्जन मणि), पर्णमणि (पलाश वृक्षसे बनी मणि), पर्णमणि (पलाश-वृक्षसे बनी मणि), फालमणि (खदिर काष्ठके फालकी बनी मणि), योषित लोहित वासन (स्त्रीके लोहित वर्ण वस्त्र), रयि (धन), वरण मणि (वरण नामक वृक्षकी बनी मणि), वास (वस्त्र), विष, शंखमणि, हिरण्य (स्वर्ण) आदि।

(ज) **वनस्पति या ओषधि-वर्ग** — अज शृंगी, अपामार्ग, वनस्पति, अपामार्ग वीरुत् (पाप मार्जक काष्ठ) अश्वत्थ (पीपलकी बनी मणि), असिक्नी वनस्पति (काली वनस्पति), आसुरी वनस्पति (कुष्ठादि नाशक वनस्पति), ईर्ष्यापनयन (ईर्ष्या विनाशक ओषधि), ओषधि, ओषधिसमूह, कुष्ठ (कुष्ठ नामक ओषधि), तृष्टिका (दाहोत्पादक ओषधि), नितत्नी वनस्पति (नीचेको फैलनेवाली वनस्पति), पिप्पली, भेषज, मधुलौषधि (मधुर ओषधि), मधुवनस्पति (मधूकलता), मातृनामौषधि, लाक्षा, वनस्पति (आसुरी दुहिता), वनस्पति पृश्निपर्णी, वीरुध (ओषधिका पौधा), शमी (वृक्ष) आदि।

(झ) **अमूर्त्त (भावात्मक) देव-वर्ग** — अति मृत्यु (मृत्युको पार करना), अन्तरिक्ष (द्यु और पृथिवीके बीचका लोक), अपचिद् भैषज्य (गण्डमालाकी चिकित्सा), अपान (शरीरगत मलका निष्कासन करनेवाली वायु), अरिनाशन (शत्रुनाशक सूक्त), अहः (दिन), आदित्यरश्मि, आयु, आयुष्य, आशीर्वचन, ईर्ष्यापनयन (ईर्ष्या-विनाशक सूक्त), उदीची दिशा (उत्तरी दिशा), ऋक्-साम, ऋतुएँ, कर्म, कामात्मा, कासा (खाँसी रोग), कृत्या दूषण, कृत्या परिहरण (घातक प्रयोगको लौटाना), गर्भ दृंहण (गर्भकी दृढता), घर्म (धूप), छन्द-

समूह, जायान्य (स्त्री-संयोगसे उत्पन्न क्षय-रोग), तक्मनाशन (तक्मा नामक ज्वर-विनाशक सूक्त), तता पितरगण (सपिण्डमृतक पितर) पितामहा पितरगण (पिंतामह अर्थात् बाबा महान् पितर), तारागण, दक्षिण दिशा, दधत्यर्सास (नदीका फेन), दिशाएँ, दीर्घायु, दुःस्वप्ननाशन (दुःस्वप्न विनाशक सूक्त), ध्रुव (स्थिर होना), निविद् आज्ञारूप वाणी, परसेना हनन (पर सेनाका हनन करनेवाला सूक्त), प्रतीची दिशा (पश्चिम दिशा), प्राची दिशा (पूर्व दिशा), बलास (बलका क्षय करनेवाला रोग), ब्रह्म कर्मात्मा (वेदोक्त कर्म), ब्रह्म प्रकाशन (ब्रह्मका प्रकाशक सूक्त), भैषज्य (ओषधि सम्बन्धी सूक्त), मन, मन्याविनाशन (गण्डमालाका विनाशक सूक्त), मन्युशमन (क्रोधशामक सूक्त), मही (भारी-विशेषण), यक्ष्म (राजयक्ष्मादि क्षेत्रिय रोग), यक्ष्मनाशन (यक्ष्माका विनाशक सूक्त), यक्ष्म विबर्हण (यक्ष्माको पृथक् करनेवाला सूक्त), यमिनी (जुड़वाँ बच्चोंकी जन्मदात्री-गाय, पृथिवी, प्रकृति आदि), यातुधानी (राक्षसी), योनिगर्भ (गर्भ-विषयक सूक्त), राज्याभिषेक (राज्याभिषेक सम्बन्धी सूक्त), रेतस् (वीर्य), रोहिणी (लोहित वर्णवाली गण्डमाला), वर्चस् (शक्ति), विद्या (ज्ञान), विनायक (दुर्लक्षण नाशक शक्ति), विश्वाभुवनानि (समस्त प्राणियोंके अन्तःकरण), विश्वा भूतानि (समस्त प्राणी), वेद (दर्भकी मुट्ठी), शालाग्नि, श्वित्र (श्वेतरोग), सन्नति (निकट जाकर नमन करनेकी स्थिति), सभा, सर्वशीर्षामयाद्यपाकरण (शिरः रोग दूरीकरण), सुख, सेनामोहन (सेनाको मोहित कर देनेवाला सूक्त), स्वापन (स्वप्न), हरिमा (कामिला रोगसे उत्पन्न शरीरका पीला रंग), हृद्रोग आदि। अथर्ववेदमें इन सबकी भी स्तुति और वर्णन है। अस्तु, उपर्युक्त सभी वर्गोंको देव-श्रेणीमें प्रतिष्ठित किया गया है।

अथर्ववेदमें प्रयुक्त छन्दोंका विवरण

क्र.सं.	छन्दनाम	वर्ण संख्या
१.	अतिजगती	५२
	अतिजागतगर्भा परातिजागता विराट् अतिजगती	५०
	अतिशाक्वरगर्भा अतिजगती	५२
	ककुम्मती परशाक्वरा भुरिक् पञ्चपदा अतिजगती	५३

त्र्यवसाना उष्णिग्बृहतीगर्भा परात्रिष्टुप् षट्पदा अतिजगती ४९*
त्र्यवसाना पञ्चपदा अतिजगती ५२
त्र्यवसाना पञ्चपदा परशाक्वरा अतिजगती ४९*
त्र्यवसाना षट्पदा अतिजगती ५२
त्र्यवसाना षट्पदा त्रिष्टुब्गर्भा अतिजगती ४९*
त्र्यवसाना षट्पदा त्रिष्टुब्बृहतीगर्भा अतिजगती ५२
त्र्यवसाना षट्पदा विराट् अतिजगती ५३*
पञ्चपदा अतिजगती ५२
पञ्चपदा अनुष्टुब्गर्भा परातिजगती ५०
पञ्चपदा उष्णिग्बृहतीगर्भा अतिजगती ४७*
पञ्चपदा विराट् अतिजगती ५०
परशाक्वरा विराट् अतिजगती ५०
परातिजागता ककुम्मती पञ्चपदा अतिजगती ५०
भुरिक् पञ्चपदा अतिजगती ५३
शाक्वरगर्भा चतुष्पदा विराट् अतिजगती ४९

२. (अतिधृति)

अनुष्टुब्गर्भा सप्तपदा चतुरवसाना अतिधृति ७५
निचृत् सप्तपदा चतुरवसाना अतिधृति ७५
भुरिक् सप्तपदा चतुरवसाना अतिधृति ७७
शंकुमती अतिजागतशाक्वरातिशाक्वरधार्त्यगर्भा ७४
सप्तपदा त्र्यवसाना अतिधृति
सप्तपदा त्र्यवसाना अतिधृति ७६

३. (अतिशक्वरी)

उष्णिगनुष्टुब्गर्भा षट्पदा परातिशक्वरी ५८
चतुष्पदा अतिशक्वरी ६०
त्रिष्टुबनुष्टुब्गर्भा षट्पदा त्र्यवसाना अतिशक्वरी ५७
पञ्चपदा अतिशक्वरी ६०
पूर्वात्रिष्टुप् द्विपदा अतिशक्वरी ५७
बृहतीगर्भा सप्तपदा त्र्यवसाना अतिशक्वरी ६०
विराट् पञ्चपदा अतिशक्वरी ५८
षट्पदा त्र्यवसाना अतिशक्वरी ६०

४. अत्यष्टि ६८

	विराट् षट्पदा त्र्यवसाना अत्यष्टि	६६
	विराट् सप्तपदा अत्यष्टि	६६
	षट्पदा त्र्यवसाना अत्यष्टि	६८
	सप्तपदा त्र्यवसाना अत्यष्टि	६८
५.	अनुष्टुप्	३२
	आर्ची अनुष्टुप्	२४
	आर्षी अनुष्टुप्	३२
	आर्षी परानुष्टुप्	४४*
	आसुरी अनुष्टुप्	१३
	आसुरी (एकावसाना) अनुष्टुप्	१३
	उष्णिग्गर्भा निचृत् अनुष्टुप्	३१
	उष्णिग्बृहतीगर्भा अनुष्टुप्	३२
	एकपदा आर्ची अनुष्टुप्	२४
	एकपदा आसुरी अनुष्टुप्	१३
	एकपदा भुरिक् आर्ची अनुष्टुप्	२५
	एकपदा यजुर्ब्राह्मी अनुष्टुप्	४८
	एकावसाना एकपदा ब्राह्मी अनुष्टुप	४८
	एकावसाना प्राजापत्या अनुष्टुप्	१६
	एकावसानार्ची अनुष्टुप्	२४
	एकावसानासुरी अनुष्टुप्	१३
	ककुम्मती अनुष्टुप्	३०
	ककुम्मती पराबृहती अनुष्टुप्	३०
	त्रिपदा अनुष्टुप्	३२
	त्रिपदा विराट् अनुष्टुप्	३०
	त्रिपदा विराड्गर्भा अनुष्टुप्	३०
	द्विपदा आर्ची अनुष्टुप्	२४
	द्विपदा प्राजापत्या अनुष्टुप्	१६
	निचृत् अनुष्टुप्	३१
	पिपीलिकमध्या अनुष्टुप्	३२
	पुरस्तात् ककुम्मती अनुष्टुप्	३०
	पुरोबार्हतानुष्टुप्	३२
	पुरोष्णिग् बार्हतपरा अनुष्टुप	३२

	प्राजापत्या अनुष्टुप्	१६
	बार्हतगर्भा अनुष्टुप्	३२
	बृहतीगर्भा अनुष्टुप्	३३
	भुरिक् अनुष्टुप्	३३
	भुरिक् आर्ची अनुष्टुप्	२५
	भुरिक् प्राजापत्या अनुष्टुप्	१७
	भुरिक् साम्नी अनुष्टुप्	१७
	याजुषी अनुष्टुप्	०८
	विराट् अनुष्टुप्	३०
	शंकुमती अनुष्टुप्	२९
	साम्नी अनुष्टुप्	१६
	साम्नी एकावसाना अनुष्टुप्	१६
	स्वराट् अनुष्टुप्	३४
	स्वराट् (सम्राट्) आर्ची अनुष्टुप्	२६
६.	अष्टि	६४
	चतुरवसाना अष्टि	६४
	त्र्यवसाना षट्पदा भुरिक् अष्टि	६५
	त्र्यवसाना षट्पदा विराट् अष्टि	६२
	त्र्यवसाना सप्तपदा अष्टि	६४
	त्र्यवसाना सप्तपदा भुरिक् अष्टि	६५
	षट्पदा त्र्यवसाना अष्टि	६४
	षट्पदा त्र्यवसाना विराट् अष्टि	६२
७.	(आकृति)	
	चतुरवसाना अष्टपदा आकृति	८८
	चतुरवसाना अष्टपदा भुरिक् आकृति	८९
८.	उष्णिक्	२८
	आर्ची उष्णिक्	२१
	आर्ची एकावसाना उष्णिक्	२१
	आर्ची द्विपदा उष्णिक्	२१
	आसुरी उष्णिक्	१४
	एकपदा उष्णिक्	२८
	ककुप् उष्णिक्	२८

	ककुप् त्रिपदा उष्णिक्	२८
	ककुम्मती चतुष्पदा उष्णिक्	२६
	ककुम्मती पुर उष्णिक्	२६
	चतुष्पदा उष्णिक्	२८
	चतुष्पदा भुरिक् उष्णिक्	२९
	चतुष्पदा शंकुमती उष्णिक्	२६
	चतुष्पदा स्वराट् उष्णिक्	३०
	परोष्णिक्	२८
	परोष्णिक् विराट्	२६
	पुर उष्णिक्	२८
	पुरोबृहती त्रिपदा पोराष्णिक्	२८
	प्राजापत्या उष्णिक्	१२
	प्राजापत्या उष्णिक् (दैवीपंक्ति)	१२
	यवमध्या त्रिपदा एकावसाना उष्णिक्	२८
	विराट् उष्णिक्	२६
	विराट् पुर उष्णिक्	२६
	साम्नी उष्णिक्	१४
	साम्नी उष्णिक् (दैवीपंक्ति)	१४
	साम्नी एकावसाना उष्णिक्	१४
९.	कृति	८०
	चतुरवसाना सप्तपदा कृति	८०
	त्र्यवसाना सप्तपदा कृति	८०
	विराट् कृति	७८
१०.	गायत्री	२४
	आर्ची गायत्री	१८
	आर्षी गायत्री	२४
	आर्षी निचृद् गायत्री	२३
	आसुरी गायत्री	१५
	एकपदा गायत्री	२४
	एकपदा विराड् गायत्री	१८
	एकपदासुरी गायत्री	१५
	एकावसाना आसुरी गायत्री	१५

एकावसाना विराड् गायत्री	१८
त्रिपदा एकावसाना भुरिगार्ची गायत्री	१९
त्रिपदा गायत्री	२४
त्रिपदा निचृद् गायत्री	२३
त्रिपदा निचृत् विषमा गायत्री	२३
त्रिपदा ब्राह्मी गायत्री	३६
त्रिपदार्षी गायत्री	२४
त्रिपदा वर्धमाना गायत्री	२१
त्रिपदा समविषमा गायत्री	२४
त्रिपदा समविषमार्षी गायत्री	२४
त्रिपदा स्वराड् गायत्री	२६
द्विपदा निचृद् गायत्री	२३
द्विपदा ब्राह्मी गायत्री	३६
द्विपदार्षी गायत्री	२४
द्विपदा विराड् गायत्री	२०
द्विपदासुरी गायत्री	१५
निचृत् विराड् गायत्री	१७
पादनिचृद् गायत्री	२१
पिपीलकमध्या गायत्री	२४
प्रतिष्ठा गायत्री	२१
प्राजापत्या गायत्री	८
भुरिगार्षी गायत्री	२५
भुरिग् गायत्री	२५
भुरिग् विराड् गायत्री	२२
भुरिग् विषमा गायत्री	२५
भुरिङ्नागी गायत्री	२५
यवमध्या गायत्री	२४
याजुषी गायत्री	६
विराड् गायत्री	३३
विराड् विषमा गायत्री	२२
साम्नी गायत्री	१२
स्वराड् गायत्री	२६

	स्वराड् विराड् गायत्री	२२
११.	जगती	४८
	अतिजागतगर्भा जगती	४८
	अतिजागतगर्भा पराशाक्वरा चतुष्पदा भुरिग्जगती	४८
	अनुष्टुब्गर्भा पञ्चपदा विराड् जगती	४६
	आर्ची जगती	३६
	आसुरी जगती	९
	उपजगती	४६
	चतुष्पदा जगती	४८
	चतुष्पदा पुरःशाक्वरगर्भा भुरिग्जगती	४९
	चतुष्पदा शाक्वरगर्भा जगती	४८
	त्र्यवसाना षट्पदा जगती	४८
	दैवी जगती	७
	द्विपदा प्राजापत्या जगती	१६
	द्विपदार्ची जगती	३६
	पञ्चपदा अनुष्टुब्गर्भा जगती	४८
	पञ्चपदा उष्णिग्गर्भा विराड् जगती	४६
	पञ्चपदा बार्हतवैराजगर्भा जगती	४५
	पञ्चपदा विराड्गर्भा जगती	४७
	पञ्चपदा शाक्वरगर्भा ककुम्मती जगती	४८
	परातिजागता विराड् जगती	४६
	पुरोऽतिजगती विराड् जगती	४६
	पुरोऽतिजागता जगती	४८
	पुरोऽतिजागता विराड् जगती	४६
	पुरोद्व्यतिजागता भुरिग्जगती	४९
	भुरिग् जगती	४९
	भुरिग् विराड् जगती	४६
	मध्येज्योति जगती	४४
	याजुषी जगती	१२
	शक्वरीगर्भा जगती	४८

	शाक्वरातिजागतगर्भा जगती	४८
	षट्पदा जगती	४८
	स्वराड् जगती	५०
१२.	त्रिष्टुप्	४४
	अनुष्टुब्गर्भा त्रिष्टुप्	४१
	आर्षी त्रिष्टुप्	४४
	आसुरी त्रिष्टुप्	१०
	एकावसाना द्विपदा साम्नी त्रिष्टुप्	२२
	एकावसाना साम्नी त्रिष्टुप्	२२
	चतुष्पदा त्रिष्टुप्	४४
	त्रिपदा त्रिष्टुप्	३९*
	त्रिपदा प्राजापत्या त्रिष्टुप्	२८
	त्र्यवसाना चतुष्पदा त्रिष्टुप्	४४
	त्र्यावसाना पञ्चपदा विराट् उपरिष्टाज्ज्योति त्रिष्टुप्	४१
	त्र्यावसाना षट्पदा विपरीतपादलक्ष्मा त्रिष्टुप्	४४
	दैवी त्रिष्टुप्	६
	द्विपदा निचृत्त् त्रिष्टुप्	२०
	द्विपदार्षी भुरिक् त्रिष्टुप्	४५
	द्विपदार्षी साम्नी त्रिष्टुप्	२२
	निचृत् त्रिष्टुप्	४३
	पञ्चपदा पुरस्ताज्ज्योतिष्मर्ती त्रिष्टुप्	४३
	पञ्चपदा मध्येज्ज्योतिष्मती त्रिष्टुप्	४३
	परानुष्टुप् त्रिष्टुप्	४२
	पराबृहती त्रिष्टुप्	४२
	पराविराट् त्रिष्टुप्	४३
	पुरस्ताज्जयोतित्रिष्टुप्	४१
	पुरोतिजागता विराड्गर्भा त्रिष्टुप्	४४
	पुरोऽनुष्टुप् त्रिष्टुप्	४१
	पुरोबार्हतातिजागतगर्भा त्रिष्टुप्	४३
	पुरोबार्हता त्रिष्टुप्	४२
	पुरोबृहती त्रिष्टुप्	४१*
	पुरोविराट् त्रिष्टुप	४३

	पुरोविराद् पुंरस्ताज्जयोति त्रिष्टुप्	४२
	पुरःकृति त्रिपदा विराद् त्रिष्टुप्	४२
	प्राजापत्या त्रिष्टुप्	२८
	बृहतीगर्भा त्रिष्टुप्	४३
	बृहतीगर्भा विराद् त्रिष्टुप्	४२
	भुरिक् त्रिष्टुप्	४५
	भुरिक् परातिजागता त्रिष्टुप्	४४
	भुरिक् साम्नी त्रिपदा त्रिष्टुप्	२३
	भुरिगार्ची त्रिष्टुप्	३३
	मध्येज्योति उष्णिग्गर्भा त्रिष्टुप्	४१
	महाबृहती त्रिष्टुप्	४४
	याजुषी त्रिष्टुप्	११
	विराड्गर्भा त्रिष्टुप्	४३
	विराद्स्थाना त्रिष्टुप्	४१
१३.	(धृति)	
	अतिशाक्वरगर्भा षट्पदा त्र्यवसाना धृति	७२
	अष्टपदा त्र्यवसाना धृति	७२
१४.	पंक्ति	४०
	अक्षर पंक्ति	२०
	अनुष्टुब्गर्भा पंक्ति	३९
	अनुष्टुब्गर्भा भुरिक् पंक्ति	४२
	अनुष्टुब्गर्भा विपरीतपादलक्ष्मा पंक्ति	४२
	आर्ची निचृत् पंक्ति	२९
	आर्षी पंक्ति	४०
	आसुरी पंक्ति	११
	आस्तार पंक्ति	४०
	ककुम्मती आस्तार पंक्ति	३७
	ककुम्मती बृहतीगर्भा पथ्यापंक्ति	४०
	त्रिपदा प्रतिष्ठार्ची पंक्ति	३०
	त्रिपदार्ची पंक्ति	३०
	त्रिष्टुब्गर्भा पंक्ति	४०*
	त्र्यवसाना ककुम्मती पथ्यापंक्ति	३८

त्र्यवसाना पथ्यापंक्ति	४०
त्र्यवसाना शंकुमती पथ्यापंक्ति	३७
दैवी पंक्ति	२५
द्विपदा प्राजापत्या पंक्ति	२४
द्विपदार्ची पंक्ति	३०
द्विपदार्षी पंक्ति	४०
द्विपदा विराडार्षी पंक्ति	३८
द्विपदा साम्नी पंक्ति	२०
निचृदार्ची पंक्ति	२९
निचृदार्षी पंक्ति	३९
पञ्चपदा पथ्यापंक्ति	४०
पथ्यापंक्ति	४०
पदपंक्ति	२५
परात्रिष्टुप् पंक्ति	४१
पुरः परशाक्वरा विपरीतपादलक्ष्मा त्रिपदा पंक्ति	३७
पुरोविराट् आस्तार पंक्ति	४०
पुरोविराट् सतः पंक्ति	४०
प्रस्तार पंक्ति	४०
प्राजापत्या पंक्ति	२४
भुरिक् पथ्यापंक्ति	४१
भुरिगार्षी पंक्ति	४१
भुरिगास्तार पंक्ति	४१
याजुषी पंक्ति	१०
विपरीतपादलक्ष्मा पंक्ति	४०
विराट् आस्तार पंक्ति	३८
विराट् पथ्यापंक्ति	३८
विराट् प्रस्तार पंक्ति	३८
सतः पंक्ति	४०
साम्नी पंक्ति	२०
स्वराट् आर्षी पंक्ति	४२
स्वराट् आस्तार पंक्ति	४२

	स्वराट् पंक्ति	४२
	स्वराट् प्राजापत्या त्रिपदा पंक्ति	२६
१५.	(प्रकृति)	
	शाक्वरऽतिशाक्वरगर्भा सप्तपदा चतुरवसाना प्रकृति	८४
	सप्तपदा त्र्यवसाना प्रकृति	८४
१६.	प्रगाथ (बृहती + सतोबृहती)	७६
	प्रगाथ (विषमाककुप् + समा सतोबृहती)	६८
	प्रगाथ (विषमा बृहती + समा सतोबृहती)	७६
१७.	बृहती	३६
	आर्ची बृहती	२७
	आसुरी बृहती	१२
	उपरिष्टाद् निचृद् बृहती	३५
	उपरिष्टाद् विराड् बृहती	३४
	उरोबृहती	३६
	एकपदा भुरिक् साम्नी बृहती	१९
	एकपदा विराड् बृहती	३४
	एकावसाना द्विपदार्ची बृहती	२७
	एकावसाना द्विपदा साम्नी बृहती	१८
	एकावसाना निचृत् महाबृहती	३५
	एकावसाना विराट् महाबृहती	३४
	चतुष्पदा उपरिष्टाद् बृहती	३६
	त्रिपदा प्राजापत्या बृहती	२०
	त्रिपदा भुरिक् महाबृहती	३७
	त्रिपदा महाबृहती	३६
	त्रिपदा विषमपादलक्ष्मा महाबृहती	३६
	त्रिपदा साम्नी बृहती	१८
	द्विपदा प्राजापत्या बृहती	२०
	द्विपदा भुरिक् साम्नी बृहती	१९
	द्विपदा साम्नी बृहती	१८
	निचृत् पुरस्ताद् बृहती	३५
	निचृदार्ची बृहती	२६
	निचृद् बृहती	३५

	निचृद् महाबृहती	३५
	पथ्या बृहती	३६
	पुरस्ताद् बृहती	३६
	पुरोबृहती	३९*
	पुरःककुम्मती उपरिष्टाद् बृहती	३४
	प्राजापत्या बृहती	२०
	भुरिक् आर्ची बृहती	२८
	भुरिक् साम्नी बृहती	१९
	भुरिग् बृहती	३७
	महाबृहती	३६
	विराट् उपरिष्टाद् बृहती	३४
	विराट् उरोबृहती	३४
	विराट् पथ्या बृहती	३४
	विराट् पुरस्ताद्बृहती	३४
	विराड् बृहती	३४
	विराड् महाबृहती	३४
	साम्नी द्विपदा बृहती	१८
	साम्नी निचृद् बृहती	१७
	साम्नी बृहती	१८
१८.	(विकृति)	
	चतुरवसाना अष्टपदा विकृति	९२
१९.	शक्वरी	५६
	अनुष्टुब्गर्भा ककुम्मती षट्पदा त्र्यवसाना शक्वरी	५६
	उष्णिगनुष्टुब्गर्भा सप्तपदा त्र्यवसाना शक्वरी	५६
	उष्णिग्बृहतीगर्भा विराट् षट्पदा शक्वरी	५४
	ककुम्मती अनुष्टुप्त्रिष्टुब्गर्भा षट्पदा त्र्यवसाना शक्वरी	५४
	ककुम्मती षट्पदा त्र्यवसाना शक्वरी	५४
	पञ्चपदा शक्वरी	५६
	पञ्चपदा त्र्यवसाना शक्वरी	५६
	पराशक्वरी अनुष्टुब्गर्भा षट्पदा शक्वरी	५४
	बृहतीगर्भा विराट पञ्चपदा शक्वरी	५४

	भुरिक् पञ्चपदा शक्वरी	५७
	भुरिक् षट्पदा शक्वरी	५७
	विराट् शक्वरी	५४
	विराट् जगतीगर्भा पञ्चपदा शक्वरी	५४
	विराट् सप्तपदा त्र्यवसाना शक्वरी	५४
	सप्तपदा चतुरवसाना शक्वरी	५६
	सप्तपदा त्र्यवसाना शक्वरी	५६
२०.	(संकृति)	
	चतुष्पदा संकृति	९६



॥ वेदाङ्ग–काण्डम् ॥

वेदाङ्ग-काण्डम्

वैदिक ज्ञानकी सम्पूर्णता एवं बोधके लिये वेदपुरुषके अंगभूत वेदाङ्गके अध्ययनकी आवश्यकता होती है। पाणिनीय शिक्षामें इसे स्पष्ट करते हुए बताया गया है कि वेदपुरुषके छन्द पैर हैं, कल्प हाथ हैं, ज्योतिष नेत्र हैं और निरुक्त कान कहे जाते हैं। शिक्षा नासिका और व्याकरणको मुख माना गया है।[१]

प्रत्येक ब्राह्मणके लिये अङ्गों-सहित वेदका अध्ययन अनिवार्य माना गया है।[२] किन्तु आजकल वेदाङ्गको न तो कोई पढ़ता है और न जानता है। केवल संहिताका पाठ मात्र करते हैं।

शिक्षा और छन्दसे मन्त्रोंके शुद्ध उच्चारण और पठनका ज्ञान होता है। व्याकरणसे शब्दों और धातुओंके ठीक-ठीक स्वरूप समझ सकते हैं, प्रसंगानुसार अर्थज्ञानमें शब्दोंकी व्युत्पत्तिका ज्ञान होता है। किस उद्देश्यकी पूर्त्ति-हेतु कौन-सा यज्ञ किस विधि-विधानसे करना चाहिए यह कल्पोंके अनुशीलनसे ज्ञात होता है। परन्तु यज्ञादि वेद-विहित कार्य शुभ और निश्चित मुहूर्त्तपर ही होने चाहिए, इसलिये ज्योतिषका ज्ञान अनिवार्य है।

आगे प्रत्येक वेदाङ्गका पृथक् पृथक् विवरण दिया जा रहा है।



---

१. छन्दः पादौतु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ उच्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते॥
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात्सांगमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते॥

(पाणिनि शिक्षा ४२/४२)

२. ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च।

(महाभाष्य प्रथमाह्निक)

शिक्षा

शिक्षाका अर्थ है – वेदमंत्रोंके शुद्ध उच्चारणकी शिक्षा। यह शिक्षा जिन ग्रन्थोंमें है, उन्हें भी शिक्षा ही कहा गया है। आचार्य सायणनेशिक्षाकी परिभाषा इस प्रकार की है –

''स्वर-वर्णाद्युच्चारणप्रकारो यत्र शिक्ष्यते उपदिश्यते सा शिक्षा।'' (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृ० ४९)

अर्थात् जिसमें स्वर तथा वर्णादिके उच्चारणकी रीति सिखलाई जाती है, वह शिक्षा है।

शिक्षा वेदाङ्गका आविर्भाव संहिताओंके प्रति भारतीय ऋषियोंकी आस्तिक बुद्धिका ही परिणाम है क्योंकि वेदमंत्रोंके शुद्ध उच्चारणकी उपेक्षा नहीं की जा सकती थी। वेदमंत्रोंका संहिता-पाठ तथा पदपाठ शिक्षा वेदाङ्गके नियमोंके अनुसार ही हुआ है।

वेदाध्ययनके अत्यन्त पूर्वकालमें ऋषियोंने वेदपाठके लिये स्वरादि विशेषतासे निश्चय करके अपनी अपनी शाखासे वेद-पाठ सीखा वह उसी शाखाकी वंश-परम्पराका कहलाया जाने लगा। ब्राह्मणोंकी गोत्र-प्रवर शाखा आदिकी परम्परा इसी प्रकार चल पड़ी। यह परम्परा जब दीर्घकालतक इसी प्रकार चलती रही तब इस विभेदको स्मरण रखनेके लिये और अपनी अपनी रीतिकी रक्षाके लिये प्रातिशाख्य ग्रन्थ बने। इन्हीं प्रातिशाख्योंमें शिक्षा और व्याकरण दोनों ही वेदाङ्ग पाए जाते हैं।

पहले वेदकी सभी शाखाओंके प्रातिशाख्य उपलब्ध थे। परन्तु अब तो केवल ऋग्वेदकी शाकलशाखाका शौनक-रचित ऋक्-प्रातिशाख्य, यजुर्वेदकी

तैत्तिरीय शाखाका तैत्तिरीय प्रातिशाख्य, वाजसनेयी शाखाका कात्यायन-रचित वाजसनेय प्रातिशाख्य, सामवेदकी माध्यन्दिन शाखाका पुष्पमुनि-रचित साम प्रातिशाख्य और अथर्व प्रातिशाख्य या शौनकीय चतुराध्यायी ही उपलब्ध है।

शौनक-रचित ऋक्-प्रातिशाख्यमें विषयका विभाजन १८ पटलों या अध्यायोंमें हुआ है।

प्रथम पटलमें स्वर, व्यञ्जन, स्वरभक्ति, रक्त, नाभि, प्रगृह्य आदि अनेक पारिभाषिक शब्दोंको स्पष्ट किया गया है।

द्वितीय पटलमें प्रश्लिष्ट, क्षैप्र, उद्ग्राह, भुग्न आदि अनेक सन्धि-प्रकारोंको सोदाहरण स्पष्ट किया गया है।

तृतीय पटलमें स्वरोंका परिचय दिया गया है।

चतुर्थसे नवम पटलतक विसर्ग सन्धि, 'न्' वर्णके विभिन्न परिवर्तन नति सन्धि (स् और न् का क्रमशः मूर्धन्य ष् और ण्-मे परिवर्तन) क्रम सन्धि (वर्णका द्वित्व होना), व्यञ्जन-सन्धि, प्लुति-सन्धि आदि विभिन्न प्रकारकी सन्धियोंका सूक्ष्म शास्त्रीय परिचय दिया गया है।

दशम और एकादश पटलमें क्रमपाठ देते हुए वर्णों तथा स्वरों (उदात्तादि)-के परिवर्तनके नियम दिए गए हैं।

द्वादश पटलमें शब्दोंके नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात इन चारों विभागोंके स्पष्टीकरणके साथ ही यह भी स्पष्ट किया गया है कि ऋग्वेदके एकाकी शब्दोंमें कौन-से वर्णके साथ कौन-सा वर्ण नहीं आता है।

त्रयोदश पटलमे व्यञ्जनोंके सम्बन्धमें अनेक प्राचीन आचार्योंके मतोंका विवेचन है।

चतुर्दश पटलमें उच्चारण-सम्बन्धी दोषोंपर विचार किया गया है। शेष पटलोंमें वैदिक छन्दोंका विवरण है।

इस प्रकार, संक्षेपमें, प्रातिशाख्योंका विषय स्वर, वर्ण, सन्धि, उच्चारण तथा छन्दोंका विवेचन है। इसी रूपरेखापर प्रायः सभी प्रातिशाख्योंकी रचना हुई है। कुछ प्रमुख प्रातिशाख्योंकी प्रमुख विशेषताएँ यहाँ प्रस्तुत की जाती हैं—

शुक्लयजुः प्रातिशाख्यके रचयिता कात्यायन मुनि हैं।

इसमें आठ अध्याय है, जिनमें पारिभाषिक शब्द, उदात्त-अनुदात्त तथा स्वरित स्वरों तथा संस्कार (सन्धि) इन तीन विषयोंका विशद वर्णन हैं।

इसीलिये कात्यायन मुनिको 'स्वर-संस्कार-प्रतिष्ठापयिता' भी कहा जाता है।

तैत्तिरीय प्रातिशाख्यमें २४ अध्याय हैं; जिनमें वर्णसमाम्नाय, वर्ण-स्थान, ध्वनिकी उत्पत्ति-प्रक्रिया, स्वर तथा विसर्ग-सन्धियाँ, मूर्धन्य-विधान, णत्व-विधान, अनुनासिक तथा उसके भेद, अनुस्वार, स्वरित-भेद तथा संहिता-स्वरूप आदि विषयोंका विवेचन है।

पुष्पसूत्र – सामवेदीय इस प्रातिशाख्यमें 'स्तोभ'-का विशद विवेचन हुआ है।

ऋक्-तंत्र – इस सामवेदीय प्रातिशाख्यके रचयिता 'शकटायन' हैं। यास्क तथा पाणिनिपर इसका पर्याप्त प्रभाव है।

अथर्वप्रातिशाख्यमें मुख्यतः अथर्ववेदसे ही सम्बन्धित विषयोंका विवेचन हुआ है। इसके रचयिता 'शौनक' ऋषि है।

प्रारम्भमें शिक्षा वेदाङ्गके ग्रन्थ उपलब्ध रहे होंगे, उन्हींके आधारपर प्रातिशाख्य ग्रन्थोंकी रचना हुई होगी। परन्तु आजकल भारद्वाज, व्यास, वसिष्ठ और याज्ञवल्क्य-रचित जो लघु शिक्षा-ग्रन्थ उपलब्ध हैं, उनकी रचना प्रातिशाख्योंके आधारपर पीछे चलकर हुई। शिक्षा-ग्रन्थोंमें व्यास-शिक्षाका सर्वाधिक महत्त्व है।

तैत्तिरीय उपनिषद्में शिक्षा वेदाङ्गके छह अङ्ग कहे गए हैं – १. अक्षर या वर्ण, २. स्वर, ३. मात्रा, ४. बल, ५. साम तथा ६. सन्तान। इनकी संक्षिप्त व्याख्या इस प्रकार है –

१. वर्ण – अक्षरकी ही दूसरी संज्ञा वर्ण है। इस अङ्गमें वेदमें प्रयुक्त वर्णमालाका ज्ञान कराया जाता है, जिससे स्थान तथा प्रयत्नके अनुसार वर्णोंका शुद्ध उच्चारण किया जा सके। 'पाणिनीय शिक्षा'-में संस्कृत-वर्णमालामें वर्णोंकी संख्या ६३ या ६४ बतलाई गई है।[१] वैदिक वर्णमालामें वर्णोंकी संख्या इस प्रकार है –

---

१. त्रिषष्टिश्चतुःषष्टिर्वा वर्णाः शम्भुमते मताः।
संस्कृते प्राकृते चापि स्वयं प्रोक्ता स्वयम्भुवा॥
स्वराः विंशतिरेकश्च स्पर्शानां पञ्चविंशतिः।
यादयश्च स्मृता ह्यष्टौ चत्वारश्च यमाः स्मृताः॥
अनुस्वारो विसर्गश्च ≍ क≍ पौ चापि पराश्रितौ।
दुःस्पृष्टश्चेति विज्ञेयो ऌकार प्लुत एव च॥

अ आ आ ३, इ, ई, ई, ३, उ, ऊ, ऊ ३, ऋ, ॠ, ॠ३,
लृ, ए, ए३, ऐ, ऐ३, ओ, ओ३, औ

स्पर्श वर्ण कवर्ग : क, ख, ग, घ, ङ
चवर्ग : च, छ, ज, झ, ञ
टवर्ग : ट, ठ, ड, ढ, ण
तवर्ग : त, थ, द, ध, न
पवर्ग : प, फ, ब, भ, म
अन्तःस्थ : य, र, ल, व
ऊष्म : श, ष, स, ह

चार यम[1], अनुस्वार (ं), विसर्ग (ः), ≍ क जिह्वामूलीय और ≍ प् उपध्मानीय; प्लुत लृकार और दुःस्पृष्ट।

२. स्वर — स्वर तीन हैं — उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। वेदोंके शुद्ध उच्चारणके लिये स्वर-ज्ञान अनिवार्य था। पाणिनिने तीनोंका लक्षण दिया है —

(क) उच्चैरुदात्तः — अर्थात् ऊँचे स्वरसे उच्चारित स्वर उदात्त कहा जाता है।[2]

(ख) नीचैरनुदात्तः — अर्थात् नीचे स्वरसे उच्चारित स्वर अनुदात्त कहा जाता है।[3]

(ग) समाहारः स्वरितः — उदात्त और अनुदात्तके मध्य-स्वरसे उच्चारित स्वर स्वरित कहा जाता है।[4]

स्वरोंके उच्चारण-स्थान

कण्ठ — अकुह विसर्जनीयानां कण्ठः (कण्ठ्यवर्ण)

अ, आ, आ३, कवर्ग — क, ख, ग, घ, ङ, ह, : (विसर्ग) ≍ क जिह्वामूलीय[5]

---

१. वर्गेष्वाद्यानां चतुर्णां पञ्चमे परे मध्ये यमो नाम पूर्वसदृशो वर्णः प्रातिशाख्ये प्रसिद्धः (पलिक्क्नी, चख्ख्नतुः, अग्ग्निः, घ्घ्नन्ति।) सिद्धान्तकौमुदी-संज्ञाप्रकरण

२-४. अष्टाध्यायी — १।२।२९-३१

५. जिह्वामूलीय — कवर्गीय वर्णोंसे पूर्व अर्ध विसर्ग सदृश ध्वनि — यथा — अन्तःकरण।

६. उपध्मानीय — पवर्गीय वर्णोंसे पूर्व अर्ध विसर्ग सदृश ध्वनि, यथा — अन्तःपुर।

तालु – इचुयशानां तालुः (तालव्य वर्ण)

इ, ई, ई३,चवर्ग – च, छ, ज, झ, ञ, य, श।

मूर्धा – ऋटुरषाणां मूर्धा (मूर्धन्य वर्ण)

ऋ, ॠ, ॠ३, टवर्ग – ट, ठ, ड, ढ, ण, र, ष।

दन्त – लृ तुलसानां दन्तः (दन्त्यवर्ण)

लृ, तवर्ग – त, थ, द, ध, न, ल, स।

ओष्ठ – उपूपध्मानीपानामौष्ठौ (ओष्ठय वर्ण)

उ, ऊ, ऊ३, पवर्ग – प, फ, ब, भ, म, ≍ प् उपध्मानीय[1]

ञमङणनानां नासिका च – अपने अपने वर्गके उच्चारण-स्थानके साथ साथ नासिकासे भी ञ, म, ङ, ण, न इन वर्णोंका उच्चारण होता है।

दन्तौष्ठ – वकारस्य दन्तौष्ठम् – व

कण्ठतालु – एदेतौ कण्ठतालुः – ए, ऐ

कण्ठौष्ठ – ओदोतौ कण्ठौष्ठम् – ओ, औ

जिह्वामूलीयस्य जिह्वामूलम् – नासिकाऽनुस्वारस्य।

वेदपाठमें सामान्यतः प्रत्येक पदमें एक स्वर उदात्त, एक स्वर अनुदात्त और अन्य सब स्वर स्वरित होते हैं। विशिष्ट दशामें अनुदात्त ही स्वरित हो जाता है। वैदिक भाषामें स्वर ही अर्थका नियामक है। स्वरमें परिवर्तनसे अर्थ भी परिवर्तित हो जाता है। कभी-कभी तो अर्थका अनर्थ ही हो जाता है।

पाणिनीय शिक्षामें स्पष्ट रूपसे कहा गया है कि जो मन्त्र स्वर अथवा वर्णसे हीन होता है, मिथ्या प्रयुक्त होनेसे वह वाञ्छित अर्थको नहीं कहता; इसके विपरीत, वह वाणीका वज्र बनकर यजमानको नष्ट कर देता है, जिस प्रकार 'इन्द्रशत्रुः' शब्दने स्वरके अपराधसे (अशुद्ध उच्चारणसे) यजमानका विनाश कर दिया था।[1]

इस श्लोकमें जिस कथाका संकेत है, वह इस प्रकार है –

वृत्रासुर और इन्द्रमें घोर शत्रुता थी। एक बार वृत्रासुरने इन्द्रके विनाशके लिये एक अभिचार (शत्रु-विनाश हेतु यज्ञ) आरम्भ किया। उस यज्ञका मुख्य मंत्र था – 'इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व' -इन्द्रस्य शमयिता शातयिता वा भव अर्थात् इन्द्रका

१. मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।

स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति, यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥

पाणिनीय शिक्षा-५२

शत्रु वृत्रासुर बढ़े, इन्द्रपर विजय प्राप्त करे।'' इस मंत्रमें प्रयुक्त 'इन्द्रशत्रुः' शब्दका उच्चारण अन्तोदात्त होना चाहिए था। इससे 'इन्द्रशत्रुः' पदमें तत्पुरुष समास—''इन्द्रस्य शत्रुः'' होगा; और तभी इसका अर्थ—इन्द्रका शत्रु घातक (वृत्रासुर) होगा। इसके विपरीत, ऋत्विजोंने छलसे या असावधानीसे 'इन्द्रशत्रुः' पदका उच्चारण आद्युदात्त कर दिया; अर्थात् 'इ'-का उच्चारण उच्चस्वरसे कर दिया। उच्चारणमें इस परिवर्तनसे 'इन्द्रशत्रुः' बहुब्रीहि समासवाला हो गया, अर्थात् 'इन्द्रः शत्रुः यस्य सः इन्द्र है घातक जिसका, वह वृत्र' (बढ़े)। इस अर्थके कारण वृद्धिको प्राप्त हुआ भी, वृत्र अन्ततः इन्द्रके द्वारा मारा गया।

इस कथासे वेदपाठके शुद्ध उच्चारणका महत्त्व स्पष्ट हो जाता है।

३. मात्रा — स्वरोंके उच्चारणमें लगनेवाले कालकी नापको मात्रा कहते हैं। इसके तीन भेद हैं—ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत; जिन्हें क्रमशः एकमात्रा-काल, दो मात्राकाल तथा तीन मात्राकालवाला समझा जा सकता है। उदाहरणार्थ — ह्रस्व-अ, दीर्घ-आ तथा प्लुत अ३ या आ३। मन्त्रोंके उच्चारणमें मात्राका ध्यान रखना भी अनिवार्य माना जाता है।

४. बल — वर्णोंके उच्चारणमें प्रयुक्त स्थान तथा प्रयत्नको बल कहा जाता है। वर्णोंके उच्चारणमें श्वासनलीसे आती हुई वायु मुखमें जहाँ अवरुद्ध होती है, वह उन वर्णोंका उच्चारण-स्थान कहा जाता है। इसी प्रकार उच्चारणमें उच्चारणावयवोंको जो प्रयत्न करना पड़ता है, वह उच्चारण-प्रयत्न कहलाता है। उच्चारणकी प्रक्रियाको बताते हुए कहा गया है—

''जब आत्मा, बुद्धिसे विचारी हुई बातें एकत्र कर लेता है, तब वह मनको बोलनेके लिये नियुक्त करता है। तब मन शरीरके भीतरके वायुको प्रेरणा देता है। तब वह वायु हृदयमें घूमता हुआ धीरे-से स्वर उत्पन्न करता है और फिर वह उपजकर उठा हुआ वायु सिरकी ओर बढ़ता हुआ मुँहमें जा पहुँचता है और वहाँ वर्णोंकी सृष्टि कर देता है। वे स्वर (उदात्त-अनुदात्त-स्वरित), काल (ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत), स्थान (कण्ठ, तालु, मूर्धा, ओष्ठ, नासिका, वर्स्व तथा जिह्वामूल) और प्रयत्न (आभ्यन्तर, प्रयत्न-स्पृष्ट, ईषत्स्पृष्ट, विवृत तथा संवृत; बाह्य प्रयत्न - विवार, संवार, श्वास, नाद, घोष, अघोष, अल्पप्राण, महाप्राण, उदात्त, अनुदात्त और स्वरित)-के अनुसार विभिन्न प्रकारके हो जाते हैं।''

उच्चारणका प्रकार बताते हुए कहा गया है कि जैसे बाघिन अपने बच्चोंको दाँतसे पकड़कर उठा ले जाती है, पर न तो वह बघौटा (शेरका बच्चा) मुँहसे छूटकर गिरता ही है और न उसके शरीरमें दाँत ही चुभते हैं[1]; वैसे ही वर्णोंका उच्चारण करना चाहिए अर्थात् न तो बहुत चबाकर बोला जाय और न ही झटकेसे ऐसे बोला जाय कि समझमें ही न आए। जैसे गजराज एकके बाद दूसरा पग रखता है, वैसे ही एक पदके बाद दूसरा पद बोला जाना चाहिए।

५. साम — दोष-रहित तथा गुण-सहित उच्चारण ही साम है। उच्चारणके गुण-दोषोंका विवेचन शिक्षा-ग्रन्थोंमें अतिसूक्ष्म एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोणसे हुआ है। पाणिनीय शिक्षामें अच्छे पाठकके गुण इस प्रकार कहे गए हैं — जिसकी शुभ प्रकृति हो, दाँत और ओष्ठ सुन्दर हों, जो प्रगल्भ हो और विनीत हो, वही वर्णोंका ठीक उच्चारण कर सकता है, जिसमें —

(१) माधुर्य, (२) वर्णों की स्पष्टता, (३) पदोंकी स्पष्टता, (४) सुस्वरता, (५) धीरता तथा (६) लय समर्थता हो क्योंकि एक ही शब्द अच्छी प्रकार जानकर प्रयोग करनेसे लोकमें और स्वर्गमें कामना पूर्ण करनेमें समर्थ होता है।[2]

इसके विपरीत अधम पाठकोंके दोष इस प्रकार कहे गए हैं —

(१) गाकर पढ़नेवाला, (२) जल्दी-जल्दी पढ़नेवाला, (३) सिर हिलाते हुए पढ़नेवाला, (४) जो नहीं लिखा है, वह पढ़नेवाला (लिखित ग्रन्थसे पढ़नेवाला), (५) अर्थको बिना जाने पढ़नेवाला और (६) बहुत धीमे (दबे गलेसे) पाठ करनेवाला अधम पाठक कहा जाता है।[3]

---

१. व्याघ्री यथा हरेत्पुत्रान्दंष्ट्राभ्यां न च पीडयेत्।
भीता पतनभेदाभ्यां तद्वद्वर्णान्प्रयोजयेत्॥ (पाणिनीय शिक्षा ६.९)

२. प्रकृतिर्यस्य कल्याणी दन्तौष्ठौ यस्य शोभनौ।
प्रगल्भश्च विनीतश्च स वर्णान्वक्तुमर्हति॥
माधुर्यमक्षर व्यक्तिः पदच्छेदस्तु सुस्वरः।
धैर्य्यं लयसमर्थश्च, षडेते पाठकाः गुणाः॥
एकः शब्दः सम्यक् ज्ञातः सुप्रयुक्तः।
स्वर्गे लोके च कामधुक् भवति॥(पाणिनीय शिक्षा, ३३)

३. गीती, शीघ्री शिरः कम्पी तथालिखित पाठकः।
अनर्थज्ञोऽल्पकण्ठश्च षडेते पाठकाधमाः॥ (पाणिनीय शिक्षा, ३२)

इनके साथ ही ऐसे दुष्ट पाठों की भी गणना की गई है, जिनसे कदापि सफलता प्राप्त नहीं होती –

शंकामें पड़े हुए, डरे हुए, चिल्लाकर, अस्पष्ट, नकियाकर (नाकमें) काँव काँव करते हुए, सिरमें चढ़ाकर, उचित स्थानसे उच्चारण न करके, भद्दे ढंगसे, भद्दे स्वरसे, एक एक अक्षर अलग अलग बोलते हुए, बुरे ढंगसे बल देते हुए, घबराहटके साथ या लय तोड़कर पढ़ना ये पाठके चौदह दोष माने गए हैं।[1]

इसीके साथ फुसफुसाकर, वेगसे, झटकेसे, रुक रुककर, भर्राए हुए गलेसे, डरके साथ, चबा चबाकर, पद और अक्षर छोड़ छोड़कर, बहुत गिड़गिड़ाए हुए स्वरमें और नकियाकर पाठ नहीं करना चाहिए।[2]

६. सन्तान – पदोंकी अतिसन्निधि या संहिताको ही सन्तान कहा गया है।[3] पृथक् पृथक् स्वतंत्र पद भी जब एक-दूसरेके पश्चात् बिना व्यवधानके या अत्यल्प व्यवधानके साथ उच्चरित होते हैं, तो उसे पदोंमें संहिता कहा जाता है। ऐसे स्थानोंमें सन्धिके कारण पदोंमें कुछ परिवर्तन हो जाता है, जैसे– 'वायो आयाहि'-से 'वायवायाहि'। किन्तु यह विषय मुख्यतः व्याकरणका है; शिक्षामें इसका निदर्शन मात्र हुआ है।

उच्चारण-सम्बन्धी नियमोंके अतिरिक्त शिक्षा वेदाङ्गमें इस विषका भी विवेचन हुआ है कि किस संहितामें, किसी विशिष्ट ध्वनिका (वर्णका) उच्चारण किस रूपमें में किया जाता है। उदाहरणार्थ – ऋग्वेदके 'पुरुषसूक्त'-के मंत्र 'सहस्रशीर्षा पुरुषः' में शीर्षाका उच्चारण ऋग्वेदीय पाठक स्पष्ट रूपसे मूर्धन्य अर्थात् शीर्षा करते हैं, तो माध्यन्दिन शाखावाले 'शीर्ख्वा' रूपमें कण्ठ्य उच्चारण करते हैं।

जहाँ ऋ-को गुण होकर 'र्' ऊपर चढ़ा हो, वहाँ ऋ-को अलगसे ऋ पढ़ा

---

१. शङ्कितं भीतमुद्घुष्टमव्यक्तमनुनासिकम्।
काकस्वरं शिरसिगतं तथा स्थानविवर्जितम्॥
विरसं विस्वरं चैव विश्लिष्टं विषमाहतम्।
व्याकुलं तानहीनं च पाठदोषाश्चतुर्दश॥

२. उपांशु, दष्टं, त्वरितं, निरस्तं, विलम्बितं, गद्गदितं प्रगीतम्।
निष्पीडितं, ग्रस्तपदाक्षरञ्च वेदन्न दीनं न सानुनास्यम्॥
(पाणिनीय शिक्षा, ३४-३६)

३. परः सन्निकर्षः संहिता। (अष्टाध्यायी)

जाता है; जैसे – 'सप्तर्षय'-को 'सप्त ऋषयः'।

तस्मै शब्दका तस्मा रूप बनता है। इसी प्रकार अनेक रूप हैं, जिनका गुरुसे ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए।

वेदके ऋषि, छन्द, देवता और विनियोगके ज्ञानकी आवश्यकता

वेदका अध्ययन-अध्यापन ऋषि, छन्द, देवता और विनियोगके ज्ञानपूर्वक होता है। जो लोग ऋष्यादि ज्ञान-सहित वेदका अध्ययन-अध्यापन, यजन-याजन करते हैं, वे वेदके ठीक ठीक फल-प्राप्तिके भाजन बनते हैं और जो लोग अज्ञानपूर्वक वेदाध्ययनादि करते हैं उनका अध्ययन सर्वथा निष्फल तथा पाप-युक्त होता है। श्रुति-स्मृतिकारोंने ऐसा अध्ययन प्रत्यवाय कहा है।

एतान्यविदित्वा योऽधीतेऽनुब्रूते जपति जुहोति याजयते
तस्य ब्रह्म निर्वीयं यातयामं भवत्यथान्तराश्वगर्तं वा पद्यते
स्थाणुं वर्च्छति प्रमीयते वा पापीयान् भवति।

(शौनककृत अनुक्रमणी, १।१)

"जो मनुष्य ऋषि, छन्द, देवता और विनियोगके ज्ञानके बिना वेदका अध्ययन, अध्यापन, जप, हवन, यजन, याजनादि करते हैं उनका वेदफल-रहित तथा दोष-युक्त होता है और वे लोग मरनेके बाद 'अश्वगर्त' नामक नरकमें जाते हैं अथवा 'शुष्क-वृक्ष' अर्थात् स्थावर-योनिमें प्राप्त होते हैं अथवा यदि वे मनुष्य योनिमें उत्पन्न होते हैं, तो अल्पायु होकर स्वल्प दिनोंमें ही मृत्युके मुखमें पड़ जाते हैं अथवा पापात्मा होते हैं।"

यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दोदैवतविनियोगेन ब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वाऽध्यापयति वा स स्थाणु वर्च्छति गर्तं वा पद्यते, प्रमीयते, वा पापीयान् भवति, यातयामान्यस्यच्छन्दांसि भवन्ति।

(छान्दोग्य ब्राह्मण ३।७।५)

अविदित्वा ऋषिं छन्दो दैवतं योगमेव च।
योऽध्यापयेज्जपेद्वापि पापीयाञ्जायते तु सः॥

(बृहद्देवता ८।१३२)

अविदित्वा ऋषिं छन्दो दैवतं योगमेव च।
योऽध्यापयेद्याजयेद्वा पापीयाञ्जायते तु सः॥

(यम स्मृति)

अन्यत्र भी लिखा है –

मन्त्राणां दैवतं छन्दो निरुक्तं ब्राह्मणान् ऋषीन्।
कृत्तद्धितादींश्चाज्ञात्वा यजन्तो यागकण्टकाः॥
ऋषिच्छन्दो दैवतानि ब्राह्मणार्थं स्वराद्यपि।
अविदित्वा प्रयुञ्जानो मन्त्रकण्टक उच्यते॥

ऋष्यादिके ज्ञान-सहित वेदके अध्ययन-अध्यापनादिमें अतिशय फलकी प्राप्ति होती है –

अथ विज्ञायैतानि योऽधीते तस्य वीर्यवदथ योऽर्थवित्तस्य वीर्यवत्तरं भवति जपित्वा हुत्वेष्ट्वा तत्फलेन युज्यते।

(शौनककृत अनुक्रमणी १।१)

"जो मनुष्य ऋष्यादिको जानकर वेदाध्ययनादि करते हैं उनका वेद फलप्रद होता है। जो ऋष्यादि-ज्ञानके साथ वेदका अर्थ भी जानते हैं उनकावेद अत्यन्त फलप्रद होता है और वे लोग जप, हवन, यजन-याजनादि कर्मकि द्वारा वेदके यथार्थ फलकी प्राप्ति करते है।"

आर्षं छन्दश्च दैवत्यं विनियोगस्त्तथैव च।
वेदितव्यः प्रयत्नेन ब्राह्मणेन विशेषतः॥

(याज्ञवल्क्य स्मृति)

१. ऋषि – गत्यर्थक 'ऋष्' धातुसे 'इगुपधात्कित् (उणादि सूत्र) इस सूत्रसे 'इन्' प्रत्यय करनेपर 'ऋषि' शब्द बनता है। महर्षि कात्यायनके 'द्रष्टार ऋषयः स्मर्त्तारः' (सर्वानुक्रम सूत्र) इस सूत्रके अनुसार मंत्रोंके द्रष्टा अथवा स्मर्ता ऋषि कहलाते हैं। इसी प्रकार औपमन्यवाचार्यने भी 'निरुक्त'-में ऋषि शब्दका निर्वचन किया है –

"होत्रमृषिनिषीदन्नृषिर्दर्शनात् स्तोमान् ददर्शेत्यौपमनयवस्तद्य-देनांस्तपतस्यमानान् ब्रह्म स्वयं भ्वभ्यानर्षत्त ऋषयोऽभवं-स्तदृषीणामृषित्वमिति विज्ञायते। (नैगम काण्ड २।११)

"मन्त्र-समूहको देखनेवाले अर्थात् साक्षात्कार करनेवाले 'ऋषि' कहलाते हैं। हिरण्यगर्भादिने सृष्टिके प्रारम्भमें प्रादुर्भूत होकर पूर्वकल्पमें अनुभूत वेद-पदार्थोंकी कठिन तपस्यासे संस्कार, सम्मान तथा स्मरणके द्वारा 'सुप्तप्रबुद्ध' न्यायसे पूर्ववत् प्राप्त किया था। अतः वे वेद-मंत्रोंके ऋषि कहे जाते हैं।"

महर्षि याज्ञवल्क्यने 'ऋषि' शब्दका अर्थ 'मन्त्रद्रष्टा' ही स्वीकार किया है—

येन य ऋषिणा दृष्टो मन्त्रः सिद्धिश्च तेन वै।
मन्त्रेण तस्य सम्प्रोक्त ऋषिभावस्तदात्मकः॥

''जिस मंत्रका दर्शन जिस ऋषिने किया, उस ऋषिके स्मरणपूर्वक यज्ञादिमें मन्त्रमें प्रयोग करनेसे फलकी प्राप्ति होती है।''

शिक्षा छन्दः स्वरूपे तु निरुक्तं व्याकृतिस्तथा।
अर्के ज्योतिस्तथा कल्पो ह्यनुष्ठाने प्रयोजकः॥

वस्तुतः सांगोपांग वेदाध्ययन किए बिना मनुष्य वेदके वास्तविक रहस्य अथवा ज्ञानसे विमुख ही रहते हैं, जिस कारण वे श्रेष्ठ 'वैदिक' नहीं बन सकते। अतः श्रेष्ठ वैदिक बननेके लिये साङ्ग वेदाध्ययन परमावश्यक है।

वेदका स्वाध्याय

(वेदाध्ययनकी आवश्यकता)

इस संसारमें प्रत्येक द्विज वेदाभ्यास-द्वारा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष— इन चतुर्विध पुरुषार्थोंकी सिद्धि सरलतासे प्राप्त कर सकता है। वह वेदाभ्यास अध्ययन, विचार, अभ्यास, जप और अध्यापन — इन पाँच प्रकारका होता है। कहा भी गया है—

वेदस्वीकरणं पूर्वं विचारोऽभ्यसनं जपः।
तद्दानं चैव शिष्येभ्यो वेदाभ्यासो हि पञ्चधा॥

(दक्ष स्मृति २।२७)

''सर्वप्रथम गुरुसे वेदका ग्रहण, अनन्तर उसका विचार, फिर विचारितका अभ्यास, तदनन्तर अभ्यस्तका जप, तत्पश्चात् शिष्योंके लिये उसे प्रदान करना।''

अतएव 'याज्ञवल्क्य शिक्षा'-में भी कहा गया है— 'प्रणवं प्राक् प्रयुञ्जीत' इससे अध्ययन करनां, अभ्यासार्थे द्रुतां वृत्तिम् तथा 'ऋक्संहितां त्रिरभ्यस्य' इत्यादिसे अभ्यासकरना, 'प्रयोगार्थे तु मध्यमाम्' इससे जप-यज्ञ करना, 'गुरोरनुमतिं कुर्यात्' और 'गुरुशुश्रूषया विद्या' इत्यादिसे स्वयं अध्यापन करना। अतः जिसने सम्पूर्ण फलेच्छासे शक्ति रहते हुए अधीत वेदोंका अध्ययन कर लिया, उसे विचारका अवसर प्राप्त हो जाता है। वह विचार भी दो प्रकारका

होता है – अर्थसे और लक्षणसे। इसी भावको निरुक्तमें स्पष्ट कहा गया है –

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूतदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।
योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा॥
यद्गृहीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते।
अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित्॥

"जो लोग वेद पढ़कर उसके अर्थसे अपरिचित रहते हैं वे पृथ्वीके भार-स्वरूप ही हैं। जो अर्थसे परिचित हैं, वे समस्त कल्याणके भाजन होते हैं और विशिष्ट ज्ञान-द्वारा अपनी पापराशिको नष्ट कर स्वर्गको प्राप्त करते हैं।"

जिस पढ़े हुए शब्दको बिना समझे-बूझे ही कण्ठस्थ किया जाता है वह उस शुष्क काठके समान है जो अग्निके अभावमें जल नहीं सकता।

सृष्टिकी प्रारम्भिक अवस्थामें ही अत्रि, भृगु, कुत्स, गौतम, वशिष्ठ और आंगिरस आदि महामहिमशाली महर्षियोंने वेदोंकी सर्वात्मना रक्षाके लिये ही शरीर धारण किया था। अतएव मानव धर्मशास्त्र भी कहते हैं –

युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः।
लेभिरे तपसा पूर्वं मनसा क्षीणकल्मषाः॥

इन महर्षियोंने मोक्षकामनासे भी विमुख होकर भयंकर विजन-काननोंमें चिरकालतक निवास करके वेदोंका ज्ञान प्राप्त किया था। आज भी 'भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात्प्रसिद्ध्यति' भगवान् मनुके इस प्रमाणवादके अनुसार भूत, वर्त्तमान और भविष्यकी किसी भी वस्तुका निश्चय करनेके लिये केवल वेद ही एकमात्र आश्रय है।

भारतीय आर्य-सभ्यताके एकमात्र उत्तरदायी ब्राह्मण-समाजके तो वेद निधान ही कहे जाते हैं। इसकी पुष्टिमें कहा गया है –

विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि।

प्राचीनकालमें ब्राह्मण शब्द वैदिक विद्वान्का पर्याय माना जाता था क्योंकि 'तपः श्रुतंच योनिश्च त्रयं ब्राह्मणकारणम्' (पतञ्जलिकृत महाभाष्य २।२।६)-के प्रमाणसे ब्राह्मण वही कहला सकता है, जो वेदका स्वाध्याय तथा वैदिक क्रियाका अभ्यास करता रहे।

वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः सरहस्यो द्विजन्मना।

ब्राह्मण वेद-विज्ञानसे परिपूर्ण होकर वेद स्वाध्याय-जन्य फलको प्राप्त

करनेमें पूर्णतया समर्थ हो सकते हैं।

ये साङ्गवेदान् विधिवद् वदन्ति ते ब्राह्मणा वैदिक नामधेयाः।
वेदेन हीना यदि केऽपि सन्ति ते शूद्रतुल्या भुवि सञ्चरन्ति॥

जो साङ्गवेदके विधिपूर्वक ज्ञाता हैं, वे ही ब्राह्मण वैदिक नामसे प्रसिद्ध हैं और जो लोग वेदविहीन हैं, वे शूद्रवत् पृथ्वीपर विचरते हैं।

वेदादिके स्वाध्यायकी विधि

१. 'उपविशेत् दर्भेषु दर्भपाणिः स्वाध्यायञ्च यथाशक्त्यादावारभ्य वेदम्' – इस पारस्कर गृह्यसूत्रके अनुसार आसनके ऊपर प्रागग्र कुशोंको रखकर उनके ऊपर पूर्वाभिमुख होकर बैठें। पश्चात् प्रणव व्याहृतियोंको तथा गायत्रीको आम्नाय स्वरसे पढ़कर 'इषे त्त्वोर्ज्जे त्वां' (शुक्ल यजुर्वेद १।१) यहाँसे वेदारम्भ करके अनुवाक् अनुवाक् अथवा एक एक यजुःका पाठ करता हुआ प्रतिदिन[१] वेदका स्वाध्याय करके मंत्रसंहिताको पूर्ण करे। इसी प्रकार शतपथादि ब्राह्मण भागके एक एक अध्याय अथवा एक एक ब्राह्मण अथवा एक एक काण्डका स्वाध्याय करते हुए समाप्त करे। उपर्युक्त विधिसे स्व-शक्त्यनुसार प्रतिदिन मंत्रभाग तथा ब्राह्मण भागका स्वाध्याय आरम्भ करके परिपूर्ण करे। प्रतिदिन प्रणव-व्याहृति और गायत्रीका भी पढ़ना आवश्यक है।

२. इसी प्रकार पुराणेतिहास तथा स्मृत्यादि धार्मिक ग्रन्थोंका भी स्वाध्याय करना चाहिए।

३. 'नास्ति नित्येष्वनध्यायः-के अनुसार वेद और वेदांगके दैनिक स्वाध्यायादिमें प्रतिपदादितिथियोंमें भी अनध्याय नहीं होताहै। भगवान् मनु भी उपर्युक्त विषयकी पुष्टि करते हैं –

वेदोपकरणे चैव स्वाध्याये चैव नैत्यके।
नानुरोधोऽस्त्यनध्याये होममन्त्रेषु चैव हि॥
नैत्यके नास्त्यनध्यायो ब्रह्मसूत्रं हि तत्स्मृतम्।
ब्रह्माहुतिहुतं पुण्यमनध्यायवषट् कृतम्॥

(मनुस्मृति २।१०५-१०६)

१. 'स्वाध्यायं चान्वहं कुर्यात्' (या०स्मृ०आ० १०४), 'वेदो नित्यमधीयताम्' तथा 'स्वाध्यायान्मा प्रमदः' इत्यादि श्रुति स्मृति-वाक्य प्रमाणभूत हैं।

वेदके अंग, नित्यके स्वाध्याय और होममंत्रोंमें अनध्यायका निषेध नहीं है अर्थात् उक्त विषय अनध्यायमें भी करने चाहिएँ। नित्यकर्ममें अनध्याय नहीं है क्योंकि उसे ब्रह्मयज्ञ कहा गया है। वेदकी आहुतियोंका हवन तथा अनध्यायमें किया हुआ वषट्कार भी पुण्यरूप ही होता है।

अनध्यायके विषयमें यह बात प्रसिद्ध है –

'अष्टमी गुरुहन्ता च शिष्य हन्ता चतुर्दशी।' अर्थात् गुरु यदि अष्टमीको पढ़ाए तो गुरुका नाश होता है और शिष्य चतुर्दशीको अध्ययन करे तो शिष्यका नाश होता है।

वेदके अध्ययनाध्यापनके अधिकारी

वेदाध्ययनका अधिकार द्विजमात्र (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य)-को है। वस्तुतः वेदके अध्ययनके अधिकारी वे ही कहे गए हैं जिनकी गर्भाधान-संस्कारसे मरण-पर्यन्तकी विधि वैदिक मंत्रोंसे सुसम्पन्न होती है। यही मत मनुस्मृतिका भी है –

निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः।
तस्य शास्त्रेऽधिकारोऽस्मिन् ज्ञेयो नान्यस्य कस्यचित्॥

(मनुस्मृति २।१६)

जिस वर्णकी गर्भ-संस्कारसे लेकर मृत्यु-पर्यन्त-तककी विधि वैदिक मंत्रोंके द्वारा कही गई है, उसीका वेद-शास्त्रमें अधिकार समझना चाहिए, अन्य वर्णोंका नहीं।

इतना ही नहीं, इस सम्बन्धमें भगवती श्रुति भी कहती है –

विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि।
असूयकायानृजवेऽयताय न मामा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम्॥
यमेव विद्या शुचिरप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम्।
यस्ते न द्रुह्येत् कतमच्च नाह तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन्॥

"भगवती विद्या ब्राह्मणके पास आकर बोली – हे ब्राह्मण! तुम मेरी रक्षा करो, मैं तुम्हारी निधि (खजाना) हूँ। तुम निन्दक, कुटिल तथा असंगतको मेरा उपदेश न करो जिससे मैं सदा तुम्हारे लिये पराक्रमवाली बनी रहूँगी। जिसको सदा पवित्र, प्रमाद-रहित, बुद्धिमान् तथा ब्रह्मचर्यव्रत सुसम्पन्न समझो और जो तुमसे शत्रुता न करता हो तथा तुम्हारे कोशकी सर्वथा रक्षा कर सके, उसको तुम मेरा उपदेश दो।"

इसी भावको मुक्तिकोपनिषद्में इस प्रकार अभिव्यक्त किया गया है—

यमेव विद्या श्रुतमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम्।
तस्मा इमामुपसन्नाय सम्यक् परीक्ष्य दद्याद् वैष्णवीमात्म विद्याम्॥

"जिसने यह विद्या सुन रखी हो, सावधान हो, मेधावी, ब्रह्मचारी हो, उसको भी भली-भाँति परीक्षा करके, तब यह वैष्णवी आत्मविद्या देनी चाहिए जब वह स्वयं पास आवे।" (मुक्तिकोपनिषद्)

विशेष – यद्यपि वेदाध्ययनके पात्र भले ही द्विजमात्र हो, परन्तु वेदाध्यनका एकमात्र अधिकार ब्राह्मणको ही है।

विदुषा ब्राह्मणेनेदमध्येतव्यं प्रयत्नतः।
शिष्येभ्यश्च प्रवक्तव्यं सम्यक् नान्येन केनचित्॥

(मनुस्मृति १।१०३)

विद्वान् ब्राह्मणको प्रयत्नको प्रयत्नपूर्वक वेद पढ़ना और शिष्योंको पढ़ाना चाहिए, किसी अन्यको नहीं पढ़ाना चाहिए।

स्त्री और शूद्रको वेदांध्ययनका निषेध

शास्त्रकारोंने केवल द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) बालकोंको उपनयन संस्कारार्थ आज्ञा दी है। उपनयन संस्कारमें ही आचार्य (गुरु)-द्वारा शिष्य वेदाध्ययन प्रारम्भ कर यावज्जीवन वेदाध्ययन और तदनुकूल सदाचारके परिपालनकी शिक्षा प्राप्त करताहै। किन्तु स्त्रीके लिये उपनयन-संस्कार और वेद-स्वाध्यायकी आज्ञा नहीं है; प्रत्युत् उनके वेदाध्ययन और उपनयन-संस्कारका पूर्णतया निषेध किया गया है।

भगवान् मनुने स्त्री और पुरुष दोनोंकी शारीरिक शुद्ध्यर्थ जात-कर्मादि वैदिक संस्कारोंकी आज्ञा देते हुए स्त्री-जातिके सम्बन्धमें उन्हें उपनयनका अनधिकार और मन्त्रहीन जात-कर्मादि संस्कार करनेकी आज्ञा दी है। अतः उनके जातकर्म्मादि संस्कार वैदिक मंत्र-रहित सुसम्पन्न होते हैं।[१]

स्त्रियोंको गीतामें 'पापयोनि' अथवा 'हीनयोनि' माना गया है। वे स्वरतः और वर्णतः वैदिक मंत्रोंका यथार्थ उच्चारण नहीं कर सकती; क्योंकि यथाविधि स्वरतः-वर्णतः वेदमंत्रका उच्चारण न करनेसे वह उच्चारित मंत्र वज्रकी भाँति

---

१. अमन्त्रिका तु कार्येयं स्त्रीणामावृदशेषतः।
संस्कारार्थं शरीरस्य यथाकालं यथाक्रमम्॥ (मनु० २।६६)

यजमानको नष्ट कर सकता है, सम्भवतः इसीलिये स्त्रियाँ वेदाध्ययनकी अधिकारिणी नहीं मानी गई हैं।

शुक्ल-यजुर्वेदीय याज्ञवल्क्य शिक्षा और प्रातिशाख्यमें भी कहा गया है कि जिस प्रकार वेदाध्ययनाधिकार और वेद-मंत्रोंके उदात्त, अनुदात्त और स्वरित स्वरों तथा वर्णोंका उच्चारण प्रकार है, उस प्रकार स्त्रियाँ ठीक ठीक वेद-मंत्रोंका उच्चारण नहीं कर सकतीं क्योंकि उनका स्वर और वर्ण प्रायः एक-सा ही होता है। उनमें लघु-गुरुका भी भेद अल्प ही पाया जाता है जिससे वे यथार्थतः वैदिक मंत्रोंके उच्चारणके योग्य नहीं हैं। वेदमंत्रोंके अशुद्ध उच्चारणसे स्त्रियोंका अशुभ होता है, इसी तथ्यको ध्यानमें रखते हुए महर्षियोंने स्त्रियोंके वेदाध्ययन का निषेध किया हैं। स्त्रियोंको विवाह-संस्कारमें जो वैदिक मंत्रोंके उच्चारणकी आज्ञा दी गई है, उसका उद्देश्य बहुत गम्भीर है। जात-कर्मादि संस्कारोंके मंत्र शक्ति-प्रधानं होनेके कारण केवल उन्नत और स्थूल देहधारी द्विज पुरुषोंके लिये ही हैं, विहित हो सकते हैं, अनुन्नत स्थूल शरीर स्त्रियोंके लिये वे मंत्र विहित नहीं हो सकते। किन्तु पाणिग्रहण (विवाह) संस्कारमें भाव-शुद्धिके समय प्रत्येक द्विज आर्य-विवाह पद्धतिमें पाणिग्रहण तथा सप्तपदी आदिके अवसरपर जिन वैदिक मंत्रोंका उच्चारण वर और कन्या करती हैं, वे सभी मन्त्र भाव-प्रधान[१] हैं। भाव-शुद्धिके लिये वे दोनों प्रार्थना करते हैं – "हम पति-पत्नी परस्पर तन्मयतापूर्वक धर्ममय गृहस्थधर्मका परिपालन करते हुए जीवन व्यतीत करेंगे।

स्त्रियोंकी भाँति शूद्रोंको भी वेदाध्ययनका अधिकार नहीं है क्योंकि वे उपनयन संस्कारके अधिकारी न होनके कारण वेदाध्ययनके भी अधिकारी नहीं हैं। इसीलिये शास्त्रोंमें स्पष्ट लिखा है –

स्त्री शूद्रौ वेदं नाधीयाताम्।

जो शूद्र शास्त्राज्ञाको न मानकर हठात् वेदका अध्ययन करते हैं, वे चाण्डाल होते हैं –

वेदाक्षरविचारेण शूद्रश्चाण्डालतां व्रजेत। (पारा०स्मृति १।६७)

---

१. मंत्र दो प्रकारके होतें हैं – एक शक्ति-प्रधान और दूसरा भाव-प्रधान। शक्ति-प्रधान मन्त्रोंके साथ स्थूल शरीरका और भाव-प्रधान मन्त्रोंके साथ चित्तका सम्बन्ध होता है।

कालिकापुराणमें भी लिखा है –

मोहाद्वा कामतः शूद्रः पुराणं संहितां स्मृतिम्।
पठन्नरकमाप्नोति पितृभिः सह कूदनम्॥

वस्तुतः शूद्र वर्णवाले लोग भी सवर्ण हैं क्योंकि वे चार वर्णोंमें होनेके कारण सवर्ण हैं किन्तु वे सब ऐसे शिल्पादि कार्य करते हैं कि यदि उन्हें वेद पढ़ने लगा दिया जाय तो सम्पूर्ण समाजका जीवन कष्टमय हो जायगा क्योंकि लोहा, लकड़ी, मिट्टीके पात्र तथा अन्य अनेक प्रकारके कार्य करनेवाले और समाजकी सेवा, हित तथा सहायता करनेवाले शूद्रवर्णके ही सहयोगी लोग हैं। इसीलिये शूद्रोंको वेद पढ़नेका निषेध है।

वेदका महत्त्व

वेदका महत्त्व प्रतिपादित करते हुए भगवान् मनुने कहा है – "उस परमात्माने वेद-निधान होनेके कारण सृष्टिके आदिमें समस्त प्राणियोंके भिन्न भिन्न नाम और कर्म बनाए। वेद ही पितरों, देवताओं और मनुष्योंके सनातन चक्षु हैं, ये अपौरुषेय और अप्रमेय हैं अर्थात् न तो कोई इनको बना सकता है और न इनका परिमाण ही निश्चय कर सकता है। चारों वर्ण, तीनों लोक, चारों आश्रम एवं भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान, ये सब वेदसे ही सिद्ध होते हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये कर्म हेतु होनेके कारण वेदसे ही उत्पन्न होते हैं।

सनातन वेद समस्त प्राणियोंको धारण करता है, अतः वेद ही मनुष्योंके परम पुरुषार्थको समझता है।[२]

वेद एव द्विजातीनां निःश्रेयस्करः परः। (याज्ञ०स्मृति०आचा० ४०)

द्विजातियोंके लिये वेद ही अत्यन्त कल्याणकारी है।

---

१. शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च पञ्चमः।
वेदादेव प्रसूयन्ते प्रसूतिगुणकर्मतः॥
(मनु० १२।९८)

२. विभर्ति सर्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनम्।
तस्मादेत्परं मन्ये यज्जन्तोरस्य साधनम्॥
(मनु० १२।९९)

वेदका अभ्यास और उसका महत्त्व

शास्त्रोंमें वेदाध्ययन पाँच प्रकारका कहा गया है — सर्वप्रथम गुरुसे वेदका ग्रहण, अनन्तर उसका विचार, फिर विचारितका अभ्यास, तदनन्तर अभ्यस्तका जप, पश्चात् शिष्योंके लिये उसे प्रदान करना।

वेदः शिवः शिवो वेदः वेदाभ्यासी सदा शिवः।
पाषाणः शिवतां याति कथं विप्रः शिवं न हि॥

(ऋग्विधाने)

वेद ही शिव है और शिव ही वेद हैं। जो वेदाभ्यासी है, वह सर्वथा शिवके सदृश होता है। जब पत्थर भी शिवत्वको प्राप्त हो जाता है, तो क्या ब्राह्मण वेदाभ्याससे शिवत्वको प्राप्त नहीं हो सकता ? अर्थात् हो सकता है।

वेदाभ्यासमें निरत, क्षमाशील तथा पञ्चमहायज्ञोंके सविधि अनुष्ठान करनेवाले व्यक्तिको महापातकोत्पन्न बड़ेसे बड़े पाप भी नहीं छू सकते।

वेदाभ्यासकी श्रेष्ठता

(यावज्जीवमधीते विप्रः)

ब्राह्मण तपस्या करता हुआ सर्वदा वेदाभ्यास करे, क्योंकि ब्राह्मणके लिये वेदाभ्यास ही परम तप कहा गया है।

वेदमेव सदाभ्यस्येत्तपस्त पस्यन् द्विजोत्तमः।
वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते॥

(मनु० २।१६६)

जो ब्राह्मण वेदाध्ययन न कर अन्य विद्यामें परिश्रम करता है, वह जीवित ही वंश-सहित शूद्रत्वको प्राप्त होता है।

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥

(मनु० २।१६८)

जटादि अष्ट विकृतियोंके पारायण करनेवाले ही द्विज महात्मा, उत्तम ब्राह्मण तथा पंक्तिपावन कहलाते हैं।

जटादिविकृतीनां ये पारायणपरायणाः।
महात्मानो द्विजश्रेष्ठास्ते ज्ञेयाः पंक्तिपावनाः॥

(आदित्यपुराण)

वेद-विद्याके ग्रहणमें समर्थ-असमर्थ

अहेरिव गणाद् भीतः सम्मानान् नरकादिव।
राक्षसीभ्य इव स्त्रीभ्य स विद्यामधिगच्छति ॥
न भोजन विलम्बी स्यात् न च नारी निबन्धनः।
सुदूरमपि विद्यार्थं व्रजेद् गरुडहंसवत् ॥

(या०शि०उ० १००, १०१)

जो जनसमूहसे सर्पकी भाँति डरे, सम्मानसे नरककी भाँति तथा स्त्रियोंसे राक्षसियोंकी भाँति दूर रहे, वही विद्या प्राप्त कर सकता है। जो देरतक भोजन न करे, स्त्रीके वशमें न रहे तथा विद्या-प्राप्तिके लिये गरुड और हंसकी भाँति दूर जा सकें, वही योग्य अधिकारी होता है।

किन्तु जो व्यक्ति क्रोधी, मूर्ख, आलसी, दीर्घरोगी और गृहीत पदार्थकि धारणमें असमर्थ हों, ये पाँचो विद्या-ग्रहणमें असमर्थ होते हैं।

पञ्चविद्यां न गृहणन्ति चण्डास्तब्धाश्च ये नराः।
अलसा रोगिणश्चैव येषां च विस्मृतं मनः ॥

(या.शि.उ. ९९)

वेद-विद्या-ग्रहणमें अभ्यास ही प्रधान है। जब कोमल स्पर्शवाले जलके बार बार गिरनेसे अत्यन्त कठिन पर्वत भी घिस जाता है, तो अभ्याससे क्या साध्य नहीं हो सकता ?

जलमभ्यासयोगेन शैलानां कुरुते क्षयम्।
कर्कशानां मृदुस्पर्शं किमभ्यासान्न साध्यते ॥

(या०शि० ३०, १०५)

गुरुकी सेवाकी आवश्यकता

जिस प्रकार फावड़ेसे खोदते रहनेपर जल मिल जाता है उसी प्रकार सेवा-द्वारा गुरु-विद्या प्राप्त होती है। किन्तु गुरुकी सेवाके बिना विद्या उसी प्रकार निष्फल होती है जैसे वन्ध्या युवती। विद्या-प्राप्तिके तीन मुख्य साधन हैं—

गुरुशश्रूषया विद्या पुष्कलेन धनेन वा।
अथवा विद्यया विद्या चतुर्थं नोपलभ्यते ॥

(या०शि०उ० ११२)

गुरु-शुश्रूषासे, पुष्कल धन प्रदानसे अथवा किसी विद्याके विनिमयसे विद्याकी प्राप्ति की जा सकती है, इसके अतिरिक्त कोई चौथा उपाय नहीं है।

जैसे अग्नि अपनी जिह्वाओंको शीघ्र समेट लेती है वैसे ही रुष्ट होनेपर गुरु भी अपनी समस्त विद्याओंको आत्मसात् कर लेता है। अतः गुरुको सर्वदा ब्रह्म-स्वरूप समझना चाहिए। जैसे ब्रह्म-संकल्प मात्रसे सम्पूर्ण जगत्को बना लेता है, वैसे ही गुरु भी इच्छा-मात्रसे क्या नहीं कर सकता ?

बह्वीर्जिह्वा यथा गृह्णात्यह्वना वह्निस्तथैव च।
ब्रह्मरूपं विजानी याद् गुरुमेवात्मनः सदा॥
यत्किञ्चित् वाङ्मयं लोके सर्वमत्र प्रतिष्ठितम्।
करोति तत्प्रदानं यत् तस्माद् ब्रह्ममयो गुरुः॥

(या०शि०उ० ११३-११४)

वैदिक स्वरके भेद

वेदमें स्वरमें तीन प्रकारके होते हैं — उदात्त, अनुदात्त और स्वरित्।

उदात्तादि स्वर-सूचक रेखा-परिचय

उदात्त — जिस वर्णके ऊपर खड़ी रेखा हो और वह वर्ण अनुदात्तसे परे हो या न हो और उससे परे अनुदात्त अथवा स्वरित् हो अथवा अवसान हो तो उसे उदात्त स्वर कहते हैं। जैसे — 'गुणानान्त्वा' (शु०य० २३।१९)

अनुदात्त — जिस वर्णके नीचे टेढ़ी (पड़ी) रेखा — इस प्रकार हो उसे अनुदात्त स्वर कहते हैं। जैसे गुणानान्त्वा (शु०य० २३।१९)

स्वरित् — जिस वर्णके ऊपर या नीचे कोई रेखा न हो। इस प्रकारके स्वर स्वरित्[1] कहलाते हैं। जैसे — नान्त्वा (शु०य० २३।१९)-में त्वा समाहार रहेगा। जो वर्ण स्वरित्से परे हो और उससे परे उदात्त न हो और रेखा भी ऊपर-नीचे कहीं न हो, उस अनुदात्तको प्रचय (प्रचित, एकश्रुति) कहते हैं। यथा —

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि (शु०य० १।५)

समिधाग्निं दुवस्यत (शु०य० ३।१)

---

१. अर्धन्यूब्ज और सर्वन्यूब्ज स्वरके हस्तचालनको स्वरित स्वर कहते हैं।

उदात्तसे परे स्वरित् हो तो उस उदात्त स्वरमें हाथ ऊपर जाता है और अनुदात्त परे हो तो वाम भागमें जाता है। अनुदात्तमें नीचे और दाहिनी ओर हाथ जाता है तथा बीच में भी रहता है।

उदात्त स्वरके भेद नहीं होते किन्तु अनुदात्त स्वरके निहित और प्रचय ये दो भेद होते हैं।

स्वरित्के जात्य, अभिनिहित, क्षैप्र, प्रश्लिष्ट, तैरोव्यञ्जन, तैरोविराम, पादवृत्त और ताथाभाव्य ये आठ भेद होते हैं। किन्तु माध्यन्दिन शाखामें ताथा भाव्य स्वर नहीं होता है—

माध्यन्दिनविरोधो स्यात् ताथाभाव्यस्तु यः स्वरः

(या०शि०पू०८६)

जात्य, अभिनिहित, क्षैप्र और प्रश्लिष्ट इन चारोंके दो भेद होते हैं— सर्वन्युब्ज और अर्धन्युब्ज। इन जात्यादि आठों स्वरोंके लक्षण तथा उदाहरण याज्ञवल्क्य शिक्षा और प्रातिशाख्यमें स्पष्ट हैं।

ω इस प्रकारके स्वरको सर्वन्युब्ज कहते हैं और इस L प्रकारके स्वरको अर्धन्युब्ज कहते हैं। यथा—

(क) भूर्भुवः स्वर्द्यौरिव (शु०य० ३।५)।

(ख) धान्यमासि (शु०य० १।२०)

वर्णोच्चारणका विवरण

शुक्ल यजुर्वेदमें सर्वत्र पदादि वकारका द्वित्वोच्चारण होता है। जैसे— व्वसुभ्यस्त्वा (शु०य० २।१६)।

प्रायः उपसर्गसे परे पदादि वकारका द्वित्व वकारोच्चारण नहीं होता है और वा, वाम्, वः, वै इनको कभी भी संहितामें द्वित्वोच्चारण नहीं होता, किन्तु पद-पाठमें होता है।

अथ, मा, सः, न इन शब्दोंसे परे वकारका द्वित्व वकारोच्चारण यथापठित होता है अर्थात् जिस शाखामें जैसा पाठ पढ़ा है उस शाखामें वैसा ही उच्चारण होता है।

वेदमें सर्वत्र पदादि यकारका जकारोच्चारण होता है। यथा—यज्ञेन यज्ञम् (शु०य० ३१।१६)।

हकार, यकार और रकार (रेफ) इन तीनोंमें से किसी भी वर्णसे संयुक्त

यकारका सर्वत्र जकारोच्चारण होता है। इन तीनोंके क्रमशः उदाहरण इस प्रकार हैं—

पृतनाशाह्याय च (शु०य० १८।६८)

श्रवाय्यम् (शु०य० १९।६४)

अर्य्यमणम् (शु०य० ९।२७)

प्रायः उपसर्गसे परे पदादि यकारका जकारोच्चारण नहीं होता। जैसे—'न यत्' (शु०य० २०।८१), 'वि यत्' (शु०य० १२।३४) तथा 'स योजते' (शु०य० १५।३३)। इत्यादि।

'अनु योजान्विन्द्रते' (शु०य० ३।५२)। तथा 'अभि यज्ञम्' (२६।२१) इत्यादि स्थलोंमें उपसर्गसे परे भी विशेष विधानसे जकारोच्चारण नहीं होता।

'यजुषे यजुषे' (१।३०) इत्यादि स्थलोंमें द्विरुक्त (आम्रडित) होनेपर भी विशेष विधानसे द्वितीय पदादि यकारका जकारोच्चारण नहीं होता।

'अथ, मां, सः, न' इन शब्दोंसे परे यकारका जकारोच्चारण नहीं होता।

वेदमें सर्वत्र मूर्धन्य षकारका खकारोच्चारण होता है। जैसे—

'सहस्रशीर्षा पुरुषः' (शु०य० ३१।१)।

टवर्ग (ट, ठ, ड, ढ, ण)-के योगमें सर्वत्र मूर्धन्य षकारका मूर्धन्य षकारोच्चारण ही होता है अर्थात् कवर्गीय खकारोच्चारण नहीं होता। यथा—प्रत्युष्टठं रक्षः' (शु०य० १।७) और 'कृष्णोऽसि' (शु०य० २।१) इत्यादि।

श, ष, स, ह और ऋ-के योगमें वर्णान्तरसे असंयुक्त ऋकारका सर्वत्र रेकारोच्चारण होता है। इसीको स्वर-भक्ति कहते हैं। याज्ञवल्क्य शिक्षा (उ. १३)-में इसके पाँच भेद बताए गए हैं। यथा—बार्हस्पत्याः (शु०य० २४।२) तथा कार्षिरसि (शु०य० ६।२८)।

ऋकार और लृकार दोनों किसी वर्णसे संयुक्त हों अथवा असंयुक्त, उनका सर्वत्र एकार सहित उच्चारण होता है। यथा—'ऋधगित्था' (शु०य० ३३।८७), 'कृष्णोऽसि' (शु०य० २।१), 'घृतं', 'घृतपावनः' (शु०य० ६।१९), 'वल्शा व्विरोहतात्' (१२।१००) इत्यादि।

वेदमें गूं दो प्रकारके होते हैं—ह्रस्व और दीर्घ। ह्रस्व गूंकी आकृति ँ इस प्रकार की और दीर्घ गूंकी आकृति ठं० इस प्रकारकी अथवा ६. इसप्रकार की होती है।

ह्रस्व वर्णसे परे दीर्घ गूं होता है और दीर्घ वर्णसे परे ह्रस्व गुं होता है।

ह्रस्व वर्ण-पूर्वक दीर्घ गूंका उदाहरण इस प्रकार है – 'प्रत्युष्टठं क्षः' (शु०य० १।७)

दीर्घ-वर्ण-पूर्वक ह्रस्व गूंका उदाहरण इस प्रकार है –

'संबर्हिरङ्क्तांᳪहविषा' (शु०य० २।२२)

'श, ष, स, ह और र (रेफ) परे रहते ह्रस्व अक्षरसे परे 'म'कार तथा 'न'कारको दीर्घ गूं (ठं०) और दीर्घसे परे ह्रस्व गूं (ᳪ) आदेश होता है। दोनोंके उदाहरण इस प्रकार हैं –

क. 'अधशर्ठ०सः' (शु०य० १।१)

ख. ता ᳪ सवितुः (शु०य० १७।७४)

संयुक्त वर्ण[1] परे होनेपर ह्रस्व वर्णसे परे भी ह्रस्व ही गूं होता है, दीर्घ गूं नहीं होता, किन्तु उस गूंकी शास्त्रमें 'गुरु' संज्ञा कही गई है – संयुक्ताद्यं दीर्घम्' इस न्यायसे। इसके उदाहरण इस प्रकार हैं – 'स ᳪ स्रवभागास्थेषा' (शु०य० २।१८) तथा 'सोमानᳪस्वरणम्' (शु०य० ३।२८) इत्यादि।

ऋवर्ण युक्त वर्ण परे रहते दीर्घ या ह्रस्व वर्ण दोनोंसे परे दीर्घ गूं होता है। यथा – 'देवानार्ठ० हृदयेभ्यः' (शु०य० १६।४६)। 'गर्भधम्' (शु०य० २३।१९), 'सहस्रपात्' (शु०य० ३१।१), 'रश्मीन्' (शु०य० ३४।४९) इत्यादि स्थलोंमें सर्वत्र हल् वर्णोच्चारणके पश्चात् दोनों ओष्ठोंको पृथक् करके पुनः उसी हल्-वर्णका उच्चारण करना और ऋगन्त (मन्त्रान्त) नियमसे तीन मात्रा कालपर्यन्त विराम करना चाहिए (ऋगन्ते तु त्रिमात्रिकः या०शि०)। इस प्रकार चार मात्राका काल हल् वर्णके मकारके उच्चारणमें लगता है – 'म्मऽऽऽ'। अतएव अर्धमात्रिक हल् वर्ण सस्वरकी भाँति प्रतीत होता है। इस प्रकारके उच्चारण करनेका स्पष्ट विधान 'प्रातिशाख्य' (१।९०-९१) और 'पाणिनीय शिक्षा' (२४)में लिखा है।

उदात्त विसर्गसे परे तर्जनी और अनुदात्त विसर्गसे परे कनिष्ठिका अँगुलीका प्रक्षेप होता है। दीर्घ स्वरित्‌से परे कनिष्ठिका और ह्रस्व स्वरितसे परे कनिष्ठिका और तर्जनी दोनोंका प्रक्षेप होता है। स्वरित् वकार दीर्घ हो या ह्रस्व हो, उससे परे दो अँगुली ही छोड़नी चाहिएँ। यकार संयुक्त वकारमें भी

---

१. संयुक्ताद्यं सानुस्वारं विसर्गसंयुक्तम्।
विज्ञेयमक्षरं गुरुपादान्तस्थं विकल्पेन॥

दो अँगुलियोंका प्रक्षेप होता है; किन्तु वह केवल यकारमें नहीं होता। अतः 'सदस्यैः' (शु०य० ७।४५) इत्यादि स्थलमें एक ही अँगुलीका प्रक्षेप उचित है।

हल् मकारान्तमें मुष्टि (मुष्ट्याकृति) बाँधना, तकारान्तमें कुण्डलाकृति (अंगुष्ठ और तर्जनीके नखको मिलाना) करना, ककार, टकार, ङकार और णकार इनके अन्तमें तर्जनीको नीचेकी ओर झुकाना, पकारान्तमें पाँचों अँगुलियोंको एकत्रित करना चाहिए। ह्रस्व गूं (लघु अनुस्वार ॐ)-में अंगुष्ठको तर्जनीके पृष्ठ भागपर, दीर्घ गूंमें तर्जनीको फैलाना और रङ्ग[1] ('महाँ २॥ इन्द्रः', शु०य० ७।४०)-में तर्जनीको फैलाना चाहिए। जिस अक्षरके आगे २॥ (अढ़ाई) अथवा १॥ (डेढ़)-का अंक लिखा रहे, उसको रङ्ग समझना चाहिए और जिसके आगे ३ (तीन)-का अंक लिखा रहे, उसको 'प्लुत' समझना चाहिए।

संयोगके आदिवर्णको द्वित्व होता है। उत्तम वर्ण परे रहते संयोगादि वर्णको द्वित्व नहीं होता है। ऊष्म (श, ष, स, ह) और अन्तःस्थ (य, र, ल, व)-से परे स्पर्श (ककारादि)-को द्वित्व होता है। यदि मध्यमें ऊष्म वर्ण और दोनों ओर स्पर्श वर्ण हों तो पूर्व और पर दोनों स्पर्शोंको द्वित्व नहीं होता। रेफ और हकारसे पर-वर्णको द्वित्व होता है। जैसे—'आदित्यवर्णं तमसः' (शु०य० ३१।३८)।

यस्य, अतिहाय, और सह इनसे परे छकारको तुक् आगम नहीं होता, अन्यत्र सर्वत्र होता है।

वेदमें प्रतृण्णा, वितृण्णा, शतातृण्णा, स्वयमातृण्णा, असन्तृण्णा, प्रतृण्ण और अतितृण्ण, ये पद मिलते हैं। ये सभी हिंसा और अनादरार्थक 'तृद्' धातुसे बनते हैं। तैत्तिरीय संहिता (६।२।११)-के 'हनूवाऽएते यस्य यदधिषवण-फलकेन सन्तृणत्ति अन्तृण्णे हि हनू' इस वाक्यमें जो 'तृण्ण' शब्द है, वह 'तृद्' धातुसे ही बनता है। वेदोंमें जहाँ जहाँ 'तृण्ण' शब्द है वहाँ वहाँ वह द्वित्व णकार-घटित ही है। इसमें 'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य'-का ऋण्ण षण्ण राण्ण चेति प्राकृताः' यह सूत्र प्रमाणभूत है। इसमें ऋण्ण शब्दका उदाहरण देकर पूर्व-कथित सभी उदाहरण व्याख्याकारने उद्धृत किए हैं। अतः 'अतितृण्णम्' (शु०य० ३६।२) इस मंत्रका ठीक ठाक अर्थ णकार द्वय-घटित जो पाठ

१. रङ्ग केवल दीर्घ ही होता है।

प्राचीनकालसे चला आ रहा है, यही ठीक है। वस्तुतः 'यन्मे छिद्रम्' (शु०य० ३६।२) इस मंत्रका ठीक ठीक अर्थ णकार द्वयघटित पाठसे ही उचित प्रतीत होता है। केवल एक णकार-'घटित (अतितृण्ण) पाठसे ठीक ठीक अर्थ संगत नहीं होता है।

अतः यहाँ णकारद्वयका उच्चारण ही सर्वथा ठीक है।

इसी प्रकार वेदमें प्रमादवश कई स्थलोंपर 'वेष्योऽसि' (शु०य० १।३०), 'मनोऽसि' (शु०य० ४।१९), 'चप्यम्' (शु०य० १९।८८) इत्यादि अशुद्ध वाक्य मुद्रित हो गए हैं। वस्तुतः वहाँ 'वेप्पोसि', 'मनासि', 'चप्पम्' इस प्रकार शुद्ध पाठ होना चाहिए।

रेपोष्व वर्णानां पूर्वमनुस्वारं अम् इति ओष्टगतं वाच्यम्।

अर्थात् र, श, ष, स, ह -के पहले वर्णके ऊपर अनुस्वार हो तो उसे अलग ओठ बन्द करके अम् उच्चारण करना चाहिए जो उम्म ३ के समान बोलना चाहिए। यही उम्म ग्गुं या ग्वम् हो गया है।

कुछ लोग वैदिक मन्त्रान्तर्गत ह्रस्व गूं और दीर्घ गूंके स्थानमें 'ग्वम्' ऐसा पढ़ते हैं। गणपतिर्ठं० हवामहे (शु०य० २३।१९) ऐसा शुद्ध पाठोच्चारण न करके गणपति ग्वम् हवामहे, ऐसा अशुद्ध पाठोच्चारण जो लोग करते हैं, वह ठीक नहीं है। शास्त्रोंमें ह्रस्व तथा दीर्घ गूंके उच्चारणका 'ग्वम्' उच्चारण करनेका विधान नहीं लिखा गया है और 'ग्वम्' इस पाठोच्चारणसे ह्रस्व और दीर्घका भी भेद स्पष्टतः ज्ञात नहीं हो सकता।

वेदकी पुस्तकोंमें भूलसे यत्र-तत्र मन्त्रोंमें अशुद्धि होनेके कारण उनमें पाठभेद करना और मन्त्रोंका ठीक ठीक उच्चारण न करके कपोल-कल्पित उच्चारण करना महापाप है और इससे शास्त्रीय मर्यादाका भी उल्लंघन होता है। अतः सर्वात्मना वेदरक्षार्थ प्रयत्नशील होते हुए उसका स्वाध्याय यथाविधि स्वर-उच्चारणादि ज्ञानपूर्वक होना चाहिए। अन्यथा वेद-स्वाध्यायसे कुछ भी लाभ नहीं हो सकता।

पद-क्रम और जटादि अष्ट-विकृति[१]के निर्माणका कारण

संहिता-पाठके दृढीकरणके लिये ही पद, क्रम तथा जटादि अष्ट विकृतियोंका आविष्कार हुआ है। इस बातकी पुष्टि महर्षि कात्यायनने 'क्रमः

१. विकृतियोंका परिचय परिशिष्ट में देखिए।

स्मृतिप्रयोजनः' (प्रातिशाख्य ४।१८०) इस सूत्रमें की है। उक्त सूत्रमें पठित 'क्रम' पदको पद तथा जटादिका उपलक्षण ही समझना चाहिए, न कि केवल क्रम-विकृति-बोधक ही समझना चाहिए।

गायत्री मंत्रका पाठ ओष्ठ बन्द करके उपांशु करना चाहिए, लेकिन आजकल लोग इसका पाठ लाउडस्पीकरपर उदात्त, अनुदात्त, स्वरितके ज्ञानके बिना करते हैं; यहाँतक कि किसीके मरनेपर अशौचमें भी मृतकके आत्माकी शान्तिके लिये गायत्री मंत्रका पाठ कराते हैं जो अत्यन्त अशुद्ध है एवं हानिकर है। इससे लाभके स्थानपर हानिकी ही सम्भावना रहती है।

जब शुक्ल यजुर्वेदी संध्या लिखनेवालोंको मंत्रोंके देवता, ऋषि, छन्द और विनियोगका ज्ञान नहीं हो पाया, तब उन्होंने कल्पित देवता, छन्द, ऋषि और विनियोग गढ़ डाले।

१. 'अपवित्रः पवित्रो वा०' इसमें न तो वामदेव नामके कोई ऋषि हैं और इस मंत्रमें गायत्री छन्द भी नहीं है।
२. 'पृथ्वीति०' यह मंत्र न होकर अनुष्टुप् छन्दोबद्ध श्लोक है, जबकि इसमें सुतल छन्द बताया गया है, जो छन्द ही नहीं है। कूर्म कोई देवता नहीं, अपितु अवतार हैं। 'आसनं प्रोक्षणे' यह विनियोग होना चाहिए।
३. 'ऋतं च सत्यश्च०' इस अघमर्षण मंत्रमें कथित अघमर्षण नामका कोई ऋषि नहीं है, न ही इनमें अनुष्टुप् छन्द है, भाववृत्त कोई देवता नहीं है।
४. 'ॐ कारस्य ब्रह्मा' यह न तो छन्दहै, न ब्रह्मा इसके ऋषि हैं, न इसके देवता अग्नि हैं, शुक्लवर्णका कोई प्रश्न ही नहीं है और विनियोग भी अशुद्ध है। 'सर्वकार्यारम्भे विनियोगः'-के स्थानपर यह बताना चाहिए था कि किस कार्यमें विनियोग कर रहे हैं।
५. 'ॐ गायत्र्या०'-में कथित अग्निमुख प्राणायामका क्या तात्पर्य है ? केवल प्राणायाम ही होना चाहिए।
६. 'ॐ शिरस०' — शिरसः प्रजापति कोई ऋषि नहीं है, यजुः कोई छन्द नहीं है। एक साथ ही ब्रह्मा, अग्नि, वायु, सूर्य देवता प्राणायामके विनियोगके लिये कहाँसे आ गए ?
७. 'ॐ सूर्यश्चमेति०' — इसमें कथित नारायण कोई ऋषि नहीं हैं और न ही प्रकृति कोई छन्द है।
८. 'ॐ आपेमहिष्ठा०' — इस मंत्रमें न तो गायत्री छन्द है और सिन्धुद्वीप

नामका कोई ऋषि भी नहीं है।

९. ॐ द्रुपदादिव०-में कथित कोकिल रात्रपुत्र नामका कोई ऋषि नहीं है, न अनुष्टुप् छन्द है और सौत्रामणि यज्ञके अवभृथ स्नानके लिये विनियोगमें आनेवाला मन्त्र यहाँ सन्ध्या-प्रकरणमें कैसे आ गया ? ,

१०. अघमर्षण सूक्तस्य० – इस सूक्तका न तो अघमर्षण ऋषि है, न अनुष्टुप् छन्द है, न भाववृत्त कोई देवता है। यह मन्त्र अश्वमेध यज्ञके अवभृथ स्नानके लिये विनियोगमें आता है। फिर यहाँ कैसे आया ?

११. ॐ अन्तश्चरसि – तिरश्चीन कोई नहीं ऋषि हैं।.

१२. ॐ कारस्य – दूसरी बार ॐकारके लिये ब्रह्मा ऋषि बताए गए हैं, जबकि ब्रह्मा ऋषि नहीं हैं। इसमें गायत्री छन्द भी नहीं है। सप्त महाव्याहृतियोंका कोई ऋषि, देवता और छन्द नहीं होता।

१३. ॐ उद्वयम्० – इसमें कथित हिरण्यस्तूप कोई ऋषि नहीं है, न इनमें अनुष्टुप् छन्द है। इसी प्रकार प्रस्कण्व भी कोई ऋषि नहीं है।

अतः वेदोंके विद्वानोंको इस विषयपर गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिए और उचित ऋषि, देवता, छन्द और विनियोगका प्रयोग और प्रचार करना चाहिए।



कल्प

कल्प वेदाङ्ग वेद-पुरुषके हाथ माने गए हैं।

कल्प-सूत्रोंमें विविध यज्ञों और संस्कारोंका वर्णन प्राप्त होता है। उनमें मंत्रोंका विध कर्मोंमें विनियोग प्रतिपादित किया गया है।

कल्प-सूत्रों चार भागोंमें विभक्त हैं — श्रौत सूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र और शुल्व-सूत्र।

श्रौत-सूत्र : श्रौत सूत्रोंमें श्रुति प्रतिपादित सात्त हविर्यज्ञों और सात सोमयागोंकी विधि और विनियोग आदिका प्रतिपादन हुआ है। उनमें प्रमुख श्रौत सूत्र हैं — आश्वलायन, शांखायन, बौधायन, आपस्तम्ब, मानव, कात्यायन, लाट्यायन, द्राह्ययायण और वैतान श्रौत सूत्र। प्रत्येक श्रौत सूत्र किसी एक वेदसे सम्बद्ध है।

गृह्य-सूत्र : गृह्यसूत्रोंमें षोडश संस्कारों, पञ्चमहायज्ञों, सप्त पाकयज्ञों और अन्य गृह्य कर्मोंका विशेष वर्णन मिलता हैं। प्रत्येक गृह्यसूत्र भी किसी वेद-विशेषसे सम्बद्ध है। प्रमुख गृह्यसूत्र हैं — आश्वलायन, पारस्कर, शांखायन, बौधायन, आपस्तम्ब, मानव० हिरण्यकेशी, भारद्वाज, काठक, लौगाक्षि, गोभिल, जैमिनीय और खादिर गृह्यसूत्र।

धर्मसूत्र : धर्मसूत्रोंमें मानवोंके कर्त्तव्य, नीति-धर्म, रीति, चारों वर्णाश्रमोंके कर्त्तव्यादि और अन्य सामाजिक नियमादिका वर्णन हुआ है। प्रमुख धर्मसूत्र ग्रन्थ हैं — बौधायन, आपस्तम्ब, हिरण्यकेशी, वसिष्ठ, मानव और गौतम धर्मसूत्र।

शुल्वसूत्र : शुल्व सूत्रोंमें यज्ञवेदीका मान आदि और निर्माणकी विधि आदिका वर्णन है। उनमें प्रमुख ग्रन्थ हैं — बौधायन, आपस्तम्ब, कात्यायन और मानव-शुल्वसूत्र।

तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते ।
द्वापरे यज्ञमित्याहुः कलौ दानं प्रशस्यते ॥

यद्यपि द्वापरमें ही यज्ञ करनेकी महत्ता बताई गई है तथापि त्रेतामें भी रामने बहुतसे अश्वमेध यज्ञ किए और कोई भी यज्ञ अपत्नीक नहीं हो सकता, इसलिये सीताका परित्याग करनेपर रामने सोनेकी सीता बनाकर यज्ञ पूरे किए।

अग्निको जातवेद कहते हैं अर्थात् वेदके लिये ही अग्निका जन्म हुआ। यह अग्नि अरणी-मंथन-द्वारा उत्पन्न की जाती थी। सबसे प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेदके प्रथम मंत्रमें यज्ञसे सम्बन्ध रखनेवालोंको पुकारा गया है –

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् ।
होतारं रत्नधातमम् । (ऋ० १।१।१)

मैं अग्निको, पुरोहितको, यज्ञ करनेकी प्रेरणा देनेवालेको, यज्ञके देवता (विष्णु)-को तथा यज्ञ-पुरुषको, ऋत्विजों (होता, उद्गाता, अध्वर्यु, ब्रह्म तथा सदस्यों)-को और बहुत धनी (जिनके पास रत्न ही रत्न हों) पुरुषोंको पुकारता हूँ। क्योंकि यज्ञकी पत्नी दक्षिणा मानी जाती है और प्रत्येक यज्ञमें विभिन्न अवसरोंपर केवल स्वर्ण ही चढ़ाया जाता था और यज्ञके पश्चात् स्वर्ण ही दक्षिणामें दिया जाता था इसीलिये केवल राजा ही अश्वमेध यज्ञ करते थे। एक कारण यह भी था कि यज्ञके घोड़ेको छोड़नेके साथ साथ सेना भी भेजी जाती थी जो राजा ही कर सकता था, कोई अन्य नहीं।

कल्पका मुख्य प्रतिपाद्य विषय यज्ञ ही है। इसलिये यहाँ यज्ञका विवेचन कर दिया जाता है।

संसारमें सभी जीवोंका अभिप्राय नित्य और निरतिशय सुख-प्राप्ति एवं अमृतत्वकी अवाप्ति है। यदि नित्य, निरतिशय सुखकी कोई सत्ता न हो, तो कोई भी पुरुष ऐसी अभिलाषा न करे। किसीका भी यह प्रयास नहीं होता कि कि मैं शशशृंग अथवा आकाशकुसुमको देखूँ; क्योंकि इनकी वस्तुगत सत्ता ही नहीं होती है। नित्य सुख ब्रह्म ही है, ऐसा शास्त्र कहते हैं। जीव उस ब्रह्मकी अवाप्तिके लिये शास्त्र-सिद्ध मार्गकी उपेक्षा करके अपनी बुद्धिके अनुसार कल्पित मार्गका अनुसरण करते हुए कुछ कालतक सुखी रहकर फिर दुखी होकर, दूसरे मार्गका अवलम्बन लेते हुए उसी प्रकार भटकता है, जैसे वानर

एक शाखासे दूसरीपर दौड़ता हुआ भी सन्तोष प्राप्त नहीं करता है। मानव भी उसी प्रकार नित्य सुखका अनुभव नहीं करता। उस प्रकारके नित्य सुखकी प्राप्तिका प्रथम सोपान होता है 'यज्ञ'।

'महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः' – इति स्मृते।[1]

यज्ञ और इष्टि पशु सोमरूपा अल्पकाल साध्या है। महायज्ञ अहीन और सत्र हैं। यद्यपि फलान्तरके कारण उनके साधन होनेके निर्देश हैं, तथापि दोनोंकी अर्थता शास्त्रसिद्ध है। "तमेतं ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन, दानेन तपसानाशकेन" इति।

बृहदारण्यककी यह श्रुति सभी यज्ञोंका विविदिषासाधनत्व अथवा वेदन साधनत्वको उद्घोषित करती है।

यज्ञके रूपमें द्रव्य देवता है। द्रव्योंका संस्कार मन्त्रोंसे होता है और देवताका स्वरूप मंत्रोंके वर्णोंसे होता है। अतः यज्ञ मन्त्रसाध्य है।

यज्ञका उद्देश्य

सभी यज्ञोंके अनुष्ठानका एकमात्र उद्देश्य निःसीम सुख-अवाप्ति ही है। कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान और अधिकरण इन पाँच प्रकारके कारकोंसे यज्ञ-रूप क्रिया सम्पन्न होती है। इन्द्रादि देवताके उद्देशसे घृतादिका त्यागही याग है। देवताके उद्देशसे घृतादिका जो दान किया जाता है, वह सम्प्रदान है। हवि-रूप घृतादिका अग्निमें प्रक्षेप ही कर्म है। जुहु आदि करण, अध्वर्युकर्त्ता और आहवनीयाग्नि अधिकरण होता है। ऐसे यज्ञादि कर्मोंमें ब्रह्म दृष्टि रूप समाधि होनेसे अनुष्ठाताको ब्रह्मत्वका लाभ होता है।

गीताके पाँचवें अध्यायमें दैवयंज्ञ, ज्ञानयज्ञ, द्रव्य-त्याग यज्ञ, तपोयज्ञ, योगयज्ञ, दृढव्रत यज्ञ, द्रव्य यज्ञ आदि यज्ञोंके विभिन्न भेद बताए गए हैं। इन यज्ञोंके अनुष्ठाता याजकगण यज्ञको समाप्त करके निष्पाप हो, यज्ञके बाद अमृत भोजन करते हैं और सनातन ब्रह्मको पाते हैं। जो उपर्युक्त यज्ञानुष्ठान नहीं करते हैं, वें स्वर्गकी बात तो दूर रही, इहलोकमें भी शुभफल नहीं पाते।

---

१. मनुस्मृति, २.२८
महायज्ञैः पंचभिर्ब्रह्मयज्ञादिभिः। यज्ञैर्ज्योतिष्टोमादिभिः।
ब्राह्मीं ब्रह्मप्राप्तियोग्येयं तनुः तन्ववच्छिन्न आत्मा क्रियते।"
इति तत्रकुल्लूकभट्टः॥

जो पूर्वोक्त यज्ञोंको जानते हैं अथवा श्रद्धापूर्वक करते हैं, वें ही यज्ञविद् हैं। इतर जन मुक्ति तो क्या, सांसारिक सुख-सम्पदा भी नहीं पाते।

अतएव मानवको इहलोकमें सुख-प्राप्ति हेतु निरन्तर संचय होनेवाले पाप-समूहकी निवृत्ति हेतु तथा पारलौकिक स्वर्ग एवं मुक्तिकी प्राप्ति हेतु यज्ञोंका अनुष्ठान अवश्यमेव करना चाहिए। पंच महायज्ञोंको प्रत्येक व्यक्ति निरन्तर करे, इसका उपदेश विभिन्न ग्रन्थोंमें दिया गया है। यथा –

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥[1]

कल्पारम्भमें प्रजापतिने यज्ञादिकारी जीवोंकी सृष्टि करके यही कहा था— इस यज्ञ-द्वारा तुम लोग समृद्ध बनोगे, यही यज्ञ तुम्हें मनोवांछित फल देगा। इस यज्ञ-द्वारा तुम सब लोग देवताओंको सन्तुष्ट करो, देवगण भी तुम्हें सन्तुष्ट करेंगे। इस प्रकार परस्पर सन्तोष-साधन-द्वारा तुम सब परस्पर कल्याण-लाभ करोगे।

यज्ञादि-द्वारा इन्द्रादि देवताओंको सन्तुष्ट करनेसे वें जल देंगे, जिससे पृथिवी शस्यशालिनी होगी। पृथिवीके शस्यशालिनी होनेसे तुम लोग सन्तुष्ट होंगे और देवसेवासे स्वर्गलाभ भी होगा। इस देवप्रदत्त भागको प्राप्त कर जो लोग देवताओंको प्रदान किए बिना स्वयं भोग करते हैं, वे चोर हैं। देवताओंकी सन्तुष्टिसे मानव अन्न और सुवर्ण आदि मनोवांछित भोग्य द्रव्य प्राप्त करते हैं। वह सब देवप्रदत्त ऋण-स्वरूप मानना चाहिए। अतएव देव-सन्तुष्टिके लिये अग्निहोत्र आदि यज्ञ करना अनिवार्य है। जो यज्ञावशेष अन्नका भोजन करते हैं, वे सभी पापोंसे मुक्त होते हैं। जो पापात्मा पुरुष केवल अपने लिये ही अन्न पाक करता है, वह मानों केवल पाप ही खाता है।[2] वह पंचशूनादिजन्य पापोंसे निस्तार नहीं पाता। इन पापोंसे मुक्तिका उपाय पञ्च महायज्ञोंका अनुष्ठान ही है। सर्वगत अविनाशी परब्रह्म धर्मरूप यज्ञादिमें सदा प्रतिष्ठित है। अतः सभीको यथाशास्त्र यज्ञादिका अनुष्ठान करना उचित है।

क्षत्रियोंको आरम्भ यज्ञ, वैश्यको हविर्यज्ञ, शूद्रको परिचार यज्ञ और ब्राह्मणको जप-यज्ञ करना चाहिए।[3]

---

१. गरुड पुराण, अध्याय ११५

२. केवलादो भवति केवलाघी

३. मत्स्यपुराण, अध्याय ११८

सांख्यदर्शनके अनुसार यज्ञादि कर्म-द्वारा ही जीव संसार-बन्धनमें फँस जाते हैं क्योंकि यज्ञानुष्ठानसे जीव-हिंसा होती है, हिंसासे अधर्म होता है। धर्मशास्त्रोंके अनुसार यज्ञोंके अनुष्ठानमें जो वैध हिंसा होती है, उसमें पाप नहीं होता। परन्तु सांख्यमतके अनुसार, ''अग्निषोमीयं पशुमालभेत्'' आदि शास्त्रोपदिष्ट वाक्य भी उचित नहीं हैं। क्योंकि जब 'मा हिंस्यात् सर्वाभूतानि' यह एक हिंसा-निषेधक सामान्य आदेश है तब उपर्युक्त वाक्य परस्पर विरोधक भावके कारण निरर्थक हो जायँगे। अतः हिंसाजन्य पापसे मुक्त होनेके लिये पुनः यज्ञ किया जाय, इससे तो श्रेयस्कर यही है कि हिंसाका मूल यज्ञ ही न किया जाय। वस्तुतः विद्या ही मुक्तिका श्रेष्ठ मार्ग है।

सामान्य जन इस प्रकारके तर्कोंके आधारपर यही श्रेयस्कर समझ लेता है कि यज्ञका परित्याग ही कर दिया जाय। किन्तु इस सन्देहको दूर करनेके लिये भगवान् श्रीकृष्णने कहा है – ''यज्ञो वै विष्णुः''।

इस श्रुतिके अनुसार जो यज्ञ ईश्वरके उद्देश्यसे किया जाता है एवं फलाकांक्षा-रहित होता है, उससे जीवका बन्धन नहीं होता। अतः फलकामनासे रहित होकर केवल ईश्वरके निमित्त ही ज्योतिष्टोम आदि यज्ञोंका अनुष्ठान करना उचित है।[1]

प्रत्येक मनुष्य तीन प्रकार गुणोंसे ऋणी उत्पन्न होता है। ''जायमानो है वै पुरुषस्त्रिभिर्ऋणैर्ऋणवान् जायते''। तीनों प्रकारके देव, ऋषि और पितृऋण तीन प्रकारके भिन्न-भिन्न यज्ञोंसे चुकाए जाते हैं। कर्मयज्ञ करनेसे देवगण, ज्ञान-यज्ञ करनेसे ऋषिगण और पुत्रेष्टि-यज्ञ करनेसे पितृगणसे उऋण हुआ जाता है। इन्हीं ऋणोंसे मुक्ति हेतु यज्ञ किए जाते हैं, वस्तुतः यज्ञ करनेका यही मूल उद्देश्य है।

यज्ञकी महत्ता

इहलोकमें सुख-प्राप्ति, पुत्रादि-सुख, आर्थिक समृद्धि, स्वर्ग-प्राप्ति एवं मुक्तिकी कामना सभी मानवोंका अभीष्ट होता है। सांसारिक जीव अपने पूर्वजन्ममें संचित शुभाशुभ कर्मोंका फल ही इस जीवनमें प्राप्त करते हैं, यह भारतीय संस्कृतिका प्रमुख प्रतिपाद्य विषय है। अतः पूर्वजन्ममें संचित एवं वर्तमानकालमें निरन्तर संचीयमान कल्मष-समूह दूर करनेके हेतु धर्मशास्त्रोंमें

१. गीता २/९-१५

यज्ञ, तप, दान आदि जितने उपाय बताए गए हैं, उनमें यज्ञकी महत्ता सर्वोपरि है। यज्ञसे अनुष्ठाता अक्षय पुण्य-लाभ तो प्राप्त करता ही है, साथ ही ऋत्विग्गण भी दक्षिणादिके रूपमें धन भी पाते हैं तथा यज्ञानुष्ठानमें प्रवृत्त रहनेके कारण निष्पाप होकर मुक्तिकी ओर भी अग्रसर होते रहते हैं। सम्पूर्ण प्राकृतिक वातावरण भी यज्ञोंके अनुष्ठानसे पूत एवं निर्मल रहता है। अद्यतन वातावरणमें यज्ञोंकी उपादेयता इसलिये और अधिक बढ़ गई है, क्योंकि वैज्ञानिक प्रगतिके साथ साथ विश्वका वातावरण इतना विषाक्त हो गया है कि वायुमंण्डलमें जो प्राणवायु विद्यमान है, वह धीरे धीरे सम्पूर्ण सृष्टिको कलुषित कर रहा है। अनेक रोग इस प्रदूषणके कारण उत्पन्न होते जा रहे हैं। अतः, मानवताके कल्याण-हेतु यज्ञानुष्ठान अनिवार्य हो गया है जिससे वातावरण शुद्ध हो।

यज्ञ

"इज्यते हविर्दीयतेऽत्र, रज्यन्ते देवताऽत्र इति वा यज्" अर्थात् जिसमें सभी देवताओंका पूजन अथवा घृतादि-द्वारा हवन हो, उसे यज्ञ कहते हैं। शब्द-रत्नाकरमें याग, अध्वर, सव, सप्ततन्तु, मख, कृतु, इष्टि, इष्ट, वितान, मन्यु, आहव, सवन, हव, अभिषव, होम, हवन तथा महः शब्द यज्ञके पर्यायके रूपमें उल्लिखित हैं।[१] अतः मानव अपने विभिन्न मनोरथोंकी पूर्ति-हेतु शास्त्रोक्त रीतिसे निर्दिष्ट सामग्री, मन्त्र, ऋत्विज् आदिके साहाय्यसे यथाकाल अभीप्सित इष्टिका अनुष्ठान करता है। जैसे पुत्र-प्राप्तिके उद्देश्यसे 'पुत्रेष्टि'-का अनुष्ठान करना। विभिन्न ग्रन्थोंमें ऐसे प्रेरक वाक्योंका उल्लेख है, जिनके कारण मनुष्यको नानाविध यागोंका अनुष्ठान करनेका निर्देश है। जैसे –

"दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत्"

"ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत्"

स्वर्गकी कामना करनेवाला पुरुष दर्श और पूर्णमास यागोंसे यजन करे, स्वर्गकामी पुरुष ज्योतिष्टोम यज्ञसे यजन करे, इत्यादि।

यहाँपर यह आशंका उत्पन्न हो सकती है कि इस प्रकारके वाक्योंका रचयिता वही हो सकता है, जो स्वर्ग जाकर वहाँके सुखोंका अनुभव कर चुका हो। परन्तु सशरीर मानवका स्वर्ग पहुँचना असम्भव है। मृत्यूपरान्त जब पार्थिव शरीर भस्मके रूपमें पृथिवीपर रह जाता है, तब यदि आत्मा स्वर्गमें

१. वेद निघण्टु ३/१७

चला भी जाय तो शरीरके अभावमें इस प्रकारके विधिवाक्य नहीं लिखे जा सकते हैं; अस्तु इसका उत्तर यही है कि हमारे युगद्रष्टा ऋषियोंने इस प्रकारके वाक्योंका दर्शन किया और उन्हें उपनिबद्ध किया जिससे मानव-शरीर रहते ही ऐसे कर्मोंका सम्पादन कर लें, जिससे देह-त्यागके उपरान्त उसे स्वर्गकी अवाप्ति हो सके।

यज्ञका अर्थ

यज्ञ शब्द यज् (देवपूजा, संगतिकरण और दानार्थक) धातुसे नङ् प्रत्यय करनेपर निष्पन्न होता है जिसका अर्थ होता है — इन्द्रादि देवताओंका सत्कार-भावन। इन्द्र, वरुण आदि देवोंके पूजनका साधन वह कर्म जिसमें देवताओंकी पूजा की जाय, उनके लिये नाना प्रकारके उपहार जिस कर्ममें समर्पित किए जायँ जिससे देव पूजित होकर तृप्त हों अथवा जिनकी पूजा की जाय वे विष्णु भी यज्ञ ही है।[1]

संगतिकरणमें — ''देश, जाति और धर्मकी मर्यादा-रक्षा हेतु महापुरुष जहाँ एकत्र होकर विचार करें, विश्व-कल्याणके लिये देशके कोने-कोनेमें परिभ्रमण कर वैदिक शिरोमणि विद्वान् और नाना प्रकारकी व्याख्या करनेवाले विद्वानोंको जहाँ निमन्त्रित करके बुलाया जाय अपने प्रेमी बन्धु-बान्धव आदिको, दर्शन करकेपवित्र होनेके लिये बुलाया जा, वे सब यज्ञके अर्थ हैं।[2]

दान अर्थमें — देश, काल और पात्रके अनुसार द्रव्यादिका दान भी यज्ञ है। देवताओंके उद्देशसे श्रद्धापूर्वक द्रव्यका त्याग, जिस कर्म में हो, वह भी यज्ञ है। याचकको जिस कर्मसे सन्तुष्ट किया जाय वह भी यज्ञ है। रोगियोंकी रोग-निवृत्तिके लिये चिकित्सकोंको बुलाकर ओपधादि वितरण एवं रोगी-परिचर्या भी यज्ञ है। ईश्वरके चरणोंमें अपना सर्वस्व समर्पण भी यज्ञ है। सांगोपांग एवं सरहस्य गुरुजनों-द्वारा शिष्योंको दिया गया वेदोपदेश भी यज्ञ है।[3]

---

१. यजनं इन्द्रादि देवानां पूजनं सत्कारभावनं यज्ञः (यज्ञ मीमांसा)
इज्यते सम्पूजिताः तृप्तिमासाद्यन्ते देवा अत्रेति यज्ञः।

२. यजनं धर्म-देश-जाति-मर्यादारक्षायै महापुरुषाणां एकीकरणं यज्ञः॥
इज्यन्ते संगतीक्रियन्ते विश्व कल्याणाय परिभ्रमणं कृत्वा महान्तो विद्वांसः।
वैदिक शिरोमणयः व्याख्यारत्नाकराः निमंत्रयन्ते अस्मिन्निति यज्ञः।

३. यजनं [illegible] द्रव्यादित्यागः।

यज्ञका मुख्य अर्थ

देवपूजा, संगतिकरण और दान – यह अर्थ गौण है। जैसे किसी कायर पुरुषकी अकस्मात् वीरताको देखकर कह दिया जाय कि यह शेर है, या किसी मानवकी दानशीलताको देखकर यह कह दिया जाय कि यह तो याचकोंके लिये कल्पतरु है – परन्तु वास्तविकता यह नहीं होती। इसी प्रकार यज्ञके उपर्युक्त अर्थ भी गौण ही हैं मुख्य नहीं।

यज्ञका मुख्य अर्थ कात्यायनने स्वरचित श्रौतसूत्रमें किया है, जिसका भाव यह है – "(इन्द्रादि) देवताओंके निमित्त (दधि, सोम, ब्रीहि, यवादि) द्रव्यका त्याग..........।"[१] निरुक्तमें कहा गया है कि लोक वेदमें विख्यात, (अग्निमें देवोद्देश्यसे हविका त्याग) ही यज्ञ है। यजमान यज्ञमें देवोंको तृप्त कर उनसे वृष्टि आदिकी कामना करते हैं अथवा यजुःसे प्रसन्न होकर (अर्थात् पुरोवाक्योंसे प्रसन्न होकर; यजुःसे, आध्वर्य कर्मसे तृप्त होकर) देवता यजमानकी कामना-पूर्ति करते हैं, इसलिये इसे यज्ञ कहा गया है। औपमन्यव आचार्यके मतानुसार इसमें कृष्णाजिनका प्रयोग अधिक होता है, इसलिये यह यज्ञ कहा जाता है। प्रारम्भसे लेकर समाप्ति-पर्यन्त यजुः ही यज्ञ पूरा करता है, इसलिये इसका नाम यज्ञ है।[२]

यज्ञकी उत्पत्ति

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथामान्यासन्

देवताओंने यज्ञसे यज्ञ किया, वही वास्तवमें प्रथम धर्म था क्योंकि यज्ञसे ही ब्रह्माने सृष्टिकी उत्पत्ति की।

कालिकापुराणके इकत्तीसवें अध्यायमें यज्ञोत्पत्तिका विवरण विशद रूपमें दिया गया है। उसके अनुसार –

"यह सम्पूर्ण जगत् यज्ञमय है। एकमात्र यज्ञ-द्वारा देवगण सन्तुष्ट होते हैं। अतः, यह सभीका प्रतिष्ठापक है। यज्ञ पृथिवीका धारक है, प्रजाको पापोंसे बचाता है। अन्नसे जीवगण जीवित रहते हैं, वह अन्न बादलसे उत्पन्न होता

---

१. यज्ञं व्याख्यास्यामः॥ द्रव्यं देवता त्यागः॥ (काश्रो सू० १/२/१-२)

२. यज्ञः कस्मात् प्रख्यातं यजति कर्मेति नैरुक्ताः। यांचो भवतीतिवा यजुभिरूत्पन्नौ भवतीति वा कृष्णाजिन इत्यौपन्यवः यजुंष्येनं नयन्तीतिवा (निरुक्त ३/१९)।

है और बादलकी उत्पत्ति यज्ञसे होती है। अतः संसार-पालनके लिये यज्ञकी कर्त्तव्यता अनिवार्य है। श्रीमद्भगवद्गीतामें भी प्रायः यही भाव उपदिष्ट है।[१]

महादेव-द्वारा वराहदेवकी देह विदीर्ण किए जानेपर उससे वह यज्ञ इस प्रकार उत्पन्न हुआ — शरभ-द्वारा वराहकी देह विदारित होनेपर ब्रह्मा, विष्णु और प्रमथोंके साथ महादेव जलसे उस देहको निकालकर आकाश चले गए। तब वह देह विष्णुचक्र-द्वारा खण्ड खण्ड हो गई। यही विखण्डित अंग विभिन्न यज्ञोंके रूपमें इस प्रकार परिणत हुए — दोनों भ्रू तथा नासिका देशका सन्धिभाग ज्योतिष्टोम नामक यज्ञ, कपोल देशके उच्च स्थानसे लेकर कर्णमूलके मध्य स्थित सन्धिभागतक वह्निष्टोम यज्ञ, चक्षु और दोनों भ्रूका सन्धिभाग व्रात्यस्तोम यज्ञ, मुटाग्र और ओष्ठके सन्धिभागसे पौनर्भव स्तोमयज्ञ, जिह्वामूलीय सन्धिभागसे वृद्धस्तोम और वृहत्सोमयज्ञ, जिह्वादेशके अधोदेशसे अतिरात्र और वैराज यज्ञ उत्पन्न हुआ। यज्ञ वराहकी कण्ठ सन्धि तथा जिह्वासे सभी यज्ञ और उनकी विधियाँ उत्पन्न हुईं थीं। अश्वमेध, महामेध और नरमेध आदि प्राणिहिंसाकार जो सब यज्ञ हैं, वे हिंसा-प्रवर्त्तक सब यज्ञ चरणसन्धिसे उत्पन्न हुए थे। राजसूय, वाजपेय तथा ग्रहयज्ञ पृष्ठसन्धिसे तथा प्रतिष्ठा, उत्सर्ग, दान, श्रद्धा तथा सावित्री आदि यज्ञ हृदय-सन्धिसे, उपनयनादि संस्कारक यज्ञ और प्रायश्चित-विषयक यज्ञ वराहकी मेद्र सन्धिसे निकला था। राक्षस-यज्ञ, सर्वयज्ञ, सभी प्रकारका अभिचार-यज्ञ तथा वृक्ष-जाप आदि यज्ञ खुरसे उत्पन्न हुए थे। मायेष्टि, परमेष्टि, गीष्पति भोगज और अग्निषोम यज्ञ लांगूलसे निकला था। संक्रमादि कृत्य नैमित्तिक यज्ञ तथा द्वादश वार्षिक यज्ञ लांगूल सन्धिसे, तीर्थ-प्रयाग, मास संकर्षण, आर्क और आथर्वण नामक यज्ञ नाडी सन्धिसे, ऋचोत्कर्ष, क्षेत्र-यज्ञ, पंचमार्ग, लिंगसंस्थान और हेरम्ब नामक यज्ञ जानुदेशसे उत्पन्न हुआ था। इसप्रकार यज्ञ वराहकी देहसे एकसौ आठ यज्ञोंकी उत्पत्ति हुई थी।

यज्ञ वराहके पोत्र (थूथन-भाग)-से सुक्र तथा नासिकासे स्रुव, ग्रीवादेशसे प्राग्वंश (होमगृहके पूर्वभागका घर), कर्णरन्ध्रसे इष्टापूर्त्त, दन्तसे क्षुप और रोमसे कुश उत्पन्न हुआ था।

दाँएँ और बाँएँ पैरसे काष्ठ, मस्तकसे चरु और पुरोडाश, दोनों नेत्रोंसे

१. गीता : ३

यज्ञ-कुम्भ, पृष्ठ देशसे यज्ञगृह और हृतपद्मसे स्वयं यज्ञ उत्पन्न हुए थे। इस यज्ञ-वराहकी देहसे माण्ड, हविः आदि द्रव्योंकी उत्पत्ति हुई। यज्ञ-रूपमें समग्र विश्वको आप्यायित करनेके निमित्त यज्ञ वराहकी देह यज्ञ-रूपमें परिणत हुई।

ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर इस प्रकार यज्ञकी सृष्टि करके सुवृत कनक और घोरके निकट आए। उन्होंने सुवृत्तादिके तीनों शरीरोंको एकत्र कर मुखमारुत संचारित करनेसे परिपूर्ण कर दिया। ब्रह्मा-द्वारा सुवृत्तकी देहमें मुखवायु संचारित करनेसे दक्षिणाग्निकी, विष्णु-द्वारा कनककी देहमें मुखवायु संचारित करनेसे पंचवैतानभोजी गार्हप त्याग्निकी और महादेव-द्वारा घोरकी देहमें मुख वायु परिपूर्ण करनेसे आहवनीयाग्निकी उत्पत्ति हुई। त्रिजगदव्यापी यह तीनों अग्नि ही त्रिभुवनका मूलभूत कारण है। ये तीनों अग्निदेव प्रतिदिन जहाँ विराजते हैं, वहाँ समस्त देवगण अपने अनुचरोंके साथ उस स्थानपर वास करते हैं। यह तीनों अग्नि कल्याणका आधार और देवता-स्वरूप है। मन्त्रादि-द्वारा जहाँ इन तीनों अग्नियोंका आवाहन किया जाता है, वहाँ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चारों विराजते हैं। इसी अग्निसे यज्ञ-क्रिया सम्पन्न होती है। ये तीनों अग्निदेव यज्ञके पुत्र-रूपमें कल्पित हुए हैं।[१]

ब्रह्माने पहले यज्ञानुष्ठान किया। ब्रह्मा, उद्गाता, होता और अध्वर्यु ये चारों यज्ञवाहक हुए। प्रत्येकके चार चार परिवार हैं जो साकुल्यमें सोलह ऋत्विजके नामसे प्रसिद्ध हैं।[२]

सात्त्विक, राजसिक और तामसिक भेदसे यज्ञ तीन प्रकारका है। जिनका जैसा स्वभाव है, वे उसी प्रकार यज्ञका अनुष्ठान करते हैं। सात्त्विक प्रकृतिवाले सात्त्विक यज्ञका, राजसिक प्रवृत्तिवाले राजसिक यज्ञका और तामसिक लोग तामसिक यज्ञका अनुष्ठान करते हैं।[३]

फलाभिसन्धिवर्जित, अवश्य कर्त्तव्य जानकर शास्त्रविहित जो यज्ञ किया जाता है, वह सात्त्विक यज्ञ है। यह सात्त्विक यज्ञ भी काम्य और नित्य भेदसे दो प्रकार का है। जैसे – 'दर्शपूर्णमासाभ्याम् स्वर्गकामो यजेत'' – स्वर्गकी कामना करनेवाला दर्शपूर्णमास यज्ञ करें। इस विधानके अनुसार जो यज्ञ

१. कालिका पुराण, अध्याय ३१
२. पद्मपुराण सृष्टि. खण्ड ३१
३. गीता, १७.९-११

किया जाता है, वह काम्य है। 'यावर्ज्जीवनम् अग्निहोत्रं जुहोति' -- जबतक जीवन रहे तबतक अग्निहोत्र यज्ञका अनुष्ठान करें, फलाकांक्षासे मुक्त होकर जब इस प्रकार यज्ञ किया जाता है, उसे नित्य कहते हैं। सात्त्विक प्रकृतिके लोग इसी यज्ञका अनुष्ठान करते हैं।

ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत[1]

स्वर्गादिफलकी कामना करके अथवा अपने महत्त्वके प्रकाशके लिये जो यज्ञ किया जाता है, वह राजस यज्ञ है। मृत्यूपरान्त स्वर्गकी अवाप्ति होगी, इहलोकमें सुख प्राप्त होगा, सभी मुझे धार्मिक मानेंगे इत्यादि भावोंसे अर्थात् इह एवं पारलौकिक सुखके लिये राजस यज्ञ किया जाता है। सात्त्विक गण यह यज्ञ नहीं करते। इस यज्ञमें सभी प्रकारके शास्त्रविहित विधि-निषेधका पालन करना अनिवार्य है।

शास्त्रविहित विधि-वर्जित, अन्नविहीन, शास्त्रोक्त मन्त्रहीन, यथाविधि दक्षिणा-रहित एवं अश्रद्धापूर्वक अनुष्ठित यज्ञ तामस यज्ञ है। यह यज्ञ इहलोक एवं परलोक किसीमें भी शुभ फलदायक नहीं होता। सात्त्विक व राजस प्रकृतिके पुरुषगण इस यज्ञको नहीं करते। यह तामसयज्ञ सभीके लिये निन्दित है। अधिकार-भेद होनेसे मनुष्य अपनी प्रकृतिके अनुसार यज्ञानुष्ठान किया करते हैं।

सांख्य मतके आचार्योंके अनुसार स्वर्ग-प्राप्तिके साधनभूत वैदिक यज्ञ मुक्तिके लिये सहायक ही नहीं, अपितु तज्जन्य फलके भोगके अर्थात् जन्मादि बन्धनके कारण हैं; अतः इस प्रकारके सभी यज्ञोंका भी परित्याग ही करना उचित है।

परन्तु यह मत आदरणीय नहीं है। फलकामना-विहीन, कर्त्तत्यभोक्तृत्याध्यास वर्जित एवं ज्ञानस्वरूप ब्रह्ममें लीन चित्तवृत्तिवाले पुरुष यदि यज्ञादि कर्मोंकी रक्षाके लिये यज्ञानुष्ठान करें, अथवा प्रारब्धवशतः या लोकानुग्रहार्थ ज्योतिष्टोम आदि क्रियाका अनुष्ठान करें तो उनके यज्ञादि कर्मफल सहित विनष्ट होते हैं अर्थात् ऐसे कर्मोंसे उन्हें फिर बद्ध नहीं होना पड़ता।

गीताके अनुसार – आहुति देना ब्रह्म है, घृत भी ब्रह्म है, फिर ब्रह्मरूप अग्निमें ब्रह्मरूप होता जो होम करते हैं, वे भी ब्रह्म हैं। ऐसे यज्ञादि कर्मोंसे

---

१. द० तै०ब्रा० २.१

लभ्य स्वर्गादि भी ब्रह्म हैं। ऐसे यज्ञादि कर्मोंमें जिनकी ब्रह्मबुद्धि है; वे ही ब्रह्मका लाभ करते हैं।

यज्ञोंके प्रकार

आजकल प्रायः सभी प्रकारकी पूजा या होम आदि यज्ञ शब्दसे व्यवहृत होते हैं। ये यज्ञ मुख्यतः दो प्रकारके होते हैं – श्रौतयज्ञ एवं स्मार्त्तयज्ञ।

श्रौतयज्ञ

श्रौतयज्ञमें केवल श्रुति प्रतिपादित मन्त्रोंका प्रयोग होता है। कात्यायन, आश्वलायन, आपस्तम्ब आदि ऋषियों-द्वारा प्रणीत श्रौत सूत्रोंमें जिन यज्ञोंका विधि-विधान वर्णित है, वे श्रौतयज्ञ हैं।

श्रौतयज्ञ भी दो प्रकारके होते हैं – एक यज्ञ - जहाँ यजतिका प्रयोग होता है, और खड़े होकर वषट्कारसे आहुति दी जाती है; और दूसरा होम - जहाँ जुहोतिका प्रयोग होता है और बैठकर आहुति दी जाती है।[१]

गौत्तम धर्मसूत्रमें पहले दो यज्ञोंके तीन प्रकार बताए गए हैं – पाकयज्ञ, हविर्यज्ञ और सोमयज्ञ। फिर प्रत्येकके सात सात प्रकार बताए गए हैं।[२] इस प्रकार गौतम धर्मसूत्रमें इक्कीस प्रकारके यज्ञोंका उल्लेख हुआ है। इनमें सात पाकयज्ञोंका सम्बन्ध स्मार्त्तयज्ञसे है। शेष अग्निहोत्रसे लेकर सोमयज्ञतक चौदह यज्ञ श्रौतयज्ञसे सम्बन्धित हैं।

शतपथ ब्राह्मणमें सात प्रकारके पाक-यज्ञोंके नाम इस प्रकार दिए गए हैं– हुत, प्रहुत, आहुत, शूलगव, बलिहरण, प्रत्यवरोहण तथा अष्टकाहोम।[३] बौधायन गृह्यसूत्रमें इन्हीं सात पाकयज्ञोंका उल्लेख है।[४] गोपथ ब्राह्मणमें भी

---

१. तिष्ठति तिष्ठद्धोमा वषट्कार प्रदाना या ज्यापुरोनुवाक्यान्तो यजतयः। उपविष्टः होमाः स्वाहाकार प्रदानां जुहोतयः

(का. श्रौ.सू. परिभाषा प्रकरण ६.७)

२. औपासनः वैश्वदेवम्, पार्वणम्, अष्टका, मासिक, श्राद्धम्, श्रवणा, शूलगव इति पाक यज्ञ संस्था। अग्निहोत्रम्, दर्शपूर्णमासो, आग्रेयण, चातुर्मास्यानि, निरूढपशुबन्धः, सौत्रामणि, पिण्डपितृयज्ञादयो दविर्होमा इति सप्त हविर्यज्ञ संस्था। अग्निष्टोमः अत्यग्निष्टोमः, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र, आप्तोर्यामः इति सप्तसोम संस्था (गौतम धर्मसूत्र ८/१८)।

३. श०ब्रा० १/४/२/१०

४. बौधा० गृ०सू० १/१/१२

सात पाकयज्ञोंका उल्लेख है।[१]

इस प्रकार गृह्यसूत्रकारोंने २१ प्रकारके यज्ञोंकी चर्चा की है जिनमें सात पाकयज्ञ, सात हविर्यज्ञ तथा सात सोमयज्ञ हैं।

गौतम धर्मसूत्रमें ४० संस्कार बताए गए हैं, जिनमें सर्वविध यज्ञ समाविष्ट हैं। यथा – १. गर्भाधान, २. पुंसवन, ३. सीमन्तोन्नयन, ४. जातकर्म, ५. नामकरण, ६. अन्नप्राशन, ७. चूडाकर्म, ८. उपनयन, ९-१२. व्रतबन्ध, १३. समापवर्तन, १४. विवाह, १५. देवयज्ञ, १६. पितृयज्ञ, १७. अतिथियज्ञ, १८. भूतयज्ञ, १९. ब्रह्मयज्ञ, २०. श्रावणीकर्म, २१. आश्विनीकर्म, २२. आग्रहायणी कर्म, २३. चैत्र कर्म, २४. अग्न्याधान २५. नित्याग्निहोत्र, २६. दर्शपौर्णमास याग, २७. चातुर्मास्य याग, वैश्वदेव, वरुणप्रधास, शाकमेध, शुनाशीरीय, २८. आग्रयणेष्टि (नवान्नेष्टि), २९. निरूढ पशुबन्ध याग, ३०. सौत्रामणि याग, ३१. अग्निष्टोम, ३२. अत्यग्निष्टोम, ३३. उक्थ्य, ३४. षोडशी, ३५. वाजपेय, ३६. अतिरात्र, ३७. आप्तोर्याम, ३८. पितृमेध (पिण्डपितृ यज्ञ), ३९. अष्टकाश्राद्ध तथा ४०. पार्वणश्राद्ध।[२]

यज्ञके दो भाग – 'सोमयज्ञ और हविर्यज्ञ'

आपस्तम्बकृत यज्ञ-परिभाषा सूत्रके अनुसार श्रौत और गृह्य भेदसे यज्ञ दो प्रकारका होता है। श्रौत सूत्रमें यज्ञका प्रयोग, प्रकार, पद्धति जिस प्रकार उपदिष्ट है, वह श्रौत तथा गृह्य सूत्रोक्त पद्धतिनिबद्ध यज्ञ गृह्य कहलाता है।

विधिपूर्वक यज्ञमें दीक्षित न होनेके कारण द्विज श्रौत कार्यमें अधिकारी नहीं हो सकता, किन्तु उपनीत होने मात्रसे ही गृह्यकर्मोंका अधिकारी हो जाता है।

श्रौत यज्ञके दो भाग

सोम संस्था और हविःसंस्थाके भेदसे श्रौत यज्ञ दो प्रकारका है। जिन यज्ञोंमें सोमरसका प्रयोग किया जाता है, वह सोमयज्ञ और जिनमें घृतादि अन्य सामग्रीकी हवि अग्निमें दी जाती है, वह हविर्यज्ञ नामसे अभिहित होते हैं।

---

१. सायं प्रातर्होमो स्थालीपाको नवश्च यः।
बलिश्च पितृयज्ञश्चाष्टका सप्तमः पशुरित्येके पाक यज्ञाः॥
(गो०ब्रा० १/५/२३)

२. गौतम धर्मसूत्र १/८/१४-२२

आश्वलायन और कात्यायन श्रौत सूत्रमें सात प्रकारकी सोम संस्थाका विषय लिखा है।[1]

आय ग्रन्थोंमें अन्यान्य संस्था भी वर्णित है। अथर्ववेदीय गोपथ ब्राह्मणमें इन संस्थाओंके नाम इस प्रकार दिए गए हैं –

अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र और आप्तोर्याम नामक सात प्रकारका याग सोम संस्था है। अग्न्याधेय, अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास, आग्रायण, चातुर्मास्य और पशुबन्ध नामक सात प्रकारकी हविः संस्था है।[2]

दर्श और पौर्णमास यागको एक संख्यामें सम्मिलित करके लाट्यायन सूत्रकारने सौत्रामणि नामक योगको भी हविः संस्थामें गिनाया है।[3]

सोम संस्था कहीं कहीं सोमयज्ञ, ज्योतिष्टोम और सुत्या नामसे भी उल्लिखित है। हविः संस्थाका हविर्यज्ञ आदि विभिन्न नामोंसे व्यवहार होता है। गोमेध, अश्वमेध आदि सभी सोमयज्ञके अन्तर्गत हैं। ताण्ड्य ब्राह्मणादिमें ये सब सोमयज्ञ, एकाह, अहीन और सत्र नामक तीन श्रेणियोंमें विभक्त हैं। एक दिनमें सम्पाद्य छोटे छोटे सोमयाग एकाह, कुछ दिनमें होनेवाले मध्यम प्रकारके याग अहीन तथा अधिक समयमें सम्पादनीय बड़े यज्ञ सत्र कहे जाते हैं।

उक्त यज्ञोंमें ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनोंका समान अधिकार है। यज्ञोंमें ऋक्ः, यजुः और साम ये तीन प्रकारके मन्त्र प्रयुक्त होते हैं। दर्श और पौर्णमास नामक दो यज्ञोंमें ऋक् और यजुः मन्त्रोंकी ही आवश्यकता होती है।

सोमयागोंका प्रात्यहिक कार्यकलाप प्रातःसवन, माध्यन्दिन सवन और तृतीय सवन कहलाता है। इन यागाङ्गोंकी विधि, ऐतरेय, तैत्तिरीय, शतपथ और सांख्यायन सूत्रमें विशद रूपमें वर्णित है। सभी क्रतुओंमें अग्निदेवका केवल एक बार आवाहन होगा अर्थात् प्रतिदिन या प्रत्येक काममें पुनः पुनः अग्निकी स्थापना नहीं करनी होगी। सोमयागोंमें प्रधानतः गार्हपत्याग्नि, दक्षिणाग्नि और आहवनीयाग्नि भेदसे त्रैताग्निकी स्थापना करनी होती है।

आश्वलायन श्रौत सूत्रमें गार्हपत्याग्निको पिता, दक्षिणाग्निको पुत्र और

---

१. आश्व० श्रौतसूत्र. ६/११/१: का० श्रौ०सू० २७. १२. ३. १९०
२. गो०ब्रा० १५/२३
३. लाट्० सूत्र ५/४/१०

आहवनीयाग्निको पुत्र कहा गया है।[1]

शतपथ ब्राह्मण[2], कात्यायन श्रौतसूत्र[3] और मनुस्मृति[4]-में त्रेताग्निका परिचय प्राप्त होता है।

स्मार्त्तयज्ञ

मनु, याज्ञवल्क्य आदि ऋषियों-द्वारा रचित स्मृतिग्रन्थोंमें धार्मिक कृत्योंके सम्पादन-हेतु जो यज्ञ अथवा संस्कार, जाप आदि प्रतिपादित किए गए हैं – वे स्मार्त्त यज्ञ हैं। जैसे – महामृत्युंजय जाप तथा षोडश संस्कार आदि।

इन सभी यज्ञोंके अनुष्ठानसे पूर्व याजकको संस्कार-सम्पन्न होनेकी आवश्यकता होती है क्योंकि संस्कारित व्यक्ति यज्ञाधिकारी तो होता ही है, साथ ही शरीर भी ब्रह्म-प्राप्तिके योग्य बनता है। माता-पिताके रजो-वीर्यगत दोषके कारण सन्तानमें शारीरिक व मानसिक अनेक त्रुटियाँ रह जाती हैं, संस्कार इन्हें दूर करते हैं।[5]

पंचांग सम्पन्न यज्ञ

आर्ष-ग्रन्थोंमें यज्ञके पाँच अंग विहित हैं जिनसे यज्ञका स्वरूप विदित होता है। ये अंग हैं – देवता, हविर्द्रव्य, मन्त्र, ऋत्विक् और दक्षिणा।

विद्वानोंने देवताके तीन भेद माने हैं – आजानज देवता, कर्म-देवता तथा आजान देवता। आजानज तथा कर्मदेवता कर्मफलके भोक्ता हैं, वे दिव्य लोकमें रहकर कृत कर्मका फल भोगते रहते हैं। किन्तु आजान देवता सृष्टिके आदिकालमें उद्भूत हुए हैं। सूर्य, चन्द्र, वायु, वरुण, इन्द्र आदि इसी श्रेणीके अन्तर्गत आते हैं। ये देवता ही स्तुति-आहुतिसे सन्तुष्ट होकर कर्मफल प्रदान करते हैं। ये देवता दिव्य,साकार तथा ऐश्वर्य-सम्पन्न हैं। साधनकी योग्यता

---

१. आश्व०श्रौ०सू० २/२-४

२. शत०ब्रा० १/९/२/४

३. का०श्रौ०सू० २/७/२०, और ५/८/६

४. मनुस्मृति २३/२३१

५. गार्भैर्होमैर्जातकर्मचौडमौञ्जीनिबन्धनैः। बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते। वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम। कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च (मनु० २/२६-२७

होनेपर साधक इन देवताओंका साक्षात्कार करनेमें समर्थ हो जाता है। ये देवता योगीकी भाँति अणिमादि सिद्धियोंसे सम्पन्न होकर एक ही समयमें अनेक शरीर धारण कर लेते हैं। इसीलिये भगवान् शंकराचार्यने अपने शारीरक भाष्यमें लिखा है – एकैका देवता बहुभिः रूपैरात्मानं प्रविभज्य बहुषु योगेषु युगपदंगता गच्छतीति परैश्च न दृश्यन्ते अन्तर्धानादि क्रियायोगात्।[१]

यज्ञका दूसरा अंग हविर्द्रव्य है। यज्ञमें होम किया जानेवाला यही आहुति-द्रव्य आजान देवताओंका आहार है। एक बारमें हविर्द्रव्यका जितना अंश देवताओंको समर्पित किया जाता है, उसे आहुति कहा जाता है। ऐतरेय ब्राह्मणके अनुसार इसका अर्थ – आहुति या आह्वान है, क्योंकि इसीके द्वारा यजमान देवताओंको बुलाते हैं।[२] ऐतरेय ब्राह्मणके अनुसार – जो कोई भी (इष्टि-रूप स्वर्गके) मार्ग हैं, और जो (उस मार्गकी अवयव-रूप) आहुतियाँ हैं, ये द्विविध मार्ग ऊतियाँ[३] हैं और यजमान निश्चय ही इनके द्वारा स्वर्ग प्राप्त करता है, अर्थात् ये स्वर्गके प्रापक हैं।[४] विधिपूर्वक यदि एक भी आहुति समर्पित की जाय तो देवता उसीको पर्याप्त समझकर सन्तुष्ट होते हैं। अग्निमें हवि प्रदान करना वस्तुतः देवताके मुखमें ही अर्पण करना है। अग्निमें प्रविष्ट हवि अमृत-रूप में परिणत होता है।

आहुतिके समय स्वाहा कहा जाता है। स्वाहा देवी दक्ष प्रजापतिकी कन्या थी जिसका विवाह अग्निदेवसे हुआ था। उसे वरदान प्राप्त था कि जो तुम्हारा नाम लेकर किसीके निमित्त अग्निमें आहुति देगा उसे अग्निदेव उसके पास

---

१. ब्रह्मसूत्र १/३/२७

२. आहूतयो वै नामैता यदाहुतय एताभिर्वै देवान् यजमानो ह्वयति तदाहु तीनामाहूतित्वम्। (ऐ०ब्रा० १/२)

३. हूयन्ते देवा अस्मिन्निति हवोत्र सोमयागो याभिरिष्टिभिस्तत्र ताभिराहुतिभिश्च निमित्त भूताभिर्देवा यजमानस्य यज्ञमागच्छन्ति ता इष्टय आहूतयश्चोतय इत्येतन्नाम प्रतिपद्यन्ते (सायणका ऐ०ब्रा० १/२ पर भाष्य)

४. ये केचित् पन्थान इष्टिरूपाः स्वर्गस्य प्रौढमार्गाः सन्ति याश्च सुतयस्तन्मार्गा वयवरूपा आहुतयः सन्ति ता द्विविधा ऊतयः इत्युच्यन्ते। त उ ऐवतत्त् एवैते द्विविधा आपि मार्गा यजमानस्य स्वर्गैयाणा स्वर्गमापका भवन्ति (ऐ०ब्रा० १/२ पर सायण भाष्य)

पहुँचा देगा। षोडश मातृकाओंमें भी स्वाहाका नाम आता है।

> गौरी पद्मा शची मेधा सावित्री विजया जया।
> देवसेना स्वधा स्वाहा मातरो लोकमातरः॥
> श्रद्धा पुष्टिस्तथा तुष्टिः शान्तिः क्षान्तिरेव च।

शक्ति-सम्पन्न शब्द राशि मन्त्र है, जिसके प्रभावसे हवि देवताके समीप योग्य रूपसे पहुँचता है।

यज्ञका चतुर्थ अंग ऋत्विक् है। जिस विद्वान् ब्राह्मणको यज्ञ करनेके लिये आमंत्रित किया जाता है उसीका नाम ऋत्विक् है। यज्ञीय सम्पूर्ण कर्मकाण्डका अनुष्ठान केवल यजमान किसी अन्य सहायकके बिना नहीं कर सकता, अतः तदर्थ वह ऋत्विजोंको निमंत्रित करता है, जो विधिके सम्पूर्ण ज्ञाता होते हैं तथा जिनके आश्रित रहकर यजमान यज्ञ-कर्मका समुचित फल प्राप्त करता है।

ऋग्वेदके आधारपर यह कहा जा सकता है कि विधिके सम्पूर्ण ज्ञाता होनेके कारण अध्वर्यु यज्ञके नेता[१], होता यज्ञके अनुष्ठाता[२], ऋत्विक् तथा यजमान[३] यज्ञके अध्यक्ष-पदपर विभूषित हो चुके थे। किन्तु साथ ही यह कथन भी अप्रासंगिक न होगा कि किसी भी यज्ञका परिणाम निश्चित एवं यथार्थ तो होता है, किन्तु अयोग्य ऋत्विजोंसे इच्छानुकूल विधिसे यज्ञ करानेपर सफलता प्राप्ति गगन-पुष्पकी सुगन्धिको सूँघना ही है।

अनुचित विधिसे यज्ञानुष्ठान हानिप्रद होता है। ब्राह्मण-ग्रन्थों एवं संहिताओंमें इसके अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं; यथा – पूषन्के दाँत टूट गए, सवितृके हाथ कटकर स्वर्णके बन गए और भगको अपनी आँखोंसे वंचित होना पड़ा।[४]

त्वष्टाने अशुद्ध स्वरके द्वारा इन्द्रके स्थानपर स्वयं अपने पुत्रका विनाश कर लिया।[५] पुरोहित भाल्लवेयके यज्ञमें कोई त्रुटि होनेपर वह गिर पड़ा और

---

१. ऋ०सं० ६/४१/२

२. ऋ०सं० १०/१२४/१

३. वही १०/१२४/१

४. तै०सं० २/६/८/३, श०ब्रा० १/७/४/६-८, कौ०ब्रा० ६/१३-१४

५. तै०सं० [illegible] श०ब्रा० १/६/३/१०

उसका हस्तभग्न हो गया।[1] आषाढि सौश्रोमतेयने यज्ञवेदीके निर्माणके समय वध किए जानेवाले पाँच पशुओंके शिरोंको कहींसे लाए हुए शिरों-द्वारा बदलना चाहा तो इसका मूल्य उसे अपने प्राणोंसे चुकाना पड़ा।[2] अतः यज्ञानुष्ठानमें त्रुटि होनेसे भयानक परिणाम हो सकते हैं। उपर्युक्त उदाहरणोंसे इसकी पुष्टि हो जाती है।

योग्य ऋत्विज्‌की नियुक्ति यज्ञका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग है, जिसके आश्रित यजमानको कर्मफलकी अवाप्ति होती है।

यज्ञका अन्तिम भाग दक्षिणा है। यज्ञके अन्तमें ब्राह्मणोंको उनके पारिश्रमिकके रूपमें जो धन, स्वर्ण या अन्य पदार्थ भेंट किया जाता है, वह द्रव्य ही दक्षिणा है। यदि कर्म कराकर दक्षिणा न दी जाय तो वह कर्म पूर्णरूपेण फलोत्पत्तिमें समर्थ नहीं होता।

मत्स्यपुराणमें देवताके स्थान पर 'पशु' शब्द उल्लिखित है — 'पशूनां' द्रव्य हविषा ऋक्‌सामयजूषा' तथा 'ऋत्विजा' दक्षिणायश्च संयोगो यज्ञ उच्यते।[3]

वेदोंने यज्ञोंका सार तत्त्व पशु ही बतलाया है। यज्ञने पशुरूप धारण कर पलायन किया था। इन्द्रका सार स्तनयित्नु (मेघ) और उसका सार अशनि (वज्र) था। प्रजापतिका सार यज्ञ और यज्ञका सार पशु था।[4]

इस प्रकार यज्ञका पंचांग सम्पन्न होना अनिवार्य है। इन पंचांगोंके समुचित ज्ञानके अभावमें यज्ञके वास्तविक स्वरूपका रहस्य स्पष्ट नहीं हो सकता। यज्ञ अपने आधारभूत इन्हीं पंचांगोंसे अपने 'यज्ञ' रूपमें अवस्थित होता है।

---

१. श०ब्रा० १/७/३/१९

२. वहीं ६/२/१/३७

३. मत्स्यपुराण १४४/४४

४. कतमः इन्द्रः कतमः प्रजापतिरिति स्तनयित्नुरेवेन्द्रो यज्ञः प्रजापतिरिति कतमः स्तनयित्नुरित्यशनिरिति कतमो यज्ञः पशवः इति। (बृ०उ० ३/९/६)

सोमयाग और उसकी सप्तसंस्था

सूत्रोंमें सोमयागकी सप्तसंस्था[१] के विषयमें विवरण उपलब्ध होता है। यही सप्तसंस्था ज्योतिष्टोम नामसे भी अभिहित होती है। आश्वलायनने लिखा है –

> ज्योतिष्टोमस्तावत् 'सप्तसंस्थः' समाप्ति भेदात्
> सप्तविधः, अग्निष्टोमोऽत्यग्निष्टोम उक्थ्यः षोडशी
> वाजपेयोऽतिरात्रोऽऽप्तोर्याम इति सप्त संस्थाः।[२]

अग्निष्टोम तथा अन्य सोमयज्ञ 'एकाह' यज्ञ कहे जाते हैं, क्योंकि उनमें सोमरस ग्रहों या शरावों-द्वारा एक ही दिनमें तीन बार (प्रातः, माध्यन्दिन एवं तृतीय सवनमें) पिया जाता है।

ज्योतिष्टोम संस्थाके अतिरिक्त भी सूत्रकारोंने कुछ अन्य एकाह सोमयागोंका उल्लेख किया है – यथा बृहस्पतिसव, गोसव, श्येन, उद्भिद्, विश्वजित् एवं व्रात्य स्तोम आदि।[३]

सोमयागको कहीं सोमयज्ञ, ज्योतिष्टोम और सुत्या नामसे अभिहित किया गया है। समाप्ति-भेदसे ज्योतिष्टोमकी सात संस्थाएँ हैं – अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र और आप्तोर्याम।[४] इन सभी संस्थाओंमें अग्निष्टोमको विशेष महत्त्व प्राप्त है। यह अन्य संस्थाओंकी प्रकृति माना गया है।[५] याज्ञिक जनोंमें जिन यज्ञोंके अनुष्ठानके प्रति विशेष रुचि रही, उन यज्ञोंका तो विस्तृतरूपेण विवरण श्रौत सूत्रों एवं ब्राह्मण ग्रन्थोंमें उपलब्ध होता है, परन्तु जो यज्ञ बहुलतासे याज्ञिक समाजमें अनुष्ठित नहीं हुए उनका संकेत मात्र ही प्राप्त होता है। सोमयागकी सप्त संस्थाओंका संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत है।

---

१. कात्या० श्रौ०सू० १०/९/२७, लाट्यायन श्रौ०सू० ५/४/२४
२. आश्व० श्रौ०सू० ६/११/१
३. आश्व० श्रौ०सू० ९/५-११, बौधायन श्रौ०सू० १८/१-१०
कात्या० श्रौ०सू०-२२ आदि।
४. आश्व० श्रौ०सू० ६/११/१, गोपथ ब्राह्मण १-५-२३
५. आप० श्रौ०सू० ११/१/१.३

अग्निष्टोम

अग्निष्टोमका इतिहास

अग्निष्टोम[१]-को सब सोमयागोंका आदर्श रूप माना गया है। यह ज्योतिष्टोमका एक ऐसा अन्तर्हित भाग है कि दोनोंको कभी कभी एक ही माना जाता है। इसके सम्बन्धमें एक उपाख्यान है कि अग्निष्टोम सकल सोमयज्ञोंकी प्रकृति है। प्राचीनकालमें देवताओंने असुरादिके साथ युद्धका जब उपक्रम किया था, तब अग्निने देवोंके अनुगमनकी इच्छा नहीं की। देवोंने अग्निसे कहा कि – "आप चलिए, आप भी हमारे बीचके ही एक सामान्य जन हैं।" अग्निने कहा – "मेरा स्तवन हुए बिना मैं आपका अनुगमन नहीं करूँगा। शीघ्र ही मेरा स्तव कीजिए। उनकी आज्ञा स्वीकार कर देवोंने अग्निके समीप जाकर उनका स्तवन किया। वह अग्नि श्रेणीत्रय युक्त और अनीकत्रय युक्त हुए। छन्दोगणको तीन श्रेणियोंमें परिणत करनेके कारण श्रेणित्रययुक्त एवं सवन-समूहको अनीकमें परिणत करनेके कारण अनीकत्रययुक्त हुए। तब उन्होंने युद्धमें विजयार्थ असुरोंके समीप जाकर असुरोंको ऐसा पराभूत किया था कि देवगण जयी एवं असुरगण पराजित हुए।

जो व्यक्ति यह विषय जानता है, वह जयी होता और उसका द्वेषकारी, पापी-शत्रु पराभूत होता है। यह अग्निष्टोम ही गायत्री है, क्योंकि गायत्रीमें भी २४ अक्षर होते हैं तथा अग्निष्टोमके शस्त्र और स्तोत्र भी २४ होते हैं। यह अग्निष्टोम अनुष्ठित होकर अपने यजमानको (सुधा) स्वर्गमें स्थापित करता है, क्योंकि गायत्री भी (क्षमा) पृथिवीमें क्रीडा नहीं करती, वह ऊर्ध्वगामी हो यजमानको स्वर्गमें लेकर चली जाती है। इस अग्निष्टोमको ही संवत्सर समझना चाहिए, क्योंकि वर्षके भी २४ अर्धमास होते हैं और अग्निष्टोमके भी २४

---

१. तै०सं० - १/२-४, ३/१-३, ६/१-६ एवं ७/१, तै०ब्रा० १/१/१; १/४/१ एवं ५-६, १/५/४, २/२/८, शत०ब्रा० ३/४; ऐत०ब्रा० १/१-१५, आप० श्रौ०सू० १०-१३ एवं १४/८-१२; कात्या० श्रौ०सू० ७-११, बौधा० ६-१०, आश्व० श्रौ०सू० ४-६; सत्याषाढ ८-९, लाट्या० श्रौ०सू० १-२ आप० श्रौ०सू० ११/१/१.३

स्तोत्र एवं शस्त्र होते हैं।[१] जैसे सम्पूर्ण नदियाँ समुद्रमें प्रवेश करती हैं, उसी प्रकार सम्पूर्ण सोमयज्ञ भी अग्निष्टोममें प्रविष्ट होते हैं।[२]

प्रधान देव अग्नि

अग्निष्टोमके प्रधान देवता अग्नि हैं। 'अग्नीना' स्तोमः इति अग्निष्टोमः'' इस यज्ञका नाम अग्निष्टोम इसलिये पड़ा कि इसमें अग्निकी स्तुति की जाती है, और अन्तिम स्तोत्र अग्निको ही सम्बोधित हैं।[३] अग्नि प्रधान देवता होनेपर भी इसमें इन्द्र व वायु आदि देवताओंका स्तव किया जाता है। सोमयागके अन्तर्भुक्त सप्त संस्थाका अनुष्ठान ब्राह्मणोंका ही कर्त्तव्य है। परन्तु जैमिनिके मतानुसार तीनों वर्णोंके लिये ज्योतिष्टोम करना अनिवार्य है।[४]

अग्निष्टोमसे पूर्व सम्पाद्य कृत्य

पूर्वकालमें जिन ब्राह्मणोंके पिता, पितामह और प्रपितामह इन तीन पुरुषोंके बीच यदि कोई भी अग्निष्टोम यज्ञका अनुष्ठान न करता हो, तो वह दुर्ब्राह्मण गिना जाता है।[५] इस दोषको दूर करनेके लिये आश्विन, पशवनुष्ठान और सोमपान न करनेके कारण ऐन्द्राग्र पशवनुष्ठान आवश्यक है। यह एक प्रकारका प्रायश्चित-रूप अनुष्ठान है। तीन पुरुषोंके मध्यमें किसीके द्वारा इसका अनुष्ठान करनेसे उक्त प्रकारका अनुष्ठान करना अनिवार्य नहीं है। जैमिनिके मतानुसार दर्श-पूर्णमास, चातुर्मास्य एवं पशुयाग सम्पादित करनेके उपरान्त ही सोमयज्ञका अनुष्ठान किया जाना चाहिए,[६] किन्तु कुछ अन्य विद्वानोंका मत है कि दर्शपूर्णमासके पूर्व भी यह यज्ञ किया जाता है, परन्तु अग्न्याधानके उपरान्त ही ऐसा करना उचित है।[७]

---

१. द्रष्टव्य : ऐतरेय ब्रा० १/४/१
२. ऐतरेय ब्रा० ३/४/१
३. वहीं १४/५, आप० श्रौ०सू० १०/२/३
४. जैमिनि मीमांसा ६/२/३१
५. ऐतेरेय ब्राह्मण, सायण भाष्य पृष्ठ १०७
६. जैमिनि - ४/३/३७
७. आश्व० श्रौ०सू० ९/१/१-२

यह यज्ञ प्रतिवर्ष वसन्त ऋतुमें अमावस्या या पूर्णिमाके दिन किया जाता है। 'वसन्ते अग्निष्टोमः'[१]। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि वसन्त ऋतुमें सोम प्रचुर मात्रामें प्राप्त होता रहा होगा।

ऋत्विग् वरण

इस यज्ञका अनुष्ठान करनेके अभिलाषी व्यक्तिका सर्वप्रथम कर्त्तव्य है कि वह सोमप्रवाक (सोम-यज्ञ करानेवालेके निमंत्रणकर्त्ता)-को वेदज्ञ ब्राह्मणोंको (जो न तो अतिवृद्ध हों और न अल्पायु या विकलांग हों) बुलानेके लिये भेजे[२] वह प्रमुख चार या सभी सोलहों (अथवा सदस्यको भी सम्मिलित कर १७) ऋत्विजोंको बुलाता है।[३]

इनमें होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा एवं उद्गाता चार प्रमुख पुरोहित है तथा उपर्युक्त सूचीमें इन चारोंमें प्रत्येकके आगेके तीन तीन पुरोहित उनके सहायक होते हैं। इस प्रकार कुल १२ पुरोहित सहायक हुए। चारों प्रमुख ऋत्विजोंके कार्य ऋग्वेद १०/७१/११में वर्णित हैं। ऋग्वेद-२/४३/१ में सामोंके गायकका भी उल्लेख प्राप्त होता है। पुरोहितोंकी आवश्यक संख्याके विषयमें तैत्तिरीय ब्राह्मण (२/३/६) एवं बौधायन श्रौत सूत्र (२/३) द्रष्टव्य है। कुछ सूत्रकारोंने 'सदस्य' नामक सत्रहवाँ पुरोहित भी सम्मिलित किया है। बौधायनने उसे तीन सहायक पुरोहित प्रदान करनेकी व्यवस्था दी है,[४] किन्तु शतपथ ब्राह्मणने सत्रहवें पुरोहितकी नियुक्तिको वर्जित माना गया है।[५] (यज्ञमें ऋत्विजोंके अतिरिक्त कुछ अन्य सहायक भी होते हैं; यथा – शमिता, चमसाध्वर्यु।

---

१. कात्या० श्रौ०सू० ७/१/४; आप० श्रौ०सू० १०/२/२/५-६; एवं सत्याषाढ़ श्रौ०सू० ७/१

२. ताण्ड्य ब्रा० १/१/१; आप० श्रौ०सू० १०/१/१

३. सोलह पुरोहित या ऋत्विक् इस प्रकार हैं – 'होतामैत्रा वरुणोऽच्छावाको ग्रावस्तुदध्वर्युः प्रतिप्रस्थाता नेष्टोन्नेता ब्रह्मा ब्रह्माणाच्छंस्याग्नीध्रः पोतोद्गाता प्रस्तोता प्रतिहर्ता सुब्रह्मण्य इति।

– आश्व०श्रौ०सू० ४/१/६; आप०श्रौ०सू० १०/१/९

४. बौधायन श्रौत सूत्र २/३

५. शतपथ ब्राह्मण १०/४/२/१९

ऋत्विग वरणके पश्चात् पुरोहितोंको मधुपर्क दिया जाता है। यजमान अपने देशके राजाके समीप यज्ञभूमिकी याचनाके उद्देश्यसे जाता है। वास्तवमें यह एक आडम्बर मात्र ही प्रतीत होता है क्योंकि राजा भी अपने देशका स्वामी होते हुए भी देवयजनार्थ यज्ञभूमिकी याचना अपने पुरोहित से करता है। भूस्वामी होनेपर भी यजमानको याचना करनी पड़ती है।

इष्टका विधान

तत्पश्चात् इष्टका विधान किया जाता है। एकादश कपालमें संस्कृत और दीक्षणीय पुरोडाशको अग्नि और विष्णुके निमित्त निर्वपन करनेका विधान है। वस्तुतः यहाँ सम्पूर्ण देवताओंके उद्देश्यसे ही पुरोडाश प्रदान करना होता है।

मण्डप-निर्माण

देवयजन अर्थात् यज्ञभूमिके पश्चिम भागमें घास एवं पत्ते आदि हटाकर एक मण्डप (चतुष्कोणीय) खड़ा किया जाता है। मण्डपकी आकृति एवं विस्तारके सम्बन्धमें कात्यायन, आपस्तम्ब एवं बौधायनने विस्तृत वर्णन किया है।[1] मण्डपके दक्षिणमें व्रत-भोजन बनानेके लिये एक शाला तथा पश्चिममें यजमानकी पत्नीके लिये दूसरी शालाका निर्माण किया जाता है। मण्डपको प्राग्वंश या प्राचीन वंश कहा जाता है। यह पश्चिमसे पूर्वकी ओर १६ प्रक्रम लम्बा तथा दक्षिणसे उत्तरकी ओर १२ प्रक्रम चौड़ा होता है। इसमें एक द्वार उतर-पूर्वमें होता है तथा चारों दिशाओंमें छोटे छोटे प्रवेश-स्थल होते हैं।[2]

यजमानकी दीक्षा – दीक्षणीयेष्टि

यजमान अपने घरमें ही अरणियोंमें गार्हपत्य एवं आहवनीय अग्नियोंको रख लेता है तथा ऋत्विजों, अरणियों तथा अपनी पत्नीके साथ पूर्वी द्वारसे मण्डपमें प्रविष्ट होता है। अन्य सामग्रियाँ भी मण्डपमें लाई जाती है। मण्डपमें वेदीका निर्माण करके उसमें अरणियोंके घर्षणसे उत्पन्न अग्नि रखी जाती है। मण्डपके बाहर यजमान एक विशिष्ट शालामें सिर, आँख तथा मुखके केश एवं

---

१. कात्या० श्रौ०सू० ७/१/१९-२५; आप० श्रौ०सू० १०/५/१-५; बौधा० श्रौ०सू० ६/१

२. आप० श्रौ०सू० १०/५/५

हाथ एवं पैरके नख नाईसे कटवा लेता है। तदुपरान्त उदुम्बर (गूलर)-की टहनीसे दन्तधावन कर कुण्डके जलसे स्नान करता है तथा आचमन करता है। इसी प्रकार यजमानकी पत्नी भी प्रतिस्थाता-द्वारा आदेश दिए जानेपर नख कटवाती है, स्नान करती है, किन्तु उसके इन कृत्योंमें मन्त्रोच्चारणका वैसा विधान नहीं है जैसा कि यजमानके कृत्योंके अवसरपर किया जाता है। साथ ही यजमान-पत्नीके केश भी नहीं काटे जाते।

यजमान अध्वर्यु-द्वारा प्रदत्त कौशेय वस्त्र धारण करता है। अपराह्णमें वह प्राग्वंशमें बैठकर घी एवं दधि-मिश्रित चावल अथवा इच्छानुकूल भोजन करता है, इसी प्रकार पत्नी भी भोजन करती है। तत्पश्चात् यजमान दर्भकी दो फुनगियोंसे अपने शरीरपर नवनीतका लेप करता है। यह कृत्य वह चेहरेसे प्रारम्भ कर तीन बारकरता है। दर्भसे अपने दक्षिण नेत्रमें दो बार एवं वामनेत्रमें एक बार अंजन लगाता है अथवा तीन बार दोनों ही नेत्रोंमें लगाता है। अध्वर्यु प्राग्वंशके बाहर मन्त्रोच्चारण सहित यजमानकी शुद्धि (पवनसे) करता है। यही कृत्य प्रतिस्थाता मन्त्रोच्चारण किए बिना ही यजमानकी पत्नीके साथ करता है। तब मण्डपमें यजमान पूर्व-द्वारसे तथा उसकी पत्नी पश्चिम द्वारसे प्रवेश कर दोनों अपने अपने निर्दिष्ट आसनोंपर बैठ जाते हैं। तदनन्तर सप्तदश सामिधेनीका पाठ किया जाता है। इसके उपरान्त दर्शपूर्णमास-द्वारा दीक्षणीयेष्टि की जाती है।[1] आनुषंगिक संस्कार-विधानके बाद जिस यजमानने इससे पूर्व सोमयाग नहीं किया है, उसके लिये –

"त्वमग्ने स प्रथा असि"[2] और "सोमयास्ते मयोभुवः"[3] इत्यादि मन्त्रोंका आज्य भाग द्वयमें पुरोऽनुवाक्या' रूपसे पाठ किया जाता है। जिस यजमानने पहले याग किया है, उसके लिये 'अग्निं प्रयत्नेन मन्मना'[4] और 'सोमगीर्भिष्ट्वा वयम्'[5] मन्त्र दो बार पढ़े जाते हैं। आज्यभागके दान कर्मांगमें 'अग्निर्मुखं प्रथमं देवतानाम्' तथा 'अग्निश्चविष्णो तप उत्तम महः'[6] मन्त्रका पाठ अग्नि

---

१. ऐतरेय ब्राह्मण १/५/१
२. ऋग्वेद ५/१३/४
३. वहीं ३/९१/९
४. ऋक्संहिता १/९१/११
५. ऋग्वेद संहिता ८/४४/१२
६. आश्वलायन श्रौ० सू० ४/२

और विष्णुके उद्देश्यसे हविर्प्रदानके लिये अनुवाक्या और याज्या-रूपसे किया जाता है।

इस प्रकार दीक्षणीयेष्टि विधान करनेके फलस्वरूप यजमान सोमयागके अनुष्ठान हेतु दीक्षित समझा जाता है।[१] दीक्षा-कृत्य अपराह्नमें ही किया जाता है। जबतक तारागण दिखाई नहीं देते तबतक यजमान मौन धारण किए रहता हैं। सम्पूर्ण यज्ञ-कालावधिमें यजमान एवं तत्पत्नीको दूधपर ही निर्भर रहना पड़ता है। ऐसा करना यज्ञार्थ अनिवार्य नियम माना जाता है न कि पुरुषार्थ-मात्र।[२] यह दूध दो गायोंके स्तनोंसे दूहकर दो पृथक् पृथक् पात्रों में यजमानके लिये गार्हयत्याग्निपर तथा उसकी पत्नीके लिये दक्षिणाग्निपर गर्म किया जाता हैं।[३] यजमान तथा उसकी पत्नीको कुछ अनिवार्य नियमोंका पालन करना पड़ता है। तदनन्तर प्रयाजाहुति एवं देवता प्रशंसाका विधान किया जाता है।

कुछ सूत्रकारोंके अनुसार दीक्षा-कार्य १२ दिनों या एक मास या एक वर्षतक चलता रहता है।[४] इसप्रकार व्रतविधान करते हुए यजमान कृश हो जाता है। ऐसी स्थितिमें यजमान यज्ञके लिये अन्य सामान तथा धन आदि अपने सहायकों-द्वारा एकत्र कराता है।

प्रायणीयेष्टि

दीक्षाके दिन अथवा दिनोंके उपरान्त प्रथम कृत्य प्रायणीय इष्टि (आरम्भवाली)[५] इस दृष्टिमें चरु (चावल) दूधमें पकाकर अदितिको दिया जाता है तथा आज्यकी चार आहुतियाँ अन्य चार देवों – पथ्यास्वस्ति, अग्नि, सोम एवं सविता जो क्रमशः पूर्व, दक्षिण, पश्चिम एवं उत्तर दिशाके अधिपति माने जाते हैं, को दी जाती है। तत्पश्चात् याज्यानुवाक्या और उसकी प्रशंसा, संभाज्य विधान, प्रयाज और अनुयाज विधानके बाद उदयनीय इष्टि (अन्तिम इष्टि) की जाती है।

---

१. जैमिनि ५/३/२९-३१
२. वही ४/३/८-९
३. आप०श्रौ०सू० १०/१६; कात्या०श्रौ०सू० ४।१९।१४, बौधा०सू० ६।६
४. आप०श्रौ०सू० १०/१४/८; १०/१५/४; आश्व०श्रौ०सू० ४/२/१३-१५
५. आप०श्रौ०सू० १०/२४/७-१४; कात्या०श्रौ०सू० ७/७/१२-२१

सोमक्रय

तदुपरान्त सोम क्रय किया जाता है। कुत्स-गोत्रीय ब्राह्मण अथवा किसी शूद्रसे सोम प्राप्त किया जाता है। आपस्तम्बने किसी भी ब्राह्मणसे सोम खरीदनेकी सम्मति दी है।[१] जैमिनि पुरोहितोंके अतिरिक्त अन्य किसीको भी उचित सोम-विक्रेता मानते हैं।[२] सोमको राजा माना गया है।[३] सोम-विक्रेताको घास आदिसे रहित करके सोमको स्वच्छ करनेके लिये कहा जाता है। सोम-शुद्धिके अवसरपर अध्वर्यु, अध्वर्युके सहायक ऋत्विज्, यजमान तथा यजमानके पुत्र आदि सोमको न तो देख ही सकते, न स्वच्छ ही कर सकते हैं।[४] बैलकी खालके ऊपर दक्षिणी भागपर सोम रख दिया जाता है, सोम-विक्रेता खालके उत्तरी भागपर बैठ जाता है। एक जल-पात्र सोमके समक्ष रखा जाता है। तत्पश्चात् हिरण्यवती आहुति दी जाती है। यज्ञ, भूमिके पूर्वी द्वारके दक्षिणकी ओर एक गाय खड़ी रहती है जिसे सोम-क्रयणी कहा जाता है। ''सोमः क्रीयते यया गवा सा सोम क्रयणी-इति।'' इसी गायको देकर सोमका क्रय होता है। गाय पिंगलवर्णा हो, उसकी आँखें पीतवर्ण-मिश्रित भूरी हों, वह अप्रसूता हो, विकलांग एवं बँधी हुई न हो। उसका कान अथवा पैर पकड़कर कोई खड़ा न हो, परन्तु यदि आवश्यकता पड़े तो हाथसे गायकी गर्दन पकड़ी जा सकती है। इस प्रकार इस सोमक्रयणी गायके साथ कुछ अन्य कृत्य किए जाते हैं।[५]

इसके पश्चात् अध्वर्यु यजमानके नौकर-द्वारा सोमको ढकनेके लिये कपड़ा मँगवाता है। चार पहियोंवाली गाड़ीमें चटाइयोंसे ढका हुआ सोम रखा जाता है। सोमके अंशु या डंठलको चुननेकी विधिके अनेक नियम हैं, जैसे कि हाथमें लिए जाते हैं, वस्त्रसे ढके जाते हैं इत्यादि।

आतिथ्येष्टि

यजमान सोमका अभिवादन एवं अदितिकी पूजा करता है।[६] तब अध्वर्यु बँधा हुआ सोम-विक्रेताको दे देता है। दोनोंके मध्य क्रय-विक्रय सम्बन्धी

---

१. आप०श्रौ०सू० - १०/२०/१२
२. जैमिनि - ३/७/३१
३. ऐतरेय ब्राह्मण - १/३/१
४. सत्याषढ श्रौ०सू० ७/१, पृष्ठ ६०९
५. ऐतरेय ब्राह्मण - १/३/२
६. आप०श्रौ०सू० १०/२५/१

एक संवाद चलता है। सोम-विक्रेताको स्वर्ण भी दिया जाता है। शतपथ ब्राह्मण, आपस्तम्ब, कात्यायन एवं सत्याषाढ़ने क्रय-विक्रेता सम्बन्धी अनेक बातोंका वर्णन किया हैं।[१] सोम-क्रयणी गायको गोशालामें भेज दिया जाता है तथा उसके बदलेमें अन्य गाय सोम-विक्रेताको दी जाती है। सोम-विक्रेताको छड़ियों एवं ढेलोंसे मारनेका अभिनय किया जाता है।[२] इसके उपरान्त सुब्रह्मण्या कृत्य किया जाता है, जिसे उद्गाताका सुब्रह्मण्या नामक सहायक पुरोहित करता है। विशिष्ट कृत्यों-सहित सोमको गाड़ीमें लाया जाता है। सोमको राजा की उपाधिसे सम्बोधित किया जाता है। सोमके स्वागतमें आतिथ्येष्टि की जाती है। आसनादिकी व्यवस्था करके, गाड़ीसे सोमको उतारकर, उसके लिये बने विशिष्ट आसनपर मृग-चर्म बिछाकर उसे विधिवत् रखा जाता है। आतिथ्येष्टिके प्रमुख देवता-विष्णु है। उनके लिये नौ कपालोंमें पुरोडाश बनता है। अरणियोंके घर्षणसे अग्निकी उत्पत्ति की जाती है। कुछ अन्य विधियोंका उल्लेख आपस्तम्ब आदिने विस्तृत रूपसे किया है।[३]

तानूनप्त्र कर्म

इडा भक्षणके उपरान्त तानूनप्त्र कर्म किया जाता है। इस कृत्यमें यजमान एवं सभी पुरोहित तनूनपात (तीव्र वेगसे चलनेवाला वायु)-का नाम लेकर प्रण करते हैं कि वें एक-दूसरेका अमंगल नहीं करेंगे। इस कृत्यके पश्चात् यजमानको अवान्तर-दीक्षा दी जाती है, जिसमें यजमान मन्त्रोच्चारण[४]के साथ आवहनीय अग्निमें समिधा डालता है। यजमान-पत्नी मौन रूपसे गार्हपत्याग्निमें समिधा डालती है। मदन्ती नामक पात्रमें रखे हुए गर्म जलको यजमान तथा सभी पुरोहित स्पर्श करते हैं।

प्रवर्ग्य

अवान्तर दीक्षाके उपरान्त प्रवर्ग्य तथा उसके पश्चात् उपसद् इष्टि होती है (परन्तु उपसद-प्रवर्ग्यके पूर्व भी हो सकता है)[५] ये दोनों कृत्य दिनमें दो

---

१. शत०ब्रा० ३/३/३; आप०श्रौ०सू० १०/२५/१-१६; कात्या०श्रौ०सू० ७/८/१-२० एवं सत्याषाढ श्रौ०सू० ७/२, पृष्ठ ६३६-६४३
२. आप०श्रौ०सू० १०/२७/८ एवं सत्याषाढ श्रौ०सू० ७/२, पृष्ठ ६४४
३. आप०श्रौ०सू० १०/३ एवं कात्यायन श्रौ०सू० ८/१
४. वाजसनेयी संहिता - ५/६
५. आप०श्रौ०सू० १०/२/५ एवं सत्याषाढ श्रौ०सू० ४, पृष्ठ ६६२

बार प्रातः एवं अपराह्न-कालमें होते हैं। यदि सोम-रस पाँचवें दिन निकाला जाय तो यह क्रम तीनों दिन (द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ)-तक चलता रहता है। यदि सोमका रस सातवें दिन या उसके भी बाद निकाला जाय तो प्रवर्ग्यों एवं उपसदोंकी संख्या बढ़ा दी जाती है।[१] आतिथ्योष्टिमें प्रयुक्त बर्हि, प्रस्तर एवं परिधिकी विधि उपसदों एवं अग्निषोमीय पशुके कृत्योंमें भी की जाती है।

परन्तु कुछ सूत्रोंमें प्रवर्ग्यका वर्णन पृथक् रूपसे पाया जाता है।[२] इस कृत्यमें यजमानको मानों एक नवीन दैवी शरीर प्राप्त होता है।[३] यह एक स्वतंत्र अथवा अपूर्व कृत्य माना गया है, न कि किसी कृत्यका परिमार्जित रूप। आपस्तम्बके अनुसार यह कृत्य प्रत्येक अग्निष्टोममें आवश्यक नहीं है।[४] वाजसनेयी संहितामें 'धर्म'-को सूर्यका द्योतक और सम्राट् नामसे यज्ञका अधिष्ठाता माना गया है।[५] इसी प्रकार प्रवर्ग्यमें प्रयुक्त गर्म दुग्ध दैवी जीवन एवं प्रकाशका द्योतक माना गया है।[६] मिट्टीका 'महावीर' संज्ञक एक पात्र बनाया जाता है। उसमें एक छिद्र होता है जिससे तरल पदार्थ गिराया जाता है। इसी प्रकारके दो अन्य महावीर-पात्र, 'पिन्वन' नामक दो अन्य दुग्ध-पात्र होते हैं। रोहिण नामकी दो प्यालियाँ होती है। महावीर, पिन्वन एवं रोहिण गार्हप त्याग्नि से प्रज्वलित अश्वके गोबरकी अग्निमें तपाए जाते हैं। रोहिणमें दो पुरोडाश पकाकर प्रातः एवं सायंकालमें दिन तथा रात्रिके लिये आहुति-रूपमें दिए जाते हैं। महावीर-पात्रको मिट्टीसे बने उच्च स्थलपर रखकर उसके चुर्दिक् अग्नि प्रज्वलित कर उसमें घी छोड़ा जाता है। प्रमुख महावीर पात्रको प्रथम पात्र माना जाता है।

अन्य दो महावीर पात्रोंको वस्त्रोंसे आच्छादित कर सोमवाले स्थानसे उत्तर दिशामें बड़ी आसन्दीपर रख दिया जाता है। प्रमुख पात्रके उबलते हुए घीमें गाय तथा बकरेवाली बकरीका दूध मिश्रित कर छोड़ दिया जाता है। इस

---

१. आप०श्रौ०सू० १५/१२/५
२. आप०श्रौ०सू० १५/५-१२, कात्यायन श्रौ०सू० २५; बौ०श्रौ०सू० ९/६
३. ऐतरेय ब्राह्मण ४/५
४. आप० श्रौ०सू०१३/४/३-५
५. वाज० संहिता २९/५
६. ऐत०ब्रा० ४/१; शत०ब्रा० १४/१-४,
तैत्ति०आ० ४/१-४२; ५/१-१२

प्रकारसे मिश्रित दुग्धको 'धर्म' कहा जाता है। जो अश्विनौ, वायु, इन्द्र, सविता एवं बृहस्पति तथा यमको आहुति-रूपमें प्रदान किया जाता है। यजमान शेष दुग्धको उपयमनमें लेकर पी जाता है, पुरोहित लोग केवल गन्ध लेते हैं। इस सम्पूर्ण क्रियाके समय होता मन्त्रोंका पाठ करता है और प्रस्तोता साम गान करता है। इस प्रकार इस सम्पूर्ण क्रियाको प्रवर्ग्य कहा जाता है।

उपसद

[१]यह भी एक इष्टि है। उपसदमें घृतकी आहुतियाँ अग्नि, विष्णु एवं सोमके उद्देश्यसे जुहूमें दी जाती है। आतिथ्येष्टिके उपरान्त किए जानेवाले सभी कृत्य, जैसे कि निह्नवन, सोमको बढ़ाना, सुब्रह्मण्या स्तोत्रका पाठ प्रत्येक उपसदमें प्रातः एवं अपराह्नमें तीन या अधिक दिनोंतक किए जाते हैं। आज्यभाग, प्रयाज एवं अनुयाजकी क्रियाएँ उपसदमें नहीं की जाती और न स्विष्टकृद् अग्निकी आहुति दी जाती है।[२] प्रातःकाल ऋग्वेदके मंत्रों[३]-का पाठ तीन तीन बार किया जाता है, जिन्हें सामिधेनी कहा जाता है। इसी प्रकार सायंकाल ऋग्वेदके मन्त्रों[४]का पाठ किया जाता है। एक एक मन्त्रका तीन तीन बार पाठ किया जाता है। इस प्रकार तीन मंत्रोंके नौ उच्चारणोंको सामिधेनी कहा जाता है। उपसदकी आहुति स्रुवसे दी जाती है।

महावेदी

प्रवर्ग्य एवं उपसय कृत्योंके उपरान्त दूसरे दिन सोमयागके लिये महादेवीका निर्माण किया जाता है।[५] आहवनीयाग्निके सम्मुख पूर्वकी ओर छह प्रक्रमकी दूरीपर एक शंकु (खूँटी) गाड़ा जाता है।

बौधायन एवं कात्यायनके मतसे साधारण अग्निशालाके पूर्वी द्वारसे पूर्वकी ओर तीन प्रक्रमकी दूरीपर अन्तःपात्य या शालामुखीय (बौधायनके मतसे) नामक खूँटी गाड़ी जाती है।[६] इस खूँटीसे छत्तीस प्रक्रम पूर्व एक दूसरी खूँटी गाड़ी जाती है जिसे यूपावटीय (यूपवाले गढ्ढेसे सम्बन्धित) कहा जाता है।

१. आश्व०श्रौ०सू० ४/८/५; ६/११
२. आश्व०श्रौ०सू० ४/८/८
३. ऋ०सं० ७/१५/१-३
४. वही २/६/१-३
५. कात्या०श्रौ०सू० ८/३/६; शत०ब्रा० ७/४; आप०श्रौ०सू० ११/४/११
६. बौधा० ६/२२; कात्या० श्रौ०सू० ८/३/७

अन्तःपात्य नामक खूँटाके दक्षिणी एवं उत्तरी सिरेसे बारह प्रक्रमकी दूरीपर दो खूँटियाँ गाड़ी जाती हैं। इस प्रकार निर्मित महावेदीके 'श्रोणी' नामक पश्चिम भागकी लम्बाई ३० प्रक्रम, 'अंस' नामक पूर्वी भागकी २४ प्रक्रम तथा महावेदीकी लम्बाई ३६ प्रक्रम हो जाती है।

आपस्तम्बके अनुसार एक प्रक्रम दो या तीन पदोंके बराबर[1] तथा एक पद पन्द्रह अंगुलके बराबर होता है। किन्तु कात्यायनकी टीकाके अनुसार एक पद दो अंगुलोंके बराबर होता है।[2] तैत्तिरीय संहितामें महादेवीका नाप इस प्रकार दिया गया है –

''त्रिंशत्पदानि पश्चात्तिरश्ची भवति षट्त्रिंशत्प्राची चतुर्विंशतिः पुरस्तात्तिरश्ची।''[3]

दूसरे दिन प्रातःकाल ही प्रातः एवं सायंवाले प्रवर्ग्य एवं उपसदके कृत्य सम्पादित कर लिए जाते हैं। प्रवर्ग्योद्वासनके उपरान्त आहवनीयाग्निसे उत्तर वेदीतक लाई जानेवाली अग्निका 'अग्निप्रणयन' नामक कृत्य किया जाता है। वेदीकी नाभिपर स्थित अग्नि सोमयागमें आहवनीयाग्निके नामसे अभिहित होती है। मौलिक आहवनीयाग्नि अब गार्हपत्याग्निका रूप धारण कर लेती है।[4] कुश, समिधा एवं वेदीपर जल छिड़ककर पूर्वाभिमुख अंकुर करके सम्पूर्ण वेदीपर कुश बिछा दिए जाते हैं। अग्निशालासे जल-द्वारा स्वच्छ की गई दो गाड़ियाँ लाकर महावेदीपर रख दी जाती हैं। इन गाड़ियोंको 'हविर्धान' कहा जाता है, क्योंकि सोमयागमें हविके रूपमें दिया जानेवाला सोम इनपर रखा रहता है। दक्षिण दिशावाली गाड़ी अध्वर्यु एवं उत्तरवाली प्रति-प्रस्थाताके अधिकारमें रहती है।

घास या बाँससे बनी चटाइयोंसे ये हविर्धान ढक दिए जाते हैं। इसके उपरान्त छह खम्भोंवाला एक हविर्धान मण्डप बनाया जाता है। गाड़ीके धुरोंपर यजमानकी पत्नी एवं प्रतिप्रस्थाता-द्वारा कुछ कृत्य किए जाते हैं। हविर्धानके अन्दर कुछ खाना-पीना निषिद्ध होता है।[5]

---

१. आप० श्रौ०सू० ५/४/३ की टीका

२. कात्यायन श्रौ०सू० ८/३/१४ की टीका

३. तैत्ति०सं० ६/२/४/५

४. आप०श्रौ०सू० ११/५/९-१०

५. आप०श्रौ०सू० ११/७-८; कात्या०श्रौ०सू० ८/४

उपरव

अध्वर्यु दक्षिण दिशामें रखी हुई गाड़ीके सामने एक हाथ गहरे चार गड्ढे खोदता है तथा उनपर कुश बिछा दिए जाते हैं। उनपर दो अधिषवण फलक (उदुम्बर, पलाश या काश्मर्यवृक्षसे निर्मित तख्ते)[1] बिछाकर अधिषवण चर्म (बैलका लाल चर्म)[2] रख दिया जाता है। इस चर्मपर चार प्रस्तर-खण्डोंसे[3] सोमका रस निकाला जाता है। प्रस्तर खण्डसे उत्पन्न घोषको चारों गड्ढे और अधिक गुंजित कर देते हैं, इसीसे इनको उपरव कहा जाता है।[4] 'उप उपरिष्टाद् ग्राव्णां रवः शब्दो येषु ते।''[5]

उपरवोंके पूर्वमें या अधिषवण चर्म या उपस्तम्भन (रस्सीसे बँधे दो सीधे बाँसोंका ढाँचा, जिसपर गाड़ीका अग्रभाग अर्थात् जुआ रखा जाता है)-के पूर्वमें मिट्टीका चतुष्कोणीय ढूह बना लिया जाता है। उस पर दो सोमके पात्र रखे जाते हैं। तदुपरान्त पुरोहितोंके लिये अलग अलग आसनोंका निर्माण होता है। इन आसनोंके निर्माणके साथ भी कुछ संस्कार सम्पन्न करने पड़ते हैं।

इसके पश्चात् अग्नि एवं सोमें लिये पशुबलिकी तैयारी की जाती है। परिस्तरण, यज्ञीय पात्रोंको रखना, प्रोक्षण आदि कृत्य किए जाते हैं। प्रतिप्रस्थाता यजमानको पत्नीशालासे लाता है। इसी प्रकार यजमानके अन्य

---

१. कात्यायन ८/५/२५ की टीकाके अनुसार अधिषवण फलकवरण लकड़ीके होते हैं – 'अधि उपरि अभिषूयते सोमो ययोस्ते अधिषवण फलके - इति।''
२. कात्यायन (८/५/२६)-की टीकाके अनुसार 'अंशु दुहन्तो अध्यास्ते गवि।' - ऋं० सं० १०/९४/९
३. आपस्तम्बके मतसे प्रस्तर खण्ड चार होते हैं। (आप० १२/२/१४)। किन्तु कात्यायनके अनुसार पाँच होते हैं। (कात्या०श्रौ०सू० ८/५/२८) आपस्तम्बमें पाँचवें प्रस्तरको 'उपर' कहा गया है। यह पर्याप्त चौड़ा होता है और इसीपर सोमके डण्ठल कूटे जाते हैं। इसके चारों ओर ग्रावा नामक चार खण्ड रखे रहते हैं, जो एक एक बित्ता लम्बे होते हैं। उनकी आकृति ऐसी होती है कि उनसे सोमके डंण्ठल कूटे जा सकें।
४. द्रष्टव्य - कात्यायन श्रौ०सू० ८/४/१८ की टीका
५. कात्या० श्रौ०सू० ८/४/२८, ८/५/२४; आप०श्रौ०सू० ११/११/१; ११/१२/६

सम्बन्धी बुलाए जाते हैं। यजमान अध्वर्युका, पत्नी यजमान (पति)-का पुत्र एवं यजमानके भाई यजमान-पत्नीका स्पर्श करते हैं। ये सभी व्यक्ति नवीन परिधान धारण किए रहते हैं। अध्वर्यु आज्यकी प्रचरणी अर्थात् वैसर्जन आहुतियाँ सोमको देता है।[१] इसके बाद अग्नि एवं सोमका प्रणयन होता है। आवहनीयपर अग्नि प्रज्वलित कर उत्तरवेदीपर लाई जाती है। विभिन्न प्रकारके पात्र पशुबलिके लिये महावेदीपर लाए जाते हैं।

इसी प्रकार दूसरे दिन सोमरस निकालते समय काममें लाए जानेवाले पात्र यथास्थान सज्जित किए जाते हैं। आग्नीध्रके धिष्णयके समीप अग्नि रख दी जाती है। सोमके डण्ठल हविर्धान मण्डपमें लाए जाते हैं तथा दक्षिण शकटपर कृष्णमृगचर्म रख दिए जाते हैं। तदुपरान्त यजमान अपनी मध्यम दीक्षाका त्याग करता है अर्थात् वह अपनी मेखला शिथिल कर देता है, मुट्ठियाँ खोल देता है, मौन तोड़ता है, उपवासका भोजन छोड़ता है और अपना दण्ड मैत्रावरुण नामक पुरोहितको दे देता है।[२] सोमरस जिस दिन निकाला जाता है, उस दिन यजमान सोमरस पीता है और शेष यज्ञीय भोजन खाता है। इसके बाद वह अपने नामसे पुकारा जाता है। उसके घरमें बना भोजन तब अन्य लोग भी खाते हैं।[३] जैमिनिके अनुसार बलिका पशु 'छाग' (बकरा) होता है।[४] सोमरस निकालनेके लिये आवश्यक 'वसतीवरी' नामक जल विधिपूर्वक किसी नदीसे लाया जाता है और सुरक्षित रखा जाता है। पुरोहित इत्यादि रात भर यज्ञशालामें ही निवास करते हैं।

जिस दिन सोमरस निकाला जाता है, वह अन्तिम पाँचवाँ दिन सुत्या कहा जाता है। सूर्योदयसे बहुत पहले सभी पुरोहित जगा दिए जाते हैं, जिससे वे सूर्योदयसे पूर्व ही (उपांशु) प्रस्तर खण्डसे सोमरस निकाल डालें। इसके उपरान्त (सुत्याके दिन बलि दिए जानेवाले) पशु-बलिकी व्यवस्था की जाती है।

प्रातरनुवाक

सूर्योदयसे पूर्व पक्षियोंके जागनेसे पहले ही, अध्वर्यु होताको प्रातरनुवाक (प्रातःकालीन स्तुति) कहनेके लिये आज्ञा देता है। यह स्तुति अग्नि, उषा एवं

---

१. आप० श्रौ०सू० ११/१८/६
२. कात्या० श्रौ०सू० ८/७/२२
३. कात्या० श्रौ०सू० ८/७/२२
४. जैमिनि ६/१/१२

अश्विनोंके लिये की जाती है, क्योंकि ये देव प्रातःकाल आ जाते हैं। इसी प्रकार अध्वर्यु ब्रह्मासे मौन धारण करने, प्रतिप्रस्थाताको सवनीय पुरोडाशके लिये निर्वाप (सामग्रियाँ) निकालनेको कहता है। सुब्रह्मण्यको सुब्रह्मण्या स्तोत्र पढ़नेके लिये आज्ञा देता है। अध्वर्यु होतासे कहता है कि वह (अध्वर्यु) उसकी स्तुतिको मनमें ही कहेगा। होता हविर्धान गाड़ियोंके जुओंके बीचमें बैठकर तीन भागोंमें प्रातरनुवाकको कहता है। इन भागोंको 'क्रतु' कहा जाता है, जिनमें प्रथम अग्निके लिये, द्वितीय उषाके लिये एवं तृतीय अश्विनोंके लिये होता है। प्रत्येक भागमें होता कमसे कम एक एक गायत्री, अनुष्टुप, बृहती, उष्णिक, त्रिष्टुप्, जगती एवं पंक्ति नामक सात छन्दोंमें कहता है।

आश्वलायनने लगभग २५० मन्त्र उषा क्रतुमें, ४०७ आश्विन क्रतुमें कहनेका विधान किया है। यह प्रातरनुवाक मन्द्र गतिसे कहा जाता है।[१]

प्रातरनुवाक होते समय आग्नीध्र[२] या प्रतिप्रस्थाता[३] निर्बाध अर्थात् आहुतियोंकी सामग्री निकालता है। ये सामग्रियाँ हैं – ग्यारह कपालोंवाली एक (रोटी) पुरोडाश इन्द्रके लिये; इन्द्रके दो हारियों (पिंगल अश्वों)-के लिये धारा (भुने हुए जौं); पूषाके लिये करम्भ (दधि-मिश्रित जौंका सत्तू), सरस्वतीके लिये दही तथा मित्र एवं वरुणके लिये पयस्या। तदुपरान्त भी कुछ कृत्य किए जाते हैं। समय समयपर सोमरस निकाला जाता है और देवोंको समर्पित किया जाता है। तत्पश्चात् अपोनजिय सूक्त पाठ, उपांशु ग्रह और अन्तर्याम ग्रहके विधानके पश्चात् 'महाभिषव' नामक कृत्य किया जाता है।

महाभिषव

सोमरस निकालनेके प्रमुख कर्मसे सम्बद्ध यह एक महान् कृत्य माना जाता है। सोमरस निकालनेके लिये दो प्रकारका जल प्रयुक्त होता है, एक - वसतीवरी जो पूर्वरात्रिमें लाया जाता है; और दूसरा है - एक घना जो उसी दिन नदी आदिसे लाया जाता है। प्रातःकाल सोमके दुण्डलोंसे अधिकतम रस निकाला जाता है तथा कुछ भाग मध्याह्न-कालमें। अध्वर्यु 'उपर' नामक प्रस्तर उठाकर उसे अधिषवण-चर्मपर रखता है और उसपर कुछ सोम-डण्ठल रखकर निग्राम्य जल छिड़कता है। अन्य पुरोहित दाहिने हाथमें प्रस्तर लेकर

---

१. आश्व०श्रौ०सू० ४/१३/६

२. कात्या० श्रौ०सू० ९/१/१५

३. आप०श्रौ०सू० १२/४/४

डण्ठलोंको कूटते हैं। इस कृत्यको पर्याग अर्थात पहला दौर कहते हैं। दूसरी पारीमें इधर-उधर विकीर्ण डण्ठलोंको कूटा जाता है। इसी प्रकार कूटनेका तृतीय क्रम भी चलता है। इसके पश्चात अध्वर्यु कूटे हुए डण्ठलोंको 'सम्भरणी' नामक पात्रमें एकत्र कर 'आधवर्नाय' नामक पात्रमें रखता है। आधवर्नीय पात्रमें पहले ही रखा हुआ जल होता है, सोमके डण्ठल उसमें स्वच्छ किए जाते हैं। तब कुछ अन्य कृत्य सम्पन्न किए जाते हैं तथा पात्रपर पात्र अर्थात् अनेक पात्र जल भरा जाता है। प्रथम पात्र अन्तर्याम ग्रह संज्ञक होता है। द्रोणकलशमें स्थित सोमको 'शुक्र' संज्ञासे अभिहित किया जाता है।[1] उपांशु ग्रह (प्याला-पात्र) सूर्योदयसे पूर्व ही दिया जाता है, किन्तु अन्तर्याम ग्रह अध्वर्यु-द्वारा सूर्योदय होते समय दिया जाता है।[2] सोमरससे पूरित पात्र अर्थात् ग्रह इस प्रकार हैं – ऐन्द्रवायव्य, मैत्रावरुण, शुक्र, मन्थी, आग्रायण, उक्थ्य और ध्रुव। ये सभी पात्र 'खर' संज्ञक उच्च स्थलपर स्थापित किए जाते हैं। इन पात्रोंमें सोम-रस धारा रूपमें डालकर भरा जाता है, अतः इन्हें 'धाराग्रह' कहा जाता है। इसके उपरान्त कई कृत्यों-सहित बहिष्पवमान स्तोत्रका पाठ सम्पादित किया जाता है। जिस स्थलपर यह स्तोत्र-पाठ किया जाता है वह 'आस्ताव' कहा जाता है।[3] बहिष्पमान-स्तोत्रका पाठ एक दिनसे अधिक समयतक चलता रहता है।

यजमान तथा अध्वर्युके अतिरिक्त चार अन्य पुरोहित गायकका कार्य करते हैं अर्थात् स्तोत्र-पाठ करते हैं।[4] प्रथम बार सोमरस निकालते समय जो प्रथम स्तोत्र-पाठ किया जाता है, वह 'पवमान' संज्ञक होता है।[5] परन्तु प्रातःकालीन सवन स्तोत्रको बहिष्पवमान कहा जाता है। द्वितीय एवं तृतीय बार रस निकालते समयके स्तोत्रको क्रमशः माध्यन्दिन पवमान एवं आर्भ या तृतीय-पवमान कहा जाता है। अन्य स्तोत्र 'धुर्य' नामसे जाने जाते हैं।[6]

बहिष्पवमान स्तोत्र पाठके समय उन्नेता पुरोहित 'आधवनीय' पात्रसे

---

१. कात्या० श्रौ०सू० ९/५/१५
२. आप०श्रौ०सू० १२/१३/१२
३. वहीं ५/३/१६
४. वहीं १२/१७/११, १२
५. वहीं १२/१७/८-९
६. कात्या० श्रौ०सू० ९/१४/५ की टीका

सोमरसको 'पूतभृत' पात्रमें डालता है। स्तोत्र-समाप्तिके पश्चात् अध्वर्यु आग्नीध्र पुरोहितसे धिष्ण्योंपर अग्नि प्रज्वलित करनेको कहता है तथा वेदीपर कुश रखने और पुरोडाशोंको अलंकृत करनेकी आज्ञा भी देता है। इसी प्रकार अध्वर्यु प्रतिप्रस्थाताको सवनीय पशु लानेकी आज्ञा देता है।

वया कर्म

याज्ञिक जन अग्निशालामें निर्मित वेदी को धिष्णा नामसे निर्दिष्ट करते हैं। होता, मैत्रावरुण, प्रशास्ता, ब्राह्मणाच्छंसी, पोता तथा नेष्टा इन सात ऋत्विजोंकी एक एक अर्थात सात धिष्णा सदोमण्डपके मध्य निर्मित होते हैं। महावेदी निर्मित होनेपर 'वैसर्जन' नामक समेद होम करना पड़ता है। यहींसे अग्निष्टोमका पशुयाग प्रारम्भ होता है जो सोमयागका पूर्वांग है। प्राक वंशशालामें उत्तरवेदी स्थित सम्पूर्ण सोमलता लाकर हविर्धान मण्डपमें रखी जाती है। तब अग्निष्टोमीय पशु (एक बकरा) लाया जाता है। सुलक्षणाक्रान्त पशु ही यज्ञमें ग्रहणीय हैं। रुग्ण एवं शिशु प्रभृति पशु यज्ञमें व्यवहृत नहीं होता है। पशुको पवित्र जलसे स्नान कराकर पश्चिमाभिमुखमें स्थापन और कुशपिजंली युक्त प्लक्षशाखा-द्वारा मंत्रपूत किया जाता है। यह पवित्रीकरण कृत्य वपाकर्म नामसे व्यवहृत होता है।

उक्त पशु जब बद्ध स्थानपर लाया जाता है, तब ऋत्विक उच्च स्वरसे वेद-मंत्रोंका गान करते रहते हैं। संज्ञपन (वध-कार्य) समाप्त होनेपर पशुके ये अंश पूर्णरूपेण कर्त्तन कर शामित्र नामक अग्निकुण्डमें पकाकर वेदमंत्र गाते गाते हृदय, जिह्वा, वक्ष, यकृत, वृक्कद्वय, वामहस्त, पार्श्वद्वय, दक्षिण श्रोणी, पायु नाल और वसा आदि होम किया जाता है। इस प्रकारं मंत्रपाठपूर्वक पशु-द्वारा होम करनेका नाम अग्निष्टोमीय पशु-याग है। सोमरस निकालनेके दिन ही अग्निष्टोमके लिये पशु-बलि दी जाती है। यज्ञ-प्रयुक्त पशुको स्तोयायन[१] एवं 'कृतु पशु'[२] कहा जाता है। इस होमके बाद उपवसथ नामक कृत्यका अनुष्ठान विधेय है।

सभी पुरोहित एवं यजमान सदोंमें प्रवेश करते हैं तथा औदुम्बरी स्तम्भ[३]के पूर्व एवं अपने आसनोंपर वेदीके पश्चिम भागमें बैठ जाते हैं। वे सभी अपने

१. कात्या० श्रौ०सू० ८/७/९

२. आश्वलायन श्रौ०सू० ५/३/४

३. गूलरका एक स्तम्भ यूपके लिये प्रयुक्त होता है।

अपने सोम रसपात्रों एवं तीन दोनियों अर्थात आधवनीय, पूतभृत एवं द्रोण कलश तथा घृतपात्रोंकी ओर मंत्रोच्चारणके साथ दृष्टि डालते हैं। यजमान मंत्रों[1] के साथ इन सभी पात्रोंका सम्मान करता है।

इसके उपरान्त प्रतिप्रस्थाता पाँचों सवनीय आहुतियाँ; यथा – इन्द्रके लिये एकादश कपालपर निर्मित पुरोडाश, इन्द्रके दो 'हरि' नामक अश्वोंके लिये धाना, पूषाके लिये करम्भ, सरस्वतीके लिये दधि एवं मित्र तथा वरुणके लिये पयस्या लाता है। अध्वर्यु इन आहुतियोंको सजाकर एक पात्रमें रखता है। इन आहुतियोंको देनेके बाद सोमाहुतियाँ द्विदेवत्यग्रहोंको अर्थात् इन्द्र एवं वायु, मित्र एवं वरुण तथा अश्विनौको दो दो देवोंको साथ साथ दी जाती है। इसके उपरान्त चमसोन्नयन कृत्य होता है।

चसमोन्नयन

उत्तर वेदीके पश्चिममें उन्नेता नामक पुरोहित चमसाध्वर्युओंके लिये नौ (प्यालियाँ) पात्र सोमरससे भरता है। सर्वप्रथम द्रोण कलशसे सोमरस लिया जाता है, इसे उपस्तरण कहा जाता हैं। तब पूतभृत्से और अन्तमें द्रोण-कलशसे सोमरस लिया जाता है , इसे अभिधारण कहा जाता है। ये नौ पात्र क्रमशः होता, ब्रह्मा, उद्गाता, यजमान, मैत्रावरुण, ब्राह्माच्छंसी, पोता, नेष्टा एवं आग्नीध्रके लिये भरे जाते हैं। उन्नेता तथा अच्छावाक्के लिये सोमरस नहीं भरा जाता है।

वस्तुतः प्रमुख पुरोहित चार हैं – होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा एवं उद्गाता। इन चारोंके तीन तीन सहायक पुरोहित होते हैं –

१. होता के सहायक हैं – मैत्रावरुण, अच्छावाक् एवं ग्रावस्तुत्।

२. अध्वर्युके सहायक हैं – प्रतिप्रस्थाता, नेष्टा एवं उन्नेता।

३. ब्रह्माके सहायक हैं – ब्राह्मणाच्छंसी, आग्नीध्र एवं पोता तथा

४. उद्गाता के प्रस्तोता, प्रतिहर्त्ता एवं सुब्रह्मण्य।[2]

चमसोन्नयनके पश्चात् शुक्रामन्थि प्रचार कृत्य होता है।

शुक्रामन्थि प्रचार

अध्वर्यु 'शुक्र' नामक सोमपात्र ग्रहण करता है। इसी प्रक्रार प्रतिप्रस्थाता

---

१. आप०श्रौ०सू० १२/१९/५

२. आश्व०श्रौ०सू० ४/१/६ एवं आप०श्रौ०सू० १०/१/९

'मन्थी' पात्र तथा उत्तरवेदीपर रखे गए चमसोंको चमसाध्वर्यु लोग ग्रहण करते हैं। चमसाध्वर्यु यजमान-द्वारा वरण किए गए ऋत्विक् नहीं हैं; वे ऋत्विकोंके द्वारा चुने गए सहायक पुरोहित होते है।[१] जैमिनिके मतसे चमसाध्वर्यु केवल दस होते हैं।[२] पुरोहितोंके सोमपालके क्रम और विधि जटिल एवं विवादग्रस्त हैं।

ऋतुग्रह[३]

अग्निष्टोम कृत्यमें विभिन्न ऋतु पात्रोंमें भी सोमरस भरा जाता है। इन पात्रोंमें सोमरस द्रोण कलशसे भरा जाता है। अध्वर्यु एवं उसका सहायक प्रतिप्रस्थाता बारह मासों (मधु, माधव आदि)[४] या मलमास-सहित तेरह मासों (जिस यज्ञकालमें वह आ पड़े)-को भी सोमरस प्रदान करता है।

मलमासको संसर्प[५] तथा अंहसस्पति[६] कहा जाता है। दो दो मासोंकी छह ऋतुओंको भी सोमरस प्रदान किया जाता है। दो मासोंमें प्रथमको अध्वर्यु तथा दूसरेको प्रतिप्रस्थाता रस प्रदान करता है।

शस्त्र एवं स्तोत्र

अग्निष्टोम कृत्यमें शस्त्रोंके वाचनके छह प्रकार हैं, यथा — १. मौन रूपसे जप, २. आहाव एवं प्रतिगर, ३. तूष्णीशंस, ४. निविद् या पुरोरुक्, ५. सूक्त एवं ६. उक्थंवाचि शब्दका जप[७] तथा याज्या।[८] आश्वलायन श्रौत सूत्रके अतिरिक्त शस्त्रोंमें तूष्णीशंसका उल्लेख नहीं हुआ है।

अग्निष्टोममें बारह शस्त्र एवं बारह स्तोत्र होते हैं। 'शस्त्र' एवं 'स्तोत्र'-का अर्थ है — 'स्तुति या प्रशंसा'; किन्तु स्तोत्र वह स्तुति है जो सस्वर गाई जाती है और शस्त्र वह स्तुति है जिसका वाचन मात्र होता है।[९] शस्त्रका

---

१. द्रष्टव्य - जैमिनि ३/७/२७
२. जैमिनि - ३/७/२६-२७
३. ऋतुकी शुद्धिके लिये किया जानेवाला यज्ञ
४. तैत्ति०सं० १/४/१४ या वाजसनेयी संहिता ७/३०
५. तै०सं० १/४/१४/१
६. वाज०सं० ७/३०
७. आश्व०श्रौ०सू० ५/१०/२२-२४
८. वहीं ५/१०/२१
९. शबर, जैमिनि ७/२/१७

वाचन स्तोत्रके उपरान्त होता है। अग्निष्टोममें आज्य शस्त्र प्रथम एवं अग्निमारुत् अन्तिम शस्त्र है। प्रातः सवन (सोमरस निकालनेकी क्रिया)-में पाँच स्तोत्र गाए जाते हैं; यथा – वहिष्पमान तथा अन्य चार आज्य स्तोत्र। माध्यन्दिन सवनमें अन्य पाँच, यथा – माध्यन्दिन पवमान तथा चार पृष्ठ स्तोत्र; तथा सायं-सवनमें केवल दो स्तोत्र-आर्भव पवमान तथा अग्निष्टोम साम होते हैं।

बारह शस्त्र हैं – प्रातःसवनमें होता-द्वारा 'आज्य शस्त्र', 'प्रउग शस्त्र' (होता-द्वारा), एवं मैत्रावरुण, ब्राह्मणाच्छंसी तथा अच्छावाक् (जो तीनों होत्रक कहे जाते हैं)-द्वारा तीन आज्य शस्त्र; माध्यन्दिन सवनमें मरुत्वतीय शस्त्र (होता-द्वारा), निष्केवल्य शस्त्र (होता-द्वारा) एवं होताके मैत्रावरुण, अच्छावाक् एवं ग्रावस्तुत् सहायकों-द्वारा अन्य तीन शस्त्र तथा सायंकालीन सवनमें होता-द्वारा कहे जानेवाले वैश्वदेव एवं अग्निमारुतके दो शस्त्र।

त्रिवृत् स्तोममें बहिष्पवमानका, पंचदश स्तोममें चार आज्य स्तोत्र एवं माध्यन्दिन पवमानका, सप्तदशस्तोममें चार पृष्ठ स्तोत्र एवं आर्भव पवमानका तथा एकविंशति स्तोममें यज्ञायज्ञीयका गान होता है। 'स्तोम'-का अर्थ है – कई छन्दोंका समूह। पंचदश स्तोम आदि शब्दोंका आशय यह है कि छन्द (अधिकांश तीन) १५, १७, २१ आदि संख्याओंतक बढ़ा दिए जाते हैं। यह वृद्धि बार बार दोहरानेके आधारपर बनी कई विष्टुतियों (विधियों)-से होती है।

सोमरस-पान

महाभिषव अर्थात् प्रचुर मात्रामें सोमपेषण, निष्पीडन, आलोडनके उपरान्त अग्निमें अग्नि, सूर्य, इन्द्र, वायु, मित्र, वरुण, अश्विनी कुमार आदि देवोंके निमित्त सोमरसकी आहुति देनेके पश्चात् ऋत्विक् व यजमान आदि यज्ञावशिष्ट सोमका पान कर कृतार्थ होते हैं। ऋत्विक् एवं यजमानके सोमपानकी विधि भिन्न है।

ऐतरेय ब्राह्मणके मतसे क्षत्रिय यजमान सोमरसका पान नहीं कर सकता है, यदि वह चाहे तो बरगद या उदुम्बर आदि पवित्र वृक्षोंके फलोंको दहीमें मिलाकर खा सकता है।[१] किन्तु संस्कृत वाङ्मयमें राजाओंके लिये 'सोमपा' शब्द प्रयुक्त हुआ है। कुछ सूत्रकारोंका भी यही मत है।[२] जैमिनिने लिखा है

---

१. ऐतरेय ब्राह्मण ३५/२/४

२. सत्याषाढ ८ · ७ पृष्ठ ८८२: आप०श्रौ०सू० १२/२४/५

कि इन वस्तुओंका तरल रूप जब प्यालेमें रख दिया जाता है तो उसे फलचमस कहा जाता है, यह आहवनीयाग्निके अंगारोंपर डाल दिया जाता है,[१] खाया नहीं जाता।[२]

दक्षिणा

अग्निष्टोम कृत्यमें दक्षिणा देनेका विवरण सूत्रोंमें विस्तारसे दिया गया है। यजमान व उसके परिवारके ओढ़नेके परिधानमें जो स्वर्ण-खण्ड बँधा होता है, वह पुरोहितोंको दक्षिणाके रूपमें दिया जाता है। अन्य वस्तुएँ भी भेंट की जाती है। आपस्तम्बने सोलह पुरोहितोंकी दक्षिणाका विस्तृत वर्णन किया है। दक्षिणाके रूपमें ७, २१, ६०, १००, ११२ या १००० गायें हो सकती हैं या ज्येष्ठ पुत्रके भागको छोड़कर सम्पूर्ण सम्पत्ति दी जा सकती है। सम्पूर्ण सम्पत्तिका एक सहस्र पशुओंके साथ एक खच्चर भी दिया जाता है।[३]

बकरियाँ, भेड़, घोड़े, दास, हाथी, परिधान, रथ, गर्दभ आदि तथा विभिन्न प्रकारके अन्न दिए जा सकते हैं। यजमान दक्षिणाके रूपमें अपनी कन्या भी दे सकता है।

सभी पशु चार भागोंमें विभक्त करके एक चतुर्थ अंश अध्वर्यु तथा उसके सहायकोंको इस प्रकार दिया जाता है कि प्रतिप्रस्थाता, नेष्टा एवं उन्नेताको अध्वर्युकि भागका क्रमशः आधा, तिहाई एवं चतुर्थ भाग मिले। आग्नीध्रको सर्वप्रथम दक्षिणा दी जाती है। उसे एक स्वर्णखण्ड, पूर्ण पात्र तथा सभी रंगोंके सूतसे बना एक उपधान दिया जाता है। प्रतिहर्त्ता नामक पुरोहितको सबसे अन्तमें दक्षिणा मिलती है।[४] अध्वर्यु एवं उसके सहायकोंको दक्षिणा हविर्धान स्थलपर दी जाती है, किन्तु अन्य पुरोहितोंको सदोंके अन्दर दक्षिणा दी जाती है। अत्रि गोत्रके एक ब्राह्मणको (जो ऋत्विक् नहीं होता) सर्वप्रथम या आग्नीध्रके पश्चात् एक स्वर्णखण्ड दिया जाता है। आग्नीध्रके उपरान्त क्रमशः ब्रह्मा, उद्गाता एवं होताका क्रम आता है। इन पुरोहितों या ऋत्विकोंके अतिरिक्त चमसाध्वर्युओं, सदस्यों तथा सदोंमें बैठे हुए दर्शकोंको भी यथाशक्ति दान

---

१. जैमिनि - ३/५/४७-५१

२. वहीं ३/६/३६

३. आप०श्रौ०सू० १३/५/१-३: १३/७/१५

४. आप०श्रौ०सू० १३/६/२: एवं कात्या०श्रौ०सू० १०/२/३०

दिया जाता है। दर्शकोंको 'प्रसर्पक' कहा जाता है। कण्व एवं कश्यप-गोत्रीय तथा याचकोंको दक्षिणाका भाग नहीं मिलता।[1] साधारणतः अब्राह्मणको दान नहीं दिया जाता, अवेदज्ञ अर्थात् ज्ञान-शून्य ब्राह्मणको भी दान नहीं दिया जाता, किन्तु वेदज्ञ होनेपर अब्राह्मणको भी दान दिया जा सकता है।

अवभृथ स्नान

यज्ञ-समाप्तिके पश्चात् यजमान अवमृथ स्नान करता हैं यह स्नान महासमारोहसे सम्पन्न होता है। ऋत्विक्, बन्धु-बान्धव और उनकी पत्नी समवेत होकर यजमानको किसी महानदी या (महानदीके अभावमें) किसी पूर्ण जलाशयपर ले जाते हैं। गमन-कालमें प्रस्तोता नामक ऋत्विक् सामगान करते हुए आगे आगे चलता है। यजमान प्रभृति पुरुष, तत्पत्नी आदि स्त्रीगण निधन वाक्य (एक प्रकारका सामगान) गाती हैं। जल सन्निधानमें सबके उपस्थित होनेपर पहले एक होमका अनुष्ठान किया जाता है। होमके पश्चात् मन्त्रपाठपूर्वक यजमानको स्नान कराया जाता है। अवभृथ स्नानके पूर्ण हो जानेपर ही यज्ञकी समाप्ति होती है।

उक्थ्य

ज्योतिष्टोमका एक रूप उक्थ्य है। आपस्तम्ब एवं सत्याषाढने स्पष्ट लिखा है कि उक्थ्य, षोडशी, अतिरात्र एवं आप्तोर्याम अग्निष्टोमके ही विविध परिष्कृत रूप है।[2]

ऐंतरेय ब्राह्मणमें इस सोमयागसे सम्बन्धित एक कथा प्राप्त होती है – "अग्निष्टोम यज्ञसे देवताओं-द्वारा पराभूत हो जानेपर असुरोंने उक्थ्योंमें आश्रय लिया। देवता और असुर दोनों ही तुल्य बलवाले थे अतः उनमें पार्थक्य न हो सका। भरद्वाज ऋषिने उक्थ्योंमें अवस्थित उन असुरोंको देखकर अग्निका आह्वान किया और बताया कि जिन्हें कोई देवता नहीं देख रहा है, वे असुर उक्थ्योंमें अवस्थित है। यह सुनकर अग्नि तभी अश्वाकार होकर उन असुरोंके पीछे तेजीसे दौड़े और असुरोंके ऊपर वेगवान् आत्मरूपी अश्वको घुमा घुमाकर उन्हें मार दिया।[3]

---

१. आप०श्रौ०सू० १३/७/१-५ एवं कात्या०श्रौ०सू० १०/२/३५
२. आप०श्रौ०सू० १४/१/१; सत्याषाढ ९/७ पृष्ठ ९५८
३. ऐतरेय ब्राह्मण ५/१/१५/१

उक्थ्य यज्ञ अग्निष्टोमकी विकृति[1] है, अतः प्रारम्भमें अग्निष्टोमके प्रयोगका अनुष्ठान करके तदुपरान्त उक्थ्यके तीन पर्यायोंका इस यज्ञमें अनुष्ठान किया जाता है। जैसे कि आपस्तम्बने कहा है—

उक्थ्यश्चेदग्निष्टोम चमसानुन्नयंस्त्रिभ्यश्चमसगणेभ्यो राजानमतिरेचयति[2] इति।

इस सोम-यज्ञमें अग्निष्टोमके बारह स्तोत्रों एवं बारह शस्त्रोंके अतिरिक्त अन्य तीन 'उक्थ स्तोत्र' एवं तीन 'उक्थ शस्त्र' पाए जाते हैं। सायंकालीन सवनमें प्रथम चमसगणमें 'मैत्रावरुण' नामक ऋत्विज् इन्द्र और वरुण देवताक् सूक्त[3]-का शंसन किया जाता है।

तदुपरान्त सायंकालीन या तृतीय सवनमें द्वितीय चमसगणमें 'ब्राह्मणाच्छंसिन्' नामक ऋत्विज् इन्द्र[4] और बृहस्पतिदेवताक्[5] सूक्तद्वयका शंसन किया जाता है।

तत्पश्चात् तृतीय चमसगण या पर्यायमें अच्छावाक् शंसित होता है। इसमें इन्द्र और विष्णु देवता होते हैं।

उक्थ्य यज्ञमें अग्निष्टोमके समान बलि दिए जानेवाले पशुओंके अतिरिक्त मेषकी भी बलि दी जाती है। जो अग्नि एवं इन्द्रके लिये होती है।[6] सोमकी भी इसमें अपेक्षाकृत अधिक आवश्यकता होती है। प्रातःसवन व माध्यन्दिन सवनमें अग्निष्टोमसे कोई भिन्नता उक्थ्यमें नहीं होती है। केवल संकल्प, सवनीय पशु एवं तृतीय सवनमें कुछ भिन्नता होती है। 'उक्थ्येन यक्ष्ये' यह संकल्प होता है। प्रकृतिवत् ही माध्यन्दिन सवानान्ततक अनुष्ठान करके तृतीय सवनके प्रारम्भमें तीन चमसगणके लिये पर्याप्त सोमरसका सम्पादन करना पड़ता है तथा तीन उक्थ्य ग्रहोंको ग्रहण करके आयतनमें जाता है। इसके पश्चात्

---

१. आप०श्रौ०सू० १४/१/१/३
२. वहीं १/१/६
३. पृ०सं० ७/८२
४. वहीं १०/६८
५. वहीं १०/४३
६. ऐतरेय ब्राह्मणं १४/३, आश्व०श्रौ०सू० ६/१/१-३, आप०श्रौ०सू० १४/१, शत०ब्रा० ९/७, पृष्ठ ९५८-९५९

अग्निष्टोम स्तोत्र सम्बन्धी चमसगणके प्रचारके अनन्तर उक्थ्य ग्रहका प्रचार किया जाता है। कुल मिलाकर पन्द्रह स्तोत्र एवं पन्द्रह शस्त्र उक्थ्य नामक यज्ञमें होते हैं।[१]

आपस्तम्बका कथन है कि 'पशु संतति एवं शक्तिके अभिकांक्षी जन उक्थ्य, षोडशी, अतिरात्र एवं आप्तोर्यामका अनुष्ठान करते हैं। 'उक्थ्येन पशु कामो यजेत्' - इति।[२]

षोडशी

अग्निष्टोम एवं उक्थ्य दोनों यज्ञोंके सदृश षोडशी यज्ञ स्वतंत्र रूपसे अनुष्ठान करने योग्य नहीं है। तैत्तिरीय संहिताके अनुसार, "न वै षोडशी नाम यज्ञोऽस्ति, यद्वावषोडशं स्तोत्रं षोडश शस्त्रं तेन षोडशी"[३] इति। वस्तुतः यह ज्योतिष्टोमकी एक संस्था-विशेष है।[४] 'पृष्ट्यषडह'-के चौथे दिन होता 'षोडशी' शस्त्रका शंसन करता है।[५] सूत्रकारोंके अनुसार शक्ति प्राप्तिके लिये षोडशी यज्ञका अनुष्ठान किया जाता है।[६]

षोडशी नामक यज्ञमें प्रातः सवनमें सर्वधारा ग्रहोंके अन्तमें चौथे उर्ध्व पात्रमें षोडशी नामके ग्रहोंको लेकर खरपर रखा जाता है। यह पात्र खदिर वृक्षकी लकड़ीसे निर्मित होता है तथा इसका आकारचतुष्कोणीय होता है। इस यज्ञमें इन्द्रके लिये एक भेड़ा भी बलि दिया जाता है।

तृतीय सवनमें उक्थ्य ग्रहके चमस प्रचारके अनन्तर षोडशी यज्ञके लिये चमसोंको सूर्यके अर्द्ध अस्त होनेके समय अध्वर्यु षोडशी स्तोत्र[७] का पाठ आरम्भ कर देता है, स्तोत्रकी समाप्तिके उपरान्त शस्त्रका पाठ करता हैं। तब उन ग्रहों और चमसोंका प्रचार किया जाता है। अवशिष्ट कार्य अग्निष्टोमवत् ही किए जाते हैं।

अग्निष्टोम एवं उक्थ्य दोनों यज्ञोंके कुल मिलाकर पन्द्रह स्तोत्र एवं पन्द्रह

---

१. ऐतरेय ब्राह्मण १४/३, आश्व०श्रौ०सू० ६/१/१-३
२. आप०श्रौ०सू० १४/१/२, गो०ब्रा०उ०मा० ४/१०
३. तै०सं० ६/६/११/१
४. आप०श्रौ०सू० १४/१/१/३
५. ऋ०सं० १/८४/१-२०
६. 'षोडशिना वीर्यकामःयजेत्' - इति आपस्तम्बीय विधिसूत्रम् १४/१/२
७. तै०सं० ६/६/११/६

शस्त्र होते हैं। इस यज्ञमें पन्द्रहसे अधिक एक अर्थात् सोलह स्तोत्र एवं सोलह शस्त्र होते हैं। शस्त्रमें होता-द्वारा प्रतिपादित अनुष्टुप्के पूर्वार्द्धगत सोलह अक्षरोंपर ही अवसान करता है और उत्तरार्द्धगत सोलह अक्षरोंका उच्चारण करके प्रणवका उच्चारण करता है। वस्तुतः अनेक प्रकारसे षोडश संख्यायुक्त होनेके कारण इसका नाम षोडशी पड़ा है। इसकी दक्षिणा लोहित-पिंगल अश्व या मादा खच्चर होती है।[१]

अत्यग्निष्टोम

ज्योतिष्टोमकी सप्त संस्थाओंके अन्तर्गत यद्यपि अत्यग्निष्टोम यज्ञ परिगणित है, परन्तु वस्तुतः यह कोई स्वतंत्र यज्ञ नहीं है। 'अतिक्रान्तोऽग्निष्टोम' इस व्युत्पत्तिके आधारपर अग्निष्टोमका ही परिवर्धित रूप अत्यग्निष्टोम है। अग्निष्टोम स्तोत्र एवं शस्त्र शंसनके अनन्तर तीन उक्थ्य स्तोत्र एवं तीन शस्त्रका प्रचार करनेके उपरान्त जहाँ षोडशी स्तोत्र एवं षोडशी शस्त्रका प्रचार किया जाता है, वह अग्निष्टोम ही 'अत्यग्निष्टोम'-में परिणत हो जाता है अर्थात् संस्थान्तरको प्राप्त हो जाता है। यह यज्ञ भी अग्निष्टोमवत् त्रैवार्षिक कर्तृक् है। इस यज्ञमें केवल षोडशी स्तोत्र, षोडशी पात्र एवं इन्द्रके लिये एक अन्य पशु अग्निष्टोमसे अधिक होते हैं। अन्य सभी बातें अग्निष्टोमके समान ही होती हैं।

अतिरात्र

आश्वलायनके अनुसार अतिरात्र सोमयागकी सप्त संस्थाओंमें एक संस्था है।[२] अतिरात्र यज्ञका उल्लेख ऋग्वेदमें भी हुआ है।[३] तैत्तिरीय संहितामें भी यह स्पष्ट वर्णन है – 'एतद्वा अग्निष्टोमं प्रथममुपयातोक्थ्यम-षोडशिनमथातिरात्रमनुपूर्वम्।''[४] विष्णुपुराणके अनुसार अतिरात्र याग ब्रह्माके मुखसे उत्पन्न हुआ था; यथा –

---

१. ऐत०ब्रा० १६/१-४, आश्व०श्रौ०सू० ६/२-३, आप०श्रौ०सू० १४/२/३, सत्याषाढ श्रौत सूत्र ९/७, पृष्ठ ९५९-९६२
२. आश्व०श्रौ०सू० ६/११/१
३. ऋ०सं० ७/१०३/७
४. तैत्तिरीय संहिता ७/४/१०/९

सामानि जगतीच्छन्दः सप्तदशस्तोमं सप्तदश तथा।
वैरूपमतिरात्रश्च पश्चिमादसृजन् मुखात्॥[१]

'अतिक्रान्तो रात्रिम्' इस व्युत्पत्तिके आधारपर स्पष्ट होता है कि यह एकरात्र साध्य याग विशेष है। ऐतरेय ब्रह्मणमें अतिरात्रका इतिहास इस प्रकार दिया गया है – "देवों और असुरोंमें देवोंने दिनका तथा असुरोंने रात्रिका आश्रय लिया। तुल्य बल होनेके कारण उनमें पार्थक्य न हो सका। तब इन्द्रने देवोंसे कहा – "हे देवो! इन असुरोंको रात्रिसे निकालनेमें कौन मेरा सहायक होगा? परन्तु रात्रिके मृत्यु-सदृश अन्धकारसे भयभीत होकर कोई भी देव सहायक नहीं बना। तब असुरोंके निराकरणार्थ गायत्री आदि छन्दोंने इन्द्रका अनुगमन किया। इसीलिये अतिरात्र प्रयोगमें इन्द्र और छन्द ही रात्रि-प्रयोगके निर्वाहक होते हैं।

अतिरात्रमें इन्द्र-विषयक छन्दोंका ही शंसन होता है न तो निविद्, पुरोवाक् अथवा धाय्याका और न ही इन्द्रसे इतर किसी अन्य देवका शंसन किया जाता है।

रात्रिमें आश्रित इन असुरोंको पर्यायों अर्थात् चमसगणोंके क्रमानुष्ठानसे ही यज्ञ-भूमिसे घेर घेरकर निकाल दिया।[२] अतिरात्रमें द्वादश चमसगणोंके अनुष्ठानके लिये तीन पर्याय हैं। एक पर्यायमें चार चमसगण अनुष्ठित होते हैं। दश-दश घटिकाका एक एक भाग है, चार चमसगणका एक पर्याय होता है, इस प्रकार द्वादश चमसगणोंके तीन पर्याय हैं। उन पर्यायोंसे क्रमशः इन्द्र और छन्दोंने रात्रिभागोंसे असुरोंको निष्कासित कर दिया। प्रथम पर्याय-द्वारा रात्रिके पूर्वभागसे, मध्यम पर्याय-द्वारा मध्यम भागसे तृतीय पर्यायसे रात्रिके अन्तिम प्रहर से।"[३] अतिरात्रमें २९ स्तोत्र और २९ शस्त्र होते हैं।

आपस्तम्बके अनुसार प्रजा एवं पशु-प्राप्तिके अभिलाषीको अतिरात्र यज्ञका अनुष्ठान करना चाहिए।[४] अतिरात्र संस्थाक क्रतुका अनुष्ठान षोडशी यज्ञके उपरान्त किया जाता है। अतिरात्रमें जिस दिन सोमरस निकाला जाता

१. विष्णुपुराण १/५/५४
२. ऐतरेय ब्राह्मण ४/१६/५;
३. गो०ब्रा०उ०मा० ५/१, २, ३; आश्व०श्रौ०सू० ६/४/१०
४. 'अतिरात्रेण प्रजाकामः पशुकामो वा यजेत् - इति।'
— आपस्तम्बीय विधिसूत्रम् (१४/१/२)

हैं, उस दिन सरस्वती देवीके निमित्त एक मेषीकी बलि चढ़ा दी जाती है।[1] षोडशी ग्रहके प्रचारके अनन्तर दस होतृ चमसोंको लाकर रात्रिके प्रथम पर्यायमें प्रथम स्तोत्रका स्तवन किया जाता है। उसकी समाप्तिके पश्चात् होता प्रथम पर्यायमें प्रथम शस्त्रका पाठ करता है। उसकी समाप्तिपर अध्वर्यु-होतृ चमसको, आध्वर्यव चमसको और अन्य चमसोंको लेकर आहवनीयमें होम करके भक्षण-क्रमसे भक्षण करे। यहाँ होता ही मुख्य वषट्कर्त्ता है।

तदनन्तर मैत्रावरुण चमसको आगे तथा अन्य चमसोंको ऊपर उठाकर द्वितीय स्तोत्रसे स्तुति करता है। मैत्रावरुण-द्वारा शस्त्र-शंसन कर लेनेपर अध्वर्यु आदि होम करके भक्षण करते हैं। इन गणद्वयका कर्त्ता अध्वर्यु होता है। तब गणद्वयको प्रतिप्रस्थाता करता है। अध्वर्यु-द्वारा जो कृत्य किया जाना विहित है वह प्रतिप्रस्थाताको करना पड़ता है। इसके उपरान्त ब्राह्मणाच्छंसी चमस-मुख्यका प्रचार करता है। इसमें जिस ऋत्विजका चमस मुख्य होता है वहीं वहाँ वषट्कर्त्ता होता है। इसप्रकार यह प्रथम पर्याय है। इसीके सदृश अन्य पर्याय द्वयकी भी पुनरावृत्ति की जाती है। इस प्रकार एक पर्यायमें चार स्तोत्र तथा चार शस्त्र होते हैं। अतः तीनों पर्यायोंमें मिलकर बारह शस्त्र और बारह स्तोत्र होते हैं। ये तीनों पर्याय रात्रि-पर्याय कहे जाते हैं। रात्रिमें स्तूयमान होनेके कारण संज्ञा रात्रि पर्याय है। अतिरात्रमें सभी चमसगणोंके देवता इन्द्र ही हैं। रात्रिमें प्रमुख चमस अविशर्वर इन्द्रको दिए जाते हैं।

इस प्रकार पर्यायोंके समाप्त होनेपर प्रतिप्रस्थाता अश्विदेवताक् द्विक्पाल पुरोडाशको व्रीहि आनयन, प्रोक्षण, अवहनन, पोषण आदि पूर्वक वेदीपर स्थापित करता है। तब अध्वर्यु होतृ-चमस मुख्य चमसोंको ऊपर लाकर सन्धि-स्तोत्रका पाठ आरम्भ करता है। उसके समाप्त होनेपर होता अश्विन् शस्त्रका प्रारम्भ करता है जो सूर्योदय-कालतक चलता रहता है। इस अवधिमें कमसे कम एक सहस्र मन्त्रोंका पाठ कर लिया जाता है। यदि सूर्यका उदय तबतक न हुआ हो तो होता ऋग्वेद सूक्त[2]-का पाठ करता रहता है। सूर्यका उदय हो जानेपर यह सौरी ऋचाएँ[3] कहता है। सूर्योदयके अनन्तर शस्त्रके

---

१. शत०ब्रा० ९/७ पृष्ठ ९६३ अतिरात्र यज्ञमें वपाकर्म नहीं होता। अतः मेषी बन्धन प्रतीक मात्र है।

२. ऋग्वेद संहिता १/११२

३. वहीं १०/१५८; १/५०/१-९; १/१५; १०/३७

समाप्त हो जानेपर अध्वर्यु होतृ चमसको, आध्वर्य व चमसोंको और अन्य चमसोंका आश्रवण आदिके अनन्तर होम करता है। इसी समय प्रतिप्रस्थाता पूर्व सम्पादित आश्विन् पुरोडाशका होम करता है। यहाँ पुरोडाश तथा सभी चमसोंके देवता आश्विन हैं। एक प्याली-भर सोमरस भी आश्विन देवताके लिये दिया जाता है।

समग्र पुरोडाशका होम करके चमसका भक्षण किया जाता है। अवशिष्ट सभी अन्य क्रियाएँ प्रकृतिवत् समाप्त करके अवभृथ स्नान किया जाता है। अवभृथ स्नानके उपरान्त उदयनीयेष्टिका अनुष्ठान किया जाता है।

आप्तोर्याम

आप्तोर्याम यज्ञ भी सोमयागकी ही एक संस्था है। आश्वलायनके मतसे यह यज्ञ उन्हीं लोगों-द्वारा अनुष्ठित होता है, जिनके पशु जीवित नहीं रहते या अच्छी जातिके पशुके अभिकांक्षी होते हैं।[१] गोपथब्राह्मणमें आप्तोर्याम यज्ञका इतिहास इस प्रकार दिया गया है। पूर्वकालमें कभी प्रजापतिने पशुओंकी सृष्टि की। वें सृष्ट पशु प्रजापतिसे पराङ्मुख होकर दूर चले गए, पास नहीं लौटे। तब प्रजापतिने उन पशुओंको एक स्तोमसे ग्रहण करना चाहता परन्तु वे और आगे चले गए। फिर दो स्तोमसे प्राप्त करना चाहा परन्तु सफल नहीं हुए, अतः अन्तमें 'सर्वस्तोम'-से ग्रहण किया। प्रजापतिने पहले एक 'पृष्ठ' नामवाले स्तोत्रसे, फिर दो पृष्ठ स्तोत्रसे प्राप्त करना चाहा लेकिन असफल रहनेपर अन्तमें सब पृष्ठोंसे उन पराङ्मुख पशुओंको प्राप्त किया। इसीलिये यह आप्तोर्याम यज्ञ सर्वस्पृष्ट अर्थात् सर्वपृष्ठोंवाला यज्ञ है। प्रजापतिने वारवत्तीय स्तोत्र (रोकनेके कार्यमें उपर्युक्त स्तोत्र)-से उनको रोका इसीलिये वे आप्तोर्याम हैं।

'आप्तो प्राप्तः यामो यज्ञः इति आप्तोर्यामः' अर्थात् जिस क्रतु-द्वारा प्रजापतिने विमुख पशुओंको प्राप्त किया, वह आप्तोर्याम है।[२]

आप्तोर्याम यज्ञ अतिरात्रके सदृश है और ऐसा प्रतीत होता है कि यह उसीका विस्तार मात्र है। अतिरात्र संस्थावत् रात्रि स्तोत्र और सन्धि-स्तोत्रका यथावत् अनुष्ठान करके तदनन्तर चार स्तोत्र अधिकतया जहाँ अनुष्ठित किए जाते हैं, वही यज्ञ आप्तोर्याम संस्थाके नामसे व्यवहृत होता है। इस प्रकार सन्धि स्तोत्रान्त २९ स्तोत्रोंका अनुष्ठान करके तदनन्तर चार स्तोत्र और

---

१. आश्व०श्रौ०सू० ९/११/१

२. गो०ब्रा०उ०मा० ५/९

उसके लिये चार चमसगण भी अनुष्ठेय हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर ३३ स्तोत्र होते हैं।

चार अतिरिक्त शस्त्रका पाठ होता एवं उसके सहायकों-द्वारा किया जाता है। कुछ सूत्रकारोंके मतसे अग्नि, इन्द्र, विश्वेदेव एवं विष्णुके लिये क्रमसे एक एक अर्थात् कुल मिलाकर चार चमस (सोमरसकी आहुति देनेवाला एक प्रकारका पात्र) होते हैं।[1]

आप्तोर्याम यज्ञकी दक्षिणा सहस्रों गायें होती हैं। होताको गदहियों-द्वारा खींचा जानेवाला रजतजटित रथ दक्षिणा-स्वरूप प्राप्त होता है। बहुधा यह यज्ञ अन्य यज्ञोंके साथ ही अनुष्ठित होता है। ताण्ड्य ब्राह्मणके अनुसार (प्राप्त-'आप्' प्राप्तार्थक धातुसे निर्मित शब्द) इस यज्ञसे याजक अभिकांक्षित वस्तको प्राप्त करते हैं इसीलिये उनका नाम आप्तोर्याम पड़ा है।[2]

वाजपेय

'वाजपेय शब्द'-के कई अर्थ उपलब्ध होते हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मणका कथन है – 'वाजप्यो वा एषः। वाजं ह्येतेन देवा ऐप्सन्। सोमो वै वाजपेयः। अन्नं वै वाजपेयः।''[3] शांखायनके मतानुसार – 'पानं वै पेयः। अन्नं वाजः पानं वै पूर्वमन्यान्नम्। तयोरुभयोराप्त्यै।'[4] इस प्रकार वाजपेय शब्दका शाब्दिक अर्थ – 'भोजन एवं पेय या शक्तिका पान' प्रतीत होता है।

वाजपेय यज्ञ भी सोमयागकी एक संस्था है क्योंकि इस यज्ञमें भी सोमरसका पान होता है अतः इसके सम्पादनमें अन्न, शक्ति व ब्रह्मवर्चस्की प्राप्ति होती है। वाजपेय संस्थामें प्रातः सवन और माध्यन्दिन सवनमें अग्निष्टोमवत् ही सभी क्रियाएँ सम्पन्न होती हैं। तृतीय सवनमें भी षोडशी ग्रह स्तोत्रके अन्ततक षोडशीवत् ही है। इसके अनन्तर वाजपेय संज्ञक एक स्तोत्रका अनुष्ठान होता है। वाजपेय यज्ञमें होतृ चमस मुख्य है। सवनीय पशुकालमें प्राजापत्य पशुओंके साथ कृतु पशुओंको भी पंच उपाकरण,

---

१. आप०श्रौ०सू० १४/४/१२-१६; सत्याषाढ श्रौ०सू० ९/७ पृ० ९६६-९६७; शांखायन श्रौ०सू० १५/५/१४-१८ एवं सत्याषाढ श्रौ०सू० १०/४, पृ० ११११
२. ताण्ड्य ब्राह्मण २०/३/४-५
३. तैत्तिरीय ब्राह्मण १/४२
४. शांखायन श्रौत सूत्र १५/१/४-६

पर्याग्निकरणान्त करके प्रथमतः चार कृतु पशुओंका उपाकरण वपान्त करके, रुककर ब्रह्म सामकालमें अविशिष्ट पशुओंसे प्रचार किया जाता है। तदनन्तर सप्तदश शराब परिमित नैवार चरुको निरूपण करके उससे प्रचार किया जाता हैं। अन्य सभी क्रियाएँ प्रकृतिवत् ही हैं। किन्तु इस यज्ञकी कुछ अपनी विशेषताएँ भी हैं।

वाजपेय यज्ञमें सत्रहकी संख्याको प्रमुखता प्राप्त है। इसमें स्तोत्रों एवं शस्त्रोंकी संख्या सत्रह है। प्रजापतिके लिये सत्रह पशुओंकी बलि दी जाती है। दक्षिणामें ऋत्विकोंके लिये सत्रह रथ, अश्व, गज, शकट, दासी, निष्क, गौ, अजा, दुन्दुभि आदि दी जाती है। यूप सत्रह अरत्नि प्रमाण लम्बा होता है। यूप परिधान भी सत्रह टुकड़ेवाला होता है। यह यज्ञ सत्रह दिन (तेरह दिनोंतक दीक्षा तीन दिन तक उपसद तथा एक दिन सोमरस निकालना) चलता रहता है।[१]

इस यज्ञमें प्रजापतिके लिये सत्र शराबमें सुरा भरी रहती है। आजकल याज्ञिक जन सुराग्रहके स्थानपर पयोग्रहसे प्रचार करते हैं। इसी प्रकार सत्रह शरावमें सोमरस भी रखा जाता है। सत्रह रथ इस यज्ञमें प्रयुक्त होते हैं, जिनमें अश्व जोतकर दौड़ की जाती है। वेदी की उत्तरी श्रोणीपर सत्रह ढोलकें रखी जाती हैं, जो साथ ही बजाई जाती हैं।[२] इस जटिल यज्ञका अनुष्ठान आधिपत्य[३] या समृद्धि[४], स्वराज्य (ऐन्द्रपद अथवा निर्विरोध राज्य)-का अभिलाषी व्यक्ति करता है। शरदृतुमें यह यज्ञ सम्पादित होता है। इसके सम्पादनके अधिकारी केवल ब्राह्मण तथा क्षत्रिय हैं, वैश्य नहीं।[५] सुत्याके दिन सभी ऋत्विज् एवं यजमान तथा यजमानकी पत्नी स्वर्णमाला धारण करते हैं। ऋत्विजोंकी मालाएँ उनकी दक्षिणा हो जाती हैं। इस यज्ञमें अग्नि, इन्द्र एवं इन्द्राग्निके लिये जो पशु बलि दिए जाते हैं, उनके अतिरिक्त मरुद्गणोंके लिये एक बन्ध्या गाय,

---

१. द्रष्टव्य – आप०श्रौ०सू० १८/१५/५; ताण्डय ब्रा० १८/७/५, आप०श्रौ०सू० १८/१/१२; आश्व०श्रौ०सू० ९/९/२-३ आदि।
२. आप०श्रौ०सू० १८/४/४ एवं ७; कात्यायन श्रौ०सू० १४/३/१४
३. आश्व०श्रौ०सू० ९/९/१
४. आप०श्रौ०सू० १८/१/१
५. तैत्तिरीय ब्राह्मण १/३/२, लाट्यायन श्रौ०सू० ८/११/१; कात्या०श्रौ०सू० १४/१/१ एवं आप०श्रौ०सू० १८/१/१

सरस्वतीके लिये एक भेड़ तथा प्रजापतिके लिये शृंगविहीन, एक रंगवाली या काली, तरुण एवं पुष्ट सत्रह बकरियाँ बलि-स्वरूप दी जाती हैं।[१]

प्रतिप्रस्थाता हविर्धानके दक्षिणी धुरेके पश्चिम पार्श्वमें एक उच्चस्थल (खर)-का निर्माण करता है, जिसपर विभिन्न काष्ठ ओषधियोंसे निर्मित परिस्रुत (आसव)-के सत्रह शराव रखे जाते हैं। सोमपात्र शकटके धुरेके पूर्वमें तथा परिस्रुत पात्र पश्चिममें एक-दूसरेसे पृथक् पृथक् रख दिए जाते हैं। कात्यायनके मतसे नेष्टा नामक ऋत्विज् ही खर एवं आसव पात्रोंका निर्माण करता है। आसव पात्रके मध्यमें एक सोनेके पात्रमें मधु रखा जाता है।[२]

मध्याह्नकालीन सोमरस निकालते समय रथोंकी दौड़ कराई जाती है।[३] तैत्तिरीय ब्राह्मणने भी उस दौड़की ओर संकेत किया है, जिसमें बृहस्पति विजयी हुए थे। तैत्तिरीय ब्राह्मणमें उस दौड़को वाजपेय यज्ञसे सम्बन्धित माना है।[४] आहवनीय अग्निके पूर्वमें सत्रह रथ इस प्रकार स्थापित किए जाते हैं कि उनके जुए उत्तर या पूर्वमें रहते हैं। यजमानके रथमें तीन अश्व मन्त्रपाठ पूर्वक जोते जाते हैं और चौथा अश्व तीसरे अश्वके साथ बिना जुते हुए ही दौड़ता है। इन अश्वोंको बृहस्पतिके निमित्त निर्मित नैवार चरु सुँघाया जाता है। अन्य सोलह रथोंमें वेदीके बाहर चार चार अश्व बिना मंत्रपाठ किए जोत दिए जाते हैं।[५] चात्वाल एवं उत्करके मध्य एक क्षत्रिय अथवा राजपुत्र एक तीर छोड़ता है, जिस स्थलपर वह तीर गिरता है, वहाँसे वह दूसरा तीर छोड़ता है। इसप्रकार यह क्रिया सत्रह बार की जाती है। जिस स्थलपर सत्रहवाँ तीर गिरता है, वहाँ उदुम्बरका एक स्तम्भ गाड़ दिया जाता है और उसी स्थलपर रथ-दौड़का कृत्य किया जाता है।[६] जिस समय रथोंकी दौड़ आरम्भ होती है तब ब्रह्मा सत्रह अरोंवाला एक चक्र रथकी धुरीमें लगाकर उसपर चढ़ता है, और कहता है – "सविता देवकी उत्तेजनापर मैं वाज (शक्ति, भोजन या दौड़)

---

१. आप०श्रौ०सू० १८/२/१२, १३; कात्या०श्रौ०सू० १४/२/११-१३
२. कात्यायन श्रौत सूत्र १४/१/१७ एवं २६
३. आप०श्रौ०सू० १८/३/३ एवं १२-१४
४. तैत्तिरीय ब्राह्मण १/३/२
५. कात्यायन श्रौत सूत्र १४/३/११
६. आप०श्रौ०सू० १८/३/१२; एवं कात्या०श्रौ०सू० १४/३/१-११ एवं २१, १५

जीत लूँ।''[१] अब चक्र बाँयींसे दाहिनी ओर तीन बार घुमाया जाता है, तब ब्रह्मा 'वाजि साम'[२]-का पाठ करता है।

ब्रह्मा इस मंत्रका गान करता है –

आविर्भर्या आ वाजं वाजिनो अग्मन्देवस्य सवितुः सवे।

स्वर्गा अर्वन्तो जयत॥

यह मंत्र ऋग्वेदमें अप्राप्त है। यदि ब्रह्मा इस मन्त्रका गान नहीं कर सकता, तो वह तीन बार पाठ करता है।[३]

यजमान उस रथपर बैठता है जिसपर मंत्रोच्चारण किया जाता है। अध्वर्यु या उसका शिष्य यजमानसे वैदिक मंत्रोंका पाठ करवाकर उसके साथ बैठ जाता है। अन्य लोग जिन्हें 'वाजस्तुत्' कहा जाता है, दौड़में सम्मिलित होनेके लिये शेष सोलह रथोंमें बैठ जाते हैं। सोलह रथोंकी पंक्तिके किसी एक रथमें एक क्षत्रिय या वैश्य बैठ जाता है। इस प्रकार रथ-दौड़ प्रारम्भ हो जाती है। इसी समय सत्रह ढोलकें भी बज उठतीं हैं। बृहस्पतिके लिये सत्रह पात्रोंमें पके हुए नैवार चरूको सभी अश्व सूँघ लेते हैं। सबसे आगे यजमानका रथ होता है। अध्वर्यु यजमानसे विजय-मंत्र अर्थात् 'अग्निरेकाक्षरेण'[४] का पाठ करवाता है।

लक्ष्यतक पहुँच जानेपर रथ उत्तरकी ओर जाकर, फिर घूमकर दक्षिणाभिमुख हो जाता है। सभी रथपर पुनः यज्ञस्थलपर लौट आते हैं और सभी अश्वोंको पुनः नैवार चरू सुँघाया जाता है। तदनन्तर 'दुन्दुभी विमोचनीय होम' होता है, अर्थात् ढोलक (दुन्दुभि) बजते समय होम किया जाता है। एक एक बेर (कृष्णल नामक एक प्रकारकी तोलके बराबर स्वर्ण-खण्ड), रथमें बैठनेवाले सभी लोगोंको दिया जाता है, जिसे वें पुनः लौटा देते हैं। इन बेरोंको ब्रह्मा ग्रहण करता है। इसी प्रकार चमसाध्वर्यु लोग भी अपने अपने पात्र उठाते हैं।

---

१. आप०श्रौ०सू० १८/४/८; कात्या०श्रौ०सू० १४/३/१३ वाज०सं० ९/१०

२. आप०श्रौ०सू० १८/४/११; आश्व०श्रौ०सू० ९/९/८ एवं लाट्यायन श्रौत सूत्र ५/१२/१४

३. आश्व०श्रौ०सू० ९/९/३

४. वाज०सं० ८/३१-३४; तैत्ति०सं० १/१/११

वाजपेय यज्ञके अनुष्ठानके उपरान्त यजमान क्षत्रियकी भाँति व्यवहार करता है अर्थात् वह अध्ययन कर सकता है या दान कर सकता है, किन्तु अध्यापन एवं दानग्रहण नहीं कर सकता। तत्पश्चात् वह अभिवादन करनेके लिये स्वयं खड़ा नहीं होता और न ऐसे मनुष्योंके साथ चारपाईपर बैठता है, जिन्होंने वाजपेय यज्ञका अनुष्ठान नहीं किया है।

अध्वर्यु यजमानवाले रथको तथा यूपमें बँधे हुए सत्रह परिधानोंको ले लेता है। वाजपेय यज्ञकी दक्षिणाके सम्बन्धमें भी सूत्रकारोंके विभिन्न मत हैं।[1] आश्वलायनके अनुसार – "दक्षिणाके रूपमें सत्रह सौ गायें, सत्रह रथ (अश्व सहित), सत्रह अश्व, पुरुषों-द्वारा आरोहण-योग्य सत्रह पशु, सत्रह बैल, सत्रह शकट, स्वर्णिम परिधानोंवाली झालरोंसे सज्जित सत्रह गज प्रदान किए जाते हैं। ये वस्तुएँ पुरोहितोंमें विभक्त की जाती हैं।[2]

वाजपेय यज्ञमें अनेक प्रतीकात्मक तत्त्व पाए जाते हैं। आश्वलायन[3]-का कथन है कि वाजपेय यज्ञके सम्पादनके उपरान्त राजाको राजसूय यज्ञ एवं ब्राह्मणको 'बृहस्पतिसव'[4]-का अनुष्ठान करना चाहिए।



---

१. द्रष्टव्य – आप०श्रौ०सू० १८/३-४; कात्या०श्रौ०सू० १४/२/२९-३३ एवं लाट्यायन श्रौत सूत्र ८/११/१६-२२

२. आश्व०श्रौ०सू० ९/९/१४-१७

३. वहीं ९/९/१९

४. जैमिनि ४/३/२९-३१ के मतसे बृहस्पतिसव वाजपेय का ही एक अंग है। तैत्तिरीय ब्राह्मण २/७/१, आपस्तम्ब २२/७/५ तथा आश्वलायन ९/५/३ के अनुसार बृहस्पतिसव एक प्रकारका सोमयज्ञ है जो आधिपत्यके अभिलाषी-द्वारा किया जाता है। आश्वलायन ९/५/३ ने ब्रह्मवर्चस (आध्यात्मिक महत्ता) के अभिलाषी व्यक्तिके लिये इसे अनुष्ठेय बताया है। तैत्तिरीय ब्राह्मण २/७/१ ने राजपुरोहित पदकी प्राप्ति हेतु इसे अनुष्ठेय बताया है।

व्याकरण

शिक्षाके बाद सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं आवश्यक वेदाङ्ग व्याकरण है। इसे वेद-रूपी पुरुषका मुख कहा गया है — 'मुखं व्याकरणं स्मृतम्'। 'वि' तथा 'आ' उपसर्गपूर्वक 'कृ' धातुसे ल्युट् प्रत्यय करनेपर निष्पन्न व्याकरण शब्दका सामान्य अर्थ है — शब्दोंका विश्लेषण। 'व्याक्रियन्ते (शब्दाः) अनेन अस्मिन् वा' अर्थात् जिसमें शब्दोंमें प्रकृति प्रत्ययका विवेचन होता है। व्याकरण-द्वारा ज्ञानपूर्वक शब्दोंका ठीक ठीक प्रयोग करते हुए व्यक्ति प्रशंसाका पात्र बनता है।

व्याकरणकी उत्पत्ति

याज्ञिक क्रिया सम्पादनके लिये मंत्रोंकी व्याख्या करना, शब्द, धातु और प्रत्यय आदिका विचार करना प्राचीन कालमें अति प्रयोजनीय हो गया था। भिन्न भिन्न शाखा-प्रवर्त्तक वेद-मंत्रार्थ विचार-कालमें शब्दादिके विचारमें प्रवृत्त होते थे। इसी उद्देश्यकी पूर्त्तिके लिये प्रातिशाख्यादिकी उत्पत्ति हुई। ऋग्वेद प्रातिशाख्यके चौदहवें अध्यायसे वैदिक व्याकरणके इतिहासका कुछ आभास मिलता है। इससे पूर्व श्रौत प्रमाणके द्वारा व्याकरणकी उपयोगिता प्रदर्शित की गई है। यजुर्वेद-कालमें व्याकरणकी न केवल अपूर्व उन्नति हुई, अपितु उसका व्याकरण नाम भी तभी पड़ा। इससे पहले यजुर्वेदसे ही उसका प्रमाण उद्धृत किया गया है। उसमें बताया गया है कि इन्द्र ही व्याकरण-शास्त्रके आदि-प्रवर्त्तक हैं। सारस्वत व्याकरणके भाष्यमें लिखा है —

इन्द्रादयोऽपि यस्यान्तं न ययुः शब्दवारिधेः।
प्रक्रियान्तस्य कृत्स्नस्य क्षमो वक्तुं नरः कथम्॥

वृहत्कथामंजरी और कथासरित्सागरमें लिखा है कि पाणिनिके व्याकरणके प्रचलनके बाद ही इन्द्रका व्याकरण विलुप्त हुआ।[1]

व्याकरणका कार्य है भाषाके नियमोंका प्रदर्शन। इसीलिये इसका दूसरा नाम शब्दानुशासन भी है। शब्दोंकी संख्या अनन्त है। अतः व्याकरण-शास्त्र भी अन्तहीन है। महाभाष्यकार पतंजलिने एक जनश्रुतिका उल्लेख किया है, जिसके अनुसार बृहस्पतिने इन्द्रको एक सहस्र दिव्य वर्षोंतक प्रतिपदोक्त शब्द पारायण कराया, फिर भी शब्द-समूहका अन्त नहीं हुआ।

वेद-मंत्रोंको अनादि माननेवाले विद्वानोंके अनुसार तो बीज-रूपसे व्याकरण भी अनादि और अपौरुषेय है। परन्तु वेद-मंत्रोंको ऋषि-रचित माननेवाले लोगोंके अनुसार व्याकरणका रचना-काल मंत्रोंकी रचनाके बाद ही आना चाहिए।

व्याकरण-शास्त्रकी परम्परा

भारतमें व्याकरण-शास्त्रकी एक सुदीर्घ परम्परा रही है। पाणिनिसे पूर्व 'आपिशलि', 'गार्ग्य', 'काश्यप', 'स्फोटायन', 'औदुम्बरायण', 'गालव', 'शाकटायन', 'शाकल्य', 'गौतम', 'चरक', 'भारद्वाज' और 'भृगु' आदि लगभग पचास आचार्योंका उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार पाणिनिके बाद भी कुछ वैयाकरण हुए हैं।

शाकटायनके थोड़े-से मुद्रित सूत्र उपलब्ध होते हैं। उन्हें बुन्देलखण्डकी ओर ग्रामोंके कुछ अर्द्धशिक्षित गुरु लोग अव्यवस्थित प्रकारसे बालकोंको रटाते आए हैं। शाकटायनका पहला मुद्रित सूत्र है — 'ॐ नमः सिद्धम्'। इस घोर कलिकालमें उसीका रूप अब 'ओंनामासीधम' हो गया है। प्रारम्भिक अवस्थामें खण्डिकोपाध्याय (खड़ियासे पढ़ानेवाला प्राथमिक शिक्षक) सब बालकोंको शुद्ध उच्चारणकी शिक्षा देता था। महाभाष्यमें स्पष्टतः उल्लेख मिलता है — 'उदात्तेकृते योऽनुदात्तः करोति खण्डिकोपाध्यायः तस्मै चपेटिकाम् ददाति।' अर्थात् जो छात्र उदात्तके स्थानपर अनुदात्त उच्चारण कर देता था, उसे खण्डिकोपाध्याय तड़ाक्से चपत लगा देता था। इसीलिये कहा गया है—

यद्यपि बहुनाधीषे तथापि पठ पुत्र व्याकरणम्।
स्वजनः श्वजनो माभूत्सकलं शकलं सकृच्छकृत्॥

अर्थात् बेटे! भले ही बहुत न भी पढ़ो पर व्याकरण अवश्य पढ़ो जिससे वार्त्तालापमें स्वजन (आत्मीय लोग)-को श्वजन (कुत्ते), सकल (सम्पूर्ण)-को शकल (टुकड़ा) और सकृत् (एक बार)-को शकृत् (गोबर, विष्ठा) न कह बैठो।

अव्याकरणमधीतम् भिन्न द्रोण्या तरंगिणी तरणम्।
भेषजमपथ्य सहितं त्रयमपि कृतं वरं न कृतम्॥

अर्थात् बिना व्याकरणके पढ़ना टूटी नावसे नदी पार करना और बिना पथ्य (परहेज)-के ओषधि लेना इन तीनों का करना या न करना बराबर है। प्राचीनतम व्याकरणका क्रम और विषयावली तो इस समय अज्ञात है , परन्तु गोपथ ब्राह्मणमें एक स्थानपर लिखा है —

"ओंकारः पृच्छामः, को धातुः , किं प्रातिपदिकम्, किं नामाख्यातम्, किं लिङ्गम्, किं वचनम्, का विभक्तिः, कः प्रत्ययः, कः स्वरः, उपसर्गोनिपातः किं वै व्याकरणम् , को विकारः, को विकारी, कति मात्राः, कतिः वर्णाः, कत्यक्षराः, कति पदाः, कः संयोगः, किं स्थानानुप्रदानकरणम्, शिक्षिकाः किम् उच्चारयन्ति, किं छन्दः, को वर्णः इति पूर्वप्रश्नाः।"

उपर्युक्त अवतरणमें धातु, प्रातिपदिक, नाम, लिङ्ग, वचन, विभक्ति, प्रत्यय, स्वर आदि व्याकरणके पारिभाषिक शब्द आए हैं और यह स्पष्टतः कहा गया है कि ये ओंकारके विषयमें पूर्व-पक्षके व्याकरण-सम्बन्धी प्रश्न हैं। शिक्षिकाः शब्द शुद्ध उच्चारणकी शिक्षा देनेवाले उपाध्यायके लिये प्रयुक्त हुआ है। गोपथब्राह्मणकी रचनासे पूर्व वेदका व्याकरण पूर्ण विकसित रूपमें विद्यमान था।

व्याकरणका प्रयोजन ही यह सिद्ध कर देता है कि व्याकरण वेदोंके समान ही प्राचीन है। व्याकरणके प्रयोजन पतंजलिने इस प्रकार बताए हैं — 'रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनम्।' अर्थात् वेदकी रक्षा, वेदार्थको स्पष्ट करना, शब्दोंका ज्ञान, सन्देहका निवारण, अशुद्ध शब्दोंका परित्याग, यज्ञादि कर्मोंमें शुद्ध शब्दोंका व्यवहार, योग्य ऋत्विज बनना, सन्तानका उचित नामकरण और सत्यासत्यका निर्णय करना। व्याकरणके ज्ञानकेअभाव में मंत्रपाठ निष्फल होता है। यथा —

यदधीतमविज्ञातं निगदनैव शब्दते।
अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित्॥

व्याकरणके महत्त्वको ध्यानमें रखकर ही उपनयन-संस्कारके बाद ब्रह्मचारी बालकोंको व्याकरणका ज्ञान कराना प्रारम्भ कर दिया जाता था।

इस समय उपलब्ध व्याकरण-ग्रन्थोंमें पाणिनि मुनि-द्वारा रचित ग्रन्थ 'अष्टाध्यायी'-का सर्वोपरि स्थान है।

पाणिनिका संक्षिप्त परिचय

पाणिनिके समयके विषयमें अनेक मत हैं, किन्तु सर्वसम्मत मत यह है कि पाणिनिने लगभग ४४० और ४३० ई०पू० के बीच अपनी 'अष्टाध्यायी'-की रचना की। अतः, उनका जन्म ४८० ई०पू० के लगभग हुआ होगा। कहा जाता है कि एक सिंहने उन्हें मार डाला था – सिंहो व्यारणस्य कर्तुरहरत्प्राणान् प्रियान् पाणिनेः। (पञ्चतंत्र)

त्रिकाण्डकोशमें पाणिनिके छह नाम पाए जाते हैं – पाणिनि, आहिक, दाक्षीपुत्र, शालङ्कि, पाणिन और शालातुरीय। इनकी माताका नाम दाक्षी और पिताका नाम शलङ्कु या शलङ्क था। ये शलातुर ग्रामके निवासी थे, इसीलिये शालातुरीय कहलाते थें। यह शलातुर ग्राम रावलपिण्डीसे आगे पश्चिमोत्तर सीमा-प्रान्तमें अटक स्टेशनसे लगभग १५ किलोमीटरकी दूरीपर स्थित था।

अष्टाध्यार्यीमें आठ अध्याय हैं। इसमें केवल ३९९६ सूत्रोंमें ही वैदिक एवं संस्कृत भाषा-सम्बन्धी सब नियम दे दिए गए हैं। अष्टाध्यायीके प्रथम अध्याय-में संज्ञाएँ तथा परिभाषाएँ दी गई हैं। द्वितीय अध्यायमें समास तथा कारकके नियम हैं। तृतीय अध्यायमें धातुओंसे होनेवाले प्रत्यय, चतुर्थ एवं पञ्चम अध्यायमें प्रातिपदिकोंसे होनेवाले प्रत्यय दिए गए हैं। षष्ठ एवं सप्तम अध्यायमें वैदिक भाषामें प्रयुक्त स्वरों तथा शब्दोंमें होनेवाले ध्वनि (वर्ण)-विकारोंका तथा अन्तिम अष्टम अध्यायमें पदोंका विवेचन हुआ है। अष्टाध्यायीके अन्तमें गणपाठ तथा धातु-पाठ नामसे दो परिशिष्ट भी जोड़े गए हैं।

अष्टाध्यार्यीके अतिरिक्त 'गुणादि सूत्र', 'लिङ्गानुशासन' और एक शिक्षा-ग्रन्थ 'पाणिनीय शिक्षा' भी पाणिनि की रचनाएँ मानी जाती हैं। पाणिनि अथवा अष्टाध्यायीकी प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हैं –

१. संक्षिप्तता : पाणिनीय व्याकरण अत्यन्त संक्षिप्त सूत्रोंमें रचित हैं। सूत्रोंमें एक भी शब्द तो क्या, एक वर्ण भी अनावश्यक प्रतीत नहीं होता। इसीलिये कात्यायन मुनिके वार्त्तिकोंको पतंजलिने स्वीकार नहीं किया। पतञ्जलिके अनुसार पाणिनिके सूत्रोंमें एक भी वर्ण अनर्थक नहीं है। पाणिनीय सूत्रोंके आधारपर ही वैयाकरणोंके सम्बन्धमें यह सूक्ति प्रचलित हो गई – 'अर्द्धमात्रालाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः' अर्थात् वैयाकरण आधी मात्राकी बचतको पुत्र-प्राप्ति जैसी प्रसन्नता मानते हैं।

२. प्रत्याहार-सूत्र : इनके प्रादुर्भाव सम्बन्धी कथाके आधारपर इन्हें

माहेश्वर-सूत्र भी कहा जाता है। प्रत्याहार-सूत्रोंकी संख्या चौदह है। इनमें संस्कृत-वर्णमालाको वैज्ञानिक रूपमें प्रस्तुत किया गया है। प्रथम चार सूत्रोंमें 'अच' अर्थात् स्वर हैं तथा शेष दस सूत्रोंमें 'हल्' अर्थात् व्यञ्जन वर्ण हैं। स्वरोंमें मूल तथा सन्धि-स्वरोंका क्रम है। व्यंजनोंमें पहले अन्तःस्थ रखे गए हैं क्योंकि ये स्वरों तथा व्यञ्जनोंकी मध्यस्थ ध्वनियाँ हैं। शेष व्यञ्जनोंमें भी घोष, अघोष, महाप्राण-अल्पप्राण तथा ऊष्मोंका क्रम है। इन सूत्रोंके आधारपर अच्, हल्, अश् आदि ४२ प्रत्याहार बनाए गए हैं। ये सूत्र इस प्रकार हैं —

(१) अइउण्, (२) ऋऌक्, (३) एओङ्, (४) ऐऔच्, (५) हयवरट्, (६) लण्, (७) ञमङणनम्, (८) झभञ्, (९) घढधष्, (१०) जबगडदश्, (११) खफछठथचटतव्, (१२) कपय्, (१३) शषसर्, (१४) हल्।

समास तथा कारक

पाणिनिने समासके छह भेद किए हैं — १. अव्ययीभाव, २. तत्पुरुष, ३. कर्मधारय, ४. द्विगु, ५. द्वंद्व और ६. बहुव्रीहि। समस्त पदोंमें समासकी भिन्नतासे अर्थमें भी परिवर्तन हो जाता है।

द्वन्द्वो द्विगुरपि चाहं मद्गेहे नित्यमव्ययीभावः।
तत्पुरुष कर्मधारय येनाहं स्यां बहुव्रीहिः॥

कारक

कारकोंके अनुसार ही पदोंमें विभक्तियोंका प्रयोग होता है तथा उसीके आधारपर वाक्यार्थ प्रकट होता है। कारक-भेदसे अर्थमें भी परिवर्तन हो जाता है। 'विप्राय वस्त्रं ददाति' — ब्राह्मणको वस्त्र देता है। (जिसे लौटाकर नहीं लिया जायगा) तथा 'रजकस्य वस्त्रं ददाति' — धोबीको वस्त्र देता है (धुलनेके पश्चात् वस्त्र लौटा लिया जायगा); इससे स्पष्ट होता है कि कारक-भेदसे अर्थ-भेद भी हो गया है।

शब्द-व्युत्पत्ति

पाणिनिने सभी शब्दोंको प्रकृति और प्रत्ययके योगसे व्युत्पन्न माना है। जिन शब्दोंमें प्रकृति-प्रत्ययका ज्ञान स्पष्ट नहीं है उनके लिये भी उणादि सूत्रोंकी रचना की है। उपसर्ग[१] तथा प्रत्ययके योगसे मूल शब्दके अर्थमें भी परिवर्तन हो जाता है।

१. प्र, परा, अप, सम्, अनु, अव, निस्, निर्, दुस्, दुर्, वि, आङ्, नि, अधि, अपि, अति, सु, उत, अभि, प्रति, परि, उप।

वर्ण-विकार (सन्धि)

पाणिनिने स्पष्ट किया है कि एक ध्वनिके तत्काल बाद दूसरी ध्वनिके उच्चारणके कारण शब्दोंमें आगम, लोप, विकार आदि अनेक ध्वनि-परिवर्तन होते हैं।

पद-विभाग

पाणिनिने निरुक्तकार यास्कके पद-विभाग – नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपातके स्थानपर केवल दो ही विभाग माने हैं –

१. सुबन्त – जिसमें संज्ञा, विशेषण, सर्वनाम आदिके साथ ही अव्यय शब्द भी सम्मिलित हैं, तथा २. तिङन्त – जिसमें सभी क्रियावाची पद हैं।

स्वराघात तथा बलाघात

अष्टाध्यायीके स्वर-प्रक्रिया प्रकरणमें भाषामें स्वराघात तथा बलाघातके महत्त्वको स्वीकार करते हुए तत्सम्बन्धी अनेक नियमोंकी स्थापना की गई है।

पाणिनीय व्याकरण की कुछ अन्य ज्ञातव्य बातें इस प्रकार हैं –

इत्संज्ञक

अष्टाध्यायीमें निम्न वर्णोंकी इत्संज्ञा की गई है – अन्तका हल्[१], उपदेशमें अनुनासिक[२], अच् (स्वर)[३], प्रत्ययके आदिमें आनेवाले चवर्ग, टवर्ग[४] तथा षकार[५], तद्धित भिन्न प्रत्ययोंके आदिमें आनेवाला लकार, शकार तथा कवर्ग[६], धातुके आदि ञि, टु, डु[७]। इत्संज्ञका लोप हो जाता है[८] किन्तु लोप हो जानेपर भी उसको उपलक्षण मानकर कुछ कार्य हो जाता है। जैसे – गर्गादिभ्यो यञ् (४।१।१०५) से गर्ग शब्दसे यञ् प्रत्यय होता है जिसमें ञ् इत्संज्ञक है।

---

१. हलन्त्यम् १।३।३
२. धातुसूत्रगणोणादि वाक्यलिङ्गानुशासनम्।
आगम प्रत्यादेशा उपदेशा प्रकीर्तिताः॥
३. उपदेशोऽजनुनासिक इत्। १।३।२।
४. चुटू। १।३।७
५. षः प्रत्ययस्य १।३।६
६. लशक्वतद्धिते। १।३।८
७. आदिर्ञिटुडवः १।३।५
८. तस्यलोपः १।३।९

अतः यञ् प्रत्ययके ञित होनेसे आदि अच्को वृद्धि होती है और 'गर्ग' शब्दका 'गार्ग्य' रूप बनता है। ये इत्संज्ञक अनुबन्ध कहलाते हैं। इनसे व्याकरणमें लाघवता आती है।

अधिकार

पाणिनिने कुछ ऐसे सूत्र बनाए हैं जिनसे यह ज्ञात होता है कि अमुक सूत्रसे अमुक सूत्रतक यह प्रत्यय होगा अथवा यह कार्य होगा। ये अधिकार-सूत्र कहे जाते हैं। जैसे – 'कारके' (१।४।२३) अथवा 'प्राग्दिशो विभक्ति' (५।३।१) आदि।

अनुवृत्ति

पाणिनिने लाघव हेतु एक (पूर्व) सूत्रमें कोई एक पद रख दिया और अग्रिम सूत्रोंमें उस सूत्रकी जहाँ आवश्यकता हुई, उसका पूर्व सूत्रसे लेकर अन्वय कर लिया। पूर्व-सूत्रोंसे अग्रिम सूत्रोंमें पदके इस अनुवर्तनको अनुवृत्ति कहते हैं। सामान्यतः एक सूत्रसे निकटवाले अग्रिम सूत्रमें ही यह अनुवृत्ति की जाती है। फिर क्रमशः आगे आनेवाले सूत्रोंमें भी की जाती है, किन्तु कभी कभी बीचके सूत्रोंमें किसी पदकी अनुवृत्ति नहीं होती तथा कई सूत्रोंके व्यवधानके बाद किसी सूत्रमें हो जाती है। उसे मण्डूक प्लुति या मण्डूक प्लुत्या अनुवृत्ति कहते हैं। जैसे – अभिनिविशश्च (१।४।४७)।

अपकर्ष

जहाँ आगेके सूत्रसे पूर्व सूत्रमें किसी पदको खींच लिया जाता है अर्थात् अन्वित किया जाता है, वहाँ अपकर्ष कहा जाता है। जैसे – राल्लोपः। (६।४।२१)

सन्धि-विषयक शब्द

१.एकादेश – जहाँ दो वर्णोंको मिलाकर एक रूप हो जाता है, वह एकादेश कहलाता है। जैसे – अ + इ = ए एकादेश होता है।

२. पररूप – जहाँ पूर्व तथा पर दोनों अक्षरोंको मिलाकर परवर्ण हो जाता है वहाँ पररूप कहलाता है। जैसे – प्र + एजते = प्रेजते।

३. पूर्वरूप – जहाँ पूर्व तथा पर वणकि मिलनेपर पूर्ववर्ण ही होता है, वहाँ पूर्वरूप कहलाता है। जैसे – हरे + अव = हरेऽव।

४. प्रकृति-भाव – जहाँ वर्णको प्राप्त होनेवाला कोई विकार नहीं होता, वह प्रकृति-भाव (यथावत्) कहलाता है। जैसे – मुनी + एतौ = मुनीएतौ।

कुछ प्रमुख संज्ञाएँ

१. अङ्ग — जिस धातु या प्रादिपदिकसे प्रत्ययका विधान किया जाय उसे अङ्ग कहते हैं। जैसे — कर्त्ता, यहाँ कृ (प्रकृति)-से तृच् प्रत्यय किया गया है। अतः कृ धातुकी अङ्ग[1] संज्ञा है।

२. प्रातिपदिक — धातु और प्रत्यय (प्रत्ययान्तों)-को छोड़कर सभी अर्थयुक्त शब्दोंकी प्रातिपदिक संज्ञा[2] होती है। प्रत्ययान्तोंमें भी कृदन्त तद्धितान्त तथा समस्त पदोंकी प्रातिपदिक संज्ञा होती है।[3] प्रातिपदिक संज्ञक शब्दसे सु आदि (सुप्) प्रत्यय लगते हैं।

३. पद — (अ) सुबन्त तथा तिङन्तकी पद संज्ञा होती है।[4] जैसे — राम+सु = रामः। यह सुबन्त है और पठ् + अ + ति = पठति। यह तिङन्त पद है। सु से लेकर सुप् तक के सातों विभक्तियोंके तीनों वचनोंके २१ प्रत्यय सुप् कहलाते हैं तथा ति से लेकर महिङ्-तक धातुसे लगनेवाले १८ प्रत्यय तिङ् कहलाते हैं। ये सुप् और तिङ् दोनों प्रत्याहार हैं।

(आ) सित् (जिसमें स्-की इत् संज्ञा हो) प्रत्यय परे होनेपर पूर्वकी पद संज्ञा होती है।[5]

(इ) सर्वनाम स्थान[6] के अतिरिक्त सु से लेकर कप् तकके प्रत्यय परे होनेपर पूर्वकी पद संज्ञा होती है।[7] पद संज्ञा हो जानेसे राजत्वम् = राजन् + त्व में न् का लोप होता है।

४. भ संज्ञा — (क) जिस प्रत्ययके आरम्भमें यकार या अच् (स्वर) होता है, उस प्रत्ययके परे रहनेपर पूर्वकी भ संज्ञा होती है, पद संज्ञा नहीं।[8]

---

१. यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम्। १।४।१३
२. अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् १।२।४५
३. कृत्तद्धितसमासाश्च। १।२।४५
४. सुप्तिङन्तं पदम्। १।४।१४
५. सिति च। १।१।१६
६. नपुंसक-भिन्न प्रथमा विभक्तिके तीन प्रत्यय सु, औ, जस् तथा द्वितीया विभक्तिके दो प्रत्यय (अम्, औट्) सर्वनाम स्थान कहलाते हैं (सुडनपुंसकस्य १।१।४३)
७. स्वादिष्वसर्वनामस्थाने। १।४।१७
८. यचि भम्। १।४।१८

(ख) मत्वर्थ प्रत्यय परे होनपर तकारान्त और सकारान्त शब्दकी भ संज्ञा होती है।[१]

५. विभाषा – प्रतिषेध तथा विकल्पकी विभाषा संज्ञा होती है। (नवेति विभाषा १।४।४४) विभाषाका अर्थ है किसी कार्यका विकल्पसे होना। 'वा' तथा 'अन्यतरस्याम्' शब्दोंका भी विभाषा शब्दके अर्थमें प्रयोग किया जाता है। विभाषा कई प्रकारकी होती है। जैसे – १. प्राप्त विभाषा – किसी नियमसे प्राप्त हुए कार्यका विकल्प। २. अप्राप्त विभाषा – किसी नियमसे अप्राप्त कार्यका विकल्पसे विधान। ३. उभयत्र विभाषा (प्राप्ताप्राप्त विभाषा) – कहीं प्राप्त तथा कहीं अप्राप्त विधिका विकल्प। ४. व्यवस्थित विभाषा – व्यवस्थासे विकल्प अर्थात् कहीं कार्य होना और कहीं न होना।

६. उपधा – धातु आदि वर्ण-समुदायमें अन्तिम वर्णसे पहलेवाले वर्णकी उपधा संज्ञा होती है। (अलोऽन्त्यात् पूर्व उपधा १।१।६५)। जैसे – पद् 'प् अ द्' धातुमें अन्तिम वर्ण द्-से पूर्व अ की उपधा संज्ञा होगी।

७. टि – किसी शब्दका अन्तिम स्वर-सहित आगेवाला अंश टि कहलाता है। (अचोऽन्त्यादि टि १।१।४) जैसे – राजन् में अन् टि संज्ञक है।

८. संयोग – जब व्यंजनों (हल्)-के बीचमें स्वर नहीं होते तो यह व्यञ्जनोंका संयोग कहलाता है (हलोऽनन्तराः संयोगः १।१।७)। जैसे अल्पमें ल् और प का संयोग है।

९. सम्प्रसारण – य्, व्, र्, ल् के स्थानपर होनेवाले इ, उ, ऋ, तथा ऌ की सम्प्रसारण संज्ञा होती है। (इग्यणः सम्प्रसारणम् १।१।४५)

१०. गुण – अ, ए तथा ओ की गुण संज्ञा होती है (अदेङ्गुणः १।१।२)।

११. वृद्धि – आ, ऐ तथा औ की वृद्धि संज्ञा होती है (वृद्धिरादैच् १।१।१)।

१२. लोप – प्राप्त हुए प्रत्ययादिका अपने स्थानपर दिखाई न देना लोप कहलाता है (अदर्शनं लोपः १।१।६०)। विविध स्थानोंपर प्रत्यय-लोपकी लुक्, श्लु तथा लुप् संज्ञा होती है (प्रत्ययस्य लुक् श्लु लुपः १।१।६१)। अर्थात् जिस संज्ञासे प्रत्ययका लोप कहा जाता है उसकी वही संज्ञा होती है।

१३. आदेश – किसी वर्ण आदिके स्थानपर दूसरा वर्ण आदि होना आदेश कहलाता है। जैसे – समासमें क्त्वा-के स्थानपर ल्यप् प्रत्यय होता है।

---

१. तसौ मत्वर्थे। १।४।१९

१४.आगम – प्रकृति या प्रत्ययके साथ किसी वर्णका मिलना आगम कहलाता है। ये आगम प्रायः तीन प्रकारके होते हैं – टित, कित तथा मित। जिसे टित आगम होता है, उसके आदिमें होता है, कित[1] अन्तमें तथा मित अन्त्य अचके परे होता है।[2]

आदेश तथा आगम प्राचीन संज्ञाएँ हैं। पाणिनिने इनके लिये कोई सूत्र नहीं बनाया।

शब्द-सिद्धिमें सहायक कुछ अन्य उपाय

१. योग-विभाग – यथोपलब्ध नियमोंसे कुछ प्रयोगोंमें कभी कभी किसी प्रत्यय आदिका विधान नहीं होता, ऐसी दशामें महाभाष्यकार पतंजलि आदिने सूत्रके दो अंश (योग-विभाग) करके शब्दोंकी सिद्धि दिखलाई है। यही योग-विभाग कहलाता है।

२. ज्ञापक – किसी नियमके अनुसार कभी कभी कोई शब्द सिद्ध नहीं होता किन्तु पाणिनि आदि आचार्योंके द्वारा किए हुए प्रयोगसे उसकी साधुता सिद्ध होती है। ये ज्ञापक सिद्ध प्रयोग होते हैं।

३. इष्टि – महाभाष्यकार पतंजलिने सूत्रादिसे प्रकट न होनेवाली कुछ बातोंको अभीष्ट माना है। वे भाष्येष्टि या इष्टिके नामसे प्रसिद्ध हैं।

पाणिनिके बाद व्याडि नामके एक वैयाकरण हुए हैं जिनके विषयमें नागेशभट्टने लिखा है कि संग्रहमें व्याडिके लिखे एक लाख श्लोकोंका एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है।

कात्यायन मुनिने पाणिनिके सूत्रोंपर वार्त्तिक लिखे हैं। इनमें पाणिनीय सूत्रोंकी स्वतंत्र समालोचना की गई है। उन्होंने पाणिनीय सूत्रोंमें प्रतीत होनेवाले दोषोंका परिहार कर उनमें संशोधन प्रस्तुत किया है।

पाणिनीय सूत्रोंपर पतंजलिने महाभाष्य लिखा है। इस ग्रन्थकी विचार-पद्धति और रचना-प्रणाली अत्यन्त सुन्दर और सरल है। इसमें व्याकरणके अत्यन्त कठिन विषयोंपर भी साधारण लौकिक उदाहरणोंकी सहायतासे व्याख्या की गई है। इसमें व्याकरणकी वैज्ञानिक व्याख्यामें काव्य-जैसी सुन्दरता और सरलता पाई जाती है। इसमें शब्द-शास्त्रपर शुद्ध वैज्ञानिक

---

१. आद्यन्तौ टकितौ १।१।४६

२. मिदचोऽन्त्यात्परः १।१।४७

विधिसे विचार किया गया है। इससे तत्कालीन आचार-व्यवहारका भी ज्ञान होता है। इस ग्रन्थकी भाषा बहुत प्राञ्जल है। पतंजलि मुनि पाणिनीय सूत्रोंपर छात्रोंको प्रतिदिन उपदेश देकर उनकी शंकाओंका समाधान भी करते थे। एक दिन जितना उपदेश होता था उसका नाम आह्निक रखा गया है। महाभाष्यके अध्ययन बिना कोई भी पाणिनीय अष्टाध्यायीका सम्पूर्ण अध्येता नहीं कहला सकता।

काशिका

मुनि-त्रयके उपरान्त महत्त्वकी दृष्टिसे काशिकाका प्रमुख स्थान है। यह लेखक-द्वय – जयादित्य और वामन-रचित है। इसमें अष्टाध्यायीके सूत्रोंको वृत्ति और उदाहरणों-द्वारा स्पष्ट किया गया है।

कौमुदी ग्रन्थ

इन ग्रन्थोंमें संस्कृत-भाषाका वर्णनात्मक पक्ष प्रस्तुत किया गया है। इन ग्रन्थोंका आधार अष्टाध्यायी ही है तथापि सूत्रोंका क्रम तदनुसार न होकर प्रकरणके अनुसार रखा गया है। इनमें प्रकरणोंके शीर्षक – संज्ञा, सन्धि, सुबन्त, स्त्री-प्रत्यय, कारक, समास, तद्धित, तिङन्त तथा कृदन्त आदि रखे गए हैं।

कौमुदी ग्रन्थोंमें भट्टोजि दीक्षित रचित सिद्धान्तकौमुदी, वरदराजकृत लघुसिद्धान्तकौमुदी तथा मध्य सिद्धान्तकौमुदी प्रसिद्ध हैं। विमल सरस्वतीकृत रूपमाला भी विषयकी दृष्टिसे कौमुदी-ग्रन्थोंके समान ही है।

व्याकरणके समुचित ज्ञानके अभावमें कहीं कहीं बहुत अशुद्धि हो गई हैं जिनका परिहार करनेका प्रयास भी नहीं किया गया। ऋग्वेदकी एक ऋचामें नपुसंकलिंग, पदानिके स्थानपर पदा पुल्लिग रूपका प्रयोग हुआ है जो अशुद्ध है।

त्रीणि पदा वि चक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः। अतो धर्माणि धारयन्॥

(ऋग्वेद १।२२।१८, सामवेद १६७०, अथर्व० ७।२६।५, तै०ब्रा० २।४।६।१, वा.य. ३४।४३)।

उपर्युक्त मंत्रमें शुद्ध रूप त्रीणि पदानि चक्रमे विष्णुर्गोपिभ्यो भू अदात्। अतो धर्माणि धारयन्॥ होना चाहिए। कहा जाता है कि तिरुअनन्तपुरम् तथा तंजावुरकी लाइब्रेरीमें ग्रन्थ-लिपिमें ताड़पत्रपर लिखे मंत्रोंमें इस मंत्रका यह रूप दिया हुआ है किन्तु इसका कोई प्रामाणिक आधार नहीं है। हो सकता है

कि छन्दकी पूर्त्तिके लिये ऐसा कर दिया गया हो।

इसी प्रकार—

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्।
समूढमस्य पाꣳसुरे॥ (यजु० ५।१५)

इस मंत्रमें भी 'त्रेधा'-के स्थानपर 'त्रिधा' होना चाहिए।

ॐ भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो योनः प्रचोदयात्॥

गायत्री मंत्रका पाठ ओष्ठ बन्द करके उपांशु करना चाहिए लेकिन आजकल लोग इसका पाठ लाउडस्पीकर पर उदात्त, अनुदात्त, स्वरित के ज्ञानके बिना करते हैं। यहाँतक कि किसीके मरनेपर अशौचमें भी आत्माकी शान्तिके लिये गायत्री मंत्रका पाठ कराते हैं जो अत्यन्त अशुद्ध एवं हानिकर है। इससे लाभके स्थानपर हानिकी ही सम्भावना रहती है।

ऐसे ही पुत्राः, हस्ताः, धीराः, देवाः के बदले पुत्रासः, हस्तासः, धीरासः, देवासः रूप मिलते हैं। अकारान्त पुल्लिग शब्दके तृतीया बहुवचनमें कर्णैः के बदले कर्णेभिः रूप मिलता है।

उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते।
प्रत्याहार संहार विहार परिहारवत्॥

वेदमें कहीं उपसर्ग दूर रहता है और क्रिया कहीं रहती है। जैसे—'आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु।' इस मंत्रमें आ उपसर्गका अन्वय यन्तुसे होता है।

वैदिक व्याकरणके पठन-पाठनके अभावमें ऐसे बहुतसे मंत्र और ऋचाएँ हैं जिनमें इस प्रकारके बहुतसे प्रमाद आ गए हैं किन्तु अपौरुषेय होनेके कारण किसीका न तो साहस हुआ कि उसे शुद्ध करें और न किसीने उसपर ध्यान ही दिया। जैसा सुनते आए या पदानि-का पदा क्यों हो गया, इसपर किसीने ध्यान नहीं दिया क्योंकि वेदाङ्ग पढ़नेकी परम्परा बहुत पहले लुप्त हो चुकी थी। अब केवल संहिता-पाठ किया जाता है और उसके लिये भी कभी कभी योग्य गुरु नहीं मिल पाते जिन्होंने परम्परागत गुरु-शिष्य प्रणालीसे वेदका अध्ययन किया हो। आजकल कतिपय वर्णोंके उच्चारण विभिन्न देशोंमें विभिन्न प्रकारसे पाए जाते हैं। जैसे—यज्ञ शब्दका उच्चारण काशी-जैसे स्थानमें भी 'जग्य' होता है। यही उच्चारण बिहारमें भी चलता है। गुजरातमें यज्ञका

उच्चारण 'यग्र' होता है। महाराष्ट्रमें 'यजन्य' होता है। इसलिये उनके शिष्य वैसा ही अशुद्ध उच्चारण करते हैं। यद्यपि उसके लिये सूत्र है – ज्ञोर्ज्ञः – ज् और ञ के संयोगसे ज्ञ बनता है। अतः 'ज्ञ'-का उच्चारण 'ज्यँ'-के समान होना चाहिए। बंगालमें 'यज्ञ' शब्दका उच्चारण 'जग्गो' करते हैं। बंगालका अशुद्ध उच्चारण तो प्रसिद्ध ही है। एक कथा आती है – एक बार सरस्वतीजीने ब्रह्माजीसे जाकर कहा –

ब्रह्मन् विज्ञापयामि त्वां सर्वाधिकार जिहासया।
गौडस्त्यजतु वा गाथां अन्या वा तु सरस्वती॥

अर्थात् हे ब्रह्मन् ! या तो बंगाली लोग संस्कृत बोलना छोड़ दें या कोई दूसरी सरस्वती बना लें।

दक्षिणमें तैत्तिरीय संहितावाले अर्थात् कृष्णयजुर्वेदीय लोग शुद्ध उच्चारण करते हैं किन्तु वहाँ भी वेदाङ्गका अध्ययन-अध्यापन न होनेसे सब मंत्रकण्टकी ही हैं। अतः व्याकरणका ज्ञान अन्य वेदाङ्गोंके साथ पूर्णतः करना अत्यन्त अपरिहार्य है।



निरुक्त

निरुक्त तीसरा वेदाङ्ग है। इसे वेदपुरुषका श्रोत्र कहा गया है — 'निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते।' निरुक्तका शाब्दिक अर्थ है — व्युत्पत्ति या निर्वचन। इसमें शब्दोंके अर्थ-तत्त्व तथा सम्बन्ध-तत्त्वपर विचार करते हुए यह निश्चय किया जाता है कि किसी शब्दका कोई अर्थ क्यों है ?

मनुष्य जब किसी विशेष भावको, किसी विशेष शब्द-द्वारा व्यक्त करता है तो उसके मूलमें कोई कारण अवश्य होता है। उस कारणको खोजना ही, उस शब्दका निर्वचन या निरुक्ति कहलाती है और इससे सम्बन्धित शास्त्रको ही 'निरुक्त' कहा जाता है।

निरुक्तका प्राचीन लक्षण इस प्रकार है —

वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ।
धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तं ॥

निरुक्त पञ्चाध्यायात्मक है — (१) अध्ययन-विधि, (२) छन्दः प्रविभाग, (३) छन्द विनियोग, (४) उपलक्षित कर्मानुकूल भूतकाल और (५) उपदर्शित लक्षण। इन सब अङ्गोंसे वेदार्थका ज्ञान होता है। मन्त्रोंमें अर्थ ही सर्वप्रमुख है। अर्थज्ञानके अभावमें वेदोंके पाठ मात्रसे सन्तुष्ट रहनेवाले ब्राह्मणकी निन्दा करते हुए यास्कने कहा है —

यद् गृहीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते।
अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित् ॥

(निरुक्त, अध्याय १, पाद ६)

अर्थात् जिस प्रकार ईंधन भी अग्निके बिना नहीं जल पाता, उसी प्रकार केवल वर्णोंसे उच्चारण करने मात्रसे वेदपाठ ज्ञानप्रद नहीं हो सकता। अर्थज्ञान-विहीन ब्राह्मण यास्कने ठूँठके समान बताया है —

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।
योऽर्थम् इत् सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञान-विधूतपाम्पा॥

(निरुक्त, १।६)

अर्थात् अर्थज्ञान-विहीन वेदपाठी ब्राह्मण केवल भार ढोता है। जो अर्थ-ज्ञानपूर्वक वेदाध्ययन करता है वह दोनों लोकोंमें कल्याणका भागी होता है।

वेदोंके शब्दार्थके ज्ञानके लिये निरुक्त ही प्रमाण है। निरुक्तमें निम्नलिखित विषयोंका प्रतिपादन है—

नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात-लक्षण, भाव विकार-लक्षण, नाम आख्यातज समस्त नाम यथाक्रम प्रस्तुत करके पक्ष और प्रतिपक्ष रूपसे विचार करके निश्चित करना, पद विभाग-परिज्ञान, प्रतिज्ञानुबोधपर अवलम्बित प्रदर्शनके लिये आदि, मध्य, अन्त और अनेक दैवत लिङ्ग सङ्कर मन्त्रमें याज्ञिक प्रज्ञान-द्वरा देवता-परिज्ञान-प्रतिज्ञा, अर्थज्ञ प्रशंसा, अनर्थज्ञावधारण, वेद-वेदाङ्ग-व्यूह, सप्रयोजन निघण्टु, समाम्नाय-विरचन, प्रकरणत्रय विभाग द्वारा नैघण्टुक-प्रधान देवताभिधान, प्रविभाग-लक्षण, निर्वचन-लक्षण द्वारा शब्द, वृत्तिविषयोपदेश, अर्थ-प्राधान्यानुसार लोप, उपधा, विकार, वर्णलोप और वर्णविपर्यय, इन सब उपदेशोंके द्वारा सामर्थ्य-प्रदर्शनके लिये आदि, मध्य और अन्तका लोप और उपधा विकार, वर्णलोप-विपर्यय, आद्यन्त वर्ण व्यापत्ति और वर्णोपजनन, उदाहरण-चिन्ता, अन्तःस्थ और अन्तः धातु-निमित्त सम्प्रसार्य और असम्प्रसार्य उभय-प्रकृति धातु, निर्वचनोपदेश, भाषिक प्रवृत्तिमें नैगम शब्दार्थ, प्रसिद्ध देश-व्यवस्था द्वारा शब्द-संख्या, संदिग्ध और उदाहरण-द्वारा नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपातके विभागके अनुसार नैघण्टु प्रकरणका अनुक्रम, अनेकार्थ शब्दोंके अनवगत संस्कारोंका अनुक्रमण, परोक्षकृत आध्यात्मिक मन्त्र लक्षण, स्तुति, आशीर्वाद, शपथ, अभिशाप, अभिख्या, परिदेवना, निन्दा और प्रशंसा आदि-द्वारा मन्त्राभिव्यक्ति हेतु उपदेश। निदान, परिज्ञान, व्याख्यान-हेतु अनादिष्ट, देवतोपपरीक्षणके लिये अध्यात्मोपदेशमें प्रकृतिका मूलतत्त्व। इतरेतर जन्मत्व। स्थानत्रय-भेदमें तीनोंकी एक अवस्था। देवताओंका आकार-चिन्तन, भक्ति-साहचर्य, संस्तव कर्म, सक्तभाक्, हविर्भाक् और व्यञ्जनभाक् सम्बद्ध देव। पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्युस्थान और देवताओंके अभिधान और व्युत्पत्ति-प्राधान्यके श्रुत्युदाहरण। इन सब निर्वचन विचारों और उपपत्तिकी अवधारणाके अनुसार दैवत प्रकरणका

निर्णय। मन्त्रके अर्थ-विवेचन-द्वारा देवताभिधान, निर्वचन-फल आदि।

निरुक्तकी परम्परा

यद्यपि वर्त्तमानमें यास्करचित एकमात्र 'निरुक्त' उपलब्ध होता है, तथापि उसकी परिपक्व शैली तथा प्रतिपाद्य विषयको देखनेसे अनुमान होता है कि यह एक सुदीर्घ परम्पराका ही परिणाम है। यास्कसे पूर्ववर्ती अनेक निरुक्तकारोंके नाम प्राप्त होते हैं जिनमें कुछ प्रमुख नाम ये हैं—

(१) आग्रायण, (२) औदुम्बरायण, (३) औपमन्यव, (४) और्णनाभ, (५) कात्थक्य, (६) कौत्स, (७) कौष्टुकि, (८) गार्ग्य, (९) गालव, (१०) चर्मशिरा, (११) तैटीकि, (१२) वार्ष्यायणि, (१३) शतवलाक्ष, (१४) शाकटायन, (१५) शाकपूणि, (१६) शाकल्य और (१७) स्थौलाष्ठीवि।

निरुक्तमें दो प्रकारके निर्वचन हैं— शब्द-निर्वचन और अर्थ-निर्वचन।

शब्द-निर्वचन— यहाँ वर्ण-साम्यके आधारपर प्रकृति और उसमें होनेवाले विकारको स्पष्ट किया गया है; जैसे— 'सहस्'से 'सहस्र', 'द्विदर्श'-से 'विंशति', 'असु+र'-से 'असुर' आदि निर्वचन किए गए हैं।

अर्थ-निर्वचन— यहाँ शब्दोंके निर्वचनमें अर्थसाम्यको ही आधार बनाया गया है ; जैसे— व्याघ्रका निर्वचन है— 'व्यादाय हन्तीति' जो भोजनके लिये मारता है। समुद्रका निर्वचन है— 'समभिद्रवन्त्येनमापः' जिसकी ओर जल एक साथ दौड़ते हैं।

यास्कने शब्दोंका निर्वचन करते हुए वर्णसाम्य और अर्थसाम्यका ध्यान रखनेके साथ ही तत्कालीन सामाजिक, सांस्कृतिक, दार्शनिक वातावरण तथा लोक-मनोविज्ञानको भी बहुत महत्त्व दिया है। 'गर्तारुक्' का निर्वचन दक्षिण भारतकी एक विशेष प्रथासे सम्बद्ध है (निरुक्त ३।५); पुरुषके दो निर्वचन दार्शनिक मान्यताओंके आधारपर किए गए हैं— (निरुक्त २।३); 'सिंह', 'व्याघ्र' तथा 'काक' आदि शब्दोंके वाच्यार्थके साथ ही उनके आलंकारिक प्रयोगको भी स्पष्ट किया गया है। (निरुक्त ३।१८) निरुक्तकी उपयोगिताके सम्बन्धमें स्वयं यास्कने कहा है—

१. निरुक्तमें निघण्टु (वैदिक शब्दोंका शब्दकोष)-में संकलित कठिन वैदिक शब्दोंकी व्याख्या की गई है।

२. यह वैदिक मन्त्रोंके पदार्थज्ञान और अर्थज्ञानके लिये उपयोगी है।

३. 'निरुक्त' व्याकरणके लिये आवश्यक भूमिका प्रस्तुत करता है।

४. निरुक्तके बिना पद-विभागका ज्ञान नहीं हो सकता; क्योंकि पद-विभागका वास्तविक आधार अर्थ है, जिसका ज्ञान निरुक्तसे ही होता है।
५. यज्ञादि धार्मिक अनुष्ठानोंमें निरुक्तसे मन्त्रके देवताका उचित ज्ञान होनेसे निर्दिष्ट देवताओंको ही आहुति प्राप्त होती है और उससे लाभ होता है।
६. निरुक्तसे वेदार्थको जानकर व्यक्ति प्रशंसाका पात्र होता है।

वैदिक व्याकरणका आधार निरुक्त ही है क्योंकि निरुक्तका अध्ययन किए बिना वैदिक व्याकरणमें प्रवेश पाना कठिन है। निरुक्तकारोंने पदों या शब्दों, प्रातिपदिक शब्दोंका इस प्रकार निर्वचन किया है कि उनका वास्तविक अर्थ समझनेमें सुविधा होती है। बिना अर्थ जाने केवल वेद-पाठ करनेका न कोई प्रयोजन है, न कोई फल। जब तक अर्थज्ञान न हो तबतक वेदपाठ करना निरर्थक है किन्तु आजकल केवल संहिता कण्ठस्थ कर लेना ही वेदका पाण्डित्य प्राप्त करना माना जाता है किन्तु यह बड़ा भारी भ्रम है। बिना अर्थ जाने और बिना देवता, ऋषि, छन्द और विनियोगके ज्ञानके बिना वेदपाठ नितान्त भ्रामक और निरर्थक है।

निरुक्तकार यास्कने इस विषयको बड़े विस्तारसे समझाया है। इसलिये निरुक्त वेदांगको, जो वेदका स्रोत है उसके परिज्ञानके बिना वेदका पाठ करना वैसा है जैसे किसी बधिरको संगीत सुनाना। यह वैसा ही है – "भैंसके आगे बीन बजाए, भैंस खड़ी पगुराए।"



छन्द

छन्द एक प्रमुख वेदाङ्ग माना जाता है। यह वेदपुरुषके पादके रूपमें स्वीकार किया गया है – 'छन्दः पादौ तु वेदस्य। छान्दोग्य-उपनिषद्[1] के अनुसार णिजन्त 'छद्' धातुसे असुन् प्रत्यय करके निपातनमें छन्दस् शब्द सिद्ध हुआ है। पाणिनि मुनिने 'चदि' धातुके साथ असुन् प्रत्यय कर 'छन्द' शब्दको सिद्ध किया है।[2]

व्याकरणकी व्युत्पत्तिके अनुसार 'छन्दयति आह्लादयति इति छन्दः' अर्थात् जिससे आह्लाद उत्पन्न होता हो या जो प्रसन्न करता है, उसीका नाम छन्द है। वास्तवमें लघु-गुरु स्वर या मात्राकी नियमित वर्णयोजनाका ही नाम छन्द है।

आरण्यक खण्डके मतसे पाप-सम्बन्धके निषेध-हेतु जो पुरुषको आच्छादित करता है, उसे छन्द कहते हैं।[3] तैत्तिरीयसंहिताके मतानुसार जिसके द्वारा संचीयमान अग्निका उत्ताप आच्छादित होता है; उसका नाम छन्द है।[4] छान्दोग्योपनिषद्के मतानुसार 'अपमृत्युके निषेध-हेतु जो आच्छादन करता है, उसे छन्द कहा जा सकता है।

छन्दकी मुख्य आवश्यकता भाषामें लालित्य लानेके लिये होती है। गद्यकी अपेक्षा पद्य श्रोत्र एवं मनको शीघ्र ही तृप्त कर सकता है। पद्यमें गम्भीर भावोंको संक्षेपमें लिखा जा सकता है। पद्य शीघ्र ही स्मरण हो जाते हैं और बहुत समयतक स्मरण रहते हैं। ये तो छन्दके साधारण गुण हैं; परन्तु वेदाध्ययनके लिये छन्दोंका ज्ञान अनिवार्य है। छन्दोंके ज्ञानके अभावमें वेदाध्ययन न केवल निरर्थक है, अपितु पाप भी है। जैसे पैरके बिना मनुष्य लँगड़ा होता है वैसे ही

---

१. छान्दोग्योपनिषद् - १/४/२

२. चन्देरादयः छः उण् ४।२१८

३. ऋक्-सायण भाष्य भूमिका

४. कृष्ण यजुर्वेद ५।६।६।१

छन्दका परिज्ञान किए बिना जो पाठ करता है, उसे लँगड़ा ही समझना चाहिए। ऋक् सायण भाष्यकी भूमिकामें यह श्रुति दी हुई है –

'यो ह वा अविदितार्षेयचछन्दो दैवत ब्राह्मणेन मंत्रेंण याजयति वा अध्यापयति वा स्थाणुं वार्च्छति गर्तं वा पतति प्रवासीयते पापीयान् भवति।

सम्पूर्ण ऋग्वेद, सामवेद और अथर्ववेद पद्यात्मक हैं। केवल यजुर्वेदमें गद्य और पद्य दोनों ही हैं। जिन छन्दोंका प्रयोग वैदिक संहिताओंमें हुआ है उनका किसी अन्य ग्रन्थमें प्रयोग नहीं हुआ है। वेदके ब्राह्मण तथा आरण्यक खण्डमें वैदिक छन्दोंके सम्बन्धमें बहुतसी कथाएँ आई हैं ; परन्तु उनसे छन्दोंका कोई विशेष ज्ञान नहीं होता। कात्यायनकी सर्वानुक्रमणिकामें सात छन्दोंका उल्लेख है– १. गायत्री, २. उष्णिक्, ३.अनुष्टुप्, ४. वृहती, ५. पंक्ति, ६. त्रिष्टुप् और ७. जगती।

वैदिक गायत्रीमें तीन चरण होते हैं। प्रत्येक चरणमें आठ आठ अक्षर होते हैं। इस प्रकार गायत्री छन्दमें २४ अक्षर होते हैं। गायत्रीके अतिरिक्त समस्त छन्दोंमें चार चार चरण होते हैं। २८ अक्षरोंका उष्णिक् छन्द, ३२ अक्षरोंका अनुष्टुप्, ३६ अक्षरोंका वृहती, ४० अक्षरोंका पंक्ति, ४४ अक्षरों का त्रिष्टुप् और ४८ अक्षरोंका जगती छन्द होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक कालमें जगतीसे बड़े छन्द प्रचलित नहीं थे। समस्त वैदिक साहित्यका अधिकांश मंत्रभाग इन्हीं सात छन्दोंमें उपनिबद्ध है। किन्तु इनके अतिरिक्त भी वेदमें अनेक छन्दोंका प्रयोग हुआ है किन्तु उनके लक्षण कहीं प्राप्त नहीं होते। इनमें भी गायत्री छन्दका सर्वाधिक व्यवहार हुआ है। कात्यायनने इन सात छन्दोंके और भी अनेक भेदोंका उल्लेख किया है। उनके ज्ञान हेतु कात्यायन रचित सर्वानुक्रमणिकाका अवलोकन अपेक्षित है।

इन्हीं सात छन्दोंका मूल मानकर व्यावहारिक भाषामें अनन्त छन्दोंकी रचना हुई है। उत्तररामचरितमें बताया गया है कि सर्वप्रथम महर्षि वाल्मीकिके मुखसे लौकिक अनुष्टुप् छन्दकी रचना हुई थी। इस प्रकार आदिकवि वाल्मीकि और आदिलौकिक छन्द अनुष्टुप्[१] माना जाता है।

---

१. मा निषाद प्रतिष्ठां त्वामगमः शाश्वती समाः।
यत् क्रौञ्च मिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

स्वयं वाल्मीकिने इसे 'नूतनश्छन्दावतारः' कहा है। किन्तु यह अनुष्टुप् छन्द है और इसमें भी ४चरणोंमें ३२ वर्ण हैं किन्तु इसकी गति भिन्न है।

कात्यायन-रचित सर्वानुक्रमणिकाके बाद छन्दःशास्त्रके सबसे प्राचीन रचयिता महर्षि पिङ्गल हैं। इन्होंने एक करोड़, ६१ लाख, ७७ हज़ार दो सौ सोलह प्रकारके वर्णवृत्तोंका उल्लेख किया है। इस विशाल छन्दोनिधिसे संस्कृत-साहित्यमें प्रमुखतः ५० प्रकारके छन्दोंका व्यवहार हुआ है। यद्यपि वैदिक छन्दोंके वर्ण निश्चित हैं तथापि बहुतसे मंत्रोंमें वर्णोंकी गणना कम भी है जैसे गायत्री मंत्रके ही प्रथम चरणमें ८ के बदले सात ही वर्ण हैं किन्तु उसे छन्दके अनुसार पढ़नेके लिये वरेण्यंके बदले वरेणियं पढ़नेका विधान किया गया है। कहीं कहीं वह ज्योंका त्यों सात वर्णोंका ही रह गया है और सभी छपी हुई पुस्तकोंमें वही पाठ चलता आया है। जैसे—

विष्णुर्गोपा अदाभ्यः इस चरणमें सात ही वर्ण हैं। इस प्रकारके अनेक उदाहरण ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद—चारोंमें पाए जाते हैं। यह बड़े आश्चर्यकी बात है कि वेदाध्ययनकी इतनी लम्बी परम्परा होते हुए भी इस प्रकारका प्रमाद होता चला आया है और किसी ने उसपर ध्यान नहीं दिया। इसका कारण भी यही है कि वेदकी संहिताका पाठ करना ही वेदपाठ मान लिया गया है जबकि वेदाङ्गके बिना पाठ करनेका निषेध किया गया है।

उपर्युक्त विवरणसे यह स्पष्ट हो गया होगा कि वेदपाठ करनेके लिये जैसे व्याकरण और निरुक्त आवश्यक हैं, वैसे ही छन्द भी अत्यन्त आवश्यक हैं।



ज्योतिष्

'ज्योतिः अस्ति अस्य इति ज्योतिषः''। 'ज्योति' शब्दसे अच् प्रत्यय करके ज्योतिष् शब्द निष्पन्न हुआ है। ज्योतिष्का षड्-वेदाङ्गोंमें प्रमुख स्थान है। इसे वेद-पुरुषका नेत्र माना गया है — 'ज्योतिषामयनम्'।

ज्योतिष् वह विद्या या शास्त्र है जिससे आकाशमें स्थित ग्रह, नक्षत्र आदिकी गति, परिमाण, दूरी और प्रभाव आदिका निश्चय किया जाता है। सूर्य, चन्द्र तथा अन्यान्य ग्रहों-नक्षत्रोंकी अद्भुत एवं विस्मयकारी प्रकृति मानव-मनको सहज ही आकर्षित करती है।

वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः कांनुपूर्वा विहिताश्च यज्ञाः।
तस्मादिदं कालविधानशास्त्रं यो ज्योतिषं वेद स वेद वेदम्॥

(लगध प्रणीत वेदाङ्ग ज्योतिषम्)

समस्त वेद यज्ञकर्मात्मक हैं। संस्कारों और यज्ञोंकी समस्त क्रियाएँ निश्चित मुहूर्त्तोंपर निश्चित कालावधिमें सम्पन्न होनी आवश्यक हैं। उनके ज्ञान-हेतु पञ्चाङ्ग ज्योतिष् ही एकमात्र आधार है। किसी भी धार्मिक अनुष्ठानके सम्पादनमें तिथि, वार, नक्षत्र, योग एवं करण इन पाँच अंगोंको ध्यानमें रक्खा जाता है; जो पञ्चाङ्ग सम्पन्न ज्योतिष्से ही ज्ञात होते हैं। इसीलिये प्रत्येक वेदसे सम्बद्ध ज्योतिषाङ्गका अध्ययन भी प्राचीनकालसे ही प्रचलित रहा है। विज्ञानकी भाँति इस वेदाङ्गका निरन्तर विकास होता रहा है और आज भी विकास की ओर अग्रसर है। इसके समस्त विशाल साहित्य-भण्डारका एकत्र उल्लेख करना भी कठिन है।

ज्योतिष् वेदाङ्गपर प्राचीनकालकी तीन पुस्तकें उपलब्ध होती हैं — १. ऋक् ज्योतिष्, २. यजुः ज्योतिष् और ३. अथर्व ज्योतिष्। ऋक् ज्योतिष्के रचयिता लगध हैं; यजुःज्योतिष्के शेष और अथर्व ज्योतिष्के पितामह। वराह-

मिहिर-द्वारा रचित पाश्चसिद्धान्तिकामें पैतामहके नामसे भी एक सिद्धान्तका उल्लेख मिलता है; जिसमें १६२ श्लोक हैं।

ज्योतिष् वेदाङ्ग अत्यन्त संक्षिप्त ग्रन्थ है। ऋग्वेदीय ज्योतिष् वेदाङ्गमें केवल तीन और यजुर्वेदीय ज्योतिष् वेदाङ्गमें ४३ श्लोक मिलते हैं। इन दोनोंके कुछ श्लोक तो समान हैं और कुछ भिन्न हैं। अनुष्टुप् छन्दोबद्ध ये श्लोक संक्षिप्त हैं और विषयानुक्रमसे संयोजित भी नहीं हैं।

वैदिक युगमें आर्योंका ज्योतिष्-विषयक ज्ञान पर्याप्त था। निम्नांकित श्लोकसे सूर्यके अयन परिवर्तनका ज्ञान होता है—

प्रपद्येते श्रविष्ठादौ सूर्याचन्द्रमसावुदक्।
सर्पार्धे दक्षिणार्कस्तु माघश्रावणयोः सदा॥

(यजुर्वेदीय ज्योतिष् वेदाङ्ग ६।२।७)

अर्थात् सूर्य और चन्द्रके श्रविष्ठा नक्षत्रके आदि बिन्दुमें आनेपर उत्तरायणका तथा सर्प (आश्लेषा) नक्षत्रके मध्यबिन्दुमें आनेपर उनके दक्षिणायनका प्रारम्भ होता है। सूर्य यथाक्रमसे माघ और श्रावणमासमें इन दो बिन्दुओंमें आते हैं।

धर्मवृद्धिरपांप्रस्थः क्षपाह्रास उदग्गतौ।
दक्षिणे तौ विपर्यासः षण्मुहूर्त्ययनेन तु॥

(यजुः ज्योतिष् वेदाङ्ग ७।२।८)

उत्तरायणसे प्रतिदिन जलके एक प्रस्थके बराबर दिनकी वृद्धि और रात्रिका ह्रास हुआ करता है। इसी प्रकार दक्षिणायनमें रात्रिकी वृद्धि और दिनका ह्रास होता है। एक अयनमें यह वृद्धि और ह्रास छह मुहूर्त्तमात्रकी होती है।

तैत्तिरीय संहिताके अनुसार प्राचीनकालमें वसन्त विषुवद्दिन हरितालिका (कृत्तिका)-में संक्रमित था। शतपथ ब्राह्मण (२।१।३।१३)-के अनुसार हरितालिकाके साथ ही वैदिक वर्ष का प्रारम्भ होता था; किन्तु अयन माघ माससे ही गिना जाता है। ऋग्वेदके अनुसार सूर्यके मृगशिरा नक्षत्रमें संक्रमित होनेपर उत्तरायण प्रारम्भ होता था।

वैदिक ज्योतिष्का वैशिष्ट्य

वैदिक सभ्यताकी शैशवावस्थामें आर्यलोग प्रत्येक ज्योतिष्क (नक्षत्र)-

की विशिष्ट ऐहिक शक्तिको समझते थे। उनकी धारणा थी कि परब्रह्मने प्रत्येक ज्योतिष्कको ऐहिक (शक्ति-विशिष्ट) गुणान्वित करके भेजा है। जिस कारण वे विश्वके समस्त कार्योंके नियन्ता बन गए हैं। अतएव ब्रह्मज्ञानके लिये उनकी गतिका पर्यविक्षण तथा समय और ऋतुके विभागोंकी गणना करना आवश्यक है।

भारतवर्षमें वैदिक ऋषि, आर्यभट्ट, ब्रह्मगुप्त, वराह-मिहिर, मुञ्जल, भट्टोत्पल, श्वेतोत्पल, शतानन्द, भोजराज, भास्कर आदि प्रमुख ज्योतिर्विद हुए हैं।

ज्योतिष् शास्त्रको मुख्यतः तीन भागोंमें विभक्त किया जा सकता है—

१. गणित ज्योतिष् – इसके द्वारा ग्रह नक्षत्रादिके आकार और संस्थापन सम्बन्धी यथार्थ तत्त्वोंका गणिताक्षरकी सहायतासे विशिष्ट रूपसे निर्णय किया जा सकता है।

२. प्राकृतिक ज्योतिष् – इसके द्वारा नक्षत्रादिकी प्रकृति अर्थात् उनकी गति, वेग तथा अन्यान्य ग्रहोंसे उनका पारस्परिक सम्बन्ध निर्णीत हो सकता है।

३. ध्रुव ज्योतिष – इसके द्वारा ध्रुव अर्थात् गतिहीन नक्षत्रादिका विवरण ज्ञात होता है। इनके अतिरिक्त व्यवहार ज्योतिष्के नामसे एक और भी विभाग किया जा सकता है जिसके माध्यमसे ज्योतिष् शास्त्र सम्बन्धी नाना प्रकारके यन्त्र, नियम और गणनाकी प्रक्रिया ज्ञात हो सकती है। प्राकृतिक ज्योतिष्के विना भी इन नियमादिसे परिचित होकर ज्योतिर्विदकी भाँति कार्य किया जा सकता है।

भारतीय विद्वानोंने ज्योतिष्को साधारणतः दो भागोंमें विभक्त किया है— १. फलित ज्योतिष् और २. सिद्धान्त ज्योतिष्। फलित ज्योतिष्-द्वारा ग्रह-नक्षत्रादिका सञ्चार देखकर पृथ्वीके प्राणियोंकी भावी अवस्था और मंगलामंगलका निर्णय किया जाता है। सिद्धान्त ज्योतिष्-द्वारा स्पष्ट एवं अभ्रान्तरूपसे गणना करके ग्रह-नक्षत्रादिकी गति और संस्थानादि नियम, उनकी प्रकृति और तज्जन्य फलाफलोंका दृढरूपसे निरूपण किया जाता है।

सिद्धान्त ज्योतिर्विदोंने फलित ज्योतिष्की निन्दा की है। सिद्धान्त शिरोमणिका मत है कि गणित शास्त्रका एकदेश मातृजातक संहिता है। सब कुछ जानते हुए भी जो व्यक्ति अनन्तयुक्तियुक्त सिद्धान्त ज्योतिष्को नहीं

जानते हैं, वे चित्रमय राजा अथवा काष्ठनिर्मित सिंहके समान हैं।

यद्यपि जन्मकालीन ग्रह-नक्षत्रादिकी स्थितिको देखकर भावी सुख-दुःखका पूर्वज्ञान हो सकता है किन्तु उससे कोई लाभ नहीं है क्योंकि भाग्यमें लिखित भोगसे कोई भी बच नहीं सकता।

आकाश-मण्डलमें असंख्य नक्षत्र-पुञ्ज दृष्टिगोचर होते हैं जो घण्टे घण्टेमें अपने स्थानसे पश्चिमकी ओर थोड़ा थोड़ा हटते हुए अदृश्य हो जाते हैं और उनके अपर पार्श्वमें स्थित नक्षत्र-पुञ्ज क्रमशः दृश्यमान होते हैं। इससे सिद्ध होता है कि उनका भ्रमण एक ही दिनमें समाप्त होता है। यह भ्रमण-काल हमारे दिनके बराबर होता हो, ऐसा नहीं है। यद्यपि प्रतिदिन उदयकालमें वे नक्षत्रपुञ्ज प्रायः पूर्व पूर्व स्थानोंमें दिखाई देते हैं; फिर भी सूक्ष्म निरीक्षणसे ज्ञात होता है कि उनका उदय प्रतिदिन ठीक उन्हीं स्थानोंपर नहीं होता। प्रतिदिन प्रायः चार मिनटका अन्तर पड़ता है। इस प्रकार १५ दिनमें (उनके एक घण्टेमें) परिभ्रमण होता है और एक वर्षमें उनका परिभ्रमण पूर्ण हो जाता है। एक वर्ष बाद वे पुनः अपने पूर्व स्थानोंमें आ जाते हैं। सूर्यके साथ ये समस्त नक्षत्र अपने अपने कीलकमें रहते हुए सूर्यकी अपेक्षा प्रायः ४ मिनट कम २४ घण्टेमें पृथ्वीको परिवेष्टन कर भ्रमण करते हैं।

जिन नक्षत्रोंका कभी अस्त नहीं होता उन्हें ध्रुव नक्षत्र कहते हैं। ये नक्षत्र भ्रमणशील होते हुए भी इसलिये निरन्तर स्थिर दिखाई देते हैं क्योंकि एक तो उनका भ्रमण-पथ आकाशमें पृथ्वीके चक्रके समान्तरकालमें है और दूसरे वे बहुत दूर स्थित हैं। उक्त स्थान आकाशका उत्तरकेन्द्र कहलाता है। उस स्थानसे हमारी ओर ठीक विपरीत दिशामें जो स्थान है, उसे दक्षिण केन्द्र कहा जा सकता है। ये दोनों स्थान उक्त कल्पित रेखाके सीमा बिन्दु (अक्ष) हैं। नक्षत्र-कुञ्ज प्रतिदिन उसे सीमा-बिन्दुके अन्तर्गत नक्षत्र-मण्डलमें परिभ्रमण करते हैं। उक्त दोनों सीमा-बिन्दु पृथ्वीके केन्द्र और विषुव रेखापर दो समकोणोंमें अवस्थित है और पृथ्वीके प्रत्येक स्थानसे वे एक ही प्रकारके दृष्टिगोचर होते हैं, ग्रहोंके स्थानकी भाँति इनका कुछ परिवर्तन नहीं होता।

आकाशके प्रायः उत्तरकेन्द्रमें स्थित उज्ज्वल नक्षत्रको ध्रुवतारा कहा जाता है। सप्तर्षि मण्डल नामके जो प्रसिद्ध सात नक्षत्र हैं, उनसे ही इसका विशेष परिचय मिल सकता है। उत्तर दिशामे ध्रुव नक्षत्रको सहज ही पहचाना जा सकता है। दक्षिण केन्द्रकी ओर भी ऐसे ध्रुव नक्षत्र विद्यमान हैं। जिस

मण्डलाकार पथसे सूर्य परिभ्रमण करता है, उसे क्रान्ति-पथ कहते हैं।

भारतीय काल-गणना

दो परमाणु = १ अणु। ३ अणु = १ त्रसरेणु। ३ त्रसरेणु = १ त्रुटि। १०० त्रुटियाँ = १ वेध। ३ वेध = १ लव। ३ लव = १ निमेष। ३ निमेष = १ क्षण। ५ क्षण = १ काष्ठा। १५ काष्ठा = १ लघु। १५ लघु = १ दण्ड (घड़ी = २४ मिनट)। २ घड़ी = १ मुहूर्त्त। साढ़े सात घड़ी = १ प्रहर (याम)। ४ प्रहर = १ रात या १ दिन। ७ दिन = १ सप्ताह। १५ दिन = १ पक्ष। २ पक्ष = १ मास। २ मास = १ ऋतु। ६ मास = १ अयन। दो अयन = (१२ मास) = १ वर्ष।

९ गुरुवर या ६० विपलका = १ पल। ६० पल = १ घड़ी। ६० घड़ी = १ दिन-रात। १८ पल = १ काष्ठा। तीन काष्ठा = एक कला। ३० कला = १ मुहूर्त्त। ३० मुहूर्त्त = १ दिन-रात। सूर्योदयसे सूर्यास्ततक दिन और सूर्यास्तसे सूर्योदय तक रात समझी जाती है।

ऋतुएँ

ऋतुएँ छह होती हैं – १. वसन्त (चैत्र-बैशाख), २. ग्रीष्म (ज्येष्ठ-आषाढ), ३. वर्षा (श्रावण-भाद्रपद), ४. शरद (आश्विन-कार्त्तिक), ५. हेमन्त (मार्गशीर्ष, आग्रायण - पौष), ६. शिशिर (माघ-फाल्गुन)।

संवत्सर-चक्र

६० संवत्सरोंका एक संवत्सरचक्र होता है। संवत्सरोंके नाम इस प्रकार हैं –

१. प्रभा, २. विभव, ३. शुक्ल, ४. प्रमोद, ५. प्रजापति, ६. अंगिरा, ७. श्रीमुख, ८. भाष, ९. युवा, १०. धाता, ११. ईश्वर, १२. बहुधान्य, १३. प्रभावी, १४. विक्रम, १५. वृष, १६. चित्रभानु, १७. सुभानु, १८. तारण, १९. पार्थिव, २०. व्यय, २१. सर्वजित्, २२. सर्वधारी, २३. विरोधी, २४. विकृति, २५. स्वरनाम, २६. नंदन, २७. विजय, २८. जय, २९. मन्मथ, ३०. दुर्मुख, ३१. हैमलम्ब, ३२. विलम्ब, ३३. विकारी, ३४. शार्वरी, ३५. प्रव, ३६. शुभकृत, ३७. शोभन, ३८. क्रोधी, ३९. विश्वावसु, ४०. पराभव, ४१. प्लवंग, ४२. कलिक, ४३. सौम्य, ४४. साधारण, ४५. विरोधकृत, ४६. परिधावी, ४७. प्रमादी, ४८. आनन्द, ४९. राक्षस, ५०. नल, ५१. पिंगल, ५२. कालयुक्त, ५३. सिद्धार्थ, ५४. रौद्र, ५५. दुर्गति, ५६. दुन्दुभि, ५७. रुधिरोदगारी, ५८. रक्ताक्ष, ५९. क्रोधन, ६०. क्षय।

सूर्य

पृथ्वीसे लगभग ९ करोड़ ३० लाख मील दूर है। इसके प्रकाशकी गति १८६००० मील प्रति सेकण्ड चलकर साढ़े आठ मिनटमें पृथ्वीतक पहुँचती है। सूर्यका व्यास पृथ्वीसे १०९ गुणा बड़ा है और सूर्यका आकार पृथ्वीसे १३ लाख गुणा बड़ा माना जाता है। सूर्य और सभी नक्षत्र पूर्वसे पश्चिमकी ओर घूमते हुए ध्रुव तारेकी परिक्रमा करते हैं। भारतवर्षमें सूर्यसे चन्द्रमाकी दूरी मापकर ही तिथिका विचार किया जाता है। भारतीय ज्योतिषियोंने सूर्यके मार्गवाले वृत्त (राशि-चक्र)-को १२ भागोंमें विभक्त किया है। इन १२ राशियोंको उनके पड़ते हुए नक्षत्रोंकी रूपरेखाके अनुसार निम्नांकित नाम दिए हुए हैं—

राशि

मेष, वृष, कर्क, सिंह, तथा कन्या ३१-३१ दिन, मिथुन ३२ दिन, वृश्चिक और धनु २९ दिन तथा तुला, मकर, कुम्भ और मीन ३० दिनके होते हैं। इन बारह महीनोंमें २७ नक्षत्र पड़ते हैं। पृथ्वी जब सूर्यके चारों ओर एक परिक्रमा कर लेती है; उसे सौर वर्ष कहते हैं। यह परिक्रमा ३६५ दिन, ५ घण्टे, ४८ मिनट और साढ़े सैंतालीस सेकण्डमें होती है।

सूर्यके चारों ओर बारह तारककुञ्ज (तारोंके समूह) एक क्रमसे चक्कर लगाते रहते हैं। इनकी बनावटके अनुसार ही इनके नाम हैं— १. मेष (भेड़), २. वृष (बैल), ३. मिथुन (पति-पत्नी), ४. कर्क (केकड़ा), ५. सिंह (शेर), ६. कन्या (लड़की), ७. तुला (तराजू), ८. वृश्चिक (बिच्छू), ९. धनु (धनुष्), १०. मकर (मगरमच्छ), ११. कुम्भ (घड़ा), १२. मीन (मछली)। ये नियमित रूपसे चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ, आषाढ, श्रावण, भाद्रपद, आश्विन, कार्त्तिक, मार्गशीर्ष, पौष, माघ और फाल्गुन मासोंमें पड़ते हैं। धनुराशिसे मकर राशितक (प्रायः पौषमें) और मेष राशिसे वृष राशितक खरमास (तीक्ष्ण महीना, प्रायः चैत्र) होता है। इन दोनों महीनोंमें कोई भी मंगलकार्य नहीं करना चाहिए। सूर्य एक तारक (विशाल तारा) है और वह स्थिर है। सूर्य कोई ग्रह नहीं है। ग्रह तो वह तारक-कुञ्ज होता है जो किसी सूर्यके चारों ओर घूमता है।

चन्द्रमा

चन्द्रमा आकारमें पृथ्वीसे छोटा है और २४०००० मील दूर है। इसका

व्यास २१६० मील है। यह २७ दिन, १२ घंटे, ४८ मिनट और साढ़े ४७ सेकण्डमें पृथ्वीके चारों ओर एक चक्कर लगा लेता है। अतः इतने समयको चान्द्रमास कहते हैं। चन्द्रमा प्रतिदिन राशिचक्रमें पश्चिमसे पूर्वकी ओर १३ अंश, १० कला, ३४ विकला और ५२ अनुकला चलता है; किन्तु सूर्य प्रतिदिन ५९ कला और ८ विकला चलता है; इसलिये सूर्यसे १२ अंश, ११ कला, ४७ विकला प्रतिदिन चन्द्रमाकी अधिक गति होनेसे एक तिथि होती है। यह साधारण-सी गणना है। जब चन्द्रमाकी कला बढ़ती है तब शुक्ल पक्षकी अष्टमीके दिन चन्द्रमा ९० अंश सूर्यसे पूर्व रहता है, इसलिये अर्धचन्द्र दिखाई देता है। चन्द्रमामें स्वयं अपना प्रकाश नहीं है। वह सूर्यकी किरणों-द्वारा प्रकाशित होता है। इसलिये चन्द्रमण्डलका एक ओरका भाग १५ दिनतक प्रकाशित एवं दूसरी ओर का भाग अन्धकारयुक्त रहता है। सूर्यसे चन्द्रमा १२ अंश आगे चलता है। अमावस्याके पश्चात् पहले दिन १२ अंश चलनेपर शुक्ल-पक्षकी प्रतिपदा, दूसरे दिन पुनः १२ अंश चलनेपर द्वितीया और इसी प्रकार १८० अंशतक चलनेसे शुक्ल पक्ष पूर्ण होकर पूर्णिमाके दिनसे इसके विपरीत क्रमशः १२ अंश सूर्यके निकट होते जानेपर कृष्णपक्ष होता है। अमावस्याके दिन पृथ्वी और सूर्यके ठीक बीचमें चन्द्रमा होता है; सूर्यसे चन्द्रमा जितनी दूर होगा उतनी ही कला घटेगी और जब सूर्यके दोनों ओर १२ अंशके भीतर चन्द्रमा रहता है तब वह दिखाई नहीं पड़ता। १२ राशियोंमें चन्द्रमा ४५४ दिन, ९ घंटे, ४८ मिनट, ३३.५५ सेकण्डमें घूम जाता है। यही चान्द्रवर्ष कहलाता है। इसी कारण ५ वर्षके भीतर दो अधिक मास (पुरुषोत्तम मास) पड़ जाते हैं।

चन्द्रमा कोई ग्रह नहीं अपितु उपग्रह है। विभिन्न ग्रहोंके साथ उनके अपने अपने चन्द्रमा हैं और उनकी संख्या भी भिन्न है –

ग्रहगति और चन्द्र

सूर्यकी परिक्रमा करनेवाले ग्रहोंका समयऔर चन्द्रमाकी संख्या – बुध – ८७.९०७ दिन। शुक्र – २२४.७०१ दिन। पृथ्वी ३६५.२५६ दिन - १ चन्द्रमा। मंगल – १.१८१ वर्ष (६८६.५६५ दिन) २ चन्द्रमा। गुरु – ११.८६२ वर्ष (४३२९.६३० दिन), १२ चन्द्रमा। शनि – २९.४५८ वर्ष (१०७५२.१७ दिन) १० चन्द्रमा। वरुण (यूरेनस) – ८४.०१५ वर्ष (३०६६५.५०४०) ४ चन्द्रमा। हर्षल – ८४.६० वर्ष (३०७२१.१२ दिन)।

कुबेर (नेपच्यून) – १६४.७८८ वर्ष (६०१४७.६२ दिन) २ चन्द्रमा। यम (प्लूटो) २४७.६९७ वर्ष (८५०४०९.४०५ दिन)।

इनमेंसे वरुण, हर्षल, कुबेर और यम इतनी दूर हैं और इतने समयमें सूर्यका चक्कर लगाते हैं कि पृथ्वीपर उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। प्रायः पण्डित लोग ग्रह-पूजनमें सूर्य, चन्द्रमा, राहु और केतुको भी ग्रह मानकर उनका पूजन करते हैं और पृथ्वीको ग्रह नहीं मानते। सूर्य ग्रह न होकर स्थिर तारक हैं। चन्द्रमा उपग्रह है और राहु-केतु ग्रह नहीं अपितु छायाग्रह माने जाते हैं।

युग

चार युग हैं जिनमें पहला सतयुग १७,२८,०००, दूसरा त्रेतायुग १२,९६,०००, तीसरा द्वापर युग ८,६४,००० और चौथा कलियुग ४,३२,००० वर्षका है। इन चारों युगोंका कुल योग ४३,२०,००० वर्ष है। एक सहस्र महायुग (चतुर्युगी)-का एक कल्प होता है। अभीतक ब्रह्माकी आयुका अर्द्धकाल बीता है। वर्त्तमान कल्पके आरम्भमें ब्रह्माके अवशिष्ट आयु (५० वर्ष)-के प्रथम दिवसके दूसरे प्रहरका दूसरा आधा भाग चल रहा है। वर्तमान श्वेतवाराह कल्पमें भी छह मन्वन्तरोंके साथ सात सन्धियाँ व्यतीत हुई हैं। आजकल वैवस्वत मनुके भी २७ युग बीत चुके हैं। इस अट्ठाइसवें युगके सत्य, त्रेता और द्वापर काल बीत गए हैं और कलियुग लगा हुआ है। कलियुगका अभी प्रथम चरण ही चल रहा है।

मनु

मनु चौदह होते हैं जिनका क्रम इस प्रकार है – १. स्वायंभुव, २. स्वारोचिष, ३. औत्तमि, ४. तामस, ५. रैवत, ६. चाक्षुष, ७. वैवस्वत, ८. सावर्णि, ९. दक्षसावर्णि, १०. ब्रह्मसावर्णि, ११. धर्मसावर्णि, १२. रुद्र सावर्णि, १३. रौच्यदैवसावर्णि, १४. इन्द्रसावर्णि।

एक मनुका काल ४३,२०,००० वर्षोंका होता है। ऐसे १४ कालोंका योग ब्रह्माका एक पूरा दिन होता है।

कल्प

कल्प तीस होते हैं – १. श्वेतवाराह, २. नील लोहित, ३. वामदेव, ४. गाथान्तर, ५. रौरव, ६. प्राण, ७. वृहत्कल्प, ८. कन्दर्प, ९. सत्य, १०.

ईशान, ११. ध्यान, १२. सारस्वत, १३. उदान, १४. गरुड, १५. कौर्म (ब्रह्माकी पौर्णमासी), १६. नारसिंह, १७. समाधि, १८. आग्नेय, १९. विष्णुज, २०. सौर, २१. सौम, २२. भावन, २३. सुप्तमाली, २४. वैकुण्ठ, २५. आर्न्विष, २६. वाल्भाकल्प, २७. वैराज, २८. गौरीकल्प, २९. महेश्वर, ३०. पितृकल्प।

नक्षत्र

यद्यपि वर्त्तमान पाश्चात्य ज्योतिषशास्त्रियोंके अनुसार विशवत् रेखासे ऊपर उत्तरायणमें पैंतीस राशियाँ और १४५६ नक्षत्र हैं और दक्षिणायन अर्थात् विशवत् रेखासे दक्षिणमें ९९५ नक्षत्र हैं; किन्तु भारतीय ज्योतिष्-शास्त्रके अनुसार छह राशियाँ उत्तरायणमें और छह राशियाँ दक्षिणमें हैं जिसके अनुसार कर्कराशितक सूर्य उत्तरायणमें रहता है और मकर राशितक दक्षिणायनमें सूर्यका प्रकाश रहता है। भारतवर्षमें २७ नक्षत्र माने गए हैं अर्थात् ये निश्चित गणनाके तारोंके पुञ्ज हैं। इनका विवरण निम्नलिखित है –

नक्षत्र	आकार
१. अश्विनी	घोड़ेके मुँहँ जैसा
२. भरणी	त्रिकोणमें
३. कृत्तिका	फूँसकी झोंपड़ी
४. रोहिणी	गाड़ीके आकारका
५. मृगशिरा	हरिणके मस्तक जैसा
६. आर्द्रा	रत्नके समान
७. पुनर्वसु	घर-जैसा
८. पुष्य	एक सीधमें
९. आश्लेषा	कुम्हारका चाक
१०. मघा	मकान
११. पूर्वा फाल्गुनी	खाट-जैसे
१२. उत्तरा फाल्गुनी	लम्बी खाट-जैसे
१३. हस्त	हाथकी उँगलियों-जैसा
१४. चित्रा	मोती-जैसा श्वेत
१५. स्वाति	मूँगे-जैसा लाल
१६. विशाखा	पुष्पमाला-जैसा
१७. अनुराधा	जलधारा-जैसा

१८. ज्येष्ठा   कानके कुण्डल-जैसा

१९. मूला   सिंहकी पूँछ-जैसा

२०. पूर्वाषाढा   हाथी-दाँत-जैसा

२१. उतराषाढा   सूयकि समान

२२. श्रवण   त्रिशूल-जैसा

२३. धनिष्ठा   डमरू-जैसा

२४. शतभिषा   मण्डलाकार

२५. पूर्वाभाद्रपद   घण्टाकार

२६. उत्तराभाद्रपद   मनुष्यके माथे-जैसा

२७. रेवती   मृदंगाकार

इन २७ नक्षत्रोंके अतिरिक्त एक अभिजित् नक्षत्र है जो प्रतिदिन दोपहरमें ११-३६ से १२-२४ बजे तक अर्थात् दो घड़ीतक बराबर रहता है।

ये सब नक्षत्र ध्रुवतारेके चारों ओर चक्कर लगाते रहते हैं और जैसे जैसे जो जो नक्षत्र चन्द्रमाके सम्मुख जितनी देरतक रहते हैं उस तिथिको वह नक्षत्र उतनी देर तक माना जाता है। पृथ्वी अपनी धुरीपर कुछ तिरछी होकर घूमती है, इसलिये २७ दिनमें ही चन्द्रमा पृथ्वीका चक्कर लगा लेता है। पृथ्वीकी धुरीके तिरछे होनेके कारण कभी कभी कोई तिथि सूर्योदयके बाद प्रारम्भ होती है और दूसरे दिन सूर्योदयसे पहले ही समाप्त हो जाती है। उसे तिथिक्षय कहते हैं अर्थात् उस तिथिकी गिनती नहीं होती ; किन्तु बहुतसे पर्व और व्रत ऐसे होते हैं जो दोपहरमें, दोपहरके पश्चात् या सन्ध्याको या रात्रिको होते हैं। उनके लिये वही तिथि मान्य होती है जो उस समय होती है। जैसे — श्राद्धके लिये दोपहर १२ बजे होनेवाली तिथि, विजयादशमीके लिये तीसरे प्रहरवाली, रामनवमीके लिये दोपहरमें ठीक १२ बजे, दीपावलीके लिये गोधूलि-वेलाके पश्चात् तथा गणेश संकष्ट चतुर्थीके लिये रात्रि आदि।

व्यक्तिके भाग्यके सम्बन्धमें पञ्चतंत्रमें कहा गया है—

आयुः कर्म च वित्तं च विद्या निधनमेव च।
पञ्चैतानि हि सृज्यन्ते गर्भस्थस्यैव देहिनः ॥

जब जीव माताके गर्भमें ही होता है तभी उसको आयु, कर्म, धन, विद्या और मृत्युका समय, स्थान और कारण सब निश्चित हो जाते हैं। अतः जो लोग कुण्डली दिखाते फिरते हैं, उसका कोई फल नहीं होता। जिसके केन्द्रमें

बृहस्पति है, उसे किसी प्रकारका कष्ट नहीं होना चाहिए किन्तु ऐसे लोग भी देखे गए हैं कि उनकी कुण्डलीके केन्द्रमें बृहस्पति भी है, गुरु-चान्द्री योग भी है; फिर भी उन्हें आर्थिक, मानसिक, शारीरिक, पारिवारिक कष्ट हैं और कुछने तो आत्महत्या भी कर ली है। अतः कुण्डलीके आधारपर कोई फल नहीं कहा जा सकता। सभी जन्मकुण्डलियोंमें करण तो लिखा जाता है किन्तु करणका फल कोई नहीं लिखता। यहाँतक कि कुण्डली बनानेवाले ज्योतिषियोंको यह भी ज्ञात नहीं है कि करण क्या होता है ?

नीचे फलित ज्योतिष्के कुछ विशेष महत्त्वपूर्ण विषयोंका उल्लेख किया जाता है—

योगफल

१. विष्कुम्भयोगमें उत्पन्न मनुष्य निरन्तर स्त्री, पुरुष और मित्रोंके सौख्यको प्राप्त करनेवाला, सब कार्योंमें स्वाधीन और सुन्दर देहधारी होता है।
२. प्रीतियोगमें उत्पन्न बालक अधिक बोलनेवाला, सुन्दर, रूपवान्, सम्पत्तिशाली, प्रसन्नमुख, दानप्रिय, आनन्दज्ञाता और विनोदयुक्त होता है।
३. आयुष्मान्योगमें उत्पन्न मनुष्य धनी, साहसी, भ्रमण-प्रिय, सम्मानित और दीर्घायु होता है।
४. सौभाग्ययोगमें उत्पन्न मनुष्य ज्ञानी, धनवान्, सत्यमें तत्पर, श्रेष्ठ, आचारवान्, बलवान्, सज्जनोंसे प्रशंसित, सौभाग्यशाली और अभिमानी होता है।
५. शोभन योगमें उत्पन्न मनुष्य व्युत्पन्नमति, सुन्दर, गौरवशाली, श्रेष्ठ बुद्धिमान् और शुभ कार्योंमें तत्पर रहनेवाला होता है।
६. अतिगण्डयोगमें उत्पन्न मनुष्य अभिमानी, कण्ठरोगसे ग्रस्त, क्रोधी, विशाल भुजाओंवाला होता है।
७. सुकर्मायोगमें उत्पन्न बालक सदैव प्रसन्नचित्त, कला-निपुण, श्रेष्ठ पराक्रमी, परोपकारी और श्रेष्ठ कर्म करनेवाला होता है।
८. धृतियोगमें उत्पन्न मनुष्य कुशलवक्ता, प्रसन्न, श्रेष्ठ, सभामें बोलनेवाला, सदाचारी और नीतिबान् होता है।
९. शूलयोगमें उत्पन्न मनुष्य दरिद्र, रोगी, दुष्कर्मी, विद्या-विनयहीन और कदाचित शूलरोगसे ग्रस्त होता है।

१०. गण्डयोगमें उत्पन्न मनुष्य धूर्त्त, मित्रोंके कार्यसे विमुख, दुःखी, कठोर स्वभाववाला और क्रोधी होता है।

११. वृद्धियोगमें उत्पन्न बालक वस्तुओंके संग्रहमें कुशल, क्रय-विक्रयसे धनार्जन करनेवाला, नियमपालनसे सौभाग्यशाली होता है।

१२. ध्रुवयोगमें उत्पन्न मनुष्यके घरमें अचल लक्ष्मी और मुखमें सरस्वती सदा वास करती है। वह विपुल कीर्त्तिमान् होता है।

१३. व्याघात योगमें उत्पन्न मनुष्य क्रूर, अल्पबुद्धि, अदूरदर्शी, निर्दय, ऊँची ठोड़ीवाला, असत्यप्रिय, कलहप्रिय और विश्वासघाती होता है।

१४. हर्षणयोगमें उत्पन्न मनुष्य चिकनी देहवाला, शास्त्रोंको पढ़नेवाला, सुन्दर आभूषण और लाल वस्त्र धारण करनेवाला और शत्रु-विनाशक होता है।

१५. वज्रयोगमें उत्पन्न मनुष्य बुद्धियुक्त, गुणवान्, पराक्रमी, सत्यरहित, रत्न-परीक्षक, रत्नजटित आभूषण एवं वस्त्र धारण करनेवाला होता है।

१६. सिद्धियोगमें उत्पन्न मनुष्य उदार चित्त, चतुर, श्रेष्ठ शीलवान्, शास्त्रज्ञ, बलवान् और निरन्तर उन्नति करनेवाला होता है।

१७. व्यतिपात-योगमें उत्पन्न मनुष्य उदार बुद्धि, मातृ-पितृ-वचनपालक, रोगी, कठोर चित्त और परकार्य-विनाशक होता है।

१८. वरीयान योगमें उत्पन्न मनुष्य प्रारब्धसे प्राप्त भोगोंका भोक्ता, श्रेष्ठ, विनम्र, अल्पधनयुक्त, शुभ कार्योंमें धन व्यय करनेवाला, सुकर्मा होता है।

१९. परिघयोगमें उत्पन्न मनुष्य मिथ्या साक्षी, अनेक अभियुक्तोंकी प्रतिभूति (जमानत) करनेवाला, निर्दय, चतुर, अल्पभोजी, शत्रुजेता और निर्भय होता है।

२०. शिवयोगमें उत्पन्न मनुष्य श्रेष्ठ, मन्त्रशास्त्रमें तत्पर, जितेन्द्रिय, सुन्दर देहधारी और शिव-कृपासे सदैव कल्याणका भागी बनता है।

२१. सिद्धयोगमें उत्पन्न मनुष्य जितेन्द्रिय, सत्यमें तत्पर, अति गौरवर्ण, सर्वकार्य-दक्ष होता है। उसके सभी कार्य सिद्ध हो जाते हैं।

२२. साध्य योगमें उत्पन्न मनुष्य दृढनिश्चयी, विनम्र, हास्ययुक्त, कार्यकुशल, शत्रुजेता, श्रेष्ठ विद्यायुक्त और मन्त्रसाधक होता है।

२३. शुभ योग में उत्पन्न मनुष्य शुभ कार्योंका प्रचार करनेवाला, मधुरभाषी, शुभ लक्षण-सम्पन्न और श्रेष्ठ उपदेशक होता है।

२४. शुक्लयोगमें उत्पन्न मनुष्य जितेन्द्रिय, सत्यवक्ता, पराक्रमी, शास्त्रार्थ

और युद्धमें विजयी, सम्मानित और श्वेताम्बरधारी होता है।

२५. ब्रह्मयोगमें उत्पन्न मनुष्य विद्याप्रेमी, सदाचारी, आदरयुक्त, शान्त, तपस्वी और शोभन कर्म करनेवाला होता है।

२६. ऐन्द्रयोगमें उत्पन्न मनुष्य चतुर, बलवान्, समृद्ध, कफकी प्रकृतिवाला, अति पराक्रमी और अपने वंशमें राजा होता है।

२७. वैधृति योगमें उत्पन्न मनुष्य चंचल, चुगलखोर, दुष्टोंसे मैत्री करनेवाला, शास्त्र-भक्तिसे रहित, भयमें दत्तचित्त और अधीर होता है।

करण

बव, वालव, कौलव, तैत्तिल, गर, वणिज, विष्टि, शकुनि, चतुष्पद, नाग और किंस्तुघ्न ये ११ करण होते हैं। इनके अधिष्ठातृ देवता क्रमशः ये हैं — इन्द्र, कमलज, मित्र, अर्यमा, भू, श्री, यम, कलि, वृष मारुत और फणी। बवादि सात करण शुक्ल प्रतिपदाके शेषार्धसे कृष्ण चतुर्दशीके प्रथमार्धतक और अवशिष्ट चार करण कृष्ण चतुर्दशीके शेषार्धसे शुक्ल प्रतिपदाके प्रथमार्धतक रहते हैं।

करणफल

१. बवकरणमें उत्पन्न बालक कामी, दयावान्, बलवान्, सदाचारी, अति चतुर, शीघ्रगामी, भाग्यवान् एवं बहुत सम्पत्तिशाली होता है।

२. बालवकरणमें जन्म लेनेवाला मनुष्य शूरवीर, अत्यन्त बलवान्, सुन्दर, विलासी, कवि, दानी, अति बुद्धिमान् और कला-निपुण होता है।

३. कौलवकरण में उत्पन्न मनुष्य कामी, बुद्धिमान्, बहुतोंका प्रिय, स्वतंत्र, बहुमित्रवान्, सबल और कोमलवाणी बोलनेवाला होता है।

४. तैतिलकरणमें उत्पन्न मनुष्य सुन्दर, कोमल देहवाला, काम-केलि, हास्य-विलासमें प्रीति करनेवाला, वाणी-विलासमें चतुर, श्रेष्ठ शीलवाला, बुद्धिमान् और चञ्चल नेत्रोंवाला होता है।

५. गरकरणमें उत्पन्न मनुष्य परोपकारी, विचारशील, चतुर, शत्रुओंका जेता, शूरवीर, धैर्यवान् और उदार होता है।

६. वणिजकरणमें उत्पन्न मनुष्य कला-प्रवीण, हास्य-प्रिय, चतुर, सम्मानपूर्वक व्यापारसे धनार्जन करता है।

७. विष्टिकरणमें उत्पन्न मनुष्य सुन्दर मुखवाला, चपल, बलवान्, हास्य-विलासयुक्त, शत्रुका हन्ता, दुष्टबुद्धि और बहुत सोनेवाला होता है।

८. शकुनिकरणमें उत्पन्न मनुष्य अत्यन्त सुन्दर, बुद्धिमान्, मंत्रविद्या-निष्णात, गुणवान्, सतर्क जनोंसे मैत्री करनेवाला, सौभाग्यशाली और शकुनज्ञाता होता है।

९. चतुष्पदकरणमें उत्पन्न मनुष्य अपवित्र वस्तुका संग्रह न करे, वह क्षीण शरीरवाला और पशुओंसे समृद्ध होता है।

१०. नागकरणमें उत्पन्न बालक खोटे स्वभाववाला, उलटा चलनेवाला, बलवान्, दुष्टात्मा, क्रोधसे नष्ट बुद्धिवाला, कलहप्रिय, कुलशत्रु, कुल-विनाशक और रणधीर होता है।

११. किंस्तुघ्नकरणमें उत्पन्न मनुष्य धर्म और अधर्ममें बराबर, देहमें और कामशक्तिमें दुर्बल, क्षणिक मैत्री एवं शत्रुतावाला होता है।

नक्षत्रफल (मानसागरी पद्धति)

१. अश्विनी नक्षत्रोत्पन्न मनुष्य सुरूपवान्, मनोहर, दक्ष,वीर, स्थूलदेह, अतिधनी और मनुष्योंका प्रिय होता है।

२. भरणी नक्षत्रोत्पन्न मानव नीरोग, सत्यवक्ता, अतिपराक्रमी, सुखी और धनी होता है।

३. कृत्तिका नक्षत्रोत्पन्न मनुष्य कृपण, पापी, क्षुधावान् और नीचकर्मा होता है।

४. रोहिणी नक्षत्रोत्पन्न मानव धनी, कृतज्ञ, बुद्धिमान्, राजासे सत्कृत, प्रियवक्ता, सत्यवादी और सुन्दर रूपवान् होता है।

५. मृगशिरा नक्षत्रोत्पन्न मनुष्य चपल, चतुर, गम्भीर स्वभाववाला, कूट कर्मोंमें अकर्म करनेवाला, अहंकारी और ईर्ष्यालु होता है।

६. आर्द्रा नक्षत्रोत्पन्न मनुष्य कृतघ्न, क्रोधी, पापी, शठ और दरिद्र होता है।

७. पुनर्वसु नक्षत्रोत्पन्न मनुष्य शान्त स्वभाववाला, सुखी, भोगी, मनोहर, सर्वप्रिय और पुत्र-मित्रादिसे युक्त होता है।

८. पुष्यनक्षत्रोत्पन्न मनुष्य देवपूजक, धार्मिक, धनी, पुत्रवान्, विद्वान्, शान्तचित्त, मनोहरवपु और सुखी होता है।

९. आश्लेषा नक्षत्रोत्पन्न मनुष्य भक्ष्याभक्ष्य भोजी, नीचकर्मा, कृतघ्न, धूर्त्त, शठ और कामी होता है।

१०. मघा नक्षत्रोत्पन्न मनुष्य अनेक सेवकोंवाला, धनवान्, भोगी, पितृभक्त, बहूद्यमी, सेनापति और राजसेवी होता है।

११. पूर्वाफाल्गुनी नक्षत्रोत्पन्न मनुष्य विद्या, गौ और धनसे सम्पन्न, गम्भीर स्वभाववाला, स्त्रियोंका प्रिय, सुखी, पण्डित और पूजित होता है।

१२. उत्तराफाल्गुनी नक्षत्रोत्पन्न मनुष्य तपःक्लेशको सहनेवाला, मधुरभाषी, धनुर्विद्या-निपुण, महान् योद्धा और जनप्रिय होता है।

१३. हस्त नक्षत्रोत्पन्न मनुष्य असत्यवादी, निर्दय, मद्यप, बंधुहीन, चोर और परस्त्रीगामी होता है।

१४. चित्रा नक्षत्रोत्पन्न मनुष्य स्त्री-पुत्रसे युक्त, संतोषी, धन-धान्यादिसे पूर्ण, देवता और ब्राह्मणका भक्त होता है।

१५. स्वाति नक्षत्रोत्पन्न मनुष्य अतिचतुर, धर्मात्मा, कृपण, दार-प्रिय, सुन्दर शील-स्वभाववाला और देवभक्त होता है।

१६. विशाखा नक्षत्रोत्पन्न मनुष्य अत्यन्त लोभी, अभिमानी, निष्ठुर, कलहप्रिय और वेश्यागामी होता है।

१७. अनुराधा नक्षत्रोत्पन्न मनुष्य परोपकारी, विदेशमें रहनेवाला (प्रवासी), बन्धुओंका आश्रयदाता और दयालु होता है।

१८. ज्येष्ठा नक्षत्रोत्पन्न मनुष्य बहु-मित्रयुक्त, प्रधान, कवि, तपस्वी, अतिचतुर, धार्मिक और शूद्रोंसे पूजित होता है।

१९. मूल नक्षत्रोत्पन्न मनुष्य सुखी, धन-वाहन-सम्पन्न, हिंसक, बलवान्, स्थिरचित्त, शत्रुनाशक एवं पुण्यशाली होता है।

२०. पूर्वाषाढा नक्षत्रोत्पन्न मनुष्य दृष्टमात्र ही परोपकार करनेवाला, भाग्यवान्, लोकप्रिय और समस्त वस्तुवेत्ता होता है।

२१. उत्तराषाढा नक्षत्रोत्पन्न मनुष्य बहुमित्रयुक्त, सुंन्दर वेषधारी, मधुरभाषी, सुखी, शूरवीर और विजेता होता है।

२२. अभिजित् नक्षत्रोत्पन्न मनुष्य सत्संगी, उत्तम कीर्त्तियुक्त, सुरूपवान् देवों और ब्राह्मणोंका पूजक, यथार्थवादी और स्वकुल-प्रधान होता है।

२३. श्रवण नक्षत्रोत्पन्न मनुष्य सुकृती, सुन्दर, दानी, सकल गुणयुक्त, धनवान् और बहु संततियुक्त होता है।

२४. धनिष्ठा नक्षत्रोत्पन्न मनुष्य संगीतज्ञ, बन्धु-पूजित, स्वर्ण-रत्नाभूषणोंसे मण्डित और सैकड़ों सेवकोंका स्वामी होता है।

२५. शतभिषा नक्षत्रोत्पन्न मनुष्य परस्त्रीगामी, कृपण, धनी तथा प्रवासी होता है।

२६. पूर्वाभाद्रपद नक्षत्रोत्पन्न मनुष्य वाचाल, सुखी, सन्तानयुक्त, अतिनिद्रालु और निरर्थक होता है।

२७. उत्तराभाद्रपद नक्षत्रोत्पन्न मनुष्य गौरवर्ण, सत्त्वगुणयुक्त, धर्मज्ञ, शत्रुविनाशक और देवतुल्य, पराक्रमी और साहसी होता है।

२८. रेवती नक्षत्रोत्पन्न मनुष्य सर्वांग सुन्दर, दक्ष, साधु, शूर, चतुर और समृद्ध होता है।

गण-ज्ञान

१. *देवतागण :* अश्विनी, मृगशिरा, रेवती, हस्त, पुष्य, पुनर्वसु, अनुराधा, श्रवण, स्वातिनक्षत्र।

२. *मनुष्यगण :* पूर्वा३, उत्तरा३, आर्द्रा, रोहिणी, भरणी, नक्षत्र।

३. *राक्षसगण :* कृतिका, मघा, आश्लेषा, विशाखा, शतभिषा, चित्रा, ज्येष्ठा, धनिष्ठा और मूल नक्षत्र।

गणफल

१. देवतागणवाला मनुष्य सुन्दर, दानी, शीलवान्, मतिमान्, सरल स्वभाव, अल्पभोजी और महाप्राज्ञ होता है।

२. मनुष्यगणवाला मनुषय मानी, धनी, विशाल नेत्रोंवाला, लक्षवेध धनुर्धारी, गौरवर्ण और पुरजनप्रिय (नगरवासी जनोंका प्रिय) होता है।

३. राक्षसगणवाला मनुष्य मतवाला, भयंकर, युद्धप्रिय, दुःशील और प्रमेही होता है।

तिथिफल (मानसागरी पद्धति)

१. प्रतिपदा तिथिमें उत्पन्न बालक शत्रु-विनाशक, निर्धन, कुल-सन्तापक और दुर्व्यसनी होता है।

२. द्वितीया तिथिमें उत्पन्न बालक परस्त्रीरत, सत्यता और पवित्रतासे हीन, चोर और स्नेहहीन होता है।

३. तृतीया तिथिमें उत्पन्न बालक बुद्धिहीन, अत्यन्त विकल, धनहीन तथा परद्वेषी होता है।

४. चतुर्थी तिथिमें उत्पन्न बालक अति सौभाग्यशाली, दानी, मित्रस्नेही, चतुर, धन और सन्तानसे युक्त और माता-पिताका पूर्ण सुख पाता है।

५. पञ्चमी तिथिमें उत्पन्न बालक व्यवहारकुशल, गुणग्राही, माता-पिताका रक्षक, दानी, भोगी और शरीरका ध्यान रखनेवाला होता है।

६. षष्ठी तिथिमें उत्पन्न बालक अनेक देशोंमें पर्यटन करनेवाला, सदैव कलहमें और उदरपूर्त्तिमें संलग्न रहता है।

८. सप्तमी तिथिमें उत्पन्न बालक संतोषी, तेजवान्, सौभाग्यशाली, गुणी, धनी और पुत्रवान् होता है।

८. अष्टमी तिथिमें उत्पन्न बालक धार्मिक, सत्यवादी, दानी, भोक्ता, दयालु, गुणी और समस्त कार्योंमें कुशल होता है।

९. नवमी तिथिमें उत्पन्न बालक देवपूजक, पुत्रवान्, धन और स्त्रीमें आसक्त और शास्त्राभ्यासमें संलग्न रहता है।

१०. दशमी तिथिमें उत्पन्न बालक धर्माधर्मका ज्ञाता, देवाराधक, अग्निहोत्री, तेजस्वी और सुखी होता है।

११. एकादशी तिथिमें उत्पन्न बालक अल्प धैर्यवान्, राजाके स्थानमें रहनेवाला, सुरूपवान्, धन, पुंत्र और विद्यासे सम्पन्न होता है।

१२. द्वादशी तिथिमें उत्पन्न बालक चञ्चल, दुबले शरीरवाला और देशाटन करनेवाला होता है।

१३. त्रयोदशी तिथिमें उत्पन्न बालक महासिद्ध, महाविद्वान्, शास्त्राभ्यासी, जितेन्द्रिय और परोपकारी होता है।

१४. चतुर्दशी तिथिमें उत्पन्न बालक धनवान्, धर्मशील, शूरवीर, सत्यवादी, राज-सम्मानित, यशस्वी और शक्ति प्राप्त करनेवाला होता है।

१५. पूर्णिमा तिथिमें उत्पन्न बालक धनी, बुद्धिमान्, बहुभोजी और परस्त्रीगामी होता है।

१६. अमावस्या तिथिमें उत्पन्न बालक आलसी, ईर्ष्यालु, क्रोधी, मूर्ख, पराक्रमी और ज्ञानी होता है।

नन्दा	–	१, ६, ११
भद्रा	–	२, ७, १२
जया	–	३, ८, १३
रिक्ता	–	४, ९, १४
पूर्णा	–	५, १०, १५

नन्दादि तिथिफल

१. नन्दातिथिमें जन्म लेनेवाला मनुष्य महामना, पण्डित, देवभक्त, ज्ञानी और सर्वप्रिय होता है।

२. भद्रातिथिमें उत्पन्न मनुष्य बन्धुओंसे सम्मानित, राजसेवी, धनी, सांसारिक भय (मृत्यु)-से डरनेवाला और परमार्थी होता है।

३. जयातिथिमें उत्पन्न मनुष्य राजपूजित, पुत्र-पौत्रादिसे युक्त, शूरवीर, शान्तचित्त, चिरञ्जीवी और दूसरोंके मनको जाननेवाला होता है।

४. रिक्ता तिथिमें जन्म लेनेवाला मनुष्य तर्क-वितर्कका ज्ञाता, अविवेकी, गुरु-निन्दक, शास्त्रज्ञ और कामी होता है।

५. पूर्णातिथिमें उत्पन्न मनुष्य धनुर्वेद और शस्त्रास्त्रके तत्त्वका ज्ञाता, सत्यवादी, सुचित्त और सुविज्ञ होता है।

मासफल

१. चैत्रमासोत्पन्न बालक दर्शनीय, अहंकारी, श्रेष्ठ कार्य करनेवाला, क्रोधी और चपल स्त्रीवाला होता है।

२. वैशाख मासोत्पन्न बालक भोगी, सर्वसुख-सम्पन्न, धनी, अच्छे चित्तवाला, क्रोधी, सुन्दर नेत्रोंवाला और रूपवती स्त्रियोंका प्यारा होता है।

३. ज्येष्ठ मासोत्पन्न बालक विदेशोंमें भ्रमण करनेवाला, उदारचेता, दीर्घायु और बुद्धिमान् होता है।

४. आषाढ मासोत्पन्न बालक पुत्र-पौत्रादिकोंसे युक्त, धार्मिक, धननाशसे पीडित, सुन्दर वर्णवाला और अल्पसुख भोगनेवाला होता है।

५. श्रावण मासोत्पन्न बालक सुख, दुःख और हानि-लाभमें एकसमान चित्तवाला, स्थूल देह और सुरूपवान् होता है।

६. भाद्रपद मासोत्पन्न बालक सदा प्रसन्न रहनेवाला, बहुभाषी, पुत्रवान्, सुखी, मधुरभाषी, सुन्दर और शीलवान् होता है।

७. आश्विन मासोत्पन्न बालक सुन्दर, सुखी, कवि, शुचि, गुणी, धनी और कामी होता है।

८. कार्तिक मासोत्पन्न बालक धनी, कामी, बुद्धिमान्, दुष्टात्मा, क्रय-विक्रय करनेवाला, पापी होता है।

९. मार्गशीर्ष मासोत्पन्न बालक मधुरभाषी, धनी, बहुत मित्रोंवाला, पराक्रमी और परोपकारी होता है।

१०. पौष मासोत्पन्न बालक शूर, उग्र, प्रतापी, पितरों और देवताओंको न माननेवाला और ऐश्वर्यशाली होता है।

११. माघ मासोत्पन्न बालक बुद्धिमान्, धनवान्, शूरवीर, कटुभाषी, कामी

और युद्धमें धीर होता है।

१२. फाल्गुन मासोत्पन्न बालक शुक्लवर्णवाला, परोपकारी, धनवान्, विद्यावान्, सुखी और सदा विदेशमें भ्रमण करनेवाला होता है।

मलमास (पुरुषोत्तममास)-का फल

मलमासोत्पन्न मनुष्य सांसारिक विषयोंसे विरक्त, श्रेष्ठ कार्य करनेवाला, तीर्थयात्रा करनेवाला, नीरोग, सर्वप्रिय और अपना हित करनेवाला होता है।

वारफलम्

रविवारमें उत्पन्न बालक शूरवीर, थोड़े केशवाला, रणमें विजयी, रक्त-श्याम वर्ण, पित्त प्रकृतिदाता, उत्साही और महा तेजस्वी होता है। पहले मासमें, छठे, तेईसवें और बत्तीसवें वर्षमें पीड़ा होती है। उसकी आयु साठ वर्ष होती है।

सोमवारमें उत्पन्न मनुष्य पण्डित, शान्त स्वभाववाला, प्रियभाषी, व्यवहारकुशल, सदा राजाका आश्रित तथा सुख-दुःखमे समान रहता है। आठवें, ग्यारहवें और सोलहवें महीनेमें तथा सत्ताईसवें वर्षमें पीड़ा होती है और वह ८४ वर्ष जीवित रहता है।

मङ्गलवारमें जन्मा मनुष्य कटाक्ष-सहित बोलनेवाला, युद्ध-प्रिय, राजमंत्री, भूमिसे जीविका करनेवाला, सत्त्वगुणी तथा तीक्ष्ण स्वभावका होता है। दूसरे व बत्तीसवें वर्षमें पीड़ा होती है। ससत रोगी रहता हुआ वह ७४ वर्ष जीवित रहता है।

बुधवारमें जन्म हो तो सुन्दर स्वरूप, कोमल वचनभाषी, सम्पत्तियुक्त, कलाओंमें कुशल, व्यापारमें अभिज्ञ, पण्डित और गुणज्ञ होता है। आठवें मासमें और आठवें वर्षमें पीड़ा होती है और वह ६४ वर्ष जीवित रहता है।

बृहस्पतिवारमें उत्पन्न मनुष्य विद्वान् धनी, गुणवान्, सुन्दर शरीरवाला, राजासे मनोवाञ्छित सिद्धिको प्राप्त करनेवाला, गुरुजनोंका प्रिय तथा लोकमें मान्य होता है। सातवें, तेरहवें या सोलहवें मासमें पीड़ा होती है और वह ८४ वर्ष जीवित रहता है।

शुक्रवारमें जन्म लेनेवाला मनुष्य काले, घुँघराले बालोंसे युक्त, प्रसन्न मुख, अति बुद्धिमान्, श्वेत (स्वच्छ) वस्त्रोंको चाहनेवाला तथा सन्मार्गगामी होता है। वह बालक नीरोग रहता हुआ साठ वर्षतक जीवित रहता है।

शनिवारमें उत्पन्न मनुष्य असमयमें ही बुढापेसे युक्त अर्थात् जवानीमें ही

शिथिलताके लक्षणवाला), दुर्बल देह, तामसी और दुष्ट स्वभाववाला होता है। पहले महीने और तेरहवें वर्षमें पीड़ा होती है। फिर पुष्ट देह होकर सौ वर्ष जीवित रहता है।

काल-प्रकरणम्

कालके शुभाशुभत्वके ज्ञान-हेतु काल-प्रमाणोंको जानना आवश्यक है—

वर्षमासो दिनं लग्नं मुहूर्त्तश्चेति पञ्चकम्।
कालस्यांगानि मुख्यानि प्रबलान्युत्तरोत्तरम्॥

ऋषि-मुनियोंने कालके मुख्यतः पाँच अंग माने हैं – १. वर्ष, २. मास, ३. दिन, ४.लग्न, ५. मुहूर्त्त। ये उत्तरोत्तर बली होते हैं।

लग्नं दिनभवं हन्ति मुहूर्त्तः सर्वदूषणम्।
तस्मात् शुद्धिः मुहूर्त्तस्य सर्वेषु कार्येषु शस्यते॥

लग्न श्रेष्ठ होनेपर दिन दोषमुक्त हो जाता है। मुहूर्त्त श्रेष्ठ होनेपर लग्नादि तकके सभी दोष दूर हो जाते हैं।

मेष - कन्या तक सूर्यका उत्तरगोल।

तुला - मीन तक सूर्यका याम्यगोल।

पञ्चक विचार

धनिष्ठा नक्षत्रके उत्तरार्ध (आधा धनिष्ठा बीत जानेपर)-से प्रारम्भ होकर शतभिषा, पूर्वा भाद्रपद, उत्तरा भाद्रपद और रेवती नक्षत्रोंके समयको पञ्चक कहते हैं। इस पञ्चकके समय केवल पाँच काम नहीं करने चाहिएँ – दक्षिण दिशाकी यात्रा, मुर्दा जलाना, घास-फूस, लकड़ी इकट्ठी करना, घर छवाना (छप्पर या छत डालना या छवाना) और खाट बुनना। इन पाँचों कार्योंके अतिरिक्त सब प्रकारके शुभ कार्य; जैसे – हवन, गृह-प्रवेश, नए व्यापारका प्रारम्भ तथा अन्य सब प्रकारके शुभ कार्य किए जा सकते हैं। धनिष्ठा, शतभिषा और रेवती तीनों मंगल नक्षत्र हैं। ये तीनों पञ्चकके अन्तर्गत आते हैं किन्तु इनका पञ्चकसे कोई सम्बन्ध नहीं है। इनमें सब मंगल कार्योंके साथ देवकार्य और पितृकार्य अर्थात् अस्थि-संचय, दशरात्र, एकाह, दशाह, द्वादशाह, षोडशाह, मासिक श्राद्ध, वार्षिक श्राद्ध तथा अन्य सब प्रकारके पितृकार्य किए जा सकते हैं।

किन्तु शवको पाँच दिनतक नहीं रखा जा सकता; इसलिये यह शास्त्रीय

विधान है —

तीर्थे भागीरथीतीरे सरित्सागरसङ्गमे।
महाश्मशाने दाहे तु पञ्चको न हि दूष्यते॥

अर्थात् तीर्थमें, गंगाके किनारे, नदी और समुद्रके संगममें तथा महाश्मशान (काशी)-में दाह-संस्कार करनेपर पञ्चकका दोष नहीं लगता। यदि किसी कारण भूलसे शवका दाहकर्म कर दिया गया हो तो शुद्धि होनेपर १३ दिन बाद पाँच दिनतक प्रातः पाँच पाँच सौ पञ्चाक्षर मंत्र 'ॐ नमः शिवाय' स्वयं जपे या किसी पण्डितसे जपवा लेना चाहिए।

जो पर्व जिस दिन और जिस समयके लिये पंचांगमें विहित बताए गए हैं, उन्हें उसी समय करना चाहिए। पञ्चकसे उनका कोई सम्बन्ध नहीं है।

मूल विचार

अश्विनीकी पहली तीन घड़ी (१ घंटा १२ मिनट), मघाकी पहली चार घड़ी (१घंटा ३६ मिनट), मूल नक्षत्रकी पहली नौ घड़ी (३ घंटे ३६ मिनट), रेवतीके अन्तकी चार घड़ी (१घंटा ३६ मिनट), आश्लेषाकी अन्तिम ग्यारह घड़ी (४ घंटे २४ मिनट) और ज्येष्ठाकी अन्तिम छह घड़ी (२ घंटे २४ मिनट)-में मूल दोष होता है। गण्ड मूलमें बालकका जन्म हो तो बारहवें या सत्ताईसवें दिन मूल शान्ति करा लेनी चाहिए।

किन्तु आजकल अस्पतालोंमें बच्चोंका जन्म होता है और स्वभावतः बालकको घर लानेवाले पिता उसका मुँहँ देख लेते हैं, इसीलिये उस दोषका परिहार बताया गया है — 'पञ्चाक्षर महामन्त्रः मूल दोर्ष विनश्यति' अर्थात् 'ॐ नमः शिवाय'-का जप करके बालकका मुँहँ देख लेनेसे मूल दोषनहीं लगता; और फिर यह भी कहा गया है — 'विष्णोरर्चनमात्रेण मूलशान्तिर्भवेद् ध्रुवम्' अर्थात् विष्णुकी पूजा मात्रसे मूलकी शान्ति हो जाती है क्योंकि मूल शान्तिके नियमके अनुसार २७ कुँओंका जल और हस्तिशाला, अश्वशाला, राजद्वार, ह्रद (तालाब) आदि २७ स्थानोंकी मिट्टी ला सकना सम्भव नहीं है, इसलिये विष्णुकी षोडशोपचार पूजा ही पर्याप्त है।

व्रतमें लेनेसे दोष नहीं

व्रतमें निम्नांकित पदार्थोंका सेवन करनेसे व्रत खण्डित नहीं होता —

अष्टैतान्यव्रतघ्नानि आपो मूलं फलं पयः।
हविर्ब्राह्मणकाम्यं च गुरोर्वचनमौषधम् ॥

अर्थात् जल, मूल, फल, दूध, घी, हवि (यज्ञ या देवताका प्रसाद), ब्राह्मणकी इच्छा पूरी करने, गुरुके आदेश तथा ओषधिके सेवनसे व्रतमें कोई दोष नहीं होता।

हवन

प्रत्येक गृहस्थको पञ्चमहायज्ञ नित्य-प्रति करने चाहिएँ। ब्रह्म यज्ञवेदादि पढ़ना), देवयज्ञ (प्रातः-सायं हवन करना), पितृयज्ञ (तर्पण और श्राद्ध करना), जलका घड़ा, चूल्हा-चक्की, झाड़ू और ओखली, इन पाँचके कारण अनजानेमें बहुत जीवोंकी हत्या हो जाती है, जिसे पञ्चशूना (पाँच पाप) कहते हैं; इस जीवहत्याके पापसे मुक्तिके लिये बलिवैश्वदेव (भूतयज्ञ) किया जाना चाहिए और नृयज्ञ या अतिथि-यज्ञ (कोई भी, किसी भी जातिका अतिथि किसी भी समय आ जाय, उसका भोजनादिसे सत्कार करना अतिथि-यज्ञ कहा जाता है। आजकल बहुतसे लोग कहते हैं कि मंगलवार और शनिवारको हवन नहीं करना चाहिए (अग्नि नहीं जलानी चाहिए) किन्तु यह बहुत बड़ा भ्रम है।

स्थिर योग

रविवारका दिन और उत्तराषाढा, उत्तरा भाद्रपद, उत्तरा फाल्गुन, रोहिणी और पुष्य नक्षत्रोंमें सभी शुभ कार्य किए जा सकते हैं। पुष्य नक्षत्रमें विवाह संस्कार और मन्त्रग्रहण नहीं होता। अभिजित् नक्षत्रमें सब प्रकारके शुभ कार्य किए जा सकते हैं। ज्योतिष्शास्त्रमें कहा गया है—

सर्वे ग्रहाः सनक्षत्राः समायन्ति परासुव।
तस्माद् सर्वेषु कार्येषु ह्यभिजित् फलदो भवेत् ॥

अभिजित् नक्षत्रमें सारे ग्रह और सब नक्षत्र निष्प्राण हो जाते हैं; इसलिये अभिजित् नक्षत्रमें सब प्रकारके मंगलकार्य किए जा सकते हैं। यह नक्षत्र प्रतिदिन ११.३७ बजे से १२.२४ बजेतक नित्य प्रति रहता है किन्तु अशौच यदि हो तो कोई कार्य नहीं करना चाहिए।

इनके अतिरिक्त धनिष्ठा, शतभिषा और रेवती नक्षत्रोंमें किए गए सब मंगलकार्य सफल होते हैं। साथ ही विष्टि अर्थात् भद्रामें कोई कार्य नहीं करना चाहिए। पंचाङ्गोंमें भ, पू, भ, उ लिखा जाता है, अर्थात् भद्रासे पहले और भद्राके पश्चात् ही निर्धारित कार्य करने चाहिएँ। सब प्रकारके पर्व यथासमय पंचाङ्गके अनुसार सम्पन्न करने चाहिएँ।

परिशिष्ट सं० १

सोमलताका लक्षण, उत्पत्ति-स्थान एवं गुण

जिन ज्योतिष्टोम, पावमानेष्टि, महारुद्रयाग, वैश्वानर याग, वाजपेय, राजसूय आदि यज्ञोंमें सोमरसका प्रयोग किया जाताहै, उस लताके विषयमें संक्षिप्त-सा निरूपण करना आवश्यक है।

सोम एक प्रकारका पौधा-विशेष माना गया है, जिसका प्रयोग वैदिक सोम यज्ञके समय हविका निर्माण करनेके लिये किया जाता था। अमरकोशमें सोमके जो २० पर्यायवाची दिए गए हैं, वे चन्द्रमाके हैं;[१] किन्तु अमरकोशमें ही सोमलताके जो वत्सादिनी, छिन्न रूहा, गुडुची, तन्त्रिका, अमृता, जीवन्तिका, सोमवल्ली, विशल्या, मधुपर्णी ये नौ नाम दिए गए हैं, वे गिलोयके ही हैं, वैदिक सोमवल्लीके नहीं।[२] निरुक्तके निघण्टुमें 'सोमो अक्षाः'[३], सोमानम्[४] तथा सोमः[५] — ये तीन शब्द प्राप्त होते हैं, किन्तु इनका सम्बन्ध भी वैदिक सोमलतासे नहीं लगाया जा सकता, क्योंकि सोमो अक्षाः का अर्थ है गो-दुग्धके साथ सोम मिलाना और सोमानस्का अर्थ सोमका रस निकालनेवाला बताया गया है तथा सोम उस ओषधिका नाम बताया गया है, जिसका रस निकाला जाता है। आयुर्वेद निघण्टुमें भी सोमवल्लीसे गिलोयका ही अर्थ निकलता है।[६]

वैद्यकके प्रसिद्ध ग्रन्थ सुश्रुत संहिताके चिकित्सा-स्थानमें सोम रसायन विषयक एक पूरा (२९वाँ) अध्याय है, जिसमें सोमवल्लीका विस्तृत विवरण दिया गया है। वहाँ कहा गया है कि ब्रह्मादिकोंने जरा-मृत्यु समाप्त करनेके

---

१. अमरकोश १/३
२. वहीं २/३/८३
३. निघण्टु ४/३
४. वहीं ५/३
५. वहीं ५/५
६. आयुर्वेद निघण्टु श्लोक ३१८

लिये सोम नामक अमृत बनाया था जो नाम, रूप,रंग, स्थान आदिके कारण और विशिष्ट शक्तियोंमें भेदके कारण २४ प्रकारोंमें विभक्त हो गया। सोमके पौधेमें १५-१५ पत्तियाँ होती हैं, जो शुक्ल-पक्षमें चन्द्रमाके साथ बढ़ती हैं तथा कृष्ण-पक्षमें चन्द्रमाकी बढ़ती हुई कलाके साथ क्रमशः घटती जाती हैं। पूर्णिमाके दिन पूरी पन्द्रह सोमपत्तियाँ सोमलतापर होती हैं और अमावस्याके दिन केवल लता मात्र रहती है। ऋग्वेद तथा अथर्ववेदमें सोमके पत्तोंका उल्लेख हुआ है।[१]

सुश्रुत संहिताके अध्याय २९ में ही सोमके उत्पत्ति-स्थलोंका भी उल्लेख है। यथा — हिमालय, अर्बुद[२] (अरावली), सह्याद्रि[३], महेन्द्र पर्वत[४], मलय[५], श्रीपर्वत[६], देवगिरि[७], देवसह[८], पारियात्र[९], विन्ध्य, देवसुन्द तालाब, वितस्तता (झेलम) नदीके उत्तरके बड़े बड़े पर्वत, सिन्धु नद और काश्मीरकी क्षुद्रक नामक सुन्दर झील।

ऋग्वेदके अनुसार सोमवल्ली यौजवान,[१०] शर्यणावत[११], आर्जीकीया[१२],

---

१. ऋग्वेद संहिता ९/७१/९ तथा अथर्ववेद ५/२४/७

२. इसीको आंबू पर्वत कहते हैं, जो वर्त्तमान उड़ीसासे लगभग बाईस कोस दूर हैं।

३. तासी नदीसे कन्याकुमारीतक फैली हुई पश्चिमी घाटकी पहाड़ियाँ सह्याद्रि कही जाती हैं।

४. दक्षिण भारतमें जहाँ त्रिचेनगुड़ी नगर स्थित है, वहाँ तिन्नेवलीका समीपस्थ स्थान महेन्द्र पर्वत है।

५. पश्चिमी घाटका वह भाग जो मैसूरके दक्षिण और त्रावणकोरके पूर्वमें है. कुछ लोग नीलगिरिको मलय कहते हैं।

६. मुम्बई प्रेसीडेंसीके धारवाड़ जिलेके अन्तर्गत। भागवत (५/१९/१६) के अनुसार श्रीपर्वत तीर्थ माना गया है।

७. देवताओंका प्रिय पर्वत जो कैलासके पास है।

८. सोमाकर पर्वतभेद। ये सब पर्वत उत्तरकी ओर विस्तृत हैं।

९. सप्त कुलाचलमें एक। मार्कण्डेय पुराण (५७/१९)-के अनुसार, इसमेंसे १५ नदियाँ निकलती हैं। वृहत्संहिताके अनुसार यह पर्वत कूर्मविभागके मध्यप्रदेशमें अवस्थित है। (अध्याय १४)।

१०. हिमालयका अग्रभाग

११. कुरुक्षेत्रके ऊपरी भागमें हिमालयकी तराईमें विशाल झीलें (अब अनुपलब्ध)

१२. यह नदी का नाम है।

सुषोमा[१] और सिन्धुमें उत्पन्न होती थी।[२] ऋग्वेदमें भूमियोंपर[३] तथा द्युलोकपर[४] इस लताके उत्पन्न होनेका भी उल्लेख है। ऋग्वेदके अनुसार मेघ-द्वारा नभसे सोम भूलोकपर आता है, अर्थात् वर्षाके दिनोंमें यह पहाड़से बहकर नीचे आ जाता है, अथवा ऊँचे पर्वतसे खोजकर नीचे लाया जाता हैं पर्वतोंसे सोमके लानेका उल्लेख कितने ही मंत्रोंमें उपलब्ध होता है।[५] पर्वतपर होनेके कारण ही सोमको पर्वतावृध्[६] तथा गिरिष्ठा[७] कहा गया।

पर्वतपर सोमलताका स्वरूप क्या होता था, इसका विस्तृत विवरण वेदमें उपलब्ध तो नहीं होता किन्तु इतना अवश्य स्पष्ट होता है कि सोम विशिष्ट तुर्रेवाला एक पौधा होता है।[८] यह स्थिर रहनेवाला पौधा जलयुक्त, किन्तु जरा कठिन स्थानपर उगता है।[९] सोम छहों ऋतुओंमें रहता है।[१०]

सोमको हरे रंगवाला[११], भूरे रंगवाला[१२], अनेक रूपोंके हरे रंगवाला[१३], स्वर्गीय, सुन्दर पत्तोंवाला[१४] बताया गया है। एक मन्त्रमें सोमको सुपर्ण कहा गया है।[१५] इस प्रकार विविध रूपसे सोमका वर्णन किया गया है।[१६]

ऋग्वेदमें सोमके अनेक गुण बताए गए हैं। संक्षेपमें गुणोंकी प्रशंसा करते हुए बताया गया है कि सोममें उत्साह और स्फूर्त्ति बढ़ानेकी अपूर्व शक्ति होती है[१७], वह बुद्धिवर्द्धक[१८], आयुवर्द्धक[१९], वीर्यवर्द्धक[२०], यौवनदायक[२१], बलदाता[२२], समस्त मानवोंका हितकारी[२३] और शत्रु-विनाशक[२४] है।

---

१. एक नदी, जिसका उल्लेख भागवत पुराण (५/१/१७) में हुआ है।
२. ऋग्वेद सं० ९/११३/१-२ ३. ऋ०सं० ९/९४/३
४. ऋ०सं० १/११२/३
५. ऋ०सं० ९/१८/१, ९/६२/४, ९/२५/१० तथा ९/९५/४
६. ऋ०सं०९/७१/४ ७. ऋ०सं०९/६२/४
८. ऋ०सं०१/२३/१३ ९. ऋ०सं०१/२३/१३
१०. ऋ०सं०१/२३/१५ ११. ऋ०सं०९/२/६, ९/१०३/२
१२. ऋ०सं०९/३१/५, ९/३३/२ १३. ऋ०सं०९/३४/४
१४. ऋ०सं०९/९६/९४ १५. ऋ०सं०९/८६/१
१६. ऋ०सं०६।४७।३-९ १७. ऋ०सं०१/१४/४
१८. ऋ०सं०९/९७/२६; ६/४७/३, ९/९७/२
१९. ऋ०सं० ९/९०/२ २०. ऋ०सं०८/२/५
२१. ऋ०सं०९/६७/२९ २२. ऋ०सं०९/१/४, ८/३/८.
२३. ऋ०सं०९/१/२ २४. ऋ०सं०९/६९/१०

स्वादके विषयमें भी ऋग्वेदमें एक-जैसा वर्णन नहीं है। विशेषकर सोमको मधुर रसवाला कहा गया है।[१] किन्तु इसके साथ साथ सोमको रसीला[२], तीखे स्वभाववाला[३], तीव्र स्वभाववाला[४], मीठे सोमका गरम रस[५] कहा गया है।

सोमके तीखेपनको मिटाकर और अधिक स्वादिष्ट करनेके लिये उसमें दूध[६], नदियोंका जल,[७], पुरोडाश[८], जल[९], शहद[१०], दधि[११], सत्तू[१२], वृष्टिका जल[१३] तथा आटा आदि मिला दिया जाता था। ऋग्वेदके अनुसार रस निकाला हुआ सोम ही श्रेष्ठ है, रस न निकाला हुआ सोम श्रेष्ठ नहीं है।[१४] अतः सोमरसको ही विशेष महत्त्व दिया जाता है।

वैदिक यज्ञ कर्मकाण्डमें विस्तारपूर्वक देवताओंको सोमरस अर्पण करनेके वृत्तान्त आए हैं। इस सन्दर्भमें इन्द्रका स्थान सर्वोपरि कहा जा सकता है। इन्द्र सोमपान करनेके सर्वप्रथम अधिकारी हैं[१५] तथा उसे सर्वप्रथम सोमपान करनेके लिये सोम दिया जाता है।[१६] इसके अतिरिक्त वरुण देव[१७], आश्विदेव[१८], उषा[१९], विबुधगण[२०], मरुत्[२१], अग्नि[२२], इन्द्रवरुण व अग्निकी पत्नियाँ[२३], इन्द्रकी पत्नी[२४], वायु[२५], मेध्यातिथि[२६], मित्रावरुण[२७], विष्णु[२८], आदित्य, अदिति, मित्र अर्यमा[२९], भग[३०] आदिके सोमपानका

---

१. ऋ०सं० ९/१/१ — २. ऋ०सं० १/१६/६
३. ऋ०सं० १/२३/१ — ४. ऋ०सं० ८/२/१०
५. ऋ०सं० ८/८७/२ — ६. ऋ०सं० ९/१/९
७. ऋ०सं० ८/१/१७ — ८. ऋ०सं० ८/२/११
९. ऋ०सं० १/१०९/४ — १०. ऋ०सं० ७/२४/२
११. ऋ०सं० ७/३२/४ — १२. ऋ०सं० ७/३/७/१
१३. ऋ०सं० ७/४७/१ — १४. ऋ०सं० ६/४१/४
१५. ऋ०सं० ८/२/४ — १६. ऋ०सं० ८/२/२३
१७. ऋ०सं० १/४४ — १८. ऋ०सं० १/४६/१५
१९. ऋ०सं० १/४४ — २०. ऋ०सं० १/४५/९
२१. ऋ०सं० १/६४/१२ — २२. ऋ०सं० १/१४/१०
२३. ऋ०सं० १/२२/१२ — २४. ऋ०सं० १/८२/६
२५. ऋ०सं० १/२३/१ — २६. ऋ०सं० ८/३३/४
२७. ऋ०सं० ९/९७/५ — २८. ऋ०सं० ६/६९/२
२९. ऋ०सं० ७/५१/२ — ३०. ऋ०सं० ९/१०८/१४

वर्णन ऋग्वेदमें विस्तारसे प्राप्त होता है। एक मन्त्रमें सभी देवताओं-द्वारा एक साथ सोमपानका भी वर्णन है।[१]

कुछ मन्त्रोंमें 'स्वाहा' कहकर सोम-प्रदानका विवरण आया है।[२] सोमकी आहुतिका भी उल्लेख किया गया है।[३] इन्द्र और वरुणके निमित्त किए गए सोमके हवनका भी वर्णन ऋग्वेदमें आता है।[४]

कुछ विद्वानोंकी धारणा रही है कि सोमपानसे नशा होता है, लेकिन साक्ष्य सोमको मदिरा सिद्ध नहीं करते हैं। ऋग्वेदसे ज्ञात होता है कि भरपेट सोमपानसे भी नशा नहीं होता।[५] सोमपानसे (सुहार्द) उत्तम हृदयवाला बनता है, सुमतिः (बुद्धि उत्तम होती है), शुचिः (शुचिता आती है) और शुक्रकी वृद्धि होती है तथा एक विलक्षण आनन्दकी, स्फूर्त्तिकी अनुभूति होती है। सोमपान करके ही इन्द्र एक हाथसे वज्र-प्रहार करके वृत्रका वध करता है।[६] सोमकी यही महिमा है कि प्रभूत मात्रामें पीनेपर भी सुमति नष्ट नहीं होती। इन्द्र दिनमें तीन बार सोमपान करता है, लेकिन वह मदहोश नहीं होता एवं सुस्थिर चित्तसे सभी कार्य सम्पन्न करता रहता है।[७]

सोमकी गणना अन्नके अन्तर्गत की गई है[८] सोमको देवताओंका अन्न ही माना गया है।[९] अतएव देवताओंके सोमपानका अति सुन्दर चित्रण ऋग्वेदमें प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ तृषित अश्विदेव मृग-सदृश जल्दी जल्दी सोमपान करते हैं।[१०] यद्यपि इन्द्रके लिये सोमका प्रथम भाग पहले ही रख दिया जाता है[११], तथा अपने शारीरिक बल एवं वेगके अनुरूप ही वे सोमपान करते हैं।[१२] अन्य देवताओंकी अपेक्षा इन्द्रके सोमपानका वर्णन ऋग्वेदमें अधिक आया

---

१. ऋ०सं० ९/१०२/५ २. ऋ०सं० १/११०/१
३. ऋ०सं० १/९४/१४ ४. ऋ०सं० ७/८५/१
५. ऋ०सं० ८/२/१ ६. ऋ०सं० ८/२/३२
७. ऋ०सं० ८/२/१
८. अन्नं वै सोमः (श०ब्रा० ३/९/१/८, ७/२/२/११। एतद्वैदेवानां परमं अन्नं यत्सोमः) तै०ब्रा० १/३/३/२), एष वै सोमो राजा देवानां अन्नम् (श०ब्रा० १/६/४/५), औषधिभ्योऽन्नम् (तै०उप०) ऋ०सं० ६/४१/३ में सोमरस इन्द्रका अन्न कहा गया है।
९. ऋ०सं० ७/६९/६ १०. ऋ०सं० ७/८८/२
११. ऋ०सं० ७/९१/४ १२. ऋ०सं० ७/९२/२

है। वह सोमको अपने उदरमें धारण करता है।[1] उत्पन्न होते ही इन्द्र सोमपान करने लगता है।[2]

देवोंका सोमपान निरर्थक भी नहीं जाता। सोमपान करके वे मानवोंके लिये कल्याणकारी कार्य करते हैं। देव सोमपानसे अति आनन्दित होते हैं। इन्द्र तो सोम पाकर उसी प्रकार आनन्दित होते हैं, यथा घास प्राप्त होनेपर घोड़े।[3] सोमपान करके इन्द्र अनेक पराक्रमके कार्योंको सम्पन्न करता है। वह मनुष्योंके भाग्यकी अभिवृद्धि करता है।[4] कुटिल, कपटी तथा आसुरी आक्रमणोंको निरस्त करता है।[5] वृत्रोंका नाश करता है।[6] शम्बरासुरको मारता है।[7] किलेमें बन्दी गौओंको मुक्त कराता है।[8] सोमरस पिलानेवाले की सुरक्षामें वह कभी पीछे नहीं हटता।[9] सोमके द्वारा पितरोंने प्रकाश और गायें प्राप्त कीं।[10]

उपर्युक्त विवरणसे इतना सुनिश्चित हो जाता है कि जितने भी वीरता, पराक्रम एवं शौर्यसे सम्बन्धित कार्य हैं, वे सभी सोमपान करनेके पश्चात् देवता लोग सम्पन्न करते हैं। साथ ही सोम पिलानेवालोंकी अनेक विपत्तियोंका भी निवारण करते हैं।

परन्तु उक्त सोम धीरे धीरे लुप्त होता चला गया, दूसरे, आर्यगण ज्यों ज्यों दक्षिणकी ओर बढ़े, सोम भी दुष्प्राप्य होता गया। यह सुनिश्चित है कि आर्योंको सोमकी आवश्यकता निरन्तर रहती थी। तब उस समय सोम-विक्रयका कार्य निश्चितरूपेण पर्याप्त चला होगा। अतिरात्रके प्रसंगमें सोमक्रयके कर्मकाण्डमें सोमविक्रेता तथा अध्वर्युके संवादसे यह बात भली प्रकार स्पष्ट हो जाती है जिसका उल्लेख कात्यायन श्रौत सूत्रमें है।

आज सोमलता सर्वथा लुप्त है जिसका कारण स्वयं उसकी दिव्यता है क्योंकि यदि वह उपलब्ध भी हो तब भी पापयुक्त, अधार्मिक, श्रद्धाविहीन व्यक्ति उसे देख नहीं पा सकता। उसके अभिमुख होते हुए भी वह लता अप्रकट ही रहती है। कोई दिव्य प्राणी ही उस दिव्यलताको प्राप्त कर सकता है। उसकी

---

१. ऋ०सं० ७/९२/२ — २. ऋ०सं० ७/९८/२
३. ऋ०सं० ७/५९/३ — ४. ऋ०सं० ९/९७/५
५. ऋ०सं० ७/९८/५ — ६. ऋ०सं० ७/२२/२
७. ऋ०सं० ६/४३/१ — ८. ऋ०सं० ६/४३/३
९. ऋ०सं० ६/२३/९ — १०. ऋ०सं० ९/९७/३९

विलक्षणताका उल्लेख ऋग्वेदमें भी प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ — वह दीप्तिमान् है, प्रकाशित रहता है । रात्रिके समय चमकता है तथा उसका रस भी चमकता है।[1]

आश्वलायनने सोमके स्थानपर पूतिकाका उल्लेख किया है। मराठीमें इसे 'मयाल' कहते हैं। अरुण एवं श्वेत दो प्रकारकी पूतिका उपलब्ध होती है। इसका रस किंचिद् अरुण वर्ण होता है। गुणोंमें यह सोमलताके सदृश होती है। श०ब्रा०पूतिकाके अभावमें अरुण दूर्वाका उल्लेख करता है।[2]



१. ऋ०सं० १/२३/१४ २. श०ब्रा० ४/५/१०/१

परिशिष्ट सं० २

पुरुष सूक्त ऋग्वेद - १० ।९० ।१

ऋषि नारायणः। देवता पुरुषः। अनुष्टुप, १६ त्रिष्टुप्।

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वा ऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥१॥

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनाति रोहति॥२॥

एतावानस्य महिमा ऽतो ज्यायाँश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि॥३॥

त्रिपादूर्ध्व उदैत पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः।
ततो विष्वङ् व्यक्रामत् साशनानशने अभि॥४॥

तस्माद्विराळजायत विराजो अधि पूरुषः।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः॥५॥

यत् पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वन्त।
वसन्तो अस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः॥६॥

तं यज्ञं बर्हिर्षि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः।
तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये॥७॥

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः संभृतं पृषदाज्यम्।
पशून् ताँश्चक्रे वायव्यानारण्यान् ग्राम्याश्च ये॥८॥

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥९॥

तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः।
गावों ह जज्ञिरे तस्मात् तस्माज्जाता अजावयः॥१०॥

यत् पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्।
मुखं किमस्य कौ बाहू का ऊरू पादा उच्येते॥११॥

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्वाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥१२॥

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत।
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत॥१३॥

नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात् तथा लोकाँ अकल्पयन्॥१४॥

सप्तास्यासन् परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः।
देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन् पुरुषं पशुम्॥१५॥

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त, यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः॥१६॥

अथर्ववेद काण्ड १९। सूक्त ६

ऋषि - नारायण - देवता-पुरुषः, छन्द-अनुष्टुप्।
सहस्रबाहुः पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥१॥
त्रिभिः पद्भिर्द्यामरोहत्पादस्येहाभवत्पुनः।
तथा व्यऽक्रामद्विष्वङ् शनानशने अनु॥२॥
तावन्तो अस्य महिमानस्ततो ज्यायाँश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि॥३॥
पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यऽम्।
उतामृतत्वस्येश्वरो यदन्येनाभवत्सह॥४॥
यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यऽकल्पयन्।
मुखं किमस्य किं बाहू किमूरुपादा उच्यते॥५॥
ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्वाहू राजन्योऽभवत्।
मध्यं तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥६॥
चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत।

मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत ॥७॥
नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकाँ अकल्पयन् ॥८॥
विराडग्रे समभवद्विराजो अधि पूरुषः।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः ॥९॥
यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत।
वसन्तो अस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः ॥१०॥
तं यज्ञं प्रावृषा प्रौक्षन्पुरुषं जातमग्रशः।
तेन देवा अयजन्त साध्या वसवश्च ये ॥११॥
तस्मादश्वा अजायन्त ये च के चोभयादतः।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावयः ॥१२॥
तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दो ह जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥१३॥
तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः संभृत पृष्दाज्यऽम्।
पशूँस्तांश्चक्रे वायव्याऽनारण्या ग्राम्याश्च ये ॥१४॥
सप्तास्यासन्परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः।
देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन्पुरुषं पशुम् ॥१५॥
मूर्ध्नो देवस्य बृहतो अंशवः सप्त सप्ततीः।
राज्ञः सोमस्याजायन्त जातस्य पुरुषादधिं ॥१६॥



परिशिष्ट सं० ३

अश्वमेध

'अश्वो घोटकः प्राधान्येन मेध्यते हिंस्यतेऽत्र, मेध हिंसने आधारे घञ्' पूर्वकालका प्रधान यज्ञविशेष। इस यज्ञमें अश्वकी बलि दी जाती थी। अश्वमेध यज्ञके अश्वका वर्ण मेघ सदृश कृष्ण, मुख सुवर्णके तुल्य, उभय पार्श्व अर्धचन्द्राकार चिह्नसे अंकित, पुच्छ विद्युतवत् प्रभायुक्त, उदर कुन्दपुष्प सदृश श्वेतवर्ण, पैर हरा, कर्ण सिन्दूर-सदृश रक्तवर्ण, जिह्वा प्रज्वलित अग्निके समान, चक्षु-सूर्यवत् तेजस्कर, सर्वाङ्गसुन्दर, सुगन्धयुक्त और वेगवान् होता था।

प्राचीनकालमें केवल राजा ही अश्वमेध यज्ञ करते थे। पहले निन्यानवे यज्ञ करके शेषमें अश्व छोड़ना पड़ता था। घोड़ेके कपालमें जयपत्र बाँधकर उसके साथ रक्षकके रूपमें सेना-सामन्त भेजे जाते थे। अश्वमेधका अश्व स्वेच्छासे पृथ्वीपर घूम आता था। यदि कोई पराक्रमी क्षत्रिय-नरेश उस अश्वको रोकता था तो अश्वरक्षक सैनिक उस नरेशसे युद्ध करते थे।

इस यज्ञमें २१ यूप बनाए जाते हैं जिनमें ६ बेलके, ६ खदिरके, ६ पलाशके, २ देवदारुके और एक श्लेषात्मक काष्ठ (लिसोड़ा)-का होता है। इस यज्ञमें गौ, छाग और मेष सब मिलाकर तीन सौ पशु यूपमें बाँधे जाते हैं। बादमें यज्ञीय अश्वका आलभन (वध) कर ब्राह्मण लोग उसके वक्षःस्थलका मेद अग्निमें संस्कार करते हैं। देहके अवशिष्ट अंगोंसे होम किया जाता है। कहा जाता है कि उस समय याज्ञिक जन कदाचित् यज्ञके पश्चात् अश्वका थोड़ा थोड़ा थोड़ा मांस भी खाते थे।

अश्वमेध यज्ञ करनेसे ब्रह्महत्यादि सकल पाप-समूह नष्ट हो जाता है और राजाको स्वर्ग और मोक्ष प्राप्त होता है।

यथाश्वमेधः क्रतुराट् सर्वपापापनोदनः।
तथाघमर्षणं सूक्तं सर्वपापापनोदनम्॥

(मनु० ११।२६१)

अश्वमेध यज्ञके अनुकल्प पृथ्वीके सम्पूर्ण तीर्थोंका भ्रमण है।

वाल्मीकीय रामायणमें महाराजा दशरथके अश्वमेध यज्ञका विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। (रामायण आदिकाण्ड १३, १४ सर्ग)। ऐतरेय ब्राह्मणमें जनमेजय, पारिक्षित, शर्यात मानव, शतानीक सात्राजित, आम्वष्टा, युधांश्रौष्ठि आँग्रसेन्य, विश्वकर्मा भौवन, सुदास पैजवन, मरुत्त आविक्षित, अङ्गराज वैरोचन, भरत दौष्यन्ति, दुर्मुख पाञ्चाल, अत्यराति जानन्तपि प्रभृति राजाओंके अश्वमेध यज्ञका प्रसंग है। (ऐतरेय ब्राह्मण ८ प. ३९ अ. ३ से ९ खण्ड)।

राजेन्द्र वर्मा नामक एक सामन्त राजाने अश्वमेध यज्ञ करनेकी इच्छासे याज्ञिक पण्डित महानन्द पाठकसे 'अश्वमेध पद्धति' का संकलन कराया था। यह पद्धति बहुत विशाल है। इसमें अश्वमेध यज्ञमें आवश्यक द्रव्योंका प्रयोजन तथा उनका अनुष्ठान विस्तारपूर्वक वर्णित है। कलकत्ता एशियाटिक सोसाइटी इसकी एक हस्तलिखित प्रति विद्यमान है।

पूर्वकालमें साधारणतः सार्वभौम राजा अश्वमेध यज्ञ करते थे। किन्तु आजकल हिन्दू समाजमें कोई सार्वभौम राजा नहीं है तो अश्वमेध यज्ञ कैसे किया जा सकता है ? इसके उत्तरमें पद्धतिकार महानन्द पाठकने प्राचीन प्रमाण उद्धृत किए हैं – 'अथ कात्यायनसूत्रेणाश्वमेधः। राजयज्ञोऽश्वमेधः सर्वकामस्य। अभिषेकादिगुणवान् क्षत्रियो राजेत्युच्यते। आपस्तम्ब सूत्रे – राजा सार्वभौम अश्वमेधेन यजेत। सार्वभौम इत्याह माण्डलिकस्यापाधिकारः। इति मेधा क्षत्रियस्य इति वैतानसूत्रात् क्षत्रियमावस्यापाधिकारः।....सिद्धान्त भाष्येतु त्रयाणां वर्णानामधिकार उक्तः।' अर्थात् कात्यायन श्रौतसूत्रके मतसे अश्वमेध राजयज्ञ है। अर्थात् सर्वफलकामनाके लिये राजा मात्र ही अश्वमेध यज्ञ कर सकते हैं , अभिषिक्त और गुणवान् क्षत्रिय मात्र ही राजा कहे जाते हैं। आपस्तम्ब श्रौतसूत्रके अनुसार सार्वभौम राजा ही इस यज्ञको कर सकते हैं। इससे विदित होता है कि माण्डलिकका भी अश्वमेध यज्ञ करनेका अधिकार है। विशेषतः वैतानसूत्रके मतसे क्षत्रियमात्रका एवं सिद्धान्त भाष्यके मतसे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीनों वर्णोंका अधिकार है।

ऋक् संहिता (मण्डल १, सूक्त १६२), तैत्तिरीय संहिता, वाजसनेय संहिता (२२ अध्याय), ऐतरेय ब्राह्मण और शतपथ ब्राह्मणमें (१३ काण्ड) अश्वमेध यज्ञका प्रसंग है। सभी वेदोंके श्रौतसूत्रोंमें भी अश्वमेध यज्ञका विधान विस्तारसे वर्णित है।

परिशिष्ट सं० ४

अष्टविकृति

जटा माला शिखा रेखा ध्वजो दण्डो रथो घनः।
अष्टौ विकृतयः प्रोक्ताः क्रमपूर्वा महर्षिभिः॥

(आठ विकृतियों (जटा, माला, शिखारष, रेखा, ध्वज, दण्ड, रथ और घन)-से क्रमशः वेदका पाठ शुद्ध रखा जाता था)।

जटा-विकृतिः

प्रजापतिश्चरति चरति प्प्रजापति प्रजापतिश्चरति॥ प्रजापतिरिति प्प्रजा। पतिः॥ चरति गर्भे गर्भे चरति-चरति गर्भे। गर्भेऽन्तरन्तगर्भे गर्भेऽअन्त॥ अन्तर-जायमानो जायमानोन्तरन्तरजायमानः॥ अजायमानो बहुधा बहुधा जायमानो जायमानो बहुधा। बहुधा व्विवि बहुधा बहुधा व्वि॥ व्विजायते जायते व्विविजायते॥ जायतऽइति जायते॥ तस्य योनिं योनिं तस्य तस्य योनिम्॥ योनिम्परि परि योनिं योनिम्परि॥ परि पश्यन्ति पश्यन्ति परि परिपश्यन्ति॥ पश्यन्ति धीरा धीरा :॥ पश्यन्ति पश्यन्ति धीरा :॥ धीरास्तस्मिँ-स्तस्मिन्धीरा धीरास्तस्मिन्॥ तस्मिन्हहतस्मिंस्तस्मिन्ह॥ हतस्थुस्तस्थुर्हहतस्थु॥ तस्थु र्भुवनानि भुवनानि तस्थुस्तस्थुर्भुवनानि॥ भुवनानि व्विश्वाव्विश्वा भुवनानि भुवनानि व्विश्वा॥ व्विश्वेति विश्वा॥१॥

माला-विकृति

सुसमिद्धाय शोचिषे। शोचिषे सुसमिद्धाय। सुसमिद्धाय शोचिषे। सुसमिद्धायेति सु। समद्धिाय॥ शोचिषे घृतम्। घृत ꣳ शोचिषे शोचिषे घृतम्॥ घृतन्तीव्व्रम्। तीव्व्रङ्घृतम्। घृतन्तीव्व्रम्। तीव्व्रञ्जुहोतन। जुहोतन तीव्व्रम्। तीव्व्रञ्जुहोतन। जुहोतनेति जुहोतन॥ अग्न्येजातवेदसे। जातवेदसे ऽग्न्ये। अग्न्येजातवेदसे॥ जातवेदसऽ इति जात। व्वेदसे॥१॥

शिखा-विकृतिः

अन्तश्चरति चरत्यन्तरन्तश्चरति रोचना॥ अन्तरित्यन्तः॥ चरतिरोचना रोचनाचरति चरति रोचनास्य॥ रोचनास्यास्यरोचना रोचनास्य प्प्राणात्॥ अस्य प्प्राणात्प्राणादस्यास्यप्प्राणादपानर्ती॥ प्राणादपानत्यपानती-प्प्राणात्प्राणादपानर्ती॥ अपानर्तीत्येप। अनती॥ व्व्यक्ख्यदक्ख्यद्धिव्व्यक्ख्यन्न्महिष॥ अक्ख्यन्न्महिषो महिषोऽक्ख्य दक्ख्यन्न्महिषो दिवम्॥ महिषो दिवन्दिवम्महिषो महिषोदिवम् दिवम् दिवमिति दिवम्॥१॥

रेखाविकृति

मधु नक्तम्। नक्तम्मधु। मधु नक्तम्। नक्तम्। नक्तमुतोषसः। उषसऽ उत नक्तम्। नक्तमुत। उतोषस ः उषसो मधुमत्पार्थिवꣳ रजः। रज पार्थिवम्मधुमदुषसः। उषसोमधुमत्। मधुमत्पार्थिवम्। मधु मदिति मधु। मत्। पार्थिवꣳरजः। रजऽ इति रजः॥ मधु द्यौरस्तु नः पिता। पिता नोऽस्तु द्यौर्म्मधु। मधुद्यौः। द्यौरस्तु। अस्तुनः। नः पिता। पितेति पिता॥१॥

ध्वजविकृति

व्विष्णोः कर्म्माणि। सखेति सखा। कर्म्माणि पश्यत। युज्यः सखा। पश्यत यतः। इन्द्रस्य युज्यः। यतो व्व्रतानि। पस्पशऽ इति पस्पशे। व्व्रतानि पस्पशे। व्व्रतानि पस्पशे। पस्पशऽ इति पस्पशे। यतो व्व्रतानि। इन्द्रस्य युज्यः। पुश्यत यतः। युज्यः सखा। कर्म्माणि पश्यत। सखेति सखा। व्विष्णो कर्म्माणि॥१॥

दण्डविकृति

यजा नः। नो यज। षजा न। नो मित्रा-वरुणा। मित्रावरुण नो यज। यजानः। नो मित्रावरुणा। मित्रावरुणानोयज। यज मित्रावरुणा नो यज। यजानः। नो मित्रावरुणा। मित्रावरुणा यज। यजा देवान्। देवान्यज मित्रावरुणा नो यज। यजान। नो मित्रावरुणा। मित्रावरुणा यज। यजा देवान्। देवाँ २॥ ऽऋतम्। ऋतन्देवान्यजमित्रावरुणा नो यज। यजानः। नो मित्रावरुणा। मित्रावरुणा यज। यजा देवान्। देवाँ २॥ ऽऋतम्। ऋतम्बृहत्। बृहदृतन्देवान्यज

मित्रावरुणाः नोयज। यजानः। नो मित्रावरुणा। मित्रावरुणायज। यजा देवान्।

देवाँ २ ॥ ऽऋतम्। ऋतम्बृहत्। बृहदिति बृहत् ॥

अग्ने यक्षि। यक्ष्यग्ने। अग्ने यक्षि। यक्षि स्वम्। स्वँयक्ष्यग्ने। अग्ने यक्षि। यक्षि स्वम्। स्वन्द मम्। दमथ्ं स्वँयक्ष्यग्ने। अग्ने यक्षि। यक्षि स्वम्। स्वन्दमम्। दममिति दमम् ॥ १ ॥

रथविकृति

व्व्रतेन दीक्षाम्। दक्षिणा श्रद्धाम्। दीक्षां व्व्रतेन। श्रद्धान्दक्षिणा। व्व्रतेन दीक्षाम्। दक्षिणा श्रद्धाम्। दीक्षामाप्नोति। श्रद्धामाप्नोति। आप्नोति दीक्षां व्व्रतेन। आप्नोति श्रद्धान्दक्षिणा। व्व्रतेन दीक्षाम्। दक्षिणाश्रद्धाम्। दीक्षामाप्नोति। श्रद्धामाप्नोति। आप्नोतिर्दीक्षया। आप्नोतिश्रद्धया। दीक्षयाप्नोतिर्दीक्षां व्व्रतेन। श्रद्धयाप्नोतिश्रद्धान्दक्षिणा। व्व्रतेन दीक्षाम्। दक्षिणा श्रद्धाम्। दीक्षामाप्नोति। श्रद्धामाप्नोति। आप्नोति दीक्षया। आप्नोति श्रद्धया। दीक्षयाप्नोति। श्रद्धया सत्यम्। आप्नोति दीक्षयाप्नोति दीक्षां व्व्रतेन। सत्यथ्ं श्रद्धयाप्नोति श्रद्धान्दक्षिणा। व्व्रतेन दीक्षाम्। दक्षिणा श्रद्धाम्। दीक्षामाप्नोति। श्रद्धामाप्नोति। आप्नोति दीक्षया। आप्नोति श्रद्धया। दीक्षयाप्नोति। श्रद्धया सत्यम्। आप्नोति दक्षिणाम्। सत्यमाप्यते। दक्षिणामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दीक्षां व्व्रतेन। आप्यते सत्य थ्ं श्रद्धयाप्नोति श्रद्धान्दक्षिणा। व्व्रतेन दीक्षाम्। दक्षिणा श्रद्धाम्। दीक्षामाप्नोति। श्रद्धामाप्नोति। आप्नोति दीक्षया। आप्नोति श्रद्धया। दीक्षयाप्नोति। श्रद्धया सत्यम्। आप्नोति दक्षिणायाम्। सत्यमाप्यते। दक्षिणामिति दक्षिणाम्। आप्यतऽइत्याप्यते ॥ १ ॥

घन-विकृति

सनो नः स स न÷पितेव पितेव नः स स न ÷ पितेव। नः पितेव पितेव नो नः पितेव सूनवे सूनवे पितेव नो नः पितेव सूनवे। पितेव सूनवे सूनवे पितेव पितेव सूनवेग्ने ग्ने सूनवे पितेव पितेव सूनवे ग्ने। पितेवेति पिता। इव सूनवेग्ने ग्ने सूनवे सूनवेऽग्ने सूपायनः सूपायनोग्ने सूनवे सूनवे ग्ने सूपायनः। अग्ने सूपायनः सूपायनोग्ने ग्ने सूपायनो भव भव सूपायनो ग्ने ग्ने सूपायनो भव। सूपायनो भव भव सूपायन सूपायनो भव। सूपायनऽइति सु। उपायनः। भवेति भव ॥

सचस्वानोनः सचस्व सचस्वानः स्वस्तये स्वस्तये नः सचस्व सचस्वानः स्वस्तये। नः स्वस्तये स्वस्तये नो नः स्वस्तये। स्वस्तय ऽ इति स्वस्तये ॥ १ ॥

(श्री नारायण मिश्र वेदपाठीके सौजन्यसे)

परिशिष्ट सं० ५

दर्शपौर्णमासेष्टि

श्रीगणेशाय नमः।। अथ दर्शपौर्णामासेष्टिः संकल्पः ।।ॐ।। अद्यअमुक मासे अमुक पक्षे अमुक तिथौ अमुक वासरे गर्ग्ग गोत्रः चैनसुख शर्मा उँ तत्सत् परमेश्वर प्रीतये दशपौर्णमासाम्यामहं यक्ष्ये तत्र पौर्णमासेष्ट्याहं यक्ष्ये ।।१।।

दर्शे ।। उँ तत्सत् परमेश्वर प्रीतये दर्शेष्ट्याहं यक्ष्ये ।।२।।

।।संकल्पोद्धरणम् ।।३।।

पंच भूः संस्काराः ।।४।।

दर्भैः परिसमुह्य ।।५।।

गोमयोदके नोपलिप्य ।।६।।

वज्रेणोल्लिख्य ।।७।।

अनामिकाङ्गुष्ठाभ्यामृद्मुद्धत्य ।।८।।

उदकेनाभ्युक्ष्य ।।९।।

अग्निमुपसमाधाय ।।१०।।

आहवनीयोद्धरणम् ।।११।।

तदोदक्षिणाग्न्युद्धरणम् ।।१२।।

षट्समिधोगृहीत्वा अग्न्यन्वाधानमध्वर्युर्यजमानोवा ।।१३।।

अग्निमष्टाकपालेन पुरोडाशेन अग्निषोमावन्तराज्येनोपाँशु अग्निषोमावेकादशकपालेन पुरोडाशेन सद्योऽहं (श्वोऽहं) यक्ष्ये ।। पंच दशोवज्रः व्रीहिभिर्यागः ।।यवैर्वा ।।

ममाग्नेः पक्षः उत्तमेकालेव्रतोपायनं अन्वाहार्योदक्षिणा ये केचन वैकल्पिक पदार्थास्ते ऋत्विक् प्रयत्नेन मयावधारिताः ।।१४।।

दर्शेविशेषः अग्निमष्टाक पालेन पुरोडाशेन विष्णुं आज्येनोपाँशु ।।

इन्द्राग्नी द्वादशकपालेन पुरोडाशेनश्वोऽहं यक्ष्ये ।।उँ ।।

ममाग्नेवर्चोविहवेवस्तु वयंत्वें धानास्तन्वं पुषेम ॥ मह्यंनमंतांप्रदि शश्चतिस्रस्त्व याध्य क्षेण पृतनाजयेम ॥ आहवनीये समिधमादधाति ॥१५॥

तूष्णींद्वितीयाम् ॥१६॥

एवमितरयोरग्न्योः ॥१७॥

षडासनं ब्रह्मवरणम् ॥१८॥

ब्रह्मयजमानयोः प्रणीतापत्न्योश्च ॥१९॥

उदङ्मुखो यजमानः ॥२०॥

प्राङ्मुखं ब्रह्माणं वृणीतेबर्ह्हिमिष्टं ॥२१॥

पौर्णमासेष्ट्याहं यक्ष्ये ॥दर्शे॥ दर्शेष्टयाहं यक्ष्ये ॥तत्र भूपते भुवनपते महतोभूतस्य पतेब्रह्माणंत्वावृणीमहे ॥२२॥

वि. वृतोजपति ॥२३॥

मंत्र॥ ॐ अहंभूपति रहं भुवन पति रहं महतो भूतस्य पति भूर्भुवः स्वर्द्देवसवित रे तन्त्वावृण ते बृहस्पतिं ब्रह्माणं तद हं मनसे प्रब्रवी मित्रिनो गायत्र्यै गायत्रीत्रिष्टु भे त्रिष्टु ब्जगत्यै जगत्य नुदु भेऽनुष्टुप्प्रजापतये प्रजापति र्विश्वेभ्यो देवेभ्यो बृहस्पतिर्देवानां ब्रह्माहं मनुष्याणाम् ॥२४॥

मंत्र॥ ॐ वाचस्पतेयज्ञंगोपाय ॥२५॥

मंत्र॥ ॐ गोपायामि ॥२६॥

वि. अपरेणाहवनीयं दक्षिणातिक्राति ॥२६॥

मंत्र॥ ॐ अहेदैधिषध्योदतस्तिष्ठा न्यस्यसदनेसीदषोस्मत्पाक तरः ॥२७॥

वि. ब्रह्मसदनमीक्षते ॥२८॥

वि. ब्रह्मसदनातृणं निरस्यति ॥

मंत्र॥ ॐ निरस्तः पाप्मासहतेनयंद्विमः ॥२९॥

वि.॥ उदकोपस्पर्शः ॥३०॥

वि.॥ उपवेशनम् ॥३१॥

मन्त्र॥ ॐ इदमहंवृहस्पतेः सदसि सीदामिप्प्रसूतोदेवेन सावित्रातदग्नये प्रबर्वामितद्वा यवेतत्पृथिव्यै ॥३१॥

वि. ब्रह्मसदनआहवनीयममिमुख उपविशति ॥वाग्यतः अनुयाज प्रभवाद्धागपरिहरणादिवा ॥३२॥

वि. पश्चाद्यजमानो वेदिस्पृक् ॥

वि. गार्हपत्यमुत्तरेणोदपात्रं निधायालभते ॥३३॥

मंत्र॥ उँ भूतस्त्वाभूतकरिष्यामि ॥३४॥

मंत्र॥ ब्रह्मनन्नपः प्रणोष्यामि ॥३५॥

मंत्र॥ यजमानवाचंयच्छ ॥३६॥

मंत्र॥ उपाँशु॥ उँ प्रणययज्ञां[1] देवता वर्द्धयत्वं नाकस्य पृष्ठेयजमानोऽ अस्तु॥ सप्तऋषीणाꣳ सुकृतां यत्र लोकस्तत्रेमंयज्ञंयजमानश्चधेहि॥ उच्चैः उँ प्रणय ॥३७॥

वि. अनुज्ञातउत्तरेणाहवनीयꣳ सं प्रतिनिदधातिकस्त्वेति ॥३८॥

मंत्र॥ उँ कस्त्वायुनक्तिसत्वायुनक्तिकस्मैंत्वायुनक्तित स्मैत्वायुनक्ति ॥३९॥

वि. नान्तरेण गच्छेयुः ॥४०॥

वि. तृणैरग्नीन्परीस्तीर्य ॥४१॥

वि. इतरथावृत्तिः ॥४२॥

वि. पुरस्तात् ॥४२॥

वि. दक्षिणतः ॥४३॥

वि. पश्चात् ॥४४॥

वि. उत्तरतश्च ॥४५॥

वि. द्विशः पात्राणिसꣳ सदयतियजमानोवाश्र पणस्य पश्चादुत्तरतोवा ॥४६॥

वि. शूर्पाग्निहोत्रहवणी ॥४७॥

वि. स्फ्यः कपालानि ॥४८॥

वि. शम्या कृष्णाजिनम् ॥४९॥

वि. उलूखलमुसलम् ॥५०॥

वि. दृषदुपलम् ॥५१॥

वि. पात्रीपवित्रछेदनानी ॥५२॥

वि. पवित्रेउपवेषः ॥५३॥

वि. आज्यस्थाल्युपसर्जनीपात्रम् ॥५४॥

वि. कुशमुष्ठिरन्नावाहार्यपात्रम् ॥५५॥

---

१. इस य का उच्चारण 'ज' होगा।

वि. कुशमुष्ठयनन्तरं दोहन चतुष्टयं तच्च नियुञ्जनं १ दोहनपात्रं।२ शाखा पवित्रं।३ उखाच॥ इंदंसांनाय्ये॥

वि. वेदितृणमभ्रिः॥५६॥

वि. ज्योक्रमस्रुवः॥५७॥

सूत्रम् जुहूपभृत्॥५८॥

॥५९॥ ध्रुवासन्नहनावच्छादनानि॥

॥६०॥ परिधयोविधृत्यौ।

वि. आज्यंपुरोडाशपात्र्यौ॥६१॥

वि. होतृषदनंश्रृतावदानम्॥६२॥

वि. औषधं प्राशित्रहरणो॥६३॥

वि. अन्वाहार्यतन्दुलाः अन्तर्धानकटः॥६४॥

वि. पूर्णपात्रं समिच्च॥६५॥

वि. इध्माबर्हिश्चोपकल्पनं षडवतं च॥६६॥

वि. गार्हपत्यस्यपश्चात्स्फ्योप हित पात्र्यामौ षधकरणम्॥६७॥

वि. कर्म्मणेवामितिशूर्पाग्निहोत्र हवण्यादाय॥६८॥

मन्त्र॥ उँ कर्मणेवां वेषायवां आददे॥६८॥

वि. वाचंयच्छत्यध्वर्युः तयोरेव प्रतपनं प्रत्युष्टंनिष्टप्त मितिवा॥६९॥

मन्त्र॥ उँ प्रत्युष्टँ रक्षः प्रत्युष्टा अरातयः॥६९॥

विधि - उदकोपस्पर्शः॥

वि. गच्छत्युर्वंतरिक्षमिति॥७०॥

मन्त्र ॐ उर्वन्तरिक्षमन्वेमि॥७०॥

वि. धूरि[२] षारोहणानि पात्री विले जपति॥७१॥

मन्त्र॥ उँ धूरसिधूर्व धूर्वतं धूर्वतं योस्मान्धूर्वति तं धूर्वयं वयं धूर्वामः देवानामसिवह्नितमँ सस्नितमं पप्रितमं जुष्टतमं देवहूतमम् अह्रुतमसि हविर्द्धानं दृँ हस्वमाव्हामतियज्ञ पतिर्व्हार्षीत्॥ विष्णुस्त्वाक्रमताम्॥

वि. प्रेक्षत उरुव्वातायेतिहविष्यान्॥७२॥

मन्त्र॥ उँ उरुव्वाताय भव॥

वि. अपहतमिति निरस्यत्यन्यत्॥७३॥

मन्त्र॥ उँ उपहत ँ रक्षः उदकोपस्पर्शः॥

वि. यच्छतामित्यालभते॥७४॥

मन्त्र ॥ ॐ य च्छं तां पंच ॥

वि. देवस्यत्वेति प्रतिगृहणात्याग्नेयं चतुरोमुष्टीन् ।

मन्त्र ॥ ॐ देवस्यत्वा सवितुः प्रसवेश्विनोर्बाहुभ्यांपूष्णो हस्ताभ्यां अग्नयेजुष्टं - गृहणामि प्रथमः ॐ देवस्यत्वासवितुः प्रसवेश्विनोर्बाहुम्यां पू ष्णो-हस्ताम्यां अग्नये जुष्टंगृहणामि द्वितीयः ॥

ॐ देवस्यत्वासवितुः प्रसवेश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां अग्नयेणुठतं गृह्णामि तृतीयः ॥

तूर्ष्णीं चतुर्थम् ॥

वि. एवमग्नीषोमीयम् ॥७६ ॥

मन्त्र ॥ ॐ देवस्यत्वासवितुः प्रसवेश्विनोर्ब्राहुभ्यां पूष्णोहस्ताभ्यां अग्निषोमाभ्यां जुष्टं ग्रह्णामि प्रथमः ।

मन्त्र । ॐ देवस्यत्वा सवितुः प्रसवेश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां अग्निषोमाभ्यां जुष्टं गृह्णामि द्वितीयः ।

मन्त्र । ॐ देवस्यत्वा सवितुः प्रसवेश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णोहस्ताभ्यां अग्निषोमाभ्यांजुष्टं गृह्णामि तृतीयः ॥

तूर्ष्णीं चतुर्थं ॥

यथादैवतमन्यत् ॥

वि. भूतायत्वेति शेषाभिमर्शनम् ॥७७ ॥

मन्त्र ॐ भूतायत्वा नारातये परिशेषयामि ॥

वि. स्वरिति प्राङीक्षते ॥७८ ॥

मन्त्र ॐ स्वरभि विख्येषम् ॥७८ ॥

वि. दृँ हन्तामित्युत्थानम् ॥७९ ॥

मन्त्र ॐ दृँ हंतां दुर्याः पृथिव्याम् ॥७९ ॥

वि. पृथिव्यांगच्छत्युर्वंतरिक्षमिति ॥८० ॥

मन्त्र ॐ उर्वन्तरिक्षमन्वेमि ॥८० ॥

वि. श्रपणस्य पश्चात्सादयति पृथिव्यास्त्वेति ॥८१ ॥

मन्त्र ॐ पृथिव्यास्त्वा नाभौसादयाम्यदित्या उपस्थेग्नेहव्यँ रक्षः ॥८१ ॥

वि. पवित्रकरणं कुशौसभाव प्रसीर्णाग्रावनन्तर्गर्भौकुशै स्छिनत्ति पवित्रेस्थ इति त्रीन्वा ॥८२ ॥

मन्त्र ॐ पवित्रेस्थोवैष्णव्यौ ॥८२ ॥

वि. हविर्ग्रहण्यामपः कृत्वाताभ्यामुत्पुनातिसवितुरिति ॥८३ ॥

मंत्र ॐ सवितुर्व प्रसव उत्पुनाम्यच्छिद्रेणपवित्रेणसूर्यस्यरश्मिभिः ॥८३ ॥

वि. तास्थानंतयोः सव्येकृत्वादक्षिणेनोद्दिंगयति देवीराप इति ॥८४ ॥

मन्त्र ॐ देवीरापो अग्रे गुवो अग्रे पुवोग्रऽइमम द्यज्ञं नयताग्रे यज्ञपति ँ सुधातुं यज्ञपतिं देव युवं युष्माइन्द्रोवृणीतवृत्रतूर्ये यूयमिन्द्र मवृणीध्वंवृत्रतूर्ये ॥८४ ॥

वि. प्रोक्षितास्थेतिता संप्रोक्षणम् ॥८५ ॥

मन्त्र ॐ प्रोक्षितास्थ ॥८५ ॥

वि. हविश्चाग्नयेत्वाग्नीषोमाभ्यांत्वेति ॥८६ ॥

प्रैष ब्रह्मन्हवि ँ प्रोक्षिष्यामि ॥

मन्त्र ॐ प्रोक्षयज्ञं देवतावर्द्धयंत्वं नाकस्य पृष्ठेयज मानो अस्तु सप्तऋर्षीणा ँ सुकृतांयत्र लोक स्तत्रेमं यज्ञं यजमानं च धेहि ॐ प्रोक्ष ॥८६ ॥

मं ॐ अग्नये त्वा जुष्टं प्रोक्षामि ॥

ॐ अग्निषोमाभ्यां त्वा जुष्टं प्रोक्षामि ॥

वि. पात्राणिदैव्यायेति ॥८७ ॥

मन्त्र ॐ दैव्यायकर्मणेशुन्धध्वं देवयजायैयद्वोशुद्धाः पराज घ्नुरिदंवस्तच्छुंधामि ॥८७ ॥

वि. आदौवज्रप्रोक्षणं ॥तंगृहीत्वा ॥

सू. कृष्णाजिनम् ॥ उलूखलम् ॥ मुसलम् ॥ शम्याम् ॥ दृषदम् ॥ उपलम् ॥ शूर्पम् ॥ पात्रीम् ॥ उपवेषम् ॥ कपालानि ॥ आज्यस्थालीम् ॥ उपसर्ज्जनीपात्रम् ॥ कुशमुष्टिम् ॥ ष्ट ॥ अन्वाहार्य पात्रम् ॥ वेदितृणम् ॥ अभ्रिम् ॥ योक्त्रम् ॥ स्रुवम् ॥ जुहूम् ॥ उपभृतम् ॥ ध्रुवाम् ॥ सन्नहनावच्छादनानि ॥ परिधीन् ॥ विधृत्यो ॥ आज्यम् ॥ पुरोडाशपात्र्यौ ॥ होतृषदनम् ॥ श्रृतावदानम् ॥ औषधम् ॥ प्राशित्रहरणे ॥

॥अन्वाहार्यतण्डुलान् ॥ अन्तर्धान कटम् ॥ पूर्णपात्रम् ॥ समिधम् ॥ यथासादित पात्राणां प्रोक्षणम् ॥

वि. असञ्चरे प्रोक्षणीर्निधाय ॥

वि. शमार्सीति कृष्णाजिनादानम् ॥८८ ॥

मन्त्र ॐ शर्मासि ॥८८ ॥

वि.	अपेत्यपात्रेभ्योऽव धूनोत्त्यवधूतमिति ॥८९॥
मन्त्र	ऊँ अवधूत ँ रक्षोऽव धूताअरातयः॥ उदकोपस्पर्शः॥८९॥
वि.	प्रत्यग्ग्रीवमास्तृणात्यदिव्यास्त्वगिति ॥९०॥
मन्त्र	ऊँ अदिव्यास्त्वगसि प्रतित्वादितिर्वेतु ॥९०॥
वि.	सव्याशून्ये निदधात्युलूखल मद्रिरसिग्रावासीतिवा ॥९१॥
मन्त्र	ऊँ अद्रिरसिव्वानस्पत्यः प्रतित्वादित्यास्त्वग्वेतु ॥
वि.	हविरावपत्यग्नेस्तनुरिति ॥९२॥
मन्त्र	ऊँ अग्नेस्तनूरसिव्वाचो विसर्जनं देववीतये त्वागृह्णामि ॥ वाग्विसर्गः॥ विष्णवे नमः॥ हविष्कृतावा नानार्वाजेष्वं ते सामर्थ्यात् ॥९२॥
वि.	वृहद्ग्रावेति मुसलमादते ॥९३॥
मन्त्र	ऊँ वृहद्ग्रावासिवानस्पत्यः॥९३॥
वि.	सऽइदमित्यवदधाति ॥९५॥
मन्त्र	ऊँ सऽइदं देवेभ्यो हविः शर्मीष्व सुशमीशमीव्व ॥
वि.	हविष्कृदेहीति त्रिराहूयति ॥९६॥
मन्त्र	ऊँ हविष्कृदेहि हविष्कृदेहि हविष्कृदेहि ॥९६॥
वि.	अतःपद्व्यवहंत्यद्न्योवाहूयत्याहं त्यन्यो दृष दुपले कुक्कुटोसीति त्रिः शम्ययाद्धिर्दृषद ँ सकृदुपलाम् ॥९७॥
मन्त्र	ऊँ कुक्कुटोसि मधु जिह्वऽइषमूर्जमावदत्वयावय ँ संघात ँ सघातंजेष्म ॥९७॥
वि.	अग्नीध्रस्तूर्ष्णीकण्डनम् ॥९८॥
वि.	वर्षवृद्धमसीतिशूर्पमादते ॥९९॥
मन्त्र	ऊँ वर्षवृद्धमसि ॥९९॥
वि.	प्रतित्वेतिह विरुद्धपति ॥१००॥
मन्त्र	ऊँ प्रतित्वावर्षवृद्धंवेतु ॥१००॥
वि.	परापूतमितिनिष्पुनाति ॥१०१॥
मन्त्र	ऊँ परापूत ँ रक्षः परापूता अरातयः उदकोपस्पर्श ॥
वि.	वायुर्वइति विविनक्ति ॥१०२॥
मन्त्र	ऊँ वायुर्वोविविनक्तु ॥ तुषसमर्पणमध्वर्यवे ॥१०२॥
वि.	अध्वर्युस्तुषां निरस्यत्यपहतमिति ॥१०३॥

मन्त्र उँ अपहृत ँ रक्षः॥ उदकोपस्पर्शः॥१०४॥

वि. देवोव इति पात्र्यामोप्याभिमंत्रयते॥१०५॥

मन्त्र उँ देवोवः सविताह्रिरण्यपाणिः प्रति गृभणत्वच्छिद्रेण पाणिना॥१०५॥

वि. त्रिः फलीकरोति॥ कंडनम्॥ शूर्पादानम्॥ हविरुद्वपनम् निष्पवनम् निष्पमम्॥

उदकोपस्पर्शः॥ विवेकीकरणम्। कणनिधानं॥ पुनः कण्डनम्॥ शूर्पादानम्॥ हविरुद्वपनम्॥ निष्पवनम्॥ उदकोपस्पर्शः॥ विवेकीकरणम्॥ कणनिधानम्॥ पुनः कंडनम्॥ शूर्पादानं॥ हविरुद्वापनं॥ निष्पवनं॥ उदकोपस्पर्शः॥ विवेकीकरणम्॥ कणनिधानम्॥ फलीकृत्यकणान्निदधाति॥

वि. पेशणोपधानेयुगपत्॥ पेषणमध्वर्युरुपधानमग्नीत्॥

वि. धृष्टिरसीत्युपवेषमादाय॥

मन्त्र उँ धृष्टिरसि॥

वि. आपाग्र इत्यं गारान्प्राचः करोति॥

मन्त्र उँ अपाग्रे अग्नि मामादंजहि निष्क्रव्याद ँ सेध

वि. आदेव यजमित्यं गारमाधृत्य॥

मन्त्र उँ आदेव यजँवह॥

वि. कपालेनावच्छादयति ध्रुवमसीति॥

मन्त्र उँ ध्रुवमसिपृथिवीन्दृ ँ हब्रह्मवनित्वाक्षत्रवनित्वा क्षत्रवनिसजात-वन्युपद धामिभ्रातृव्य स्यवधाय॥

वि. संव्यांगुल्याशूयें गारंनिदधात्यग्रेब्रह्मेति॥

मन्त्र ॐ अग्रे ब्रह्म गृम्गीष्व॥

वि. धरुणमिति पश्चात्॥

मन्त्र ॐ धरुणमस्यन्तरिक्ष+न्दृ ँ ह ब्रह्मवनित्वाक्षत्रवनित्वाक्षत्रवनि-सजातवन्युपदधामि भ्रार्तृव्यस्य वधाय॥

वि. सव्यांगुल्याशून्ये निदधात्यग्रे ब्रह्मेति॥

पुरस्ताद्धर्त्रमिति॥

मन्त्र उँ धर्त्रमसिदिवंदृ ँ हब्रह्मवनित्वाक्षत्रवनिस जातवन्युपदधामि-भ्रातृव्यस्यवधाय॥

वि. संव्यांगुल्या शून्येनिदधात्यग्रेब्रह्मेति॥
वि: विश्वाभ्य इति दक्षिणतः॥
मन्त्र ॐ विश्वाभ्यस्त्वासाम्य उपदधामि॥
वि. समंविभज्यद्वेदक्षिणतः॥ एवमुत्तरतश्च॥ चितस्थेति॥
मन्त्र ॐ चितस्थोर्द्ध्वंचितः॥
वि. संव्यागुल्याशून्येगारं निदधात्यग्रेब्रह्मेति॥
मन्त्र अग्नेब्रह्मगृभ्गीष्व॥
वि. एवमेकादशाग्नीषोमीयस्य॥ अधिकंदक्षिणतः॥
वि. भृगूणामित्यं गारैरम्पूहति॥
मन्त्र ॐ भृगूणामं गिरसान्तपसातप्यध्वम्॥
वि. उपसर्जनीरधिश्रयति॥
वि. शर्मासीतिकृष्णाजिनादानं॥
मन्त्र ॐ शर्मासि॥
वि. अपेत्यपात्रेभ्योऽवधूनोत्यव धूतमिति॥
मन्त्र ॐ अवधूत ँ रक्षोऽवधूता अरातयः॥ उदकोप स्पर्शः॥
वि. प्रत्यग्रीवमास्तृणात्यदित्यास्त्वगिति॥
मन्त्र ॐ अदित्यास्त्वगसि प्रतित्वा दितिर्वेतु॥
वि. सव्याशून्येत स्मिन्दृषदं धिषणासीति॥
मन्त्र ॐ धिषणासिपर्वती प्रतित्वा दित्यास्त्वग्वेतु॥
वि. पश्चाच्छम्यामुपोहत्युदी चींदिव इति॥
मन्त्र ॐ दिवस्कं मनीरसि॥
वि. दृषद्युपलां धिषणासीति॥
मन्त्र ॐ धिषणासिपार्वतियी प्रतित्वापर्वतीव्वेतु॥
वि. धान्यमसीतितण्डुलानोप्य॥
मन्त्र ॐ धान्यमसि धिनुहिदेवान्॥
वि. पिनष्टि प्राणायत्वेतिप्रतिमंत्रम्॥
मन्त्र ॐ प्राणायत्वा पिनष्मि ॐ उदानायत्वापिनष्मि॥
वि. अर्द्धपिष्टे ब्रह्मणाज्यनिर्वापः॥ पिष्यमाणेषु निर्वपत्यन्यो महीना मित्याज्यम्॥
मन्त्र ॐ महीनांपयोऽसि॥

वि. वेदोऽसीतियजमानो वेदं करोति॥

मन्त्र ॐ वेदोसियेनत्वं देव वेद देवेभ्यो वेदो भव स्तेन मत्यं वेदोभूयाः॥ ॐ व्यानायत्वा पिनष्मि॥

वि. दीर्घामिति कृष्णाजिने प्रोहति॥

मन्त्र ॐ दीर्घामनु प्रसिति मायुषे धान्देवो वः सविता हिरण्यपाणिः प्रतिगृभ्णत्वच्छिद्रेण पाणिना॥

वि. चक्षुषेत्वेतीक्षते॥

मन्त्र ॐ चक्षुषेत्वा ईक्षे॥

वि. पात्र्या ँ सपवित्रायां पिष्टान्या वपति॥ देवस्य वेति॥

मन्त्र ॐ देवस्यत्वा सवितुः प्रसवेश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णोहस्ताभ्यां संवपामि॥

वि. श्रपणस्य पश्चा दुपविशत्यं तर्वेदिवा॥

वि. उपसर्जनीरानयत्यन्यः पवित्राभ्यां प्रति गृह्णाति स-माप इति॥

मन्त्र ॐ समाप ओषधीभिः समोष धयोरसेनस ँ रेवतीर्जगतीभिः पृच्यन्ता ँ संगधुमतीर्मधुमतीभिः पृच्यन्ताम्॥

वि. संयौतिजनयत्यैत्वेति॥

मन्त्र जनयत्यैत्वा सं यौमि॥ संयवनम् पिण्डवंधनं अवदान करणंनिर्देशः॥

वि. समंविभज्यास ँ हविष्यन्नालभत॥ इदमग्नेरिदमग्नीषोमयोरिति॥

मन्त्र ॐ इदमग्नेः इदमग्नीषोमयोः॥

वि. इषेत्वेत्याज्यमधिश्रयत्यन्यः॥

मन्त्र ॐ इषेत्वा अधिश्रयामि॥

वि. घर्मोऽसीति पुरोडाशं युगपत्॥

मन्त्र ॐ घर्मोऽसिविश्वायुः॥

वि. उरुप्रथाइति प्रथयतियावत्क पालमनतिपृथुम्॥

मन्त्र ॐ उरुप्रथा उरुप्रथस्वोरुते यज्ञपतिः प्रथताम्॥

वि. अग्निष्ट इत्याद्भिर भिमृशति सकृत्त्रिर्वा॥

मन्त्र अग्निष्टेत्वचं माहि ँ सीत॥

वि. पिष्टलेपापनयनम्॥ पात्र्यं गुलिप्रक्षालम॥

वि. पर्यग्निकरोत्यन्तरित ँ रक्षोऽन्तरिता अरातय इति सह्वाज्यम्॥

मन्त्र ॐ अन्तरित ँ रक्षोन्तरिता अरातयः॥ इतरथावृत्तिः उदकोपस्पर्शः॥

वि. देवसत्वेति श्रपणं॥

मन्त्र उँ देवस्त्वासविता श्रपयतुव्वर्षिष्टिधिनाके॥

वि. नाभेरित्यालभते॥

मन्त्र उँ नाभेर्मासंविक्थाः॥

वि. अतमेरुरितिशृतावमिवास यति भस्मनावेदेनोपवेषेणवा॥

मन्त्र उँ अतमेरुर्यज्ञोतमेरुर्यजमानस्य प्रजाभूयात्॥

वि. पात्रीमभितप्य॥ आतपेभ्योनिनयति प्रत्यगस्ँ स्यंदमानं त्रितायत्वेति प्रतिमंत्रं॥ प्राचंखननं प्रयं चं निनयनम्॥

मन्त्र उँ त्रितायत्वानिनयामि इदंत्रिताय न मम॥ उँ द्वितायत्वानिनयामि इदं द्विताय न मम्॥ उँ एकतायत्वा निनयामि इदं एकता य न मम॥

वि. अन्वाहार्यदक्षिणाग्रावधिश्रयति॥

वि. अत्रवाव्र तोपायनं॥

वि. अपरेणाहवर्नीयं वेदिं खनति॥ त्र्यंगुलखातां व्याम मात्रीं ※ पश्चात् वेदिमानं॥ प्रथमः द्वितीयः तृतीयः चतुर्थः॥

त्र्यरत्निप्राचीं॥ प्रथमः द्वितीयः तृतीयः॥

त्रयः पुरस्तात्॥ प्रथमः द्वितीयः तृतीयः॥

मध्यसंगृह्रीतां॥ मध्यसंगृहीता॥ श्रोणींच श्रोणीच अग्निमभितोर्थ्ँसौ२॥

वेदिंपरिसमुह्याग्नीध्रः॥

वितृतीयेंग्रीद्रुत्त्रत उत्करंकरोति॥ उत्करकरणम्॥

वि. देवस्यत्वेतिस्फ्य मादायसतृणम्॥

मन्त्र उँ देवस्यत्वासवितुः प्रसवेश्विनोर्वाहुभ्यां पूष्णोहस्ताभ्यां आददेध्वरकृतं देवेभ्यः॥

वि. सव्येकृत्वा दक्षिणेनालभ्य जपतीन्द्रस्यबाहुरिति॥

मन्त्र उँ इंद्रस्यबाहुरसि दक्षिणः सहस्रमृष्टिः शततेजाव्वायुरसितिग्मजा तेजाद्विषतोव्वधः॥

वि. वेद्यांतृणं निदधात्युदक् पृथिव्यैंवर्मासीति॥

मन्त्र उँ पृथिव्यैंवर्मासि॥

वि. पृथिर्वा देवयजनीतितृणेऽन्तर्हिते प्रहरति।

मन्त्र ॐ पृथिर्वा देवयजन्योषध्यास्ते मूलंमाहिर्ंसिषम्॥

वि. व्रजंगच्छेतिपुरीषमादते॥

मन्त्र ॐ व्रजंगच्छेगोष्ठानम्॥

वि. वर्षतुत इतिवेदिं प्रेक्षते॥

मन्त्र ॐ वर्षतुतेद्यौः॥

वि. वधानेत्युत्करे करोति॥

मन्त्र ॐ वधान देव सवितः परमस्यां पृथिव्याᳫं शतेनपाशैर्योस्मान्द्वेष्टियं च वयं द्विष्मस्तमतोमामौक्॥

वि. अपाररुमितिद्वितीयं प्रहरणादि॥

मन्त्र ॐ अपाररुं पृथिव्यैदेव यजनाद्वध्यासम्॥ उदकोपस्पर्शः॥

वि. व्रजंगच्छेति पुरीषमादत्ते॥

मन्त्र ॐ व्रजंगच्छगोष्ठानम्॥

वि. वर्षतुत इतिवेदिं प्रेक्षते॥

मन्त्र ॐ वर्षतुतेद्यौः॥

वि. वधानेत्युत्करेकरोति॥

मन्त्र ॐ वधानदेव सवितः परमस्याँपृथिव्याᳫं शतेन पाशैर्योमान्द्वे ष्टि यं च वयं द्विष्मस्तमतोमामौक्॥

वि. अभिन्यस्यत्यग्नीदुत्करमररोदिवमिति॥ उदकोपस्पर्शः॥

मन्त्र ॐ अररोदिवमापप्तः॥ उदकोपस्पर्शः

वि. द्रप्सस्तइतितृतीयं प्रहरणादि॥

मन्त्र ॐ दूप्सस्वे द्याम्मास्कन्॥

वि. व्रजंगच्छेति पुरीषमादत्ते॥

मन्त्र ॐ व्रजंगच्छ गोष्ठानम्॥

वि. वर्षतुत इतिवेदिं प्रेक्षते॥

मन्त्र ॐ वर्षतुतेद्यौः॥

वि. वधानेत्युक्करेकरोति॥

मन्त्र ॐ वधानदेवसवितः परमस्यां पृथिव्याᳫं शतेन पाशैर्योस्मान्द्वेष्टियं च वयंद्विष्मस्तमतोमामौक्॥

वि. तूष्णींचतुर्थ ँ सतृणंप्रहरणं॥ पुरीषादानं वेदिप्रेक्षणम्॥ उत्करेकरणम्॥

वि. ब्रह्मन्पूर्वं परिग्रहं परिगृहीष्यामि॥

मन्त्र ॐ बृहस्पते परिगृहाण वेदि ँ सुगावोदेवाः सदनानिसंत्वस्यां बर्हिः

प्रथता ँ साध्वंतर्हि ँ स्रापृथिर्वादेवी देव्यस्तु देवतावर्द्धयत्वं नाकस्यपृष्ठो यजमानोअस्तु सप्तऋर्षीणा ँ सुकृतायत्रलोकस्तत्रेमंयज्ञं यजमानं च धेहि॥ उँ परिगृह्वाण॥

वि. दक्षिणतः पश्चादुतरत श्चस्फ्येन गायत्रेणेति प्रति।

मन्त्र ॐ गायत्रेण त्वाछंदसा परिगृहणामि।

मन्त्र ॐ त्रैष्टुभेनत्वाछंदसा परिगृहणामि।

मन्त्र ॐ जागतेनत्वाछन्दसा परिगृहणामि।

वि. वेद्या त्रिरुल्लिखय॥ आहहरत्रिः॥

धृत्वाग्रील्लेखाः संमृशति।

अत्र वेदिकरणं यथोक्तं॥ तूष्णीमभ्र्याखनने॥

वि. उत्तरं परिग्रहं परिगृह्णाति॥ ब्रह्मन्नुत्तरं परिगृहं परिगृर्हीष्यामि॥

मन्त्र ब्रह्मा॥ उँ बृहस्पते परिगृह्वाण वेदि ँ सुगावो देवाः सदनानि संत्वस्यां बर्हिः प्रथता ँ साध्वं तर्हि ँ स्रापृथिर्वी देवी देव्यस्तु देवता वर्द्धयत्वे नाकस्य पृष्ठेयजमानो अस्तु सप्तऋर्षीणां ँ सुकृतांयत्र लोकस्तत्रेमंयज्ञं यजमानं च धेहि॥ उच्चैः उँ परिगृह्वाण॥

वि. सुक्ष्मास्योनोर्जस्वती ति प्रतिमंत्रं पूर्ववत्॥

मन्त्र उँ सुक्ष्माचासिशिवाचासि॥

मन्त्र ॐ स्योनाचासि सुषदाचासि।

मन्त्र ऊर्जस्वती चासि पयस्वती च॥

वि. पुरक्रूरस्येत्यनुमार्ष्टि॥

मन्त्र उँ पुराक्रूरस्य विस्टपोविरप्शिन्नुदादाय पृथिवींजीवदानुभूयामैरयंश्चन्द्र मसिस्वधाभिस्तामुर्धीरासो अनुदिश्ययजन्ते॥

वि. अध्यधिवेदिं प्रोक्षणीर्धारयति॥

वि. अन्योयस्फ्य मुद्यम्याह॥

मन्त्र प्रोक्षणीरा सादये ध्मंब्र र्हिं रुपसादयस्रुचः संमृड्ढित्नीश्रं सन्न त्याज्येनोदेहिं॥

वि. वेद्यांप्रोक्षर्णानिर्दधाति॥ द्विषतोवधइतिस्फ्य मुदं चं प्रहरति॥

मन्त्र द्विषतोवधोसि॥

वि. अवंनिज्यपाणी अपरेणप्रणीता स्फ्यं निदधाति॥ इध्मावर्हिश्च पूर्वमिध्मं प्रणीता दक्षिणेनवाहृत्य वेदाग्रेनिष्पत्तिः स्रुवादीनां पात्राणां

सं मार्गः ॥ स्रुवं प्रतप्य पूर्ववत् ॥

मन्त्र प्रत्युष्ट्ँ रक्षः प्रत्युष्टा अरातयः ॥ उदकोपस्पर्शः ॥

वि. वेदाग्रैंरंतरतः प्राक्संमार्ष्टच निशित इति ॥

मन्त्र अनिशितोसिसपत्नक्षि द्वा जिनंत्वा वाजेध्यायैं संमार्ज्मि ॥

वि. विजर्यस्यबर्हिर्मूलैः अनिशितोसीति ॥

मन्त्र उँ अनिशितोसिसपत्नक्षिद्वाजिनं त्वावाजेध्यायैंसंमार्ज्मि ॥

मन्त्र प्रत्युष्टऽरक्षः प्रत्युष्टाऽअरातयः उदकोपस्पर्शः ॥

वि. प्राङुत्क्रम्यप्रतप्य प्रतप्यप्रयच्छति ॥ स्रुक् संमार्गः ॥ अनिशितेतिस्रुचः ॥

मन्त्र उँ अनिशितासि सपत्नक्षिद्वाजिर्नीत्वा वाजेध्यायैसंमार्ज्मि ॥

मन्त्र उँ अनिशिता सि सपत्नक्षिद्वाजिनंत्वा वाजेध्यायै संमार्ज्मि ॥

मन्त्र उँ प्रत्युष्टथ्ँ रक्षः प्रत्युष्टा अरातयः ॥ उदकोपस्पर्शः ॥

वि. प्रतप्य प्रतप्य प्रयच्छति ॥ एवमुपभृत् ॥ ध्रुवाच ॥

वि. तूष्णीं प्राशित्रहरणं ॥ शृतावदानं ॥ पुरोडाश पात्र्यौ ॥ इ डा पात्रीं च ॥ संर्माजनान्य पास्यत्त्याहवनीयेप्राशनमके ॥

वि. पर्त्नी ँ संनत्यतिप्रत्यग्दक्षिणात उपविष्टां गार्हपत्यस्य मुंजयोक्त्रेण त्रिवृतापरिहरत्य धिवासोदित्यैरास्नेति ॥

मन्त्र उँ अदित्यैंरास्नासि ॥

वि. दक्षिणंपाशमुत्तरे प्रतिमुच्योर्ध्वमुद्गूहतिविष्णोर्वेष्य इति ॥

मन्त्र उँ विष्णोर्वेष्योसि ॥

वि. नग्रथिंकरोति ॥ ऊर्ज्जेत्वेत्याज्यमुद्वास्य ॥

मन्त्र उँ ऊर्ज्जेत्वामुद्वासयामि ॥

वि. पत्न्याज्यमवेक्षस्व ॥ पत्नीमवेक्ष्ययत्यदब्धेनेति ॥

मन्त्र उँ अदब्धेनत्वाचक्षुषा व पश्यामि अग्रे र्जिह्वासिसु हूर्देवेभ्योधाम्नेधाम्ने मेभवयजुषे यजुषे ॥

वि. वेद्यांकरोत्य परं प्रोक्षणीभ्यः सवितुस्त्वे त्याज्यमुत्पुनाति वेदोपग्रहेण ॥

मन्त्र उँ सवितुस्त्वा प्रसव उत्पुनाम्यच्छिद्रेणपवित्रेण सूर्यस्यरश्मिभिः

वि. प्रोक्षर्णाश्च पूर्ववत् वज्रोपग्रहेण ॥

मन्त्र ॐ सवितुर्वः प्रसव उत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः ॥

वि. आज्यमवंक्षतंतंतेजोर्स्मातियज मानोवा॥

मन्त्र उँ तेजोसिशुक्र मस्य मृतमसि॥

वि. स्रुवेणाज्य ग्रहणं चतुर्जुह्वां धामनामेति सकृन्मंत्रः॥

मन्त्र उँ धामनामासि प्रियंदेवानामनाधृष्टं देवयजनमसि प्रथमः द्वितीयः तृतीयः चतुर्थः॥

मन्त्र ॐ धामनामासि प्रियं देवानामनाधृष्टं देवयजनमसि
प्रथमः द्वितीयः तृतीयः चतुर्थः पंचमः षष्ठः सप्तमः अष्टमः॥

वि. अष्टाउपभृत्यल्पीयोनुया जाश्चेत्॥

वि. ध्रुवायांचजुहूवत्॥

मन्त्र उँ धामनामासि प्रियंदेवानामनाधृधृष्ट देवयजनमसि प्रथमः द्वितीयः तृतीयः चतुर्थः स्थाल्यपसरणम्॥

वि. इ॒मंप्रोक्षतिविस्रर्ठ्ठं स्यकृष्णोर्सीति प्रतिमंत्रम। ब्रह्मन इ॒मंप्रोक्षामि॥

मन्त्र उँ प्रोक्षयज्ञं देवतावर्द्ध यत्वंनाकस्यपृष्ठे यजमानो अस्तु सप्तऋर्षाणा र्ठ्ठं सुकृतांयत्र लोकस्तत्रेमं यजमानं च धेहि उँ प्रोक्ष॥

मन्त्र उँ कृष्णोस्यारवरेष्ठोग्नयेत्वाजुष्टं प्रोक्षामि॥ वेदिंच।

मन्त्र उँ वेदिरसिवर्हिषित्वाजुष्टां प्रोक्षामि॥

वि. बर्हिः प्रतिगृत्धार्ग्राधात्॥ वेद्यांकृत्वा पुरस्ताद्ग्रंथिम्॥
बृह्मन् बर्हिः प्रोक्षिष्यामि॥

मन्त्र उँ प्रोक्षयज्ञं देवतावर्द्धयत्वं नाकस्य पृष्ठे यजमानोअस्तुसप्तऋर्षाणार्ठ्ठं सुकृतांयत्र लोकस्तत्रेमंयज्ञं यजमानं च धेहि उँ प्रोक्ष॥

मन्त्र उँ बर्हिरसिस्रुग्भ्यस्त्वाजुष्टं प्रोक्षामि॥

वि. शेषंमूलेषूपसिंचत्यदित्यैव्युन्दनमिति॥

मन्त्र उँ अदित्यैव्युन्दनमसि॥

वि. पवित्रे निधाय प्रणीता सुबर्हिर्विस्रर्ठ्ठं स्य पुरस्तात्प्रस्तरग्रहणं विष्णोरिति॥

मन्त्र उँ विष्णोस्तुपोसि॥

वि. तूर्ष्णींब्रह्मणेप्रदाय॥ संनहनंविस्रर्ठ्ठं स्यदक्षिणस्यांवेदिश्रोणौनिधाय अन्यैरवच्छाद्य॥ आपनर्ठ्ठं स्तृंनिरस्येत्।

वि. बर्हिषस्त्रेधाकरणम॥ वेदिं स्तृ णात्यूर्णमृदसमिति॥

मन्त्र उँ ऊरुणम्रदसन्त्वास्तृणामिस्वासस्थां देवेभ्यः॥

मन्त्र ॐ ऊर्णंम्रदसन्त्वास्तृणामिस्वासस्थां देवेभ्यः।।

वि. इध्ममात्समि धमादाय ब्रह्मणः प्रस्तरंचादाय।। आहवनीयं कल्पयति।। उपर्युपरिप्रस्तरं धारयन् उल्मूके उद्ह हत्यनुयाजाश्चेत्।। परिधीन्परिदधात्या द्र्नेकवृक्षीयान् बाहुमात्रान् पालाशवैकंकतकार्ष्मर्यवैल्वान्यूर्वालाभेपूर्वा लाभ उत्तरान् खादिरौदुंबरान्वामध्यमदक्षिणोत्तरान्।।

वि. गंधर्व इतिप्रतिमंत्रम्।।

मन्त्र ॐ गंधर्वस्त्वाविश्वावसुः परिदधातु विश्वस्यारिष्ट्यै यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिडऽईडितः।।

मन्त्र ॐ इन्द्रस्य बाहुरसि दक्षिणो विश्वस्यारिष्ट्यै यजमानस्य परिधिरस्यग्नि रिडऽईडितः।।

मन्त्र मित्रावरुणौत्वौत्तरतः परिधत्तां ध्रुवेण धर्मणा विश्वस्यारिष्ट्यै यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिऽऽईडितः।।

वि. प्रथमं परिधिशृं समिधोपस्पृश्यर्वीतिहोत्य मित्यादधाति।।

मन्त्र ॐ वीं.तेहोत्रं त्वाक वेद्युमंतशृं समिधीमहि अग्नेवृहन्तमध्वरे।।

वि. अनुपस्पृश्य द्वितीयाशृं समिदर्सीति।।

मन्त्र ॐ समिदसि।।

वि. सूर्यस्त्वेतिजपत्याहवनीय मीक्षमाणस्तद्व चनत्वात्।।

मन्त्र ॐ सूर्यस्त्वा पुरस्तात्पातुकस्याश्चिदभिशस्त्यै।।

वि. आवृत्यवेदिं।। बर्हिषस्तृणे तिरश्चीनिदधातिसवि तुरिति।।

मन्त्र ॐ सवितुर्बाहुस्थः।।

वि. तयोः प्रस्तरशृं स्तृणाति ऊर्णंम्रदसमिति।।

मन्त्र ॐ ऊर्णंमद्रसंत्वास्तृणामि स्वासस्थं देवेभ्यः।।

वि. अभिनिदधात्यात्वा व सव इति।।

मन्त्र ॐ आत्वाव सवोरुद्रा आदित्याः सदन्तु।।

वि. सव्याशून्ये जुहूं प्रतिगृत्यनिद धांतिधृताचीति प्रस्तरे।।

मन्त्र ॐ घृताच्यसिजुहूर्नाम्नासिदं प्रियोग धाम्ना प्रिय शृंसद आसद।।

वि. इतरां वेदोपग्रहेण।। वर्हिष्युपभृतम्।।

मन्त्र ॐ घृताच्यस्युपभृन्नाम्नासेदं प्रियेणधाम्नाप्रियं शृं सद आसीद।।

वि. ध्रुवांचाव क्रमेणपूर्वम्।।

मन्त्र उँ धृताच्यसिध्रुवा। नाम्नासेदं प्रियेणधामन्ना प्रियं थ्ं सद आसीद्॥

वि. स्थाल्यपसरणम्॥ पुरोडाशयोर्विभस्मीकरणम्॥ पुरोडाश पात्र्योः स्थापनम्॥ पुरोडाशपात्र्योरूपस्तारः तत्रस्यामिधारः॥

वि. उद्वासनं॥ श्रृतानांतु पूर्वेण॥ उद्वासितानांतुपृष्ठतः॥ कपालसंख्या प्राणदानं॥

मन्त्र प्रथमम्॥ द्वितीयम्॥ तृतीयम्॥ चतुर्थम्॥ पंचमम्॥ षष्ठम्॥ सप्तमम्॥ अष्टमम्॥ नवमम्॥ दशमम्॥ एकादशम्॥ दर्शेद्वादशम्॥

वि. प्राणदानम्॥

मन्त्र उँ यस्तेप्राणः पशूषुप्रविष्टो देवानां विष्टा मनुयोवि तस्थे आत्मन्नवां सोमघृतवान्हि भूत्वाग्नींषोमौगच्छ स्वर्यजमा नायविन्द॥

वि. उँ प्रत्यनक्तिकपालानि॥ यानि धर्मेकपालान्यु पचिन्नवंतिवेधसः॥ पूष्णास्तान्य पिव्रत इन्द्रवायू विमुंचताम्॥ तूर्ष्णींवा॥

मन्त्र प्रथममनज्मी द्वितीयमनज्मी तृतीय मनज्मी चतुर्थमनज्मी पंचममनज्मी षष्ठमनज्मी सप्तम मनज्मी अष्टमनज्मी॥

मन्त्र प्रथम मनज्मि द्वितीय मनज्मि तृतीय मनज्मि चतुर्थ मनज्मि पंचम मनज्मि षष्ठ मनज्मि सप्तम मनज्मि अष्टम मनज्मि नवम मनज्मि दशम मनज्मि एकादश मनज्मि॥

वि. संख्ययोद्वासयति॥

मन्त्र प्रथममुद्वासयामि द्वितीयमुद्वासयामि तृतीयमुद्वासयामि॥ चतुर्थमुद्वासयामि पंचम मुद्वासयामि षष्ठमुद्वासयामि सप्तममुद्वासयामि अष्टम् मुद्वासयामि॥

मन्त्र प्रथम मुद्वासयामि द्वितीय मुद्वासयामि तृतीय मुद्वासयामि चतुर्थ मुद्वासयामि पंचम मुद्वासयामि षष्टम मुद्वासयामि सप्तम मुद्वासयामि अष्टम मुद्वासयामि नवम मुद्वासयामि दशम मुद्वासयामि एकादश मुद्वासयामि॥

वि. प्रियेणधाम्नेतिहवी थ्ं षिवेद्यांकृत्वास्थाली पूर्वकम्॥

मन्त्र उँ प्रियेण धाम्ना प्रियथ्ं सद आसीद॥

वि. ध्रुवा असदन्निति सर्वाण्या लभतेस्थालीपूर्वकम्।

मन्त्र उँ ध्रुवा असदंनृतस्ययोनौताविष्णोपाहिपाहियज्ञं पाहियज्ञपतिम्॥

वि. पाहिमामित्यस्मान्‌ मालभते॥

मन्त्र उँ पाहिमां यज्ञंन्यम ॥

वि. आत्मालंभः ॥ उदकोपस्पर्शः ॥ अत्रवाव्रतोपायनम ॥

वि. अंतरेणापरार्ग्नीं गत्वा परेणा हवर्नीयं प्राङ्तिष्ठं नग्निर्मीक्ष माणोप- उपस्पृश्यव्रत मुपैत्यग्नेव्रत पत इति ॥ इदमहमितिवा ॥

मन्त्र उँ अग्नेव्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छ के यंतं मेराध्यताम् ॥.

वि. होतृषदनं कृत्वा परेणवेदि थ्ठं श्रोणिंवोत्तरेण ॥
होत रे३ इहि ॥ इध्मान्समिधमादाय ॥

मन्त्र अग्नये समिध्यमानायानुब्रू इहि ॥

वि. होता संचरेण प्रविश्य ॥

मन्त्र ब्रह्मन्सामिधेनीरनुवक्ष्यामि ॥

मन्त्र उँ प्रजापतेऽनुब्रू ३ हियज्ञं देवतावर्द्धयत्वं नाकस्य पृष्ठे यजमानो अस्तु सप्तऋर्षीणांथ्ठं सुकृतां यत्र लोकस्तत्रेमंयज्ञं यजमानम् च धेहि ॥ उँ अनुब्रू इहि ॥

वि. ब्रह्मप्रसूतोङ्गुलिपर्वाग्रमाथ्ठं समथ्ठं हितथ्ठं हृदयदेशें ऽज लिं प्रतिष्ठाप्यदक्षिणाम् च पादं वेद्याः श्रोणि समंकृत्वाद्यावापृ थिव्योरन्तर मीक्षमाणोनमः क्रन्दं जपेत् ॥

मन्त्र उँ नमः प्रवक्त्रे नमऽउपवक्त्रे नमोद्रष्टे नमोनुष्यात्रे ॥ क ऽ इद मनुवक्षति सऽइद मनुवक्षति क ऽ आर्त्विज्यं करिष्यति स ऽ आर्त्वि ज्यं करिष्य त्यृचः प्रपद्येयजुः प्रपद्ये सम प्रपद्ये ब्रह्मप्रपद्ये नात्तां छंदसां मातरं प्रापद्येम् प्रपद्ये भुवः भूः प्रपद्ये प्रपंद्येस्वः प्रपद्ये-भूर्भुवः स्वः सर्वंप्रपद्ये ॥

वि. संतंन्वंनिवमेनुब्रूहीत्याहयजमानोऽगुष्ठाभ्यांचाव वाधते-पादाभ्यां वा ॥

मन्त्र संतंन्वंनिवमेनुब्रूहि ॥

मन्त्र इदमहंपंच दशेनवज्रेणो भ्रातृव्य अमाववाधे ॥

वि. प्रतिप्रणवमाधानं समिद्ध इति प्रांगतः सर्वमिध्ममेक वर्जमनुयाजाश्चेत् ॥

मन्त्र हिं हिं हिं ॥ भूर्भुवः स्वरोंम ॥ उँ प्रवोवाजा अभिद्यवोहविष्मतो घृताच्या देवांजिगाति सुम्नयों ३म ॥१॥ प्रवोवाजा-अभिद्यवो हविष्मं तोघृताच्या देवाँ जिगाति सुम्नयोम ॥२॥ प्रवोवाजा अभिद्यवो हविष्मं

तांधृताच्या देवां जिगाति सुम्नयों३म ॥४॥ तन्त्वासमिद्भि रङ्गिरो घृतेन वर्द्धयामसि बृहच्छो चाय विष्ठयों३म ॥५॥ सनः पृथुश्रवाय्य मच्छा देववि वासस्सि वृहदग्ने सुर्वीयों ॥६॥ मीडेन्योनमस्य स्तिरस्तमाथ्ं सिदर्शतः समग्निरिध्यतेवृषों३म ॥७॥ वृषोअग्निः समिध्यतेश्वो नदेववाहनः त थ्ं हविष्मं तईडतों३म ॥८॥ वृषणन्त्वावयंवृषन्वृषणः समिर्धीमहि अग्नेदीद्यतंवृहों३म ॥९॥ अग्निंदूतंवृर्णीमहे होतारं विश्ववेद सं अस्ययज्ञस्यसुक्रतों३म ॥१०॥ समिध्यमानोऽअध्वरे ग्निः पावकइडयः शोचिष्के शस्त मीमहो३म ॥११॥ समिद्धोऽ-अग्नऽआहुतदेवान्यक्षिस्वध्वरत्व थ्ं हिहव्य वाडसों३म ॥१२॥ माजुहोतादुवस्यताग्नि प्रयत्यध्वरेवृर्णीध्व थ्ं हव्यवाहनों३ ॥१३॥ माजु-होतादुवस्यताग्नि प्रयत्य ध्वरेवृर्णीध्व थ्ं हव्यवाहनों३ ॥१४॥ माजुहोतादुवस्यताग्निं प्रयत्यध्वरेवृर्णीध्व थ्ं हव्यवाह नों॥ मग्नेमहाँ३ असिब्राह्मणभारत आँगिरस बार्हस्पत्य भारद्वाज सैन्यगार्ग्य॥ देवेद्धः मन्विद्धः ऋषिष्टुतः विप्रानुम दितः कविशस्तः ब्रह्मसथ्ं सितः घृताहवनः प्रर्णीर्यज्ञानाम् रर्थारध्वरणां अतूर्त्तोहोता तूर्णिहव्यवाट् आस्पात्रंजुहूर्देवा नांचमसोदेवपानः अराँ३इवाग्नेनेमिर्देवाँस्त्वं परिभूरसि॥ आवहदेवान्य जमानाय॥ अग्निमग्न आ३वह॥ सोममा३वह॥ अग्निमा३वह॥ उपांशु॥ अग्निषोमौ॥ उच्चैः॥ आ३वह॥ अग्निषोमावा३वह॥देवाँआज्यपाँ आ३वह॥ अग्निथ्ं होत्राया३वह॥ स्वंमहिमानमा३वह॥ आचवहजातवेदः सुयजा च यज॥

वि. अनुवचनान्ते वेदेना हवर्नीयं त्रिरुपवाज्य स्रुवेणपूर्व माघा-रमाधार्याह॥मनसा॥

वि. अनुवचनान्ते वेदेना हवर्नीयं त्रिरुपवाज्य स्रुवेण पूर्वमाधार माधार्याह॥ मनसा॥

वि. अनुवचनान्ते वेदनाहवर्नीयं त्रिरुपवाज्य स्रुवेणपूर्वमाधारमाधार्याह॥ मनसा॥

मन्त्र ॐ प्रजापतये स्वाहा॥ इदं प्रजापतये न मम॥

मन्त्र ॐ अग्निमर्ग्रात्समृद्धी॥

वि. इध्मसन्नहनैरनुपरिधि समार्ष्टि अग्ने वाज जिगीवांसमित्रिः परिक्रामन॥

मन्त्र ओ३म् अग्नेवाज जिद्वाजंत्वासरिष्यं वाज जित ꣳ संमार्ज्मि ॥

वि. सकृन्मंत्रेणद्विस्तूर्ष्णीम् ॥ दक्षिणतः पश्चादुत्तरतश्च ॥ त्रिस्तूर्ष्णीं- उपरि ॥

वि. अपरमाह्वर्नीयादं जलिंकरोति ॥ नमो देवेभ्य इति स्वधापितृभ्य इति दक्षिणत उत्तानम् ॥

मन्त्र ओ३म् नमोदेवेभ्यः ॥ ओ३म् स्वधापितृभ्यः अपउपस्पृश्य ।

वि. सुयमेमइति जुहूपभृतावादायोत्तरां जुहूँ कृत्वा ॥

मन्त्र ओ३म् सुयमे मे भूयास्तमस्कन्न मद्य देवेभ्य आज्य ꣳ संभ्रियासम् ॥

वि. दक्षिणातिक्रामत्यं घ्रिणाविण्णविति ॥

मन्त्र ओ३म् अंघ्रिणा विष्णोभात्वावक्र मिषम् ॥

वि. परिर्धानपरेण संचरोह्योष्यतः सव्येनेतो दक्षिणेनामुतोवसुमती मित्यवस्थाय ॥

मन्त्र ओ३म् वसुमती मग्नेतेच्छाया मुपस्थेषं विष्णोस्थानमसि ॥

वि. इतऽइन्द्रइति जुहोति उत्तराधारम् ॥

मन्त्र ओ३म्इतऽ इन्द्रोर्वीर्य्यं मकृणोदूर्ध्वोध्वर आस्थात् ॥

ओ३म् अग्नेर्वेहोत्रं वेर्दूत्य मवतां त्वां द्यावापृथिवी अवत्वंद्यावापृथिवी अवत्वंद्यावा पृथिवी स्विष्ट कृद्देवेभ्य इन्द्र आज्येन हविषा भूत्स्वाहा ॥ इद्रमिन्द्रायनमम ॥

वि. अस ँ स्पर्शयन् स्रुचावेत्य जुह्वा ध्रुवा ँ समनक्ति संज्योतिषेति ॥

मन्त्र संज्योतिषा ज्योतिः गच्छताम् ॥

वि. निधायस्रुचौ ॥ इतराम वेदोप ग्रहेण ॥ इध्मसन्नह नान्यादाय ॥श्राव्य ॥ होतृवरण्म् ॥

मन्त्र ओ३म्३श्रा३वय ॥

अस्तुश्रौ३षद् ॥

मन्त्र ओ३म् अग्निर्देवोदैव्योहोतादेवान्य क्षद्वि द्वाँ श्चिकित्वान् ॥ मनुष्यवत् ॥ भारद्वाजवदंगिरोवद्बृहस्पतिवत्सिनिव दूगर्मवत् ॥ ॥ब्रह्मण्वदाचवक्ष द्वाह्मणा अस्य यज्ञस्य प्रावितारः ॥

वि. उपाँशु ॥ अमुकशर्माहोता ॥ उच्चैः ॥ मनुष्यः ॥

मन्त्र ओ३म् एतत्वा देवसवित वृणतेऽग्निꣳ होत्राय सहपित्रावैश्वानरेणाग्ने पूषन् बृहस्पते [illegible] सूना ँ [illegible]

स्वादित्या अदितयेश्यामानेहसो जुष्टाम द्यदेवेभ्यो वाचमुद्या संजुष्टांब्रह्मभ्यो जुष्टांनराश ६. शायषद दद्यहोतृवर्षे जिह्वं चक्षुः परापतत्॥ अग्निषृत् पुराभ्रिया जातवेदा विचर्षणिः॥ उँ षण्मोर्वीर ६. हसस्पांत्वग्निश्चपृथि वीचापश्चवात श्चाहश्च रा त्रिश्चेत्ये ता मा देवता आर्तेर्गोपायन्तु॥

वि. इत्यातमान मालभते॥ उदकोपस्पर्शः

मन्त्र इन्द्रमंन्वार भामहे होतृवर्जे पुरोहितं येनायंनुत्तम ६. स्वद्देवा अंगिरसोदिवम्॥

वि. इति अध्वर्युमग्नीधं च संमृशति॥ दक्षिणयोर ६. शयोः॥ अध्वर्युपार्श्वेनवा॥

वि. होतातौच संमृष्टौ॥ उपविशतः॥

वि. इध्मसंनहनान्या दायतैः संमार्ष्टि मुखंत्रिः प्रदक्षिणम्

मन्त्र उँ संमार्गोसिसंमा प्रजया पशुभिर्ब्रह्म वर्चसेन चमृड्ढि॥

वि. सकृन्मंत्रेणद्धिस्तूष्णीम्॥

मन्त्र उँ अपमार्गोस्यपमापाप्मनापापेन चमृड्ढि॥

वि. एन्द्रीमावृतमंन्वावर्तत॥ इत्यावृत्यप्रदक्षिणम्॥

वि. होतृषदनात्तृणमङ्गुष्ठोपक निष्ठिकाम्यां आदायदक्षिणापरस्यां दिशिनिरस्येत्॥

मन्त्र उँ निरस्तः परावसुः सहतेनयंद्विष्मः॥ उदकोपस्पर्शः॥

मन्त्र उँ इदमह मर्वावसोः सदने सीदामि॥

वि. इत्युपविश्य॥जपन्॥

मन्त्र विश्वकर्मस्तॅंनूपा असिमामोदोषिष्टं मामाहि ६ सिष्टमे रववाँलोकः॥

वि. इत्युदङ्गे जपेत्॥ अग्निमीक्षमाणो जपति॥

मन्त्र उँ विश्वेदेवाः शास्तनभायथेहहोतावृतोमन वैठांनिषद्यप्रमेब्रूत-मागधेयंठा था वोये नपथाहव्यमावोवहानि॥

मन्त्र उँ अग्निर्होतावेत्त्वग्नेर्होत्रंवेत्तु प्रावित्र ॰ंसाधुते यजमान देवता॥ उपांशु॥ योग्निॅं होतारमवृधाः॥उच्चैः॥ घृतवतीमध्वर्योः सुचमास्य स्वदेवयुवं विश्ववारामीडा महै देवाँ३ईडिन्यान्नमस्यामनमस्यान्यजाम यज्ञियान्॥

वि. घृतवती मित्त्युक्ते सुचावादायातिक्रम्याश्राव्याह॥ समिधोयजेति पंच

प्रयाजान् समिद्धतमेनाभि देशेधारणम् ॥

मन्त्र उँ३श्रा३वय ॥ अस्तुश्रौंषद् ॥ समिधोयज ॥

मन्त्र ये३यजामहे समिधः समिधोअग्न आज्यस्यव्यन्तु ॥ होता ॥ वौ३षट् ॥ यजमान ॥ इदं समिद्भ्योनमम ॥ एकांममएकातस्योस्मान्द्वेष्टि यं चवयं द्विष्मः ॥ त्विषिमानभूयासम ॥

प्रयाजानुमंत्रणं ॥ वषट्कारमाम आयुः प्रमोर्षावागोजः सहौजोमयि प्राणापानौ पातम् ॥

वि. आत्मानमालभते ॥ उदकोपस्पर्शः ॥ एवं प्रतिवषट्कारं सर्वत्र वषट्कारोनुमंत्रणम् ॥

मन्त्र उँ श्रावय ॥ अस्तु श्रौ३षद् ॥ यज ॥ प्रेषितोध्वर्युः ॥

मन्त्र ये३यजामहेत नूनपादग्न आज्यस्यवेतु वौं३षद् ॥

इदंतनून पाते नमम ॥ द्वौममद्वेतस्य योस्मान् द्वेष्टि यं च वयंद्विष्मः अपचितिमान् भूया सम् ॥ तनूनपातं संनाय्ययाजिनांतु ॥

मन्त्र उँ३श्रा३वय ॥ अस्तुश्रौ३षद् ॥यज ॥

मन्त्र ये३यजामहइडो अग्न आज्यस्यन्यन्तुवौं३षद् ॥

इद् मिड् भ्यो नमम ॥ त्रयो मम ॥ तिस्रस्तस्य यो स्मान् द्वेष्टियंचवयंद्विष्मः ॥ यशस्वीभूयासम् ॥

वि. चतुर्थे प्रयाजेसमान यनम् ॥

मन्त्र उँ३श्रावय ॥ अस्तुश्रौ३षद् ॥यज ॥

ये३यजामहे बर्हिरग्न आज्यस्य वेतु वौं३षट् ॥ इदंबर्हिषिन मम ॥ चत्वारोमम ॥ चतस्रस्तस्योस्मान् द्वेष्टि यं चवयं द्विष्मः ॥ ब्रह्मवर्चसी भूयासम् ॥

मन्त्र उँ३श्रा३वय ॥ अस्तुश्रौं३षद् ॥यज ॥

मन्त्र ये३यजामहे स्वाहाग्निॅ स्वाहासोम ॅ स्वाहग्नि ॅ स्वाहा ॥ उपाँशु ॥ अग्निषोमौ ॥ उच्चैः ॥ स्वाहाग्नीषोमौस्वाहा देवा आज्यपाजुषाणा अग्न आज्यस्यव्यन्तु वौंषद् ॥ इदमग्नये सोमायाग्नयेऽग्निषोमाभ्या-मग्नीषोमाभ्यां देवेभ्य आज्यपेभ्योग्नये स्विष्टकृते चनमम ॥ पंचमम ॥ नतस्यकिंचन योस्मान्द्वेष्टि यंचवयं द्विष्मः ॥ अन्नादोभूयासम ॥ एत्यजुह्वाभि धारणं ध्रुवायाः हविषः हविषः उपभृतश्च ॥ आज्यभागाभ्यां चरतिवार्त्र ध्रावाज्य भागौ ॥

प्रै. अग्नयेनुब्रू ३हि॥

मन्त्र अग्निर्वृत्राणि जंघन द्रविणस्यु विंपंनया॥ समिद्धः शुक्र आहुतौं ३म॥

वि. ध्रुवायाः प्रथमस्तूर्ष्णीम्॥

मन्त्र उँ आप्यायतांध्रुवा हविषा घृतेन यज्ञं यज्ञं प्रतिदेवयड्भ्यः सूर्याया ऊधो आदित्या उपस्थ ऊरुधारापृथिवीयज्ञे अस्मिन॥ ॐ आ. द्वितीयः॥ उँ आ.॥ तृतीयः ० उँ आ. चतुर्थः॥ उँ आ. पंचमः॥ उँ आ. षष्ठो ध्रुवायाम्॥

वि. अतिक्रम्यश्राव्याह॥

मन्त्र उँ श्रा३वय॥ अस्तुश्रौ३षट्॥ अग्निंयज॥

मन्त्र ये३यजामहेग्निंजुषाणो अग्निराज्यस्यवेतुवौ३षट्॥ इदमग्नयेनमम॥

वि. आग्नेयमुत्तर पूर्वार्द्धे॥ प्रैष सोमायानुब्रू ३हि॥

मन्त्र त्व ॐ सोमासिसत् पतिस्त्व ॐ राजोतवृत्रहात्वं भद्रो असिक्रतौं३म्॥

वि. ध्रुवायाः प्रथमस्तूर्ष्णीम्॥

मन्त्र उँ आप्यायतां ध्रुवहि विषाघृतेन यज्ञं यज्ञं प्रति देवय ड्भ्यः सूर्याया ऊधो अदित्या उपस्थ उरुधारापृथिवीयज्ञे अस्मिन्॥

॥द्वितीयः॥ तृतीयः॥ चतुर्थः॥ पंचमः॥ षष्ठोध्रुवायाम्॥

वि. अतिक्रम्याश्राव्याहसोमं यजेति॥

मन्त्र उँ३श्रा३वय॥ अस्तुश्रौ ३ड्षट॥ सोमंयज॥

मन्त्र ये ३यजामहे सोमंजुषाणः सोम आजस्य हविषो वेतू३ वौ ३षट्॥ इदं सोमायनमम॥ दक्षिणपूर्वार्द्धे सौम्यम्॥

अथ प्रधानयाग

प्रै. अग्नयेनुब्रू३हि॥

मन्त्र उँ अग्निर्म्मूर्द्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्या अयम् अपाॐ रेताॐ सिजिन्वतौं३म्॥

वि. स्थालीतो जुहू मुपस्तीर्यमध्यात् पूर्वार्द्धा द्विरवदानग्रहणं॥ त्रिर्जामदग्नीनाम्॥ पश्चांत्तृतीयम॥ प्रत्युपस्तारः॥ क्षताम्यंगः॥

वि. अतिक्रम्याश्राव्याहाग्निं यजेति॥

मन्त्र उँ३श्रा३वय॥ अस्तुश्रौ३षट॥अग्निंयज॥

मन्त्र ये३यजामहेग्निं भुंवो यज्ञस्य रजसश्चनेता यत्रानि युद्भिः सचसे शिवाभिः दिविमूर्द्धानं दधिषेस्वर्षां जिह्वामग्ने चकृषेहव्यवाहौं३

वौ३षट्॥ इदमग्नयेनमम॥

वि.	उपांशुयागः॥ उपांशु॥ अग्नीषोमाभ्यां॥ उच्चैः॥ अनुब्रू ३हि॥
मन्त्र	उपांशु॥ अग्निषोमाविम ঁ सुमेशृणुतं वृषणाहवं प्रतिसूक्तानिहर्यतं भवतं दाशुषेमयः॥ उच्चैः॥ॐम्॥
वि.	ध्रुवायाः प्रथमस्तूष्णीम्॥
मन्त्र	ॐ आप्यायतांध्रु बाहविषाघृतेन यज्ञं यज्ञं प्रति देवयद्भ्यः सूर्याया उधो अदित्या उपस्थ उरुधारापृथिवीयज्ञे अस्मिन् द्वितीयः॥ तृतीयः॥ चतुर्थः॥ पंचमः॥ षष्ठोध्रुवायाम्॥
वि.	अतिक्रम्याश्राव्याहाग्नीषोमौयजेति॥
मन्त्र	ॐ३श्रा३वय॥ अस्तुश्रौ३षट्॥ उपांशु॥ अग्निषोमौ उच्चैः॥ यज॥
मन्त्र	ये ३ यजामहे ॥ उपांशु ॥ अग्निषोमौ जुषाणावग्नीषोमावाज्य स्यवीताम्॥ उच्चैः॥ वौषट्॥ उपांशु॥ इदमग्नीषोमाभ्यांन मम॥
प्रै.	अग्नीषोमाभ्यामनुब्रू३हि॥
मन्त्र	अग्नीषोमास वेदसासहूती वनतं गिरः संदेवत्रा बभूवथौं३म्॥
वि.	स्थालीतो जुह्वा मुपस्तीर्यमध्यात् पूर्वार्द्धात् द्विरव दानग्रहणम्॥ त्रिर्जामदग्नीनां पश्चात्तृतीयं प्रत्युपस्तारः॥ क्षताभ्यंगः॥ अतिक्रम्या श्राव्याहाग्नीषोमौयजेति॥
मन्त्र	ॐ३श्राइवय॥ अस्तुश्रौइषट्॥ अग्नीषोमौयज॥
मन्त्र	ये३ यजामहेग्नीषोमौ युवमेतानि दिविरोचनान्यग्निश्च सोमसक्रतू अधत्तंम् युव ঁ सिध् ঁ रभिशस्तेरवद्यादग्नीषोमाव मुंचतंगृभीतां वौ३षट्॥ इदमग्नीषोमाभ्यां न मम॥
प्रै.	अग्नयेस्विष्टकृतेऽनुब्रू ३हि॥ विराजौ संयाज्ये॥
मन्त्र	प्रेद्धो अग्ने दीदिहि पुरोनो जस्रथा सूर्म्यायविष्ठ॥ त्वाঁ शश्वत उपयंतिवाजो३म्॥
वि.	स्थालीतो जुह्वा मुपस्तीर्ययावद्धविरुत्तरार्द्धात् स्विष्टकृतोद्विश्चाभिधारणम्॥ नक्षताभ्यंगः॥ अतिक्रम्या श्राव्याहाग्नि ঁ स्विष्टकृतंयजेति॥
मन्त्र	ॐ ३श्रा३वय॥ अस्तुश्रौ३षट्॥ अग्नि ঁ स्विष्ट कृतंयज॥
मन्त्र	ये३यजामहेग्निঁ स्विष्टकृत मयाडग्निरग्नेः प्रियाधामान्ययाड्

सोमस्यप्रिया धामान्य याडग्रेः प्रियाधामान्या ॥ उपांशु ॥ अग्निषोमयोः च्चैः ॥ प्रियाधामान्य उग्निषोमयोः प्रियधामान्य याड् देवाना माज्यपानां प्रियाधामानि यक्षदग्नेर्होतुः प्रियाधामानि यक्षत्स्वं मह्निमान मायजता मेज्याः इषः कृणोतु सो अध्वरा जातवेदा जुषना थ्ठ्ँ हविरिमो अग्नेर्वीत त मानिहव्या जस्रो वक्षिदेवता तिमच्छ प्रतिन ई थ्ठ्ँ सुरभीणिव्यन्तु वौ३षट् ॥ इदमग्नये स्विष्टकृते नमम ॥

वि. असथ्ठ्ँसृष्टा माहुतिभिः निधाय स्रुचौ इतरांवेदोपग्रहेण संचरमभ्युक्ष्य प्राशित्र मवद्यति यवमात्रं पिप्यल मात्रंवा अन्न्यतर आज्यमुभयतोवा संचरेण ब्रह्मणेप्रदाय ॥ पूर्वेणैके ॥

मन्त्र उँ मित्रस्यत्वा चक्षुषा प्रतीक्षे ॥

वि. इति प्राशित्रं प्रतीक्षते ॥ देवस्यत्वेतिगृह्णाति ॥

मन्त्र देवस्यत्वा सवितुः प्रसवेश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णोहस्ताभ्यां प्रतिगृह्णामि ॥

वि. अग्निष्ट्वे प्राश्नाति ॥

मन्त्र उँ अग्नेय्ष्ट्वास्येन प्राश्नामि ॥

वि. दंतैरनुपस्पृशन् ॥ प्रक्षाल्यपात्रं नाभिमालभते ॥

मन्त्र उँ यापूचन्तर्देवता स्ताइदूँ शमयन्तु स्वाहाकृतं जठरमिन्द्रस्य गच्छ घसिनामे मासं पृकथा ऊर्ध्वं मेनाभेः सीदेन्द्रस्यत्वा जठरे सादयामि ॥

वि. अध्वर्यु रप उपस्पृश्य ॥ इडां पंचावत्तां करोति ॥

इडापात्र्यु पस्तारः ॥ दक्षिणतोमध्याच्च यावद्धविः स्विष्ट कृद्धदाज्यं षडवत्तं ब्रह्मभागश्च ॥ ब्रह्मभागो ध्रुवायाम् ॥ यजमानभागं पूर्वार्द्धां दीर्घं प्रशीर्य पुरस्ता ध्रुवायाः करोति ॥ इडा थ्ठ्ँ होत्रे प्रदाय अविसृजन् दक्षिणातिक्रामति ॥ इडां प्रतिगृह्यऐडेनाज्येन होतुरंगुलि पर्वणी अनक्ति ॥ ओष्ठयोर्विलिंपेदधरम धरेणोत्तरेण ॥

मन्त्र उँ मनसस्सपतिनाते हुतस्याश्नार्मीषे प्राणाय ॥ वाचस्पतिना तेहुतस्याश्नाम्यूर्ज उदानाय ॥ अवजिघ्रत्येके ॥

वि. उदकोपस्पर्शः ॥ अवांतरेडामादधाति ॥ प्रथमः द्वितीयः तृतीयः चतुर्थः ॥ होतास्वयं पंचम मादत्ते ॥ इडांसर्वेन्वार भंते ॥

मन्त्र उपांशु ॥ उँ उपहूत थ्ठ्ँ रथंतर थ्ठ्ँ सहपृथिव्योपमा थ्ठ्ँ रथंतर थ्ठ्ँ सहपृथिव्याहूयता मुपहूतं वामदेव्य थ्ठ्ँ सहान्तरिक्षेणोपमां वामदेव्य थ्ठ्ँ सहान्तरिक्षेण हृयता मुपहूतं वृहत्सहदिवोपमां वृहत्सह दिवाह्वता

मुपहूतागावः सहर्षमा उपमांगावः सहऋषमाहूयंता मुपहूता सप्तहोत्रा सौम्येनाध्वरेणोपमा ‍ᳫं सप्तहोत्रा सौम्येनाध्व रेणहूयता मुपहूतेडा तत्तुरिरुप मामिडा ततुरिर्ह्वूयता मुपहूतः सखाभक्ष उपमाᳫं सखाभक्षोहूयता मुपहूत ᳫं हेगुपमाᳫं हेहूयता मुपहू तोग्नि रुपहूतः ॥ उच्चैः ॥ इडोपहूतो पहूतेडोपो अस्माँ३ इडाहू यता मिडोपहूता ॥

वि. इडोपहूतेत्युच्चपमाने आग्नेयं वर्हिषदं करोति ॥ यजमानः ॥

मन्त्र ॐ ब्रध्नपिन्नव स्वायुर्मेधुक्ष्व प्रजांमेधुक्ष्व पशून्मेधु क्ष्ववल मेधुक्ष्व क्षत्रंमेधुक्ष्व विशोमेधुक्ष्व योस्मान् द्वेष्टियंचवयं द्विष्म स्तस्य प्रजया पशुभिराप्यायस्व ॥

वि. तंचतुर्द्धाकृत्वा बर्हिषि ऋत्विग्भ्यआदिशत्ति ॥

इदं ब्रह्मणः ॥ इदᳫं होतुः ॥ इदमध्वर्योः ॥ इद मग्नीधः ॥

अत्र पितर इति यजमानो जपति ॥

मन्त्र ॐ अत्र पितरो मादयध्वंयथाभाग मावृषाध्वम् ॥

वि. विसृ ज्यामि मदन्तेति जपति ॥

मन्त्र ॐ अमीमदन्त पितरो यथाभाग मावृषायिषत ॥

वि. उदकोपस्पर्श ॥ एकैकमाहरति ॥ इदं ब्रह्मणे ॥ इदं ᳫं होत्रे इदमध्वर्य वे ॥ इदमग्नीधे ॥ द्यावापृथिव्योरु रुपह्वानेग्नी धेषडवत्तंदद्यात् ॥

मन्त्र ॐ मानवीघृतपद्युत मैत्रावरुणी ब्रह्मादेव कृतो पहूता पहूता दैव्या अध्वर्यव उपहूता मनुष्याः यइमंयज्ञ मवान्येचयज्ञपतिं-वर्द्धानुपहूते द्यावापृथिवीपूर्वजे ऋतावरी देवी देवपुत्रे उपहूतोयं यजमान उत्तरस्यांदेव यज्याया मुपहूतोभूयसी हविष्करण उपहूतोदेवाम इद ᳫं हविर्जुषंता मितितास्मिन्नुपहूतः ॥

वि. आशासने मर्यीद मिति यजमानो जपति ॥

मन्त्र ॐ मयीद मिंद्रऽइन्द्रियमदधात्वस्मान्राऐमघवानः सचन्तां ॥ अस्माकं ᳫं सन्त्वाशिषः सत्यानः संत्वाशिषः॥

वि. उपहूतां प्राश्नंतियुक्ताः ॥ यजमानश्च ॥ अग्नीत् षडवत् प्राश्नाति ॥

मन्त्र ॐ उपहूता पृथिवीमातोपमां पृथिवी माता हूयतामग्निराग्नी ध्रा त्स्वाहा ॥ आचम्य ॥

मन्त्र ॐ उपहूतोद्यौष्पि तोपमां द्यौष्पिता हूयता मग्निराग्नीध्रात्स्वाहा ॥

वि. आचम्य॥ पवित्र योर्मार्जयंते परेणवेदि थ्रं सुमित्रियान् इति॥

मन्त्र ॐ सुमित्रियान ऽ आप ऽ ऽ॥षधयः सन्तु॥

वि. यजमान स्यप्राणा पानौपातमिति प्रस्तरेतेकरोति॥

मन्त्र ॐ यजमानस्य प्राणापानौपातम॥

वि. अत्रवाब्रह्मा प्राश्नाति॥ भागमस्मै परिहरति॥ ब्रह्मभागं ब्रह्मणे॥ यजमानभागं यजमानाय॥

वि. अन्वाहार्यमभिधार्योद्वास्यान्तराब्रह्मयजमानौ धृत्वा वेद्यांनिधाया-लभते॥

मन्त्र प्रजापतेर्भागोऽस्यूर्जस्वान् पयस्वान् प्राणापानौमेपहि समानव्यानौमेपाहि उदानव्यानौमेपाध्वयूर्गस्यूर्जं मयि धेत्धन क्षितिरसि मामेक्षेष्टा अमुत्राऽमुष्मिल्लोक इहच॥ (संकल्प) अस्याः पौर्णमासेष्टिः समृध्यर्थं अयं अन्वां हार्यो दक्षिणाब्रह्मादिक्र त्विग्भ्यः समविभागेनाहं संप्रददे॥

वि. ब्रह्मन् यस्ते भागः सप्रतिगृह्मताम्॥ होतर्यस्तेभागः सप्रतिगृह्मताम्॥ अध्वर्योयस्ते भागः सप्रतिगृह्मताम्॥ अग्नीद् यस्ते भागः स प्रति गृह्मतां॥

मन्त्र ॐ द्यौस्त्वा ददातु पृथिवी त्वाप्रति गृह्णातु॥

वि. सा दक्षिणा उद गुद्वासयति॥ हविश्च॥ समस्योल्मुके स-मिधमादायाह॥

मन्त्र ब्रह्मन्प्रस्था स्यामि॥ समिधमाधायाग्नि मग्नीत्संमृड्ढि॥

वि. एतंत इति ब्रह्मा जपति॥

मन्त्र ॐ एतंतं देवसवितर्यज्ञं प्राहुर्बृहस्पतये ब्रह्मणो तेन यज्ञ मव तेन यज्ञ पतिं तेन मामव मनोजूति र्जुषता माज्यस्य बृहस्पतिर्य ज्ञमिमंतनोत्वरिष्टं यज्ञ थ्रं समिमं दधातु विश्वेदेवास ऽइहमा दयं तामों ३ प्रतिष्ठ॥

वि. ॥एषात इति होतानु मंत्रयते॥

मन्त्र ॐ एषाते अग्ने समित्तया वर्द्धस्वचा चप्यायस्व वद्धिषीमही च वयमा चप्प्यासिषीमही॥

वि. संमार्ष्टि पूर्ववद परिक्रामन सकृत्सकृत्ससृवा थ्रं समिति॥

मन्त्र ॐ अग्नेर्वाजजित्वाजंत्वा ससृवा थ्रं संवाजजित संमार्ज्मि॥

वि. तूर्ष्णीम् उपरि॥ ब्रह्मानुज्ञातोनुयाजै स्त्रिमिश्चरत्यौपभृत थ्ं समानीय अतिक्रम्या श्राव्याह॥ देवान्य जेति॥

मन्त्र ॐ ३श्राइवय॥ अस्तुश्रौ३षद्॥ देवान्यज॥

मन्त्र ॐ देवंबर्हिर्वसुवने वसुधेयस्यवेतु वौ ३षद्॥ इदं देवाय बर्हिषिनमम॥

मन्त्र ॐ ३श्रा३वय॥ अस्तुश्रौ३षद्॥ देवान्यज॥

मन्त्र ॐ देवोंनराश थ्ंसोवसुवने वसुधेयस्य वेतु वौ ३षद्॥

इदं देवाय नराश थ्ंसायनमम॥

मन्त्र ॐ३श्रा३वय॥ अस्तुश्रौ३षद्॥ देवान्यज॥

मन्त्र ॐ देवोनराश थ्ंसोवसुवने वसुधेयस्यवेतु वौ३षद्॥ इदं देवायनराश थ्ं साय न मम॥

मन्त्र ॐ श्रा३वय॥ अस्तु श्रौ३षद्॥ देवान्यज॥

मन्त्र ॐ देवोऽअग्निः स्विय कृत्सु द्रविणामन्द्रः कविः सत्यमन्मायजी होता होतुर्होतु रायर्जीया नग्रेयां देवानयाडयां ३ अपिप्प्रेर्येते होत्रे अमच्छत॥ ता थ्ंससनुषी थ्ंहोत्रां देवं गमां दिवेदे वेषु यज्ञ मेरयेम थ्ंस्विष्ट कृच्चाग्रे होताभूर्व सुवने वसुधेयस्य नमो वाके वीही ३ वौ ३षद्॥

इदंद्रदेवायाग्नये स्विष्टकृते नमम॥

वि. चतुर्थ थ्ंसमानीय॥

मन्त्र ॐ देवेभ्यः स्वाहा॥ इद्रं देवेभ्यो नमम॥

वि. निधायस्रुचौ॥ इतरांवेदोपग्रहेण॥ एत्य जुहूपमृ-तौव्यूहति॥

मन्त्र ॐ अग्नेरग्नीषोमयोरग्नीषोम योरुज्जितिमनूज्ज यत्वं यंयजमानो वाजस्यैनं प्रसवेन प्रोहामि॥

मन्त्र ॐ अग्नी रग्नी षोमावग्नी षोमौतम पनु दंतुयम यं यजमानो द्वेष्टि यश्चैनं द्वेष्टि वाजस्यैनं प्रसवेनापोहामि॥

वि. अभ्युक्ष्य जुह्वा परिधीन नक्ति यथापूर्वम् वसुभ्य इति प्रतिमंत्रम्॥

मन्त्र ॐ वसुभ्यस्त्वा अनज्मि॥

मन्त्र ॐ रुद्रेभ्यस्त्वा अनज्मि॥

मन्त्र आदित्येभ्यस्त्वा अनज्मि॥

वि. नप्रस्तरेतेकरोति॥ प्रथमं परिधिंगृहीत्वा श्राव्याह।

मन्त्र ॐ ३श्रा३वय॥ अस्तुश्रौषट्॥

प्रं० इषतादैंव्या ह्वोंतारोभद्र वाच्यायप्रेषितो मानुषः सूक्तवाकाय सूक्ताब्रू३हि॥

वि. संजानाथा मिति प्रस्त रादानम्॥

मन्त्र ऊँ संजानाथांद्यावापृथिंवी मित्रा वरुणौत्वावृष्टया वताम्॥

वि. विधृर्ती स्थानेकृत्वा अनत्त्येनं व्यंतुवय इति॥

मन्त्र ऊँ व्यन्तु वयोक्त थ्वं रिह्वाणाः॥

वि. अग्र जुह्वाम्॥

मन्त्र ऊँ व्यन्तु वयोक्त थ्वं रिह्वाणाः॥

वि. मूलंध्रुवायाम्॥ मरुतामितिर्निार्चैधृत्वा॥

मन्त्र ऊँ मरुतां पृषर्तीगच्छ वशां पृश्नि र्भूत्वादिवं गच्छत तोनोवृ ष्टिमावह॥

वि. तृणामादाया नु प्रहरति॥

मन्त्र ऊँ इदं द्यावापृथिर्वाभद्रमभूदार्ध्म सूक्त वाकमुत्त नमो वाक मृध्यास्म सूक्तो च्यमग्रेत्व थ्वं सूक्तवागसि॥ उपश्रुर्तादिवस्पृथिव्योरो-भंन्वर्ताातेऽस्मियज्ञेयजमान द्यावापृथिवी-स्ताथ्वं शंगवी जींवदानृ अत्रश्नु अप्रवेंदे उरुगव्यूर्ती अभयंकृतौ॥ वृष्टि धावारीत्यापाशं भुवौ मयो भुवा ऊर्ज्ज स्वर्तीच पयस्वतीच सूप चरणाच स्वधि चरणाच त्योराविदि अग्निरिद्थ्वं हविरजुषता वीणृधत्तमह्रो ज्यायोकृत॥ सोमइदथ्वं हविरजुषता वींबृ धत्तमह्रो ज्यायोकृत॥ अग्निरिद् थ्वं हवि रजुषतार्वाष्ट धत्तमह्रोज्यायोकृत॥ उपांश्रु॥ अग्निषोमौ॥ उच्चैः॥ इद् थ्वं हविः॥ उपांश्रु॥ अजुषेता मर्वाष्टधेताम्॥उच्चैः॥ मह्रोज्यायः॥ उपांश्रु॥ आक्राताम्॥ उच्चैः॥ अग्निषोमाविद्थ्वं हवि रजुषे-तामर्वाष्ट धेतां मह्रोज्यायोक्राताम्॥ देवाआज्य पा आज्यमजुषंतार्वाष्ट धं तमह्रोज्यायोक्र त॥ अग्निर्होत्रदे थ्वं हविरजुषतार्वावृधतमह्रो ज्योयाक्रत॥ अस्यामृधेद्धोत्राया देवं गपाया माशास्तेथ्वं यं यजमानः॥ अमुकशर्मा यजमानः अह्रिताग्निर्दर्शपूर्णमास चातुर्मास्ययाजी॥ उत्तरौं देवयज्यया माशास्ते भूयो हविष्करण माशास्ते दिव्यं धामाशास्ते यदनेन हविषा शास्ते तदस्यात्तदध्यात्त दस्मै देवा रासंतांतदग्निर्देवो देवेभ्यो वनुतां वयमग्नेः परिमानुषाः॥ इष्टंचवितं चोभेचैनं द्यावापृथिवी अ थ्वं हसस्पाता मिह्गतिर्वामास्येदं च नमो देवेभ्यः॥

मन्त्र उच्चैः॥ अनुप्रहर॥

वि.	प्रास्यतृणं॥ चक्षुष्या इत्यानमान भालमते॥
मन्त्र	उँ चक्षुष्पाया अग्रेसि चक्षुर्म्मेपाहि॥
वि.	आत्मानमालभते॥ उदकोपस्पर्शः॥
मन्त्र	संवदस्व॥ अगानर्ग्नात् अगन॥ श्रा३वय॥ श्रौ ३षट॥
प्रै.	स्वगादैंव्या होतृभ्यः स्वस्तिर्मानुषेभ्यः शंयोर्ब्रू ३हि॥
मन्त्र	तच्छं योरा वृर्णामहे गातुं यज्ञाय गातुं यज्ञपतये दैविस्वस्तिरस्तुनः स्वस्तिर्मानुषेभ्यः॥ उर्द्धं जिगातुभेषजं शृं शन्नो अस्तु द्विपदेशं चतुष्पते॥
वि.	अनयाप्रादेशं वेदिश्रोणौंनिदधाति॥ परिर्धीन नुप्रहर तियं परिधिमिति प्रथमम्॥
मन्त्र	उँ यमपरिधिंपर्यधत्था अग्रे देव पणिभिर्गुह्यमानः तन्त एत मनुजोषंभराम्पे षनेत्व दप चेतयातै॥
वि.	इतरौच युगपदग्रेः प्रियमिति॥
मन्त्र	उँ अग्रेः प्रियः पाथोपीतम्॥
वि.	स्रुचौप्रतिगृह्णाति स शृं स्रवभागा इति स ँ स्रवांजुहोति।
मन्त्र	उँ स शृं स्रवभागास्थेषा वृहन्तः प्रस्तरेष्ठाः परिधेयाश्चदेवाः इमांवाच मभिविश्वे गृणंत आसद्यास्मिन्वर्हि षिमादयध्व शृं स्वाहा। वाट्॥ इदंविश्वेभ्योदेवेभ्यो न मम॥
वि.	घृतार्ची इति ध्रुवि निदधात्य नसि चेद्रहण शृं स्फ्ये पात्र्यां चेत्।
मन्त्र	उँ घृतार्चीस्थो धुर्य्यौपात शृं सुम्नेस्थः सुम्नेमाधत्तम्॥ यज्ञ नमश्चत इति वेदि मालभते॥
मन्त्र	उँ यज्ञ नमश्चत उपच यज्ञस्य शिवे संतिष्ठ स्वस्विष्ठे मेसं तिष्ठस्व
वि.	वेद शृं होता स्रुक् स्रुवमध्वर्यु राज्य स्थाली मग्नीदादायपत्नीसंयाजेभ्यो गार्हपत्यं गच्छंति॥ अध्वर्युः पूर्व दक्षिणोनगार्ह पत्यमेत्य पूर्वेण परेणां तरेण पत्नी मेकेषां॥ उपविश्य दक्षिणांजान्वाच्य एव शृं सर्व त्रोप विष्ठ होमेषु॥ उपांशु चरंति॥
प्रै.	सोमायानु ब्रू३हि॥
मन्त्र	उँ आप्यायस्व सुमेतुते विश्वतः सोम वृष्णयम्॥ भवावाजस्यसंग थौं३म्॥
वि.	उँ आज्यस्थाल्याश्चतुर्गृहीत ग्रहणम्॥ प्रथमः द्विंतीयः तृतीयः चतुर्थः॥

मन्त्र उँ श्रा ३वय ॥ अस्तुश्रौ३षट् ॥ सोमंयज ॥

मन्त्र ये३यजामहे सोम ॐ सन्तेपया ॐ सिसमुजंतुवाजाः संवृष्ण्या न्यभिमातिषाहः आप्यायमानो अमृताय सोम दिविश्रवाॐस्युत्त मानिधिष्वा३वौं३षट ॥ इदं सोमाय नमम ॥

प्रै. त्वष्टॄनुब्रूइहि ॥

मन्त्र इहत्वष्टार मग्रयं विश्वरूप मुप हूये अस्माक मस्तुकेव लोम ॥

प्रथमः द्वितीयः तृतीयः चतुर्थः ॥

मन्त्र उँश्रा३वय ॥ अस्तुश्रौ३षट् ॥ त्वष्टारंयज ॥

मन्त्र ये३यजामहे त्वष्टारं तन्नस्तुरीयमघपोषयित्नुर्देवत्वष्टर्वीर राणस्यस्व यतोवीरः कर्मण्यः सुदक्षोयुक्त ग्रावा जायतेदेवकामावौ३षट् ॥ इदं त्वष्ट्रे न मम ॥

वि. तृतीयेऽन्तर्धानं पुरस्तात् ॥ पत्न्यन्नवारभतेऽध्वर्युम् ॥

प्रै. देवानां पत्नीभ्योनुब्रू ३हि ॥

मन्त्र उँ देवानां पत्नी रुशती रवंतुनः प्रावंतुनस्तुजये वाजसातये याः पार्थिवासोया अपामपि व्रतेतानो देवीः सुहवाशर्मयच्छ तों ३म् ॥

वि. चतुर्ग्रहीत ग्रहणं ॥ प्रथमः द्वितीयः तृतीयः चतुर्थः ॥

मन्त्र उँ ३श्रा ३ वय ॥ अस्तु श्रौ ३षट् ॥ देवानां पत्नीर्यज ॥

मन्त्र ये३यजामहे देवानां पत्नी रुतग्राव्यन्तु देवपत्नी रिन्द्रा रायग्राय्यश्विनीराद् ॥ आरोदसीवरुणा नीभृणोतु व्यन्तु देवीर्यऋतुर्जनीनांवौ३षट् ॥ इदं देवानां पत्नीभ्यो नमम ॥

वि. अंतर्धानमपनीयः ॥

प्रै. अग्रयेगृहपतयेऽनु ब्रू३हि ॥

मन्त्र अग्रिरहोंतागृहपतिः सराजा विश्वावेद जनिमा जातवेदाः देवानामुत योमर्त्यानां यजिष्ठः सप्रयजतामृतावौं३म् ॥

वि. चतुर्गृहीत ग्रहणम् ॥ प्रथमः द्वितीयः तृतीयः चतुर्थः ॥

मन्त्र उँ३श्रा ३वय ॥ अस्तुश्रौ३षद ॥ अग्निंगृह पतिंयज ॥

मन्त्र ये३यजामहे अग्निं गृहपति ॐ हव्य वाडग्नि रजरः पितानो विभुर्विभावासुदृशीकोअस्मे सुगार्हपत्याः समिषोदिदी-घृस्मदग्रक्रसंमिमीहि श्रवा ॐसि३वौ ३षद ॥ इदमग्रये गृहपतये नमम ॥

वि. सशेषं जुहुयात॥ पूर्ववदिडकृत्वा॥

मन्त्र ॐ मनस्पति नाते हुवस्या श्रामीषे प्राणाय॥

मन्त्र ॐ वाचस्पतिनाते हुतस्या श्राम्यूर्ज्ज उदानाय अवजिघ्रतेत्येके॥

मन्त्र ॐ उपहूतᳫं रथंतरᳫं सहपृथिव्योपमा ᳫं रथंतर ᳫं सहपृथिव्या हूयता मुपहूतं वामदेव्य ᳫं सहांतरिक्षेणोप मां वामदेव्य ᳫं सहांतरिक्षेण हूयता मुपहूतं वृहत्सह दिवोपमा वृहत्सह दिवाह्वयता मुपहूता गावः सहर्षभा उपमा गावः सहऋषभाहूयंता मुपहूता सप्तहोत्रा सौम्येना ध्वरेणोपमाᳫं सप्तहोत्रा सौम्ये नाध्वरेण हूयता मुपहूते डातत्तु रिरुपमा मिडात्ततु रिह्वयता मुपहूतः सखाभक्ष उपमा ᳫं सखाभक्षोहूयता मुपहूत ᳫं हेगुपमा ᳫं हेहूयता मुपहूतोग्नि रुपहूतः॥ इडोपहूतो पहूतेडोपो अस्माँ ३इडाहूयता मिडोपहूता॥ मानवींधृत पद्युत मैत्रावरुणी ब्रह्मादेव कृतोपहूतो पहूता दै अध्वर्यव उपहूता मनुष्याः यज्ञमंयज्ञ मवान्ये च यज्ञपतिं वर्द्धानुपहूते द्यावापृथिवी पूर्वजे ऋता वरींदेवी देवपुत्रे उपहूतेयं पत्न्युन्तरस्यां देव यज्या यामुपहूता भूयसि हविष्करणऽउपहूता देवाम इद ᳫं हविर्जुषंता मितितस्या मुपहूताः॥

वि. मर्यादमिति यजमानो जपति॥

मन्त्र ॐ मर्यादमिन्द्र इन्द्रियम दधात्वस्मान्ना योमघवानः सचंताम॥ अस्माक ᳫं संत्वाशिषः॥ सत्यानःसंत्वाशिषः॥

वि. उपहूतां प्राश्नंति॥ लौकिक पवित्रयोर्मार्जयंते॥

मन्त्र ॐ सुमित्रियानऽआपऽओषधयः संतु॥

वि. स्रुक् स्रुवं प्रति गृह्णाति॥ अग्नेदब्धायविति॥

मन्त्र ॐ अग्नेदब्धायो शीतमपाहि मादिद्योः पाहि प्रसित्यैपाहिदुरिष्ट्यै पाहि दुरद्मन्या अविषन्नः पितुंकृणु सुषदायो नौ स्वाहावाद् इदमग्नये अदब्धायवेऽशीतमाय नमम॥

वि. सव्येनावृत्य दक्षिणाग्रौ जुहोति॥ अग्न्य इति सरस्वत्या इति च॥

मन्त्र ॐ अग्नये संवेश पतये स्वाहा॥ इदमग्नये संवेश पतये नमम॥

मन्त्र सरस्वत्यै यशोभगिन्यै स्वाहा॥ इदं सरस्वत्यै यशोभगिन्यै नमम॥

वि. पिष्टलेपां जुहोति॥

मन्त्र ॐ उलूखले मुसले चयश्शूर्प आशिश्लेष दृषदियत्कपाले उत्प्रुषोविप्रुषः संजुहोमिसत्याः संतु यजमानस्यकामाः स्वाहा॥ इदमग्नये नमम॥

वि. पत्नींवेदं प्रमुंचति वेदोसीति ॥

मन्त्र ॐ वेदोसियेनत्वं देववेद देवेभ्यो वेदो भवस्तेन मह्यंवे दोभूयाः ॥

वि. योक्त्रंच ॥

मन्त्र ॐ प्रभामुंचामि वरुणस्य पाशाद्येन मावध्नात्सविता सु शेवः ॥ ऋतुस्य योनौ सुकृतस्य लोकेऽष्टिरां मासहपत्या दधातु ॥

वि. स्तृणात्यावेदं समित्प्रक्षेपः यथेतं निष्क्रामे ह्वोता ॥ ध्रौव थं समिष्ट यजुर्जुह्योति देवा गातु विद इति ॥

मन्त्र ॐ देवा गातु विदोगातुं वित्वागातुमित मनसस्पत इमं देवयज्ञथं स्वाह्रा वातेधाः ॥ इदंवाताय नमम ॥

वि. संबर्हिरिति वर्हिजुह्योति ॥

मन्त्र ॐ संवर्हि रङ्क्ता हविषा घृतेन समादित्यैर्वसुभिंस मरुद्भिः समिन्द्रो विश्वदेवेभिरंक्ता दिव्यं नभोगच्छतु यत्स्वाहा इदं दिव्याय नभसे नमम ॥

वि. वेद्यां प्रर्णाता निनयति परीत्य कस्त्वेति ॥

मन्त्र ॐ कग्न्वा विमुंचति सत्वा विमंचति कस्मैत्वा विमुंचति तस्मैत्वा विमुचांत पोषाय निनयामि ॥

वि. एष वपार्ण मासिकोऽवभृथः ॥ पुरोडाश कपालेन कणान्न पास्यत्यधः कृष्णाजिन थं रक्ष सा मिति ॥

मन्त्र ॐ रक्ष सांभागोसि ॥ नात्रोदक स्पर्शः ॥

वि. पूर्णापात्रं निनयति परीत्य ॥ संततं यजमानों जलिना प्रतिगृह्णाति संवर्चसेति ॥

मन्त्र ॐ संवर्च सापय सासंतनूभिरंग महिमनसास थं शिवेन त्वष्टासुदत्रोविदधातु रायोनुमार्ष्टुतन्वो यद्विलिष्टम् ॥ मुखं विमृष्टे ॥

वि. विष्णुक्रमान् क्रमते दिवि विष्णुरिति प्रतिमंत्रम् ॥

मन्त्र ॐ दिविविष्णुर्व्यक्र थं स्तजागतेनच्छं दसाततो निर्भक्तो योऽस्मांद्वेष्टि यं चवयं द्विष्मः ॥

मन्त्र ॐ अंतरिक्षे विष्णुर्व्यक्र स्तत्रैष्टुभनेच्छं दसाततोनिर्भक्तोयोस्मां द्वेष्टियं चवयं द्विष्मः ॥

मन्त्र ॐ पृथिव्यां विष्णुर्व्यक्रथं स्तगायत्रेणच्छंदसाततोनिर्भक्तो योस्मां द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः ॥

वि. अस्मादंना दिति भागमवेक्षते ॥

मन्त्र ॐ अस्मादंना निर्भक्तो योस्मां द्वेष्टि यं चवयं द्विष्मः ॥

वि. अस्यैं प्रतिष्ठाया इति भूमि मवेक्षते ॥

मन्त्र ॐ अस्यैं प्रतिष्ठायास्ततोनिर्भक्तो योस्मा द्वेष्टि यं चवयंद्विष्मः ॥

वि. अगन्मस्वरिति प्राक् ॥

मन्त्र ॐ अगन्मस्वः ॥

वि. संज्योतिषेत्याह्वनीयम् ॥

मन्त्र ॐ संज्योतिषाभूम ॥

वि. स्वयं भूरितिसूर्यम् ॥

मन्त्र ॐ स्वयं भूरसि श्रेष्ठोरश्मिर्व र्चोदा असिवर्चो मे देहि ॥

वि. सूर्यस्येत्या वर्त्तति प्रदक्षिणम् ॥

मन्त्र ॐ सूर्यस्या वृत मंन्वावर्त्ते ॥

वि. गार्हपत्य मुपतिष्ठतेऽग्ने गृहपत इति ॥

मन्त्र ॐ अग्ने गृहपते सुगृहपति स्त्वयाग्नेऽहंगृहपतिनाभूयासꣳ-सुगृहपतिस्त्वं मयाग्ने गृह पतिना भूयाः ॥ जस्थूरिणौगार्हपत्यानि संतुशतꣳ हिमाः ॥

वि. सूर्य्य स्येत्वा वर्त्तति प्रदक्षिणम् ॥

मन्त्र ॐ सूर्य्यस्यावृत मंन्वावर्त्ते ॥

वि. गच्छति प्राङुरु विष्णविति ॥

मन्त्र ॐ उरु विष्णोविक्रमस्वोरु क्षयाय नष्कृधि ॥ घृतंष्ट तयोनेपिव प्रप्रयज्ञ पतिंतिर ॥ ॐ ततोसितंतुरस्य नुमातनुह्यस्मिंयज्ञेऽस्या ꣳ साधु कृत्याया मस्मिंयज्ञेऽस्मिल्लोक इदं मेकर्मेदंवीर्यम् ॥ आह्वनीयाय नमः ॥ अमुकशर्मा यजमानः अहं सं तनवामि ॥ वृतं विसृ जतेयेनोपेयात् ॥

मन्त्र ॐ अग्नेव्रत पते व्रत मचारिषं तद शकं तन्मेराधि ॥

वि. संचरविमोकः ॥ अतीतनिष्क्रमणं ॥ संयज्ञपति राशि षेतिभागं प्राश्नाति ॥

मन्त्र ॐ संयज्ञपति राशिषायुज्यतां ॥ ब्राह्मणंतर्प्पयितवै ॥

संकल्पः अस्याः पौर्णमासेष्टेः समृद्ध्यर्थं श्रुत्युक्तमेकं ब्राह्मणं सद्य स्तर्प्पयिष्ये ॥ तेन श्री यज्ञ पुरुषः प्रीयतांनमम ॥

वि. कर्मापवर्गे समिधमादधाति ॥ जुह्वोत्युपतिष्ठतंवा ॥

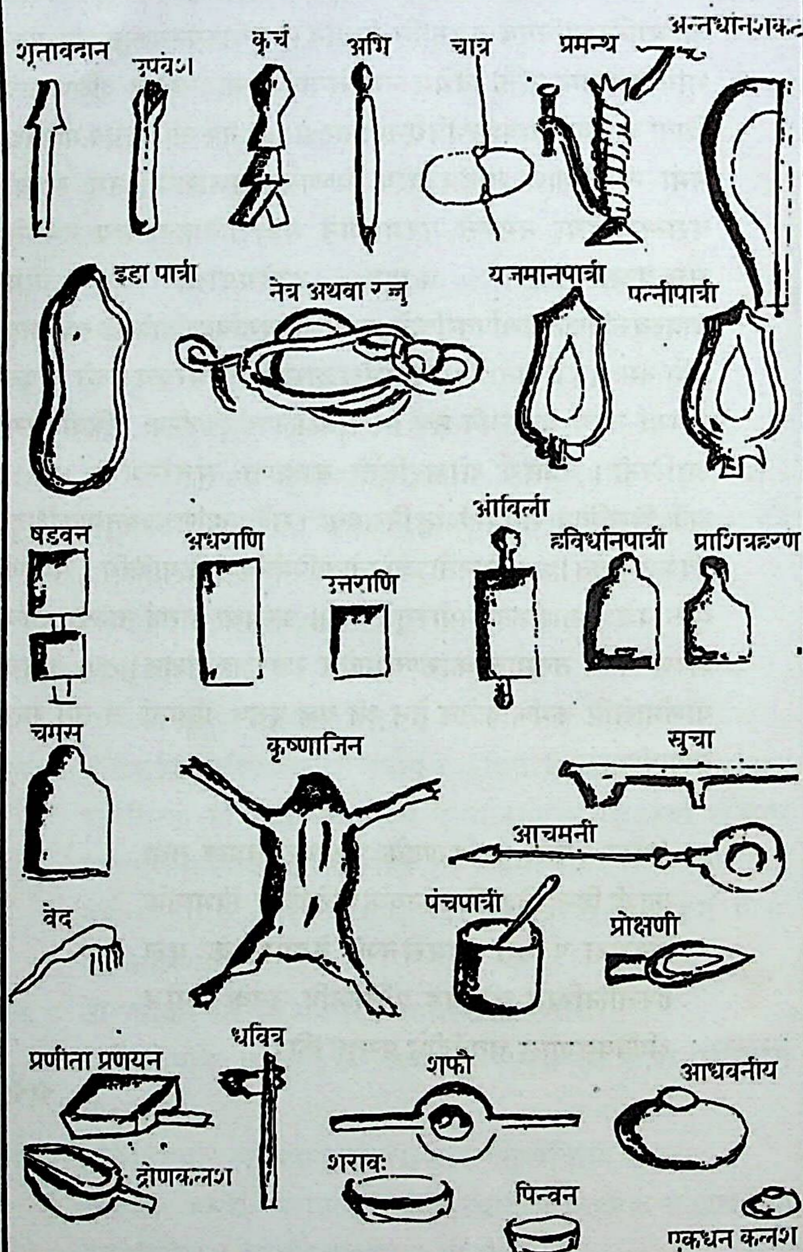
मन्त्र ऊँ नमः कृताय कर्मणे अकृताय कर्मणेनमः ॥ अयाङ्यज्ञं-जातवेदा अंतरः पूर्वोस्मिंनिषद्य सन्व थ्रंसनिथ्रंसुविमुचावि मुंच धह्म स्मभ्यं द्रविणं जात वेदः स्वाहा ॥ प्रदक्षिणा ॥ अग्नेनय सुपथारायें अस्मान्विश्वानिदेव वयुनानि विद्वान् ॥ युयोध्यस्म्यज्जुहुराण मेनो भूयिष्ठान्तेनमऽउक्तिं विधेम नमस्तेगार्हं पत्यायनमस्तें दक्षिणाग्नये शिवा या ह्वनीयायशत्यैवेद्यैनमोनमः ॥१॥ नमं आह्वनीय महावेद्यै नमो नम ब्रह्मणे गार्हपत्याय विष्णवेदक्षिणाग्नये । नमः सभ्या वसत्थ्याभ्यां नमस्ते परमात्मने महाराजैकराजाय नमस्ते भक्तवत्सल ॥२॥ काण्ड द्वयोपपाद्या य कर्म ब्रह्मस्वरुपिणोस्वर्गापवर्गदात्रे च पिणोस्वर्गापवर्गदात्रे च यज्ञेशाय नमो नमः ॥३॥ चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च द्वाभ्यां पंचभिरेवच हूयते च पुन र्द्वाभ्यां तस्मै यज्ञात्मने नमः ॥४॥ कालेवर्षतुपर्जन्यः पृथिवीशस्य शालिनी । देशोयं क्षोभरहितो ब्राह्मणाः संतुनिर्भयाः ॥५॥ सर्वेऽपिसुखिनः संतु सर्वेसंतु निरामयाः । सर्वे भद्राणि पश्यंतुमाकश्चिद्दुः ख माप्नुयात् ॥६॥ ज्ञानतोऽज्ञानतोवापिमंत्रकर्म क्रियाविधिः । सम्पूर्णं कुरु यज्ञेश गार्हपत्य नमोस्तुते ॥७॥ अन्यथा शरणं नास्तित्वमेव शरणं मम । तस्मात् कारुण्यभावेन रक्षरक्षहुताशन ॥८॥ अनेन पौर्णमासेष्टि कर्मणाकृतेन तेन श्री यज्ञ पुरुषः प्रीयतां ऊँ तत सत् ब्रह्मार्पणमस्तु ॥

(श्रौत-स्मार्त्त कर्मकाण्डके धुरन्धर विद्वान् तथा काशी हिन्दू विश्वविद्यालयके पौरोहित्य-विभागके अध्यक्ष पंडित भीमसेनजी वेदपाठीके मूल हस्तलिखित की यह प्रतिलिपि उनके प्रपौत्र श्रीविवेकशील चतुर्वेदीने प्रस्तुत की।)

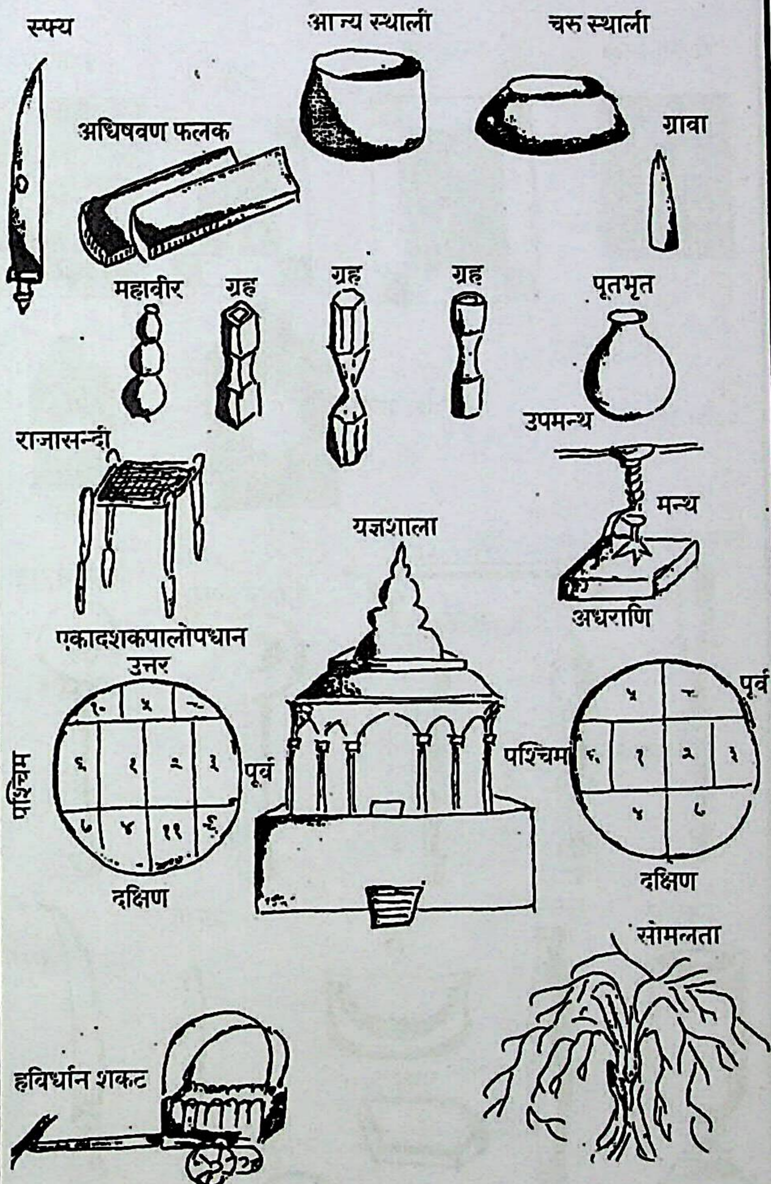


परिशिष्ट-६

यज्ञ चित्रावली संख्या-१

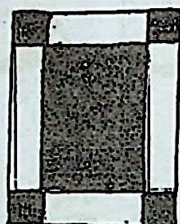


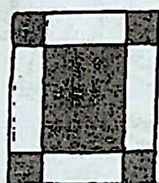
यज्ञ चित्रावली संख्या-२



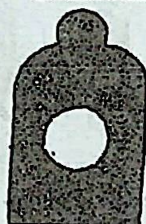
यज्ञ चित्रावली संख्या- ३

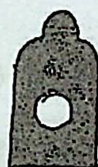

यजमानासन


पत्न्यासन

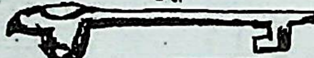

होत्रासन


ब्रह्मासन


पुरोडाश पात्री


प्रणीता


उपभृत् स्रुक


जुहू


ध्रुवा स्रुक


पुष्कर स्रुक

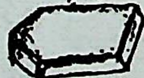

अग्निहोत्र हवणी

वैकंकत स्रुवा


उलूखल

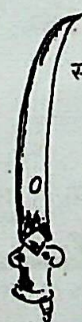

मूसल


शूर्प


दृषद्

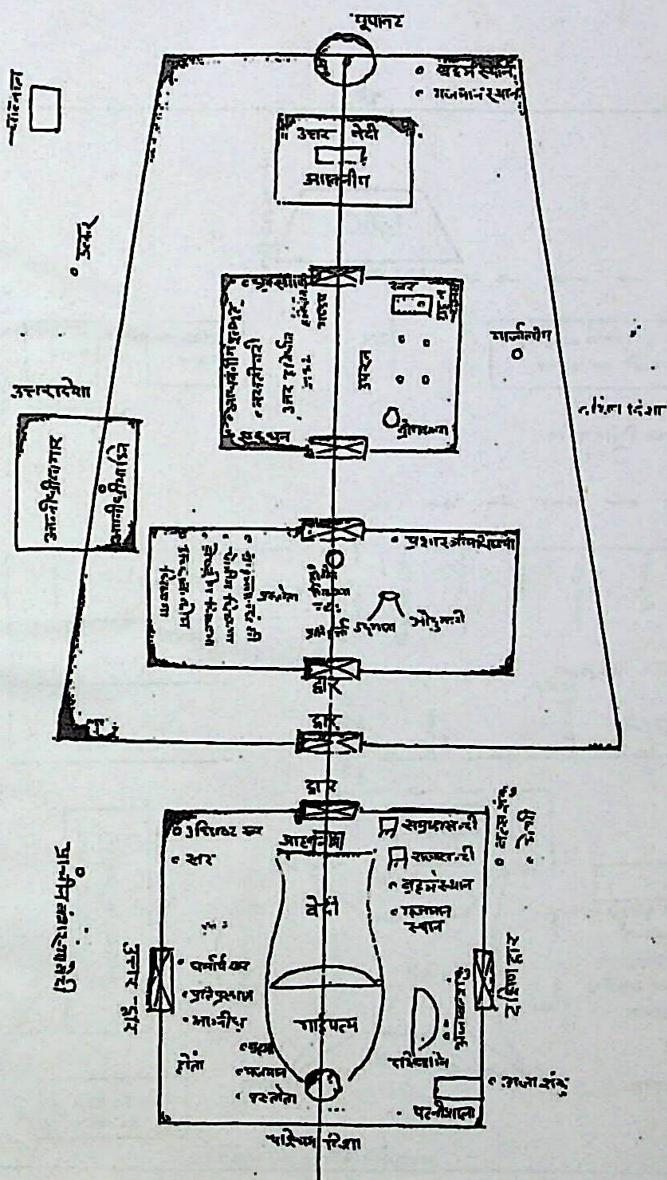

उपला


शम्या


स्फ्य

यज्ञ चित्रावली संख्या-४

आपस्तम्ब श्रौत सूत्रानुसारिणी सोमयागार्थ महावेदिः



यज्ञ चित्रावली संख्या-५

अतिरात्र याग भूमिका चित्र

